ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

DP-6

वैदिक वाग् ज्योतिः
Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed Research Journal
on Vedic Studies

वर्ष-3 अंक 2,3,4,5

Jan.-June 2014, July-Dec. 2014
Jan.-June 2015, July-Dec. 2015

(संयुक्ताङ्क)

Relevance of the Vedas in Perspective of Global Knowledge Systems

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

ISSN : 2277-4351
RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed Research Journal on Vedic Studies

वर्ष-3 Jan.-June 2014, July–Dec. 2014 अंक 2,3,4,5
Jan.-June 2015, July–Dec. 2015

(संयुक्ताङ्क)

Relevance of the Vedas in Perspective of Global Knowledge Systems

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

श्रुति-सुधा

अहा॑नि शं भव॑न्तु नः॒ शꣳरात्री॒ः प्रति॑ धीयताम्।
शन्न॑ऽइन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भिः॒ शन्न॒ऽइन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या।
शन्न॑ऽइन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शंयोः॑।। यजु.३६/११

पदार्थः—(अहानि) दिनानि (शम्) सुखकारकाणि (भवन्तु) (नः) अस्मभ्यम् (शम्) (रात्रीः) रात्रयः (प्रति) (धीयताम्) धीयन्ताम्। अत्र वचनव्यत्ययेनैकवचनम्। (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्राग्नी) विद्युत्पावकौ (भवताम्) (अवोभिः) रक्षणादिभिः सह (शम्) (नः) (इन्द्रावरुणा) विद्युज्जले (रातहव्या) रातं दत्तं हव्यमादातव्यं सुखं याभ्यान्ते (शम्) (नः) (इन्द्रापूषणा) विद्युत्पृथिव्यौ (वाजसातौ) वाजान्यन्नानि संभजन्ति यया तस्यां युधि (शम्) (इन्द्रासोमा) विद्युदोषधिगणौ (सुविताय) प्रेरणाय (शंयोः) सुखस्य।।11।।

अन्वयः—हे परमेश्वर विद्वन् वा! यथाऽवोभिः सह शंयोः सुविताय नोऽहानि शं भवन्तु रात्रीश्शं प्रतिधीयतामिन्द्राग्नी नः शं भवतां रातहव्या इन्द्रावरुणा नः शं भवतां वाजसाताविन्द्रापूषणा नः शं भवतामिन्द्रासोमा च शं भवतां तथास्माननुशिक्षेताम्।।11।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्या यदीश्वराप्तविदुषां शिक्षायां भवन्तः प्रवर्त्तेरंस्तर्ह्यहर्निशं भूम्यादयः सर्वे पदार्था युष्माकं सुखकराः स्युः।।11।।

पदार्थः—हे परमेश्वर वा विद्वान् जन! जैसे (अवोभिः) रक्षा आदि के साथ (शंयोः) सुख की (सुविताय) प्रेरणा के लिये (नः) हमारे अर्थ (अहानि) दिन (शम्) सुखकारी (भवन्तु) हों (रात्रीः) रातें (शम्) कल्याण के (प्रति) प्रति (धीयताम्) हमको धारण करें (इन्द्राग्नी) बिजुली और प्रत्यक्ष अग्नि (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी (भवताम्) होवें (रातहव्या) ग्रहण करने योग्य सुख जिनसे प्राप्त हुआ वे (इन्द्रावरुणा) विद्युत् और जल (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी हों (वाजसातौ) अन्नों के सेवन के हेतु संग्राम में (इन्द्रापूषणा) विद्युत् और पृथिवी (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी होवें और (इन्द्रासोमा) बिजुली और औषधियां (शम्) सुखकारिणी हों वैसे हमको आप अनुकूल शिक्षा करें।।11।।

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे मनुष्यो! जो ईश्वर और आप्त सत्यवादी विद्वान् लोगों की शिक्षा में आप लोग प्रवृत्त रहो तो दिन-रात तुम्हारे भूमि आदि सब पदार्थ सुखकारी होवें।।11।।

स्वा. दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्यम्

वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

विषयसूची

क्र.सं.	विषय	पृ.सं.
	श्रुति सुधा	*iii*
	वाग्ज्योतिर्निरतां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्	*iv*
	सम्पादकीय	*xi-xxiii*
	संक्षिप्त वृत्तान्त (त्रिदिवसीय अखिल भारतीय वैदिक संगोष्ठी)	*xxv-xxviii*

हिन्दी-सम्भाग

1.	**वेदार्थ में महर्षि दयानन्द की वैज्ञानिक दृष्टि** –डॉ० सुरेन्द्रकुमार	01-16
2.	**वेदों की भाषावैज्ञानिक अवधारणाएं (ऋग्वेद की शाकल संहिता के परिप्रेक्ष्य में)** –प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री	17-29
3.	**वेद तथा तदुत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में मिथकीय तत्त्व** –प्रो. कमलेश कुमार छ. चोकसी	30-38
4.	**वैदिक साहित्य में वृत्त एवं मण्डल का गणित तथा भाषा-विज्ञान** –आचार्य सुद्युम्न	39-44
5.	**वेदानुसार औषधियों के नामकरण** –डॉ. धर्मवीर	45-57
6.	**वैदिक कर्मफल-विज्ञान** –डॉ. विक्रमकुमार विवेकी	58-64
7.	**पर्यावरण की समस्या तथा इसका वेदोक्त समाधान** –वेदाचार्य डॉ० रघुवीर वेदालंकार	65-72
8.	**वेद में मनोविज्ञान** –डॉ० वेद कुमारी घई	73-77
9.	**वैदिक साहित्य में प्रतिपादित नैतिक आचार की प्रासंगिकता** – डॉ० (श्रीमती) कृष्णा आचार्या, प्रोफेसर	78-89

10. **वैश्विक संदर्भ में वेदोक्त नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता** 90-94
—डॉ० मृदुल जोशी

11. **वैदिक दर्शन में 'ऋत' की अवधारणा की वर्तमान में प्रासंगिकता** 95-97
—डॉ० (श्रीमती) रीमा सिन्हा

12. **वेदों में प्रकृति संरक्षण की प्रासंगिकता** 98-104
—डॉ. किशनाराम बिश्नोई

13. **योग एवं वैदिक साहित्य में 'अहिंसा' (वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता)** 105-108
—डॉ. राम हरीश मौर्य

14. **वेदों में प्रतिपादित जीवन दर्शन एवं उसकी प्रासंगिकता** 109-116
—डॉ. सोहनपाल सिंह आय

15. **वैदिक प्रतीकवाद** 117-123
—डॉ० प्रियंवदा वेदभारती, "आचार्या"

16. **वैदिक देवता - 'मरुत्'** 124-128
—कु० नूपुर

17. **वेद-विदुषी डॉ० शशि तिवारी का साहित्यिक योगदान** 129-136
—डॉ० रेणु बाला

18. **वेदों में संकेतित वास्तुकला** 137-142
—डॉ० सविता भट्ट

19. **वैदिक आचार मीमांसा** 143-146
—डॉ० इन्दु शर्मा

20. **वेदों में राष्ट्रियता और मानवाधिकार** 147-151
—डॉ० चित्तरञ्जन दयाल सिंह कौशल

21. **वेदों में पर्यावरण-चिन्तन** 152-158
—डॉ० उमा रानी

22. **निरुक्त पर आधारित ध्वनिविज्ञान वैशिष्ट्य और तद्विषयक प्राकृत प्रभाव** 159-164
—प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

23. **वेदों में 'अर्थ' की अवधारणा** 165-169
—डा. चन्द्रकान्त गर्जे

24. **वेदों में वर्णित वनस्पति सम्पदा की बहुआयामी उपादेयता** 170-176
—डॉ. अपर्णा धीर

25. **वैदिक वाङ्मय में मनोविज्ञान** 177-183
—डॉ. हरिप्रकाश शर्मा

26. **पर्यावरणप्रदूषण एवं सङ्क्रामक रोगों की समस्या का वैदिक समाधान** 184-188
—प्रो. टी. केशवनारायण वेदालङ्कार

27. **वेदों में प्रतिपादित समाजः एक समीक्षा** 189-197
—डॉ० भारतेन्दु द्विवेदी

28. **भारतीय वास्तुशिल्प व उसकी प्राचीनता** 198-202
—कीर्ति शर्मा

29. **वेद एवं संगीत** 203-207
—डॉ० निधि शर्मा

30. **वैदिक चिकित्सा विज्ञान** 208-214
—शिवनारायण उपाध्याय

31. **वेदों में वर्णित वास्तु-सौन्दर्य-प्रबन्धन** 215-218
—डॉ. (श्रीमती) निधि सिन्हा

32. **यज्ञों में ज्योतिष् और भौगोलिक ज्ञान** 219-223
—डॉ० विजयपाल

33. **नारी अधिकार, वर्तमान चुनौतियाँ व वैदिक समाधान** 224-229
—वीरेन्द्र कुमार

34. **पृथिवी सूक्त के वैज्ञानिक तथ्य** 230-234
—डॉ० संगीता विद्यालंकार

35. **योग एवं वैदिक साहित्य में 'अपरिग्रह'** 235-239
—डॉ० राम हरीश मौर्य

36. **वेद एवं विश्वशान्ति** 240-243
—डॉ. रेणु बाला

37. **वैदिक वाङ्मय में जल तत्त्व** 244-248
—डॉ० मोनिका मिश्रा

38. **दान का विवेचन-वैदिक दृष्टि** 249-254
—डॉ० प्रतिभा शुक्ला

39. **विश्वशान्ति एवं वेद मानव-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में** 255-260
—डॉ० सुकेश शर्मा

40. **वैदिक शिक्षा दर्शन : एक विश्लेषण** 261-267
—डॉ० विनोद कुमार गुप्त

41. **वेदों में सामाजिक चिंतन (वर्णाश्रम व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में)** 268-272
—डॉ. दीपा गुप्ता

42. **वेदार्थनिरूपण हेतु वेदाङ्गों के अध्ययन की अनिवार्यता** 273-279
—गुलशन कुमारी

43. **वेदों में पुनर्जन्म की अवधारणा** 280-284
—डॉ. बबलू वेदालंकार

संस्कृत संभागः

44. **वैदिकवाङ्मये दीक्षाविचारः** 285-288
—डॉ. अमृतलालः भोगायता

45. **अद्वैतवेदान्ते वेदापौरुषेयत्वविमर्शः** 289-293
—जानकीशरणः

46. **वेदेषु समष्टिचिन्तनम्** 294-298
—डॉ० इन्द्रेश 'पथिकः'

47. **वैदिककर्मकाण्डेषु नारी** 299-301
—प्रतिभा आर्या

English Section

48. **Relevance of Vedic and Sanskrit Terms for the Terminology of Modern Sciences in Indian Languages** 302-310
—Dr. Shashi Tiwari

49. **Scientific Aspects of Vedas in Modern Perception** 311-318
—Veloori Raghuram

50. **Vedic Symbolism** 319-323
—Dr. Bharti Sharma

51. Vedic Education and its Relevance in Modern Times **324-333**
–Dr. Rajender Dhull

52. The Modern Interpretation of Vedic Philosophy (With Special Reference of Āśrama System) **334-342**
–Dr. Kavita Bhatt

53. Yoga and the Indus-Saraswati Civilization **343-347**
–Prof. Rakam Singh Sandhu,
–Dr. Kamlesh Sandhu

54. Finding the Fundamental Import of the Veda –: Study based on some early Vedic commentaries **348-355**
–Dr. T. Ganesan

55. Atharvaveda & Human Psychology **356-364**
–Dr. Shyam Lata Juyal,
–Nidhi Sharma

56. Influence of Vedic Thought on Modern Physics **365-372**
–L.P. Purohit

✦✦✦

सम्पादकीय

वैश्विक ज्ञान-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में वैदिक चिन्तन की प्रासंगिकता

प्राय: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आज के भौतिकता प्रधान समाज तथा अध्यात्मविहीन दृष्टि से युक्त मानवता के लिए भारत के पुरातन वेदादि शास्त्रों की क्या उपयोगिता, महत्ता अथवा प्रासंगिकता है। वेदों का अध्ययन और विवेचन करने वाले पाश्चात्य एवं पौरस्त्य सभी विद्वानों ने संसार के इन प्राचीनतम ग्रन्थों पर विचार करते समय उन्हें समग्र दृष्टि से देखने की अपेक्षा एकांगी दृष्टिकोण से ही परखने का प्रयास किया है। वेदों के मध्यकालीन भाष्यकारों और व्याख्याकारों की दृष्टि में इन ग्रन्थों की उपयोगिता केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड को सिद्ध करने के लिए ही है। उनके विचारानुसार ऋग्वेद में उन देवताओं की स्तुतियाँ संगृहीत हैं जिनका यज्ञों के अवसर पर आह्वान किया जाता था तथा जिन्हें प्रसन्न करने के लिए यज्ञवेदी में आहुतियां डाली जाती थी। उनके अनुसार यजुर्वेद तो दर्शेष्टि, पौर्णमासेष्टि, अग्निहोत्र, अश्वमेध, राजसूय, नरमेध आदि विभिन्न यज्ञों को सम्पन्न कराने की विधियों का संकलन मात्र है। उनके मत में सामवेद में ऋग्वेद के ही अधिकाश मंत्र यज्ञ के अवसर पर गान करने की दृष्टि से संगृहीत किये गये हैं। अथर्ववेद का याज्ञिक विधियों में कोई स्पष्ट प्रयोजन तो नहीं बताया गया, किन्तु इस संहिता में वर्णित विषयों की विविधता को देखते हुए उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार किया गया है।

जहाँ तक पश्चिमी विद्वानों का सम्बंध है, उनका वेदाध्ययन भाषाविज्ञान, तुलनात्मक देवगाथावाद, तुलनात्मकधर्म तथा विकासवाद जैसी कतिपय उन विधाओं का आधार लेकर चलता है जिनका विकास एवं पल्लवन विगत शताब्दी में यूरोप में हुआ था। वेद के इन अध्येताओं की दृष्टि मूलत: ऐतिहासिक थी और उनकी दृष्टि में वेद भारत में निवास करने वाली उस प्राचीन आर्य जाति के जीवन, समाज-व्यवस्था, आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचारधारा एवं दार्शनिक चिन्तन का लेखा-जोखा उपस्थित करने वाले ग्रन्थ हैं जो शताब्दियों से ब्राह्मणों की परम्परा द्वारा यथावत् सुरक्षित रखे गये हैं।

उपनिषदों के सम्बंध में भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों के दृष्टिकोण में प्राय: समानता दिखाई पड़ती है। सायण जैसे वेद भाष्यकार का मानना है कि यदि ऋग्वेद आदि की रचना मुख्यतया कर्मकाण्ड को ध्यान में रखकर की गयी है तो बृहदारण्यकादि उपनिषदों में ज्ञान काण्ड की ही विवेचना हुई है और वे मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत

उन शाश्वत प्रश्नों की तर्कपूर्ण समीक्षा करते हैं जो कि अनादि काल से उसके सामने यक्ष प्रश्न की भाँति उपस्थित रहे हैं। इसी प्रकार शॉपनहार जैसे जर्मन विद्वान् की भी यही मान्यता है कि मनुष्य के सम्मुख उपस्थित सभी प्रश्नों तथा शंकाओं का समाधान करने में उपनिषद् सर्वथा सक्षम हैं। वे मनुष्य के वर्तमान जीवन को शान्ति देते ही हैं उसके मरणोत्तर जीवन को भी सुखी बनाने की क्षमता उनमें है।

यह सब कुछ सही हो सकता है, किन्तु आज का भौतिकवादी सभ्यता से ग्रस्त मानव वर्तमानकालिक ज्ञान-विज्ञान की उपस्थिति से यह समझने में असमर्थ है कि वैदिक वाङ्मय की शिक्षाएं वर्तमान सन्दर्भ में कितनी सार्थक एवं प्रासंगिक हैं? चूंकि वेदों में सार्वभौम और सार्वकालिक उपदेश निहित हैं जिनके ज्ञान से भौतिकवादी इन्सान की समस्त समस्याओं का समाधान सम्भव है। अतः उक्त इसी प्रश्न पर विचार करने के लिए हमें वैदिक साहित्य में विवेचित कुछ ऐसे प्रकरणों की मीमांसा करनी होगी जो वर्तमान भौतिकवादी समाज के समक्ष प्रस्तुत चुनौतियों का सामना करने में हमारी सहायता करते हों। आज भौतिकवादी सभ्यता ने मनुष्य के अस्तित्त्व को ही संकटापन्न स्थिति में डाल दिया है। विज्ञान की बेतहाशा उन्नति ने मारक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। प्रो0 भवानीलाल भारतीय के शब्दों में ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त विश्व बारूद के विशाल ढेर पर बैठा हुआ है और अग्नि की एक छोटी सी चिनगारी इसे क्षणभर में विनाश के गर्त में फेंककर ही दम लेगी। वैज्ञानिक उन्नति तथा भौतिकवादी सभ्यता के विकास ने मनुष्य के प्रति वैर-विरोध, अविश्वास तथा घृणा का वातावरण बना दिया है। राष्ट्रों और सत्ता के केन्द्र विभिन्न गुटों के बीच उत्पन्न प्रतिस्पर्धा इतनी बढ़ गई है कि पता नहीं यह कब संसार को पुनः विश्वयुद्ध की ज्वालाओं में झोंक जाये। आज सबसे बड़ी आवश्यकता मनुष्य-मनुष्य के बीच सौमनस्य, मैत्री तथा विश्वास के भाव को पुनः जागृत करने की है। वेद इसी भावना के प्रचार के समर्थक हैं। अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में यह आशा प्रकट की गयी है कि हम मित्रों और अमित्रों से निर्भय रहें। ज्ञात और अज्ञात लोग भी हमें भयरहित करें। रात और दिन के प्रत्येक क्षण में हम निर्भीक होकर विचरण करें तथा सभी दिशाएं हमारे लिए मित्रवत् हों–**अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु;** अथर्व0 19.15.6

वस्तुतः यह विश्व-मैत्री का भाव ही आज की कठिनाइयों से उबरने की रामबाण औषधि है। इसी भाव को पल्लवित करते हुए यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव रखने का संकल्प प्रकट किया गया है–**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे;** यजु0 36.18

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे (May we all be looked at with a friendly eye) के आदर्श को स्थापित करने की आवश्यकता आज इसलिए और भी अधिक है कि भौतिकवादी समाज व्यवस्था ने मानव-मानव के बीच संदेह और अविश्वास के बीज

बोकर सम्पूर्ण वातावरण को ही विषाक्त नहीं बनाया है, अपितु मानवी सभ्यता के विनाश का भी खतरा उत्पन्न कर दिया है।

वस्तुतः संसार की रचना, पालन तथा उसके संहार के पीछे यदि हम किसी आध्यात्मिक शक्ति की सम्भावना को स्वीकार करें तो भौतिकता की विभीषिका से पिण्ड छुड़ाना हमारे लिए सहज हो सकता है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से ही आच्छादित है, ईश्वर के द्वारा आवास करने योग्य है तथा उसके द्वारा रक्षणीय है। विश्व-प्रपंच की इस गूढ़ पहेली को सुलझाने के लिए इसी प्रकार के आध्यात्मिक समाधान की आवश्यकता आज सर्वत्र अनुभव की जा रही है।

व्यक्ति की ही भाँति आज परिवार के विघटन तथा पारिवारिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने की परिस्थितियां उत्पन्न हो गयी हैं। भौतिकवादी विचारधारा ने मनुष्य को अधिकाधिक स्वार्थ-प्रवण, आत्मकेन्द्रित तथा परपीडा के अनुभव या संवेदना से विरहित कर दिया है। माता-पिता तथा परिवार के अन्य पूज्य पुरुषों के प्रति आदर और सम्मान का भाव नगण्य हो गया है। माता-पिता भी संतान के प्रति अपने दायित्वबोध को विस्मृत कर रहे हैं तथा भौतिक आवश्यकताओं की तीव्र ललक ने साधनों की पवित्रता के आदर्श को सर्वथा ओझल कर दिया है। पुरानी और नई पीढ़ी के बीच के अन्तराल (Generation gap) की बात कर हम प्रायः अनुशासनहीनता, स्वेच्छाचारिता तथा उच्छृङ्खलता को ही बढ़ावा देते हैं। परिवार के विघटन का जो भयावह रूप आज पश्चिमी समाज में हमें दिखाई देता है उसे देखकर तो यह लगता है कि कहीं यह विध्वंसात्मक प्रक्रिया भारतीय समाज में भी प्रविष्ट न हो जाये। इस सन्दर्भ में हमें देखना होगा कि वैदिक ग्रन्थ आदर्श परिवार के निर्माण तथा उनके सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार की कौन-सी रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड का तीसवां सूक्त इस प्रसंग में हमारा समुचित मार्गदर्शन करता है। यहाँ इस बात को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है कि मनुष्यों में परस्पर प्रेम तथा सौमनस्य भाव रहना चाहिए। एक-दूसरे के प्रति हमारा ममत्व और स्नेह उसी कोटि का हो जैसे एक गाय अपने शिशु वत्स के प्रति प्रकट करती है। पुनः पुत्र को माता-पिता का आज्ञानुवर्ती होने तथा पत्नी को मधुजिह्वा युक्त तथा शान्ति युक्त वचन बोलने के लिए कहा गया है। भाइयों में परस्पर द्वेष एवं विरोध न हो तथा बहिनों के बीच में भी ईर्ष्या का भाव न रहे। परिवार के सभी सदस्य एक ही व्रत का आचरण करने वाले हों, भद्र एवं कल्याणी वाणी का प्रयोग करें।

भौतिकवादी सभ्यता के विनाशकारी प्रभाव को दूर करने के लिए आज के समाजशास्त्रियों ने विभिन्न विकल्पों तथा समाधानों को प्रस्तुत किया है। प्रायः यह स्वीकार कर लिया गया है कि पूंजीवादी दृष्टिकोण ही हमारी कठिनाइयों का मूल है और समाजवाद द्वारा इस विपत्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है। पूंजीवाद के विनाशकारी प्रभाव को दूर करने तथा धन के एकाधिकार को समाप्त करने के लिए संसार में

समाजवादी चिन्तन को बल मिला तथा साम्यवादी विचारधारा को अनेक देशों में अपना लिया गया। वस्तुत: समाजवादी विचारधारा को सर्वप्रथम प्रस्फुटित तथा व्याख्यात करने का श्रेय वेदों को है। अथर्ववेद के उपर्युक्त सूक्त में मनुष्यों में भोजन एवं जल के स्रोतों को भी समान रूप से प्रयुक्त किये जाने की बात कही गई है। वहाँ यह सुदृढ़ विश्वास व्यक्त किया गया है कि मनुष्यमात्र को समान रूप से कर्तव्य भार वहन करने के लिए विधाता ने एक ही प्रकार के जूए (बन्धन) में जोड़ा है। इस प्रकार जब मनुष्य को स्वकर्तव्य पालन के प्रति जागरूक बनाया जायेगा तो उसमें मात्र अधिकारों के लिए झगड़ा करने की प्रवृत्ति स्वत: ही समाप्त हो जायेगी और मनुष्य की सभ्यता के समक्ष उपस्थित विनाश का संकट भी समाप्त हो जायेगा।

वर्तमान कालिक वैश्विक ज्ञान-विज्ञान (Global knowledge systems) की भौतिक सभ्यता का एक अन्य विनाशकारी प्रभाव जो हमें दिखाई पड़ता है वह है मनुष्य में नितान्त वैयक्तिकता के भावों का दृढ़ीकरण। आज हम समाज के प्रति अपने दायित्वबोध को सर्वथा नकार कर स्वहित को ही सर्वोपरि मानने की गलती कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि हम ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तिम 'संज्ञान' सूक्त का विचार करें तो हमें समष्टिचेतना को विकसित करने की बहुमूल्य प्रेरणा मिल सकती है। **'संगच्छध्वं संवदध्वं'** आदि मन्त्र समुदाय हमें साथ चलने, साथ बोलने (अपनी वाणी और अभिव्यक्ति में एकतानता रखने) तथा अपने मनों को एकसा बनाने की प्रेरणा देते हैं। **'ओं सहनाववतु सह नौ भुनक्तु'** उपनिषद् मन्त्र हमें परस्पर रक्षा, सहभोज, सहवीर्यता, विद्यावृद्धि और परस्पर प्रीति की प्रेरणा देता है। वस्तुत: वेद मनुष्य के समक्ष देवताओं के आदर्शों को अपनाने की बार-बार प्रेरणा करता है। अन्यत्र कहा है–**'देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां'** हम देवताओं की कल्याणी मति को प्राप्त करें, तो यहाँ भी इस प्रसंग में दैवी आदर्शों को ही अपनाने की संस्तुति की गयी है। देवताओं के भाग अथवा प्राप्य को पाने के अधिकारी हम तभी हो सकते हैं, जब हममें समष्टिहित की उपर्युक्त भावना विकसित हो सके।

भौतिक सभ्यता ने मनुष्य समाज के बीच फूट, विनाश, विघटन तथा शत्रुता के भाव उत्पन्न किये हैं। आज हमारा पारस्परिक विश्वास का भाव समाप्त हो चुका है तथा मानवजाति के भविष्य के प्रति हमारी आस्था भी खत्म हो चुकी है। हम मानवीय सभ्यता की एकात्मता को भुलाकर अलग-अलग बोलियों में बोलने लगे हैं। सभाओं, समितियों और संगठनों का सर्वत्र प्रसरित जाल मनुष्यों को दिग्भ्रमित, किंकर्तव्यविमूढ़ बना रहा है। ऐसी स्थिति में ऋग्वेद का उक्त अंतिम सूक्त और उपनिषद्-मन्त्र हमारे विचारों की एकता, हमारे संगठन की एकता, हमारे चित्त एवं मन की एकता की बात करता है। इसी प्रकार मनुष्य की संकल्प शक्ति तथा उसके मनोभावों की एकता भी यहाँ अभीष्ट बतायी गयी है।

भौतिकवादी सभ्यता ने हमें हमारे समाज में व्याप्त अनेक विषमताओं, बुराइयों तथा

अज्ञान, अन्याय तथा अभाव से संघर्ष करने में नितान्त दुर्बल तथा अक्षम बना दिया है। भौतिकवादी सभ्यता का ही यह प्रकट अभिशाप है कि आज हमारे समाज का एक वर्ग शिक्षा और संस्कृति के सर्वोच्च सोपान पर अधिरूढ होकर सफलता की चरम सीमा को छू रहा है, वहाँ साधनहीन तथा विपन्न वर्ग के लोग अशिक्षा के गर्त में गिरकर, अज्ञानी रहकर, मध्यकाल की-सी स्थितियों में जीवन यापन कर रहे हैं। भौतिक साधनों के विकास तथा सामरिक हथियारों की वृद्धि ने शक्तिशाली राष्ट्रों को दुर्बल तथा विकासशील देशों पर हावी होने, उन पर नानाविध अत्याचार करने के लिए प्रोत्साहित किया है।

आर्थिक साधनों का दोहन करने की क्षमता भी समाज के कुछ गिने-चुने लोगों को ही उपलब्ध है। परिणामत: समाज में धनी एवं साधन सम्पन्न लोगों तथा विपन्न, दरिद्र एवं शोषित लोगों के बीच की खाई बढ़ रही है। विकसित वाणिज्य-व्यवसाय तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के एकाधिकार ने जहाँ योरोपीय तथा अमेरिकी समाज में विलासिता, निर्बाध कामोपभोग तथा परले दर्जे की इन्द्रियपरायणता को बढ़ावा दिया है, शिश्नदेव और कोकयातुओं को ही पैदा किया है, वहाँ पिछडे और निर्धन राष्ट्रों के लाखों नागरिक अपने राजनैतिक एवं आर्थिक अधिकारों से वंचित होकर शोषण, भुखमरी, महामारी तथा अन्तत: विनाश के शिकार हो रहे हैं। वाणिज्य-व्यवसाय में मशीनों के अत्यधिक उपयोग ने मनुष्य को ही यान्त्रिक नहीं बनाया, उसकी संवेदना तथा सहानुभूति को भी कुंठित कर दिया है। फलत:, अत्याचार एवं शोषण की पीड़ा को भोगने वाली अशेषमानवता सभ्य देशों की दानवाकार वणिक्-वृत्ति से त्रस्त, पीड़ित तथा अभिशप्त हो रही है।

वेदों ने मानव जाति को विनाश के मुख में ले जाने वाले उपर्युक्त अज्ञान, अन्याय तथा अभाव का सामना करने के लिए एक ऐसी व्यवस्था (वर्ण, Class) को जन्म दिया था जिसे आज के सन्दर्भ में भी सर्वथा प्रासंगिक कहा जा सकता है। अज्ञान के निवारण के लिए ब्राह्मण, अन्याय के प्रतिकार के लिए क्षत्रिय तथा अभावों को दूर करने के लिए वैश्य वर्ग को सन्नद्ध कर वेदों ने समाज में श्रमविभाजन की आदर्श कल्पना को तो मूर्तिमान् किया ही, उसने यह भी माना कि मनुष्य समाज में सबकी प्रवृत्तियां, शक्तियां, रुचियां तथा क्षमताएं असमान होती हैं (ऋग्० 10.117.9), अत: अच्छा यही है कि स्वरुचि, स्वशक्ति तथा स्वप्रवृत्ति के अनुसार ही मनुष्य को अपने व्यवसाय एवं कार्य को चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाये। वेदों की इस व्यवस्था को आद्यधर्मशास्त्र के आधार पर निम्न चार्ट द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है–

क्रम सं.	**नाम वर्ण**	**परलोक संबन्धी कर्तव्य**	**धनोपार्जन के लिए लोक संबन्धी कर्तव्य**
1.	ब्राह्मण	ज्ञानोपार्जन करना, यज्ञ=उत्तम कर्मों को निष्कामता से करना, दान देना	शिक्षा देना, यज्ञ करना

2.	क्षत्रिय	ब्राह्मण की तरह	राज्य करना तथा युद्ध और शासन विभाग के अन्य कार्यों को करना
3.	वैश्य	ब्राह्मण की तरह	व्यापार-कृषि-पशुपालन तथा अन्य बड़े-बड़े व्यवसायों का करना
4.	शूद्र	योग्यता के अनुसार	शारीरिक परिश्रम करना

उपर्युक्त चार्ट पर दृष्टि डालने से, यह बात साफ जाहिर हो जाती है कि परलोक संबन्धी कार्यो में कोई वर्णभेद नहीं है। इसीलिए ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी का कोई वर्ण नहीं होता। वर्ण भेद जीविका उपलब्ध करने के, लोक संबन्धी कार्यों में है। गृहस्थ आश्रम का आरम्भ आयु के पच्चीसवें वर्ष से होता है, वर्णों का प्रारम्भ भी उसी समय से हुआ करता है। इसलिए वर्णों का जन्म से कोई संबन्ध नहीं हो सकता। ये वर्ण न तो जीवन के प्रारम्भ से शुरु होते हैं न जीवनान्त तक रहा करते हैं। इनका संबन्ध बीच के एक आश्रम से है जिसका समय 25 वें से 50 वें वर्ष तक का है, इसलिए प्रचलित जन्म की जातियों का भी इस वर्ण व्यवस्था (Class systems) से कोई संबन्ध नहीं। यह दूसरी बात है कि कालान्तर में यह वर्णविधान जन्मना आधार पर जातिवाद (Castism) के रूप में रूढ़ हो गया जिसके फलस्वरूप समाज को विविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने वेद के कतिपय उन स्थलों को उपस्थित किया है जो वर्तमान भौतिकता प्रधान समाज के सम्मुख प्रस्तुत कुछ ज्वलन्त समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। आध्यात्मिक प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देने के साथ-साथ मनुष्य जाति की लौकिक समस्याओं का विश्वसनीय ढंग से हल करने के उपयों को सुझाने के कारण वेदों को अपराविद्या का ग्रन्थ कहा गया है। इसके विपरीत ईशादि उपनिषद् शुद्ध पराविद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) के भण्डार माने जाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उपनिषदों में हमारे सांसारिक पक्ष की अवहेलना की गयी है। हम ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र को ही लें। इसमें जहां ईश्वर के सर्वव्यापक होने तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का आधार होने की बात कही गयी है, वहां यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ईश्वर रचित इस सृष्टि में मनुष्य को सर्वथा प्रलोभनहीन होकर ही रहना चाहिए। ईश्वर-प्रदत्त वस्तुओं का हम भोग अवश्य करें किन्तु उनमें लिप्त न हों।

'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' इस उपनिषद्-वाक्य की ही कालान्तर में गीता में विस्तृत व्याख्या की गई और **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** की बात कही गई। उपनिषद्-मन्त्र के अन्त में **'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** कहकर यह स्पष्ट कर दिया गया कि लालची मनुष्य के लिए इस संसार में सुख की प्राप्ति असम्भव है। वास्तव में भौतिक

ऐश्वर्य एवं धन, सम्पत्ति पर एकाधिकार स्थापित करने की कामना ही हमारे विनाश का मूल कारण बन सकती है। अन्यत्र कठोपनिषद् में भी इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि केवल वित्त (धन) से ही मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती–**'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**। आज की भौतिकवादी सभ्यता धनोपार्जन तथा उसके निर्बाध उपभोग को ही जीवन की चरम सार्थकता मान बैठी है। किन्तु उपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि केवल धन और ऐश्वर्य ही मनुष्य को सम्पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर सकते। कामोपभोग से कामनाएं शान्त नहीं होतीं अपितु अग्नि में ज्वलनशील सामग्री के ड़ाले जाने पर जिस प्रकार वह अधिक तीव्र होती है, उसी प्रकार उपभोग से हमारी कामनाएं अभिवृद्ध ही होगीं, शान्त नहीं।

संसार को मनुष्य के लिए कर्म क्षेत्र कहा है। यहां हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। ईशोपनिषद् का यह मन्त्र मनुष्य को शतायु पर्यन्त कर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है–**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥** (मन्त्र सं. 2) प्रायः देखने में आता है कि भौतिकवाद के प्रसार ने संसार में कुछ ऐसे व्यक्तियों को भी जन्म दिया है जो अकर्मण्य होकर विलासमय जीवन व्यतीत करने के स्वप्न देखते हैं। ऐसे लोग पुरुषार्थ की अपेक्षा भाग्य को ही वरीयता प्रदान करते हैं और आलस्य एवं प्रमाद का जीवन ही जीना चाहते हैं। उपनिषद् की शिक्षा भाग्यवाद तथा अकर्मण्यता का घोर विरोध करती है और मनुष्य को कर्मठ जीवन व्यतीत करने के लिए कहती है। **'क्रतुमयो अयं पुरुषः'** की सूक्ति के अनुसार मनुष्य का कर्मशील होना ही उसका सबसे बड़ा गुण है।

इसी प्रकार उपनिषद् आत्महत्या को घोर पाप मानते हैं। आज की भौतिकता प्रधान संस्कृति में रहने वाला मनुष्य जब अपने लक्ष्य प्राप्त करने में स्वयं को असफल मानता है तो वह तुरन्त आत्महत्या का रास्ता चुनता है। उपनिषद् के विचारानुसार आत्महनन करने वाले व्यक्ति तो उन असुर लोकों की ओर जाते हैं जो अज्ञानतमसाच्छन्न हैं। उपनिषदों का आशावाद आत्महत्या, आत्मपीडन और आत्मग्लानि के सर्वथा विरुद्ध है।

कर्म और ज्ञान के समन्वय का उपदेश देकर उपनिषद् ने हमारी सभ्यता के सम्मुख प्रस्तुत एक और चुनौती का उत्तर दिया है। भारतीय सभ्यता को यदि अपने वैचारिक मानदण्डों तथा उच्चस्तरीय दार्शनिक चिन्तन पर गर्व है तो पश्चिम के लोग अपनी गतिशीलता तथा कर्ममय जीवन शक्ति पर गर्व का अनुभव करते है। हमारे देश ने विश्व को प्रबुद्ध चिन्तक, विचारक तथा दार्शनिक प्रदान किये हैं, जबकि पश्चिम ने ज्ञान–विज्ञान, कला–कौशल, शिल्प और वाणिज्य के क्षेत्र में उच्चकोटि की उपलब्धियां प्राप्त करने वाले पुरुषों को जन्म दिया है। आज की सामाजिक व्यवस्था में ज्ञान और कर्म, दो सुदूरवर्ती छोरों पर खड़े दिखाई देते हैं। भौतिकवाद ने लोगों को इतना अधिक

ग्रस्त कर लिया है कि वे जीवन की कार्मिक व्यस्तताओं से क्षणभर के लिए भी अवकाश प्राप्त नहीं कर पाते और रात-दिन अर्थ-प्राप्ति की हाय-हाय में लगे रहते हैं। विशेषत: महानगरीय जीवन तो आज की सभ्यता का नितान्त विकृत एवं अभिशप्त रूप पेश करता है, जहां लोग मुँह अंधेरे उठकर जीविकोपार्जन में लग जाते हैं और रात्रि को उस समय घर लौटते हैं जबकि संसार सोने की तैयारी करता है। ऐसे व्यस्त एवं व्याकुल जीवन में मनुष्य मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासन के लिए समय कैसे निकाल सकता है? इसी विड़म्बनात्मक स्थिति का समाधान करने के लिए हमारे ऋषियों ने वैदिक वाङ्मय में ज्ञान और कर्म के समन्वय पर जोर देते हुए स्पष्ट किया है कि **'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते'** अर्थात् कर्मशील जीवन को धारण कर यदि हम मृत्यु मुख से छूटते हैं तो विद्या (ज्ञान) के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

बड़े-बड़े नगर वेद को प्रिय नहीं हैं। वेद में ग्रामों का उल्लेख है। निवेशनी=खुलापन (यजु. 36.13) ग्रामसभ्यता में अधिक सम्भव है। खुले भवनों में ही मस्तिष्क का ठीक विकास होता है और मनुष्य की बुद्धि को बढ़ावा मिलता है। गगनचुम्बी अट्टालिकाएं केवल वैभव का प्रदर्शन मात्र हैं जो कि भोगवाद (पिव, भुङ्क्ष्व रमस्व च–Eat, drink and be marry) को ही बढ़ाने वाली हैं। अथर्ववेद का ऋषि वैदिक घरों की सादगी का वर्णन करते हुए कहता है कि उपजाऊ और पानी वाली भूमि पर छोटी-सी निर्वाह योग्य जिसमें समस्त आवश्यक अन्न भरे हैं, तृण से छाई हुई और तोरण बन्दनवारों से सजी हुई, लकड़ी के खम्भों पर हस्तिनी की भाँति थोड़ी-सी जमीन पर स्थित, दो छप्परवाली, चार छप्परवाली, छह छप्परवाली, आठ तथा दश छप्परवाली शाला (घर) मेरी इज्जत बचाने वाली हो (9.3.16, 17, 21)। अत: यदि सुकून की जिंदगी आज का मनुष्य चाहता है तो उसे वेद-निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण कर, प्रकृति का दोहन बन्द कर तथा कंकरीट के जंगल कम कर ग्राम्यसंस्कृति की ओर बढ़ना चाहिए। इसी में शान्ति है। नगरीय संस्कृति में व्यक्ति कृत्रिम बनता है। यह संस्कृति अशान्ति की जन्मदात्री भी है। इसलिए आज इस वैदिक चिन्तन की सबसे ज्यादा प्रासंगिकता है। तथाकथित सभ्य से सभ्यतम अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में वह शान्ति कहां जो वेदों में उल्लिखित ग्राम्य संस्कृति में वर्णित है।

वेदों में मनुष्य का भोजन शाकाहार को बताया गया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है–**अजीजन ओषधिर्भोजनाय** (ऋ. 5.83.10)। अर्थात् हे बादल! तू बहुत बरस चुका, अब तो वर्षा को रोक ले। तूने भोजन के लिए औषधियों को प्रभूत मात्रा में उत्पन्न कर दिया है। काशिकाकार के अनुसार औषधी उन वनस्पतियों को कहते हैं जो पकने के बाद नष्ट हो जाती हैं (**ओषध्य: फलपाकान्ता:**) जैसे गेहूँ, चना, मूंग, उड़द, चावल आदि। यजुर्वेद के 18वें अध्याय में इसी प्रकार के 12 अन्नों का उल्लेख हुआ है। मनुष्य के शरीर की बनावट की दृष्टि से ये अन्न आदि ओषधियां ही मनुष्य का भोजन हैं। मांस आदि भोजन के रूप में कभी नहीं हो सकते, क्योंकि मनुष्य के शरीर

में बड़ी आँते होती हैं जबकि मांसाहारी शेर आदि प्राणियों के शरीर में छोटी आँत होती है जिससे मांस आदि उनका भोजन जल्दी पच जाता है। परन्तु मनुष्य का शरीर स्वाभाविक रूप से शाकाहारी होने से इन मांस आदि को जल्दी नहीं पचा सकता। अतः मांसाहारी मनुष्य अल्कोहल (शराब) का सेवन करता है। जो कि मनुष्य की प्रकृति के विपरीत है। यजुर्वेद के 36वें अध्याय में उल्लेख है कि परमात्मा जहाँ हमारे दोपाये प्राणियों की रक्षा करे वहीं चौपाये गौ आदि प्राणियों के लिए भी कल्याणकारी हो। क्योंकि प्रकृति में विक्षोभ पैदा होने के अनेक कारणों में द्विपाद और चतुष्पाद प्राणियों की सामूहिक रूप से हो रही निर्मम हत्या भी है। वेद के अनुसार यही भयानक स्थिति है (**अनागो हत्या वै भीमा**)। एक अध्ययन के अनुसार आज संसार में निरीह-मूक-बधिर प्राणियों की तथाकथित धर्मों के कर्मकाण्ड (Ritual) के नाम पर अपनी जिह्वा के स्वाद के लिए की जाने वाली हत्याएं भूकम्प, चक्रवात, सुनामी आदि का कारण बन रही हैं। अतः आज वैदिक चिन्तन की प्रासंगिकता इस भौतिक युग में बढ़ गई है क्योंकि भूमि पर इस तरह के प्राकृतिक प्रकोप बार-बार आ रहे हैं। इनका समाधान केवल मात्र वैदिक चिन्तन में ही है। वैदिक चिन्तन में पृथ्वी, जल, आकाश आदि सर्वत्र स्थानों में शान्ति की कामना की गई है।

संसार में तर्क और श्रद्धा (भक्ति, विश्वास) के समन्वय के अभाव में बहुत हानि हुई है। केवल तर्क बढ़ने पर नास्तिकता और केवल भक्ति बढ़ने पर अंधविश्वास में बढ़ोतरी देखी गई है। अतः वेद इन दोनों को मिलाने की बात करता है। इन दोनों के समन्वय से सब कार्य ठीक तौर पर सम्पन्न होते हैं। इसी बात को वेद में निम्न काव्यमय भाषा में कहा गया है–

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधिशीर्षतः॥ अथर्व. 10.2.26

इस मन्त्र का भाव है कि अथर्वा को चाहिए कि वह मस्तिष्क (दिमाग) और हृदय (दिल) को सीकर कार्य करे। संसार के अन्दर शिक्षा की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि जिससे पढ़ने वाले के सिर की विचार शक्ति बढ़े और साथ-साथ हृदय की भक्ति भी बढ़े। जिस शिक्षा-प्रणाली से केवल तर्कशक्ति बढ़ती है, अथवा केवल भक्ति बढ़ती है, वह बड़ी घातक शिक्षा है। सिर और हृदय को एक मार्ग में लाकर उनको साथ-साथ चलाने का जो स्पष्ट उपदेश उक्त वेद मन्त्र में है, वह संसार के किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं है। वेद की प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ के रूप में यह सबसे बड़ी विशेषता है। अन्य मतमतान्तरों में केवल विश्वास पर बल होने से जो अत्याचार बुद्धिमान्, तार्किक, विचारशील, नर-नारियों पर किये गये, उनका कारण यह श्रद्धा और मेधा अथवा विश्वास और तर्क के समन्वय का अभाव ही था। यह बात डब्ल्यू. ड्रापर द्वारा लिखित ग्रन्थ History of the Conflict between Religion and Science से भी पता चलती है।

तर्क और विश्वास के समन्वय के अभाव में ही गैलीलियो और ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों पर ईसाई धर्म गुरुओं की ओर से जो अत्याचार किये गये उनको सुनकर और पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अतः वैदिक ज्ञान की प्रासंगिकता आज और बढ़ जाती है। इसी प्रकार मुस्लिम जगत् में भी तर्क (विवेक) के अभाव में श्रद्धा अन्धविश्वास में परिणत हो गयी है। जैसे ईसाइयत में ईसामसीह पर विश्वास को मोक्ष की प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना गया है, वैसे मुसलमानी मत में पैगम्बर मुहम्मद सहाब पर अन्तिम पैगम्बर के रूप में विश्वास को अनिवार्य माना गया है। जिसके बिना कोई उच्चतम व्यक्ति भी स्वर्ग-प्राप्ति का अधिकारी नहीं बन सकता। पौराणिक और जैन आदि मतों में भी तर्क तथा प्रकृति नियम विरुद्ध बहुत सी बातें पायी जाती हैं। पौराणिक मत के ग्रन्थों में ऐसी बहुत-सी बातें पाई जाती हैं जो तर्क, बुद्धि तथा प्रकृति नियम के सर्वथा प्रतिकूल हैं।

महर्षि दयानन्द ने अपने कालजयी ग्रन्थ **सत्यार्थप्रकाश** के 11वें समुल्लास की अनुभूमिका प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि 'पाँच सहस्त्र वर्षों के पूर्व वेद मत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था, क्योंकि वेदोक्त सब बातें विद्या से अविरुद्ध हैं। वेदों की अप्रवृत्ति से अविद्या अन्धकार के भूगोल में विस्तृत होने से मनुष्यों की बुद्धि भ्रमयुक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया'। महर्षि के उपरोक्त वचन से तीन तथ्य स्पष्ट हैं—पहला कि संसार में वेदों की शिक्षाओं का पालन न करना ही अनेक अन्धविश्वासों का कारण है। दूसरा वेद के सभी उपदेश विद्या की वृद्धि के लिए ही हैं जिनका आचरण करके मनुष्य सुख- आनन्द-अमृत की प्राप्ति करता है (विद्ययाऽमृतमश्नुते, यजु. 40.14) और तीसरा वेदों की आज्ञा का उल्लघंन करने के कारण धार्मिक ही नहीं अपितु सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्रों में भी अनेक मत एवं वाद उत्पन्न हो गये हैं जिनका प्रभाव वर्तमान ज्ञान-विज्ञान पर भी देखा जाता है। ज्ञान-विज्ञान के कई क्षेत्रों में झूठे वाद और सिद्धान्त पैदा हो गये हैं। जो कि श्रवण करने से बड़े प्रभावी लगते हैं, परन्तु अन्तः परीक्षा करने पर झूठ का पुलिन्दा सिद्ध होते हैं। तुलनात्मक भाषा विज्ञान और साइंस में विकास का सिद्धान्त इसके जीते जागते उदाहरण हैं। सामान्य जन की तो कथा ही क्या विद्वज्जन भी भ्रमयुक्त हो गये हैं। किसी एक विषय पर उनकी सम्मति नहीं हो पाती। फलतः अशान्ति का भोग करके मनुष्य जाति अपने दुर्भाग्य को कोस रही है।

नीतिकारों का मानना है कि सुख का मूल धर्म है—**सुखस्य मूलं धर्मः।** धर्म का संबन्ध इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति के साथ है। जिसे कणाद ने उभयविध उन्नति के साथ परिभाषित किया है। आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार की उन्नति का सम्बंध धर्म के साथ है। इस प्रकार धर्म का मूल यदि हम खोजना चाहते हैं, वास्तविक आध्यात्मिकता को पाना चाहते हैं तो हमें वेदों की ओर लौटना होगा। क्योंकि वेद सब धर्मों का मूल है। वास्तविक आध्यात्मिकता से परमात्म-प्राप्ति होती है, जिसे कैवल्य, मुक्ति और परमानन्द आदि कहते हैं। सामवेद के एक मन्त्र में लिखा है कि पर्वतों के एकान्त में अथवा समीप में और नदियों के संगम स्थल पर ध्यान द्वारा वह सर्वव्यापक

परमात्मा अन्त:करण में प्रकट होता है।' अपौरुषेय ज्ञान वेदों में यह कहीं नही लिखा है कि वह परमेश्वर मनुष्यकृत स्थान विशेषों पर जैसे मन्दिर, मस्जिद, चर्च, दरगाह, पीर आदि पर फूल आदि चढ़ाने और मत्था टेकने पर मिलता है। वह परमात्मा प्राकृतिक स्थलों पर, स्वच्छ वातावरण में, प्रकृति की गोद में बैठकर मिलता है। नदियों का तट, पर्वतों की तलहटी ये प्राकृतिक स्थल हैं। भारतवर्ष के ऋषि-मुनि इन्हीं स्थानों पर बैठकर परमात्म-चिन्तन करते थे। अत: आज के विश्व की सबसे बड़ी समस्या जिसमें कि विभिन्न धर्मस्थानों को लेकर प्रतिदिन झगड़े होते हैं, इंसान का खून बहाया जाता है, से निजात पाना चाहते हैं तो वेदों की प्रासंगिकता को समझते हुए उनमें निर्दिष्ट आदेशों का पालन करना होगा। वेदों में विज्ञान की वे सच्चाइयां भी हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं जान पाया है। ऐसा योगी अरविन्द का मानना है। वेदों में न केवल पूर्ण जीवन के लिए उपयोगी धार्मिक सिद्धान्त बताये गये हैं, अपितु उन तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया है जिन्हें विज्ञान ने सत्य प्रमाणित किया है। चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय और मनुष्य के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन वेदों में पाया जाता है। अत: वेद मानव मात्र के लिए न केवल पठनीय हैं अपितु उनके ज्ञान को अपने जीवन में भी उतारना चाहिए, आत्मसात् करना चाहिए। एक बार एक महात्मा ने एक व्यक्ति को शराब के कुल्ले कराए फिर उससे पूछा क्या तुम्हें नशा हुआ? वह बोला-नहीं। महात्मा ने कहा देखो! जिस प्रकार बिना अन्दर जाए शराब नशा नहीं करती, उसी प्रकार धर्म भी जब तक अन्दर से नहीं अपनाया जाता, तब तक व्यक्ति धार्मिक नहीं बनता वेद धर्म का, सत्य का मूर्तरूप है।

भारतीयों को भारतीय बने रहने के लिए वेदों का पढ़ना, तदनुकूल आचरण करना अत्यन्त आवश्यक है। एक भारतीय के जन्म पूर्व से लेकर मृत्यु पर्यन्त होने वाले सभी संस्कार वेदमन्त्रों से ही होते हैं। इनके बिना इनका होना असंभव है। हमारी दैनिक प्रार्थना, देवी-देवता, उपासना, अनुष्ठान, पर्व, यज्ञ, मान्यताऐं-परम्पराऐं सभी वेदों से अनुप्राणित हैं। अत एव लोकमान्य तिलक ने हिन्दू (आर्य) का लक्षण ही-'**प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु**' किया है। अर्थात् हिन्दू वही है जो वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है। प्रामाणिकता ही नहीं व्यवहारिकता के लिए भी वेदों का ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक धारणा, विचारणा का मूलस्त्रोत वेद ही है।

वेदों की प्रासंगिकता न केवल हिन्दुओं के लिए ही है अपितु सिख, ईसाई और मुसलमानों को भी इनका पढ़ना अत्यन्त अवश्यक है। सिखों के गुरु ग्रन्थसाहब में सैकड़ों स्थलों पर वेद का नाम आया है। जैसे-

1. ओंकार वेद निरमए।
2. चार दीवे चहु हथ दीए, एका एकी बासी।
3. असंख्य ग्रन्थ मुखि वेद पाठ।

4. वेद वखिआन करत साधूजन, भागहीन समझत नहीं खलु।

5. वेद कतेव कहहु मत झूठे, झूठा जो न विचारे।

आदि अनेक स्थलों की व्याख्या वेदों के बिना होनी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। **जपु जी सहाब** की व्याख्या में महात्मा हर प्रसाद वैदिक मुनि ने इस प्रकार के उद्धरण दिये हैं जिनसे इन बातों का ज्ञान होता भी है। आचार्य चमूपति, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द, पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड के ग्रन्थों से भी इस बात की पुष्टि होती है।

मुसलमानों को मुख्य रूप से इसलिए वेद पढ़ना चाहिए जिससे वे जान सकें कि 1400-1500 वर्ष पहले प्रारम्भ हुए इस्लाम के धर्मग्रन्थ **कुरान** के सिद्धान्त कितने सारयुक्त हैं व कितने सारहीन हैं? एक ईश्वर विषयक जो चिन्तन कुरान में है उस पर वेद की छाया देखी जा सकती है। यदि कुरान के कहानी-भाग को एक ओर रख दें तो कुरान में जो कुछ भी हितकर, सार्वभौमिक व नित्य सत्य है-वह सब वेदोक्त है। प्रचलित इस्लाम कुछ और है और इस्लाम की जान कुछ और है। जिन्नों, हूरों, फरिशतों, जन्नत, जहन्नुम की कहानियां इस्लाम नहीं हैं। अन्धविश्वास से मुक्त शुद्ध इस्लाम वैदिक धर्म से न्यारा कुछ भी नहीं है। यह मुसलमानों को वेदों का स्वाध्याय करने से ही पता चलेगा।

न केवल मुसलमानों को ही अपितु ईसाइयों को भी इसलिए वैदिक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए जिससे वे अपने सिद्धान्तों की सही व्याख्या कर सकें। ऐसे ही सिद्धान्तों में इनका एक सिद्धान्त इस प्रकार है–

ईसाइयों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'New Testament' के Chapter.1 verse 01 में आता है —In the begining was the word and the word was with God, and the Word was God' अर्थात् आरम्भ में शब्द था और ईश्वर के साथ शब्द था और शब्द ईश्वर था।' बाइबल के इस स्थल की व्याख्या कतिपय प्रमुख पादरियों से पूछी गयी परन्तु वे इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाये कि यहाँ Word (शब्द) का क्या आशय है। न ही इसकी व्याख्याओं से ही पता चलता है। श्री राजेन्द्र जिज्ञासु के अनुसार यहाँ Word का का मतलब 'वेदज्ञान' से है। यदि ईसाई इसको समझना चाहते हैं तो उन्हें वेद के 'ज्ञान' सूक्त को पढ़ना चाहिए। निम्न मन्त्र के आलोक में बाइबल के उपर्युक्त स्थल को समझा जा सकता है–

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरि प्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

(ऋ.10/71/1)

इसलिए वेद की प्रासंगिकता केवल हिन्दुओं के लिए ही नहीं अपितु सकल मानवमात्र के लिए है। जहां इनका साहित्यिक, सांस्कृतिक, भाषावैज्ञानिक, धार्मिक आनुसंधानिक दृष्टि प्राप्त्यर्थ अध्ययन करना चाहिए वहीं परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व,

जीवमात्र और प्रकृति के प्रति हमारे क्या कर्तव्य हैं इनका बोध भी वेदों के अध्ययन से ही सही रूप में होता है। क्रियात्मक जीवनशैली (way of practical life) का ज्ञान वेदों से होता है। वेदों के अध्ययन से व्यक्ति का दृष्टिकोण व्यापक बनता है। वह फिर हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई नहीं बनता अपितु सच्चे अर्थों में इन्सान बनता है। लूई पेश्चर के शब्दों में ऐसा व्यक्ति जो देश, जाति, तथाकथित धर्म आदि की संकीर्णताओं को तोड़कर दुनिया के दर्द को अनुभव करता है। अत एव वेदों की प्रासंगिकता है तभी तो भगवती श्रुति कहती है–

संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि। (अथर्व. 1/1/4)

अर्थात् मैं श्रुति-वेद के पथ पर चलूँ कभी इससे विपरीत न जाऊं।

-प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

पातु नो देवी सुभगा सरस्वती। -अथर्व. 6.3.2
सौभाग्यदात्री वेदमाता हमारी रक्षा करे।

प्रियाः श्रुतस्य भूयास्म। -अथर्व. 7.61.1
हम वेद-प्रिय बनें।

राष्ट्रिय वैदिक संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र (13 मार्च, 2015) के अवसर पर 'वेदश्चक्षुः सनातनम्' स्मारिका का विमोचन करते हुए बांये से – डॉ. शिवकुमार चौहान, डॉ. एम.आर. वर्मा, प्रो. सुरेन्द्र कुमार (कुलपति), आचार्य बालकृष्ण जी (कुलपति, पतञ्जलि विश्वविद्यालय), संगोष्ठी संयोजक प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री, प्रो. रूपकिशोर शास्त्री (सचिव, म.सा.रा.वे.वि.प्र.), आचार्य सिद्धार्थ कृष्ण एवं प्रो. सोमदेव शतांशु

राष्ट्रिय वैदिक संगोष्ठी के समापन समारोह (15 मार्च, 2015) में उपस्थित बांये से – प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री, सान्दीपनि वेद विद्या प्रतिष्ठान के सचिव प्रो. रूपकिशोर शास्त्री, सीकर (राज.) से सांसद स्वामी सुमेधानन्द सरस्वती, प्रो. सुरेन्द्र कुमार (कुलपति), हरिद्वार से सांसद डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक', स्वामी नारायण इन्स्टीट्यूट के परमाध्यक्ष म.म. साधु भद्रेश जी, गुरुकुल वि.वि. के कुलसचिव प्रो. एम.आर. वर्मा, प्रा.वि.सं. के अध्यक्ष प्रो. सोमदेव शतांशु

संक्षिप्त वृत्तान्त
(A Brief Report)

त्रिदिवसीय अखिल भारतीय वैदिक संगोष्ठी

विषय :-वैश्विक ज्ञान-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में वेदों की प्रासंगिकता
(Relevance of the Vedas in Perspective of
Global knowledge Systems)

दिनांक - 13 से 15 मार्च 2015

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के वेद विभाग द्वारा महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान उज्जैन के संयुक्त तत्त्वावधान में एक वैदिक सम्मेलन 13 से 15 मार्च 2015 को आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 350 से अधिक प्रतिभागी वैदिक विद्वानों ने प्रतिभाग किया। जो कि देश के 15 से अधिक प्रान्तों जैसे उत्तराखण्ड, दिल्ली, हरियाणा, जम्मूकश्मीर, मध्यप्रदेश, पश्चिमबंगाल, गुजरात, उत्तरप्रदेश, तेलंगाना, राजस्थान, पंजाब, महाराष्ट्र, मुम्बई, चण्डीगढ, हिमाचल प्रदेश, पाण्डिचेरी आदि से पधारे थे। विविध स्थानों से पधारे इन विद्वानों ने वैदिक साहित्य में विज्ञान-भौतिकी, रसायन, वनस्पति, अभियान्त्रिकी एवं प्रौद्योगिकी, भूगर्भविज्ञान, जीव विज्ञान, कृषि विज्ञान, वैदिक चिकित्सा-विज्ञान, वैदिक गणित, वेदों में ज्योतिष का स्वरूप, प्रबन्धकीय सिद्धान्तों का वैदिक दृष्टिकोण, वैश्विक कल्याण और वैदिक परम्पराएं, वैदिक दर्शन, वेदों में योग विद्या, वैदिक देववाद, वैदिक वाङ्मय में पर्यावरण चिन्तन, वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, वैदिक अर्थशास्त्र, वैदिक समाज, वेदों में भक्ष्याभक्ष्य विवेचन, धर्मों का आदिस्रोत वेद, वैदिक कर्मकाण्ड, वेद और विश्वशान्ति, वेदों में काव्य सौन्दर्य, वैदिक प्रतीकवाद, वैदिक शिक्षा-दर्शन, वेद और वेदांग, वेदवाक् और संस्कृत भाषा, वेद और संगीतशास्त्र, विविधकलाएं, मनोरंजन के साधन, खेलकूद, वेदों में मनोविज्ञान, वैदिक सृष्टि-विज्ञान आदि विषयों पर अपने विचार लिखित एवं मौखिक रूप में प्रयुक्त करते हुए वैश्विक ज्ञान-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में वैदिक चिन्तन की प्रासंगिकता को सिद्ध करने का उच्च प्रयास किया। क्योंकि वर्तमान में विश्व के देशों ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति तो बहुत की है परन्तु इस उन्नति ने केवल भौतिकता को ही बढ़ावा दिया है। जिस कारण विश्व के सारे देश अनेकविध चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। आज सर्वत्र प्रवर्तमान भ्रष्टाचार, चोर बाजारी, रिश्वतखोरी, आंतकवाद, मानवजाति के विध्वंसक

शस्त्रास्त्रों और अणुबमों के संग्रह ने मानव जाति को हिला कर रख दिया है। इसने जहाँ बाह्य पर्यावरण प्रदूषित कर दिया है वहीं मानव के भाव जगत् को भी दूषित कर दिया है जिससे मानसिक तनाव (हाइपरटेंशन) बढ़ रहा है। जो कि इंसान को खोखला कर रहा है। अनेक प्रकार के शारीरिक रोग भी पनप रहे हैं। अपने वक्तव्यों में विद्वानों ने स्पष्ट किया कि संसार की समस्त समस्याओं का एक मात्र समाधान वेद के पास है। वेद के लिए सिवाए अन्य किसी में यह शक्ति नहीं है, जो गिरते मानव मूल्यों से मानव जाति को बचा सके। क्योंकि विश्व का समस्त आधुनिक ज्ञान-विज्ञान एकांगी है, जो कि मानव जीवन को एक अविच्छिन्न इकाई के रूप में प्रस्तुत कर उसके सर्वांगीण विकास और मानव जीवन में समता की भावना उत्पन्न करने के लिए कोई सुनिश्चित एवं सुनियोजित दर्शन, समाज व्यवस्था, शासन व्यवस्था और आचार शास्त्र (Ethics) नहीं दे सकता है। इस संगोष्ठी में प्रतिभागी विद्वानों ने विश्वास व्यक्त किया कि वेदों में मानव के व्यष्टि एवं समष्टिगत सर्वविध विकास का सही मार्ग प्रतिपादित हुआ है। वह मार्ग सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है और मानव मात्र के लिए समान रूप से सेवनीय है। वेदों में प्रतिपादित ज्ञान-विज्ञान की प्रासंगिकता (Relevance) हमेशा से रही है। इसकी जैसे प्राक्तन वैदिक काल में आवश्यकता थी वैसे ही आज भी है और आगे भी रहेगी।

उक्त संगोष्ठी में अलग-अलग भवनों में समानान्तर रूप से अनेक सत्र हुए। परन्तु 13 मार्च के उद्घाटन सत्र और 15 मार्च को समापन सत्र विशेष आकर्षण का केन्द्र रहे। इन दोनों ही सत्रों की अध्यक्षता गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. सुरेन्द्र कुमार ने की। उद्घाटन सत्र में ओंकारानन्द इन्स्टीट्यूट ऋषिकेश के आचार्य श्री सिद्धार्थकृष्ण विषय प्रवर्तक विद्वान् के रूप में आमंत्रित थे। मुख्य अतिथि के रूप में अपनी उपस्थिति से पतंजलि योग विश्वविद्यालय के कुलपति आचार्य बालकृष्ण जी ने कार्यक्रम की शोभा में चार चाँद लगाये। अपने उद्बोधन में आचार्य बालकृष्ण जी ने वैदिक ज्ञान की विशेषकर वैदिक आचार शास्त्र और आयुर्वेद शास्त्र की प्रासंगिकता को छोटे-छोटे परन्तु बहुत उपयोगी उदाहरण देकर रेखांकित किया। इस सत्र में वैदिक संगोष्ठी में पढ़े जाने वाले संगोष्ठी से एक सप्ताह पूर्व तक उपलब्ध 200 से अधिक शोध-पत्रों के सारांश की स्मारिका **'वेदश्चक्षुः सनातनम्'** का विमोचन भी गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार के कुलपति डॉ. सुरेन्द्र कुमार, आचार्य बालकृष्ण जी और मंचासीन विद्वानों के द्वारा किया गया। समापन सत्र में विश्व के अनेक देशों के प्राचीन से प्राचीनतम विश्वविद्यालयों की सारस्वत यात्रा कर लौटे स्वामी नारायण रिसर्च इन्स्टीट्यूट अक्षर धाम दिल्ली के सर्वश्री म.म. साधु भद्रेश दास जी ने विश्व में भारतीय विद्याओं पर हो रहे शोध कार्यों पर पावर पाइन्ट प्रजन्टेशन के माध्यम से समापन व्याख्यान दिया जो कि इस सम्मेलन का विशेष आकर्षण रहा। समापन सत्र में मुख्य अतिथि उत्तराखण्ड के पूर्व मुख्यमंत्री एवं वर्तमान में हरिद्वार के सांसद डॉ. रमेश

पोखरियाल निशंक और विशिष्ट अतिथि के रूप में सीकर राजस्थान के सांसद स्वामी सुमेधानन्द सरस्वती जी थे। दोनों ही विद्वान् सांसदों ने अपने वक्तव्यों में वैदिक चिन्तन की उपयोगिता को सिद्ध किया। इस सम्मेलन में राष्ट्रपति सम्मान से पुरस्कृत कई जाने माने अंगुलिगण्य वयोवृद्ध वैदिक मनीषियों ने भी उपस्थित होकर जहाँ अपना आशीर्वाद दिया वहीं विविध सत्रों में श्रोता के रूप में उपस्थित होकर चर्चा–परिचर्चा में भाग लेकर अपने अनुभवों से युवा प्रतिभागियों का मार्गदर्शन भी किया एवं कार्यक्रम की शोभा में वृद्धि की। ऐसे विद्वानों में जम्मूकश्मीर से पधारीं डॉ. वेदकुमारी घई और डॉ. रामप्रताप वेदालंकार एवं हरिद्वार के जाने माने दार्शनिक डॉ. जयदेव वेदालंकार प्रमुख थे। वायडर एसोसियेशन फार वैदिक स्टडीज (रजि.) की सचिव प्रो. शशि तिवारी ने भी इस सम्मेलन में भाग लेकर अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया। जाने माने संस्कृत समाचार वाचक डॉ. बलदेवानन्द सागर ने जहाँ वेदों की प्रासंगिकता में अपने विचार व्यक्त किये वहीं सद्योवाक् प्रतियोगी की तरह सम्मेलन की रिपोर्ट का भी संस्कृत समाचार के रूप में वाचन किया।

इस सम्मेलन का विशेष आकर्षण प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो. एम.एम. बजाज, से.नि. प्रो., भौतिकी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली थे। प्रो. बजाज वर्तमान में कामधेनु विश्वविद्यालय के चासंलर हैं। इन्होंने वैदिक चिन्तन की प्रासंगिकता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि आज विश्व में बढ़ रही भूकम्प, चक्रवाती तूफान, सुनामी आदि दैवीय आपदाओं का कारण निरीह मूक बधिर पशुओं की निर्मम हत्या है। ऐसा प्रो. बजाज ने वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर **अनागो हत्या वै भीमा** (वेद) के इस प्रमाण के आधार पर विश्व में हो रही इन हत्याओं को और भयानक परिणाम देने वाला बताया।

प्रथम दिन (13 मार्च) उद्घाटन सत्र में कई ऐसे विद्वानों को भी सम्मानित किया गया जिन्होंने अपने कार्यों से वैदिक ज्ञान की प्रासंगिकता को अपने जीवन में सिद्ध किया है। ऐसे विद्वानों में प्रसिद्ध नाडी-विशेषज्ञ वैद्य डॉ. राजेन्द्रकुमार आयुर्वेदालंकार और प्रसिद्ध मर्म चिकित्सक डॉ. सुनील कुमार जोशी प्रमुख रूप से थे। सामवेद भाष्यकार स्व. डॉ. रामनाथ वेदालंकार के सुपुत्र डॉ. विनोदचन्द्र विद्यालंकार भी सम्मानित होने वाले विद्वानों में प्रमुख रूप से थे। इस वैदिक सम्मेलन में उपर्युक्त 15 से अधिक प्रान्तों के जिन प्रतिभागियों ने प्रतिभाग किया, उनमें से कतिपय के नाम इस प्रकार हैं–पं. शिवनारायण उपाध्याय कोटा राजस्थान, डॉ. भारतेन्दु द्विवेदी विश्वभारती अनुसन्धान परिषद् भदोही उ.प्र., डॉ. वेदपाल जी मेरठ, डॉ. विक्रमकुमार विवेकी चण्डीगढ, डॉ. महेन्द्र मिश्र अलीगढ़, आचार्य बलवीर रोहतक, डॉ. अपर्णाधीर दिल्ली, डॉ. मेधादेश पाण्डे मुम्बई, डॉ. विनय विद्यालंकार रामनगर, डॉ. रेणु बाला अमृतसर, डॉ. चन्द्रकान्त गर्जे पूना, डॉ. धर्मवीर अजमेर, डॉ. प्रियंवदा वेदभारती नजीबाबाद, डॉ. अन्नपूर्णा देहरादून, डॉ. अनघा गावस्कर मुम्बई, डॉ. विशाल भारद्वाज अमृतसर, डॉ. राजेन्द्र विद्यालंकार

कुरुक्षेत्र, डॉ. चितरंजन दयाल कौशल कुरुक्षेत्र, डॉ. रघुवीर वेदालंकार दिल्ली, डॉ. जयदत्त उप्रेती अल्मोडा, डॉ. सूर्यादेवी चतुर्वेदा वाराणसी, डॉ. टी. केशव नारायण वेदालंकार हैदराबाद, डॉ. सत्यपाल सिंह दिल्ली, डॉ. किशनाराम विश्नोई हिसार, डॉ. नारायण प्रसाद भट्टाराई ऋषिकेश, डॉ. प्रतिभा शुक्ला रुड़की, डॉ. भारती शर्मा रुड़की, प्रो. टी.गणेशन पाण्डिचेरी एवं आरोग्य फार्मास्युटीकल कम्पनी के जी.एम. डॉ. महेन्द्र आहूजा आदि।

यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उक्त त्रिदिवसीय अखिल भारतीय वैदिक संगोष्ठी के विभिन्न सत्रों की रिकार्डिंग **'आस्था'** और **'संस्कार'** चैनलों पर भी आचार्य बालकृष्ण जी के आशीर्वाद से 18 मार्च 2015 को रात्री 8 से 10 बजे प्रसारित की गयी। जिससे इन चैनलों के नियमित करोडों दर्शक भी लाभान्वित हुए। उक्त कार्यक्रम में महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान के सचिव प्रो. रूपकिशोर शास्त्री तीनों दिन उपस्थित रहे। इससे इस वेद-सम्मेलन की महत्ता का पता चलता है। उक्त सम्पूर्ण कार्यक्रम के आयोजन सचिव एवं संयोजक वेद विभाग के अध्यक्ष प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री थे। डॉ. प्रदीप कुमार, डॉ. सन्दीप कुमार चौहान, डॉ. वेदव्रत एवं डॉ. शिवकुमार चौहान ने इस कार्यक्रम को सफल बनाने में विशेष सहयोग किया।

–डॉ. शिवकुमार चौहान

–डॉ. प्रदीप कुमार

अन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः। –अथर्व. 17.1.29

वेदवाणी के अमृत-सलिल में मैं डुबकी लगाता हूँ।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (1-16) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदार्थ में महर्षि दयानन्द की वैज्ञानिक दृष्टि

–डॉ० सुरेन्द्रकुमार

कुलपति (गु.कां.विवि.)

महर्षि दयानन्द सरस्वती को विश्व में प्राय: वेद-वेदांगों के एक प्रकाण्ड पंडित, समाज-सुधारक और आर्यसमाज के प्रवर्तक के रूप में अधिक जाना जाता है किन्तु एक शिक्षाशास्त्री के रूप में शिक्षा-पद्धति में उनका कितना महत्त्वपूर्ण योगदान है, यह पक्ष अभी तक पर्याप्त रूप से उभरकर सामने नहीं आया है। उन्होंने शिक्षाप्राप्ति पर अपूर्व बल दिया है।

महर्षि के विषय में सामान्यत: यह धारणा रूढ़ हो गयी है कि वे केवल धार्मिक या आध्यात्मिक शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के ही पक्षधर थे, किन्तु ऐसा सोचना ऋषि के उन आदेशों-निर्देशों के विपरीत है जो उन्होंने अपने ग्रन्थों और वेदभाष्य में दिये हैं। महर्षि मोक्ष के सन्दर्भ में जितने आध्यात्मिक विद्याओं के पक्षधर थे उतने ही पक्षधर व्यावहारिक सन्दर्भ में वैज्ञानिक, शिल्प एवं व्यावसायिक विद्याओं के थे। उनके निर्देशों में आध्यात्मिक-भौतिक दोनों विद्याओं का समन्वय है।

महर्षि ने अपने ग्रन्थों में अध्ययन-अध्यापन की एक केन्द्रीय रूपरेखा प्रस्तुत की है। उसके अतिरिक्त सभी ग्रन्थों और वेदभाष्य में फुटकर रूप से सैंकड़ों निर्देश दिये हैं। उनसे यह ज्ञात होता है कि महर्षि की परिकल्पना में एक सर्वांगीण, सर्वोपयोगी और व्यापकतम पाठविधि थी जिसमें संसार की समस्त सत्यविद्याओं का समावेश स्वीकृत हो। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि महर्षि ने पठन-पाठन सम्बन्धी प्रकरणों में वेदों के साथ वेदांगों और उपवेदों को पढ़ने का भी आवश्यक निर्देश दिया है। वैदिक विज्ञान के अनुसार गणित, भूगोल और खगोल विद्याएं ज्योतिष तथा कल्प वेदांग के अन्तर्गत आती हैं। चिकित्सा-विज्ञान, आयुर्वेद के, सैन्य और युद्धविज्ञान, धनुर्वेद के, समस्त शिल्प, एवं वैज्ञानिक विद्याएं अर्थवेद के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। वैज्ञानिक और शिल्प विद्याओं को सीखने का निर्देश देते हुए वे लिखते हैं कि समस्त वैज्ञानिक विद्याओं को साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्ष करें–

(क) "अर्थवेद कि जिसको शिल्पविद्या कहते हैं, उसको पदार्थ, पदार्थगुण, विज्ञान, क्रियाकौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेके आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है, उस विद्या को.....सीखें।" (स.प्र., समु.3)

(ख) "तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद जिसको शिल्पशास्त्र कहते हैं, जिसमें विश्वकर्मा, त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं, उनको छह वर्ष के भीतर पढ़ के, विमान, तार, भूगर्भ आदि विद्याओं को साक्षात् करें।" (सं.विधि, वेदारम्भ)

इनके अतिरिक्त महर्षि ने वेदभाष्य तथा अन्य ग्रन्थों में कई सौ स्थलों पर शिल्प, विज्ञान या पदार्थविद्या की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए उसको क्रियात्मक सहित सीखने पर बल दिया है।[1] महर्षि का स्पष्ट मानना है कि व्यक्ति तथा राष्ट्र की समृद्धि, वाणिज्य की उन्नति, धन-ऐश्वर्य-प्राप्ति, व्यावहारिक सुख, दारिद्र्य का विनाश, सुरक्षा, शत्रुपराजय, चक्रवर्ती राज्य की स्थापना और राष्ट्र का सर्वांगीण विकास शिल्प, वैज्ञानिक और व्यावसायिक विद्याओं के बिना नहीं हो सकता। उन्होंने इन विद्याओं को "शिल्पविद्या रूप यज्ञ" "ब्राह्मीय शरीर बनाने वाली" "ईश्वरीय आज्ञा का पालन" कहकर इनका महत्त्ववर्धन किया है।[2] महर्षि के विज्ञान-प्रेम एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का ज्ञान हमें वेदभाष्य में अनेकत्र दिये उन आदेशों-निर्देशों से होता है जिनमें उन्होंने "**पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त**" समस्त सत्यविद्याओं को सीखने पर बल दिया है। निम्नलिखित वचनों में महर्षि की शब्दयोजना ध्यान देने योग्य है। ऐसे वचन शायद ही किसी शिक्षाविद् ने कहे हों। वे लिखते हैं–

(ग) "कुमार ब्रह्मचारी और कुमारी ब्रह्मचारिणियों को परमेश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का बोध कराना चाहिए।" (यजु.भाष्य. 6.8, भावार्थ)

(घ) "अध्यापक और अध्येता को चाहिये कि प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों को रक्षा आदि के लिए जानें।" (यजु.भाष्य. 33.49)

(ङ) "परमेश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों के यथार्थ विज्ञान से उपयोग ग्रहण करके सब ऋतुओं में आप सुखी रहें और अन्यों को सुखी करें।" (यजु. भाष्य.14.7, भावार्थ)

ध्यान दीजिए, "**परमेश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों के यथार्थ विज्ञान**" के शिक्षण के कथन के उपरान्त संसार की कोई सत्यविद्या शेष नहीं रहती। इस प्रकार महर्षि ने अध्यात्म के साथ भौतिक विद्याओं की प्राप्ति पर भी पर्याप्त बल दिया है और उस दृष्टिकोण को वैज्ञानिक वेदार्थ द्वारा पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। महर्षि का स्पष्ट सिद्धान्त है कि सभी सत्यविद्याओं का मूल वेद में विद्यमान है।

व्यक्ति तथा राष्ट्र के लिए महर्षि शिल्प एवं वैज्ञानिक विद्याओं को कितना उपयोगी समझते थे इसकी जानकारी उनके एक जीवन-सन्दर्भ से मिलती है। महर्षि इस बात से खिन्न थे कि विज्ञान-शिरोमणि भारतवर्ष में कला-कौशल विद्या नष्टप्रायः है। उन्होंने एक बार कुछ युवकों को कला-कौशल सीखने के लिए जर्मनी भेजने की योजना बनायी थी वे लिखते हैं–"मेरा विचार है, कुछ पुरुष कला-कौशल सीखने के लिए जर्मनी भेज दिये जायें।" (ऋषि दया. पत्र-विज्ञापन, भाग 1, पृ. 379-380, लाला मूलराज को लिखा पत्र) इसके लिए स्वामी जी ने जर्मनी के प्रो. जी.वाईज, एलबर्ट्स् स्ट्रीट, बैडन, से लम्बा

पत्र व्यवहार भी किया किन्तु अन्ततः किन्हीं कारणों से यह योजना स्थगित हो गयी। इसके अतिरिक्त महर्षि ने एक कला-कौशल विद्यालय स्थापित करने का विचार भी बनाया था। लाला मूलराज को वे लिखते हैं–"यह अब स्पष्ट है कि बहुत से पढ़े-लिखे लोगों को भी नौकरी नहीं मिलती, या वे जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था देखकर मैं एक कला-कौशल के स्कूल की आवश्यकता विचारता हूँ।" (वही, पृ. 450) इन सन्दर्भों से हमें जानकारी मिलती है कि महर्षि के हृदय में कला-कौशल की उन्नति के प्रति कितनी लग्न और चिन्ता थी।

मध्यकालीन सायण आदि भाष्यकारों ने "वेदाः यज्ञार्थं प्रवृत्ताः" जैसी रूढ़ धारणाओं को स्वीकार कर वेदों के उद्देश्य को संकीर्ण और सीमित बना दिया। महर्षि ने इस धारणा को निरस्त किया और घोषणा की कि "वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है" (आर्यसमाज का तीसरा नियम)। महर्षि का यह कथन कोरी प्रतिज्ञा मात्र ही नहीं था अपितु उन्होंने इसे अपने वेदभाष्य में चरितार्थ कर दिखाया। महर्षि वैज्ञानिक नहीं थे किन्तु उनको वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त थी, उन्होंने आधुनिक विज्ञान भी नहीं पढ़ा था किन्तु क्रान्तदृष्टि से उन्होंने वेदार्थ में विज्ञान का वर्णन और स्पष्टीकरण किया। इस दिशा में किये गये प्रथम शोध के अनुसार महर्षि के वेदभाष्य में एक सौ से अधिक विद्याओं और व्यवसायों का उल्लेख प्राप्त हुआ है जिनमें तीन दर्जन से अधिक विशुद्ध वैज्ञानिक विद्याएं हैं। महर्षि द्वारा रचित "चतुर्वेद विषयसूची" के अनुसार वे अकेले ऋग्वेद में 332 वर्गों में पदार्थविद्या का और 66 वर्गों में शिल्पविद्या का वर्णन मानते हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्र या विद्युत् विद्या 278, अग्निविद्या 193, अश्वविद्या (यान्त्रिक ऊर्जा) 11, वायुविद्या 26, सूर्यविद्या 16, जलविद्या 9, पृथिवीविद्या 2, समुद्रविद्या 2, आकाशविद्या 1, भूगोलविद्या 1, कालविद्या 17, सृष्टि उत्पत्तिविद्या 24, मेघ या वृष्टिविद्या 20, तारविद्या 1, आकर्षणविद्या 17, लोकभ्रमण विद्या 3, प्राणविद्या 6, यज्ञ या पर्यावरणविद्या 12, युद्धविद्या 21, विमानविद्या 13, नौयानविद्या 3, रथयानविद्या 14, अलंकारविद्या 5, चिकित्साविद्या 99, गणितविद्या 8 वर्गों में तथा अथर्ववेद के 2 अनुवाकों में खगोल विद्या वर्णित मानी है। इन स्वतन्त्र वर्गों-अनुवाकों के अतिरिक्त हजारों फुटकर मन्त्र हैं जिनका महर्षि ने विज्ञानपरक अर्थ प्रस्तुत किया है।

वेदभाष्य में महर्षि के इतने अधिक उल्लेख हैं कि उनको लेकर एक विशाल ग्रन्थ बन सकता है। प्रस्तुत लेख में स्थालीपुलाकन्याय से उनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है। महर्षि की वेदार्थ शैली की यह विशेषता है कि उन्होंने इन्द्र, अश्वि, अग्नि, वरुण आदि के वैज्ञानिक अर्थों की ऊहा प्रकरणानुसार की है और बिना प्रमाणों के कुछ नहीं कहा है। प्रमाण की उपलब्धि यह सिद्ध करती है कि वह अर्थ सही है और अतीत में मान्य रहा है।

1. पदार्थ विद्याएं

इन विद्याओं को हम आज की वैज्ञानिक शब्दावली में भौतिक विज्ञान (Physics) और रसायन विज्ञान (Chemistry) से समझ सकते हैं। इन पदार्थों से सम्बन्धित वर्णनों में

पदार्थों के गुण, दोष, कर्म, स्वभाव, उपयोगिता, महत्ता और संरचना का वर्णन है।

जैसा कि वैदिक दर्शनों का स्थापित सिद्धान्त है, महर्षि समस्त जड़-जंगम जगत् का आदि कारण सत्त्व-रज-तम रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति को मानते हैं। उस प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पांच तन्मात्राएं, पांच तन्मात्राओं से अग्नि आदि पांच महाभूत और सभी इन्द्रियों की संरचना हुई। ये पांच तन्मात्रा-तत्त्व संयोग से 34 कारण रूप पदार्थों का निर्माण करते हैं। यजुर्वेद भाष्य में महर्षि लिखते हैं–"जो पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र ये आठ और प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय तथा ग्यारहवां जीवात्मा, बारह महीने, बिजुली और यज्ञ, इन तैंतीस दिव्यगुण वाले पृथिवी आदि पदार्थों के गुण-कर्म और स्वभाव के उपदेश से सब मनुष्यों की उन्नति करते हैं, वे सर्वोपकारक होते हैं।" (यजु. भाष्य. 20. 11, भावार्थ)। एक अन्य मन्त्र में प्रकृति को भी इनमें सम्मिलित करते हुए इन कारण-तत्त्वों को चौंतीस कहा है–"इस प्रत्यक्ष चराचर जगत् के चौंतीस (34) तत्त्व कारण हैं। जो उनके गुण और दोषों को जानते हैं, उन्हीं को सुख मिलता है" (यजु.भाष्य. 8.61, भावार्थ)। ध्यान दीजिये, यहां पदार्थ विद्या का लक्ष्य उन्नति, सुख और परोपकार को माना है।

ऋग्वेद के 1.164.11 मन्त्र का अर्थ करते हुए महर्षि ने संयोग-प्रयोग से बनने वाले सृष्टि-संरचक कुल तत्त्वों की संख्या 720 मानी है। इस मन्त्र में इन्हें 'पुत्र' तत्त्व कहा है। जैसे माता-पिता के संयोग से भावी वंश के कारण रूप पुत्र उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार चराचर प्रत्यक्ष सृष्टि के निर्माता ये तत्त्व हैं। मन्त्र है–

"आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र
सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥"

अर्थ–"हे (अग्ने) विद्वन्!..... (ऋतस्य) सत्य कारण से (सप्त शतानि विंशति च) सात सौ बीस भी (मिथुनासः पुत्राः) संयोग से उत्पन्न हुए पुत्रों के समान वर्तमान तत्त्व-विषय (आ तस्थुः) अपने-अपने विषयों में लगे हैं; उनको जान।"

भावार्थ–".....इस जगत् के कारण में सात सौ बीस तत्त्व हैं। वे मिल के स्थूल योग से उत्पन्न हुए हैं। इनका कारण अज और नित्य है।"

महर्षि ने इन कारण तत्त्वों की मूल कारण से जो संरचना-प्रक्रिया बनती है, उसको भी स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं–"सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु, दो अणु का एक द्व्यणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल, पांच द्व्यणुक की पृथिवी अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु और उसके दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं।" (सत्यार्थप्रकाश समु.8)। 'उपदेश मंजरी' में भी इस प्रक्रिया का उल्लेख है–

"अव्यक्त प्रकृति अर्थात् शून्य से वायु उत्पन्न हुआ, वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, अग्नि से जल उत्पन्न हुआ, जल से पृथिवी उत्पन्न हुई। यह सब व्यवस्था परमाणुओं में हुई। साठ परमाणु का एक अणुक होता है, दो अणुक का एक द्व्यणुक होता है। तीन द्व्यणुक का एक त्रसरेणु होता है।" (उपदेश 8)

मनुस्मृति में त्रसरेणु की परिभाषा करते हुए बताया है कि सूर्य की किरणें जब भवन की खिड़कियों की जालियों से अन्दर प्रवेश करती हैं तब उस प्रकाश में जो उड़ते हुए सूक्ष्म कण दिखायी पड़ते हैं, वे 'त्रसरेणु' कहलाते हैं। यह मापने का पहला मापक पदार्थ है।[3] इतना सूक्ष्म मापक विज्ञान-कार्य के लिए संभव है।

स्पष्टता से बुद्धिग्राह्य बनाने के लिए, अब मैं इस संरचना-प्रक्रिया को गणितीय आंकड़ों के द्वारा प्रस्तुत करता हूं। वायु का एक अणु 120 परमाणुओं से बना है और यहां तक वे अणु अदृश्य रहते हैं। दृश्यमान पदार्थों में, अग्नि के अणु की संरचना 360 परमाणुओं से, जल के कण की 480 परमाणुओं से और पृथिवी के कण की 600 से 720 परमाणुओं के संयोग से हुई है। एक त्रसरेणु की संरचना 360 परमाणुओं से होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि किरणों के प्रकाश में उड़ते हुए जो रजकण दिखायी पड़ते हैं वे 360 परमाणुओं के संयोग से बनते हैं। दो त्रसरेणु अर्थात् 720 परमाणुओं से पृथिवी के कण बनते हैं। महर्षि ने गत ऋग्वेद 1.164.11 मन्त्र में जिन सात सौ बीस कारण तत्त्वों का उल्लेख किया है, संभवतः ये वही तत्त्व हैं जिनसे पांचवें भूत पृथिवी तत्त्व का स्थूल कण बनता है। इसके पश्चात् अन्य स्थूल सृष्टि का निर्माण होता है।

पदार्थ विद्याओं में सबसे उपयोगी और प्रमुख तत्त्व 'अग्नि' है। स्थूलतः अग्नि तीन प्रकार का है—"एक बिजुली रूप, दूसरा काष्ठ आदि में जलता हुआ भूमिस्थ, और तीसरा वह है जो कि सूर्यमण्डलस्थ होकर समस्त जगत् की पालना करता है।[4]" सूक्ष्मभेद से यह अनेक प्रकार का है। महर्षि लिखते हैं कि अग्नि तत्त्व सब लोकों में, अखिल ब्रह्माण्ड में, जल में, पृथिवी में और पृथिवी के गर्भ में व्याप्त होकर विद्यमान हैं।[5] पृथिवी, जल आदि से इसको मन्थन करके प्राप्त करें और ऐश्वर्य की वृद्धि करें। प्रकट किया हुआ अग्नि तत्त्व इस प्रकार सुखों को प्रवाहित करता है जैसे गाय से दूध प्राप्त होकर सुखकारी होता है।[6] महर्षि लिखते हैं कि अन्तरिक्ष और आकाश से भी बिजुली प्राप्त करके उसका उपयोग करें।[7] महर्षि के इस वैदिक वैज्ञानिक सिद्धान्त की पुष्टि वर्तमान विज्ञान ने कर दी है। "अमरीकी वैज्ञानिक तथा राजनीतिज्ञ बेंजामिन फ्रैंकलिन (Benjamin Franklin, सन् 1706-1790) ने बताया कि विद्युत् न तो उत्पन्न की जा सकती है, न नष्ट ही। फ्रैंकलिन का सबसे प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण वह प्रयोग था, जिसमें उन्होंने मेघों से मेघगर्जन के समय विद्युत् प्राप्त की तथा यह दिखाया कि मेघों द्वारा प्राप्त विद्युत् तथा साधारण विद्युत् के गुण समान हैं।[8]" महर्षि के वेदार्थ के अनुसार अग्नितत्त्व के गुण हैं—पदार्थों में व्यापक, रूप=प्रकाशकर्त्ता, बलशाली, ऊर्जम्=पराक्रमी, दूतम्=आगे गतिशील, वेगप्रद, भारवाहक, समाचारों का वाहक, विभिन्न यानों का साधक, विमान को ऊपर ले जाने वाला, गतिसाधक, शीघ्रकारी और अनश्वर।[9]

अग्नि का ही एक रूप 'अश्वविद्या' है। इसे हम 'यान्त्रिक ऊर्जा' कह सकते हैं। यन्त्रों में गति देने वाली शक्ति 'अश्व' कहलाती है। गतिशीलता के कारण ही घोड़े का नाम अश्व है। गतिशक्ति को आज के विज्ञान में इसी अर्थ वाची अंग्रेजी के 'हॉर्स' शब्द से

व्यक्त किया जाता है और उस शक्ति को 'हॉर्स पावर' कहा जाता है। मेरे विचार से 'हॉर्स' शब्द वैदिक "हर्यश्व" अर्थात् 'शीघ्र गतिकारी' का ही अपभ्रंश है। 'हरि' वैदिक शब्द का 'शीघ्र' या 'वेग' मूलार्थ आज भी अंग्रेजी के **हॅरि** (Hurry) शब्द में विद्यमान है। परम्परा की सुखद समानता देखिये कि गतिशक्ति का मापक वैदिक विज्ञान में भी 'अश्व' है और आधुनिक विज्ञान में भी '**हार्स**' ही है। ऋग्वेद-भाष्य में महर्षि लिखते हैं–"पहिले आर्यों ने अश्वविद्या नाम से जो विमान आदि शिल्पविद्या सिद्ध की थी, वह अग्निविद्या ही थी। अश्वविद्या जो अग्नि आदि पदार्थों से रसायन विद्या होती है, सो शिल्पविद्या ही है।" (1.1 भाष्य) 'उपदेश मंजरी' में प्राचीन इतिहास की नल-दमयन्ती की घटना का उल्लेख करते हुए महर्षि कहते हैं कि दमयन्ती से वियोग होने पर राजा नल अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के यहां गुप्त रूप से नौकरी करने लगा था। दमयन्ती के पुनः स्वयम्वर का समाचार सुनकर राजा नल ऋतुपर्ण के अश्वों द्वारा एक ही दिन में अयोध्या से विदर्भ पहुंच गया था। वस्तुतः वह यान था। महर्षि लिखते हैं–"राजा नल को अश्वविद्या अर्थात् अग्निविद्या विदित थी" (उपदेश 10)। 'भोजप्रबन्ध' में भी एक कृत्रिम 'अश्वयान' का उल्लेख आता है जो एक घड़ी में (24 मिनट में) दश कोस अर्थात् एक घण्टे में 80-90 किलोमीटर की गति से चलता था। महर्षि ने इस ऐतिहासिक श्लोक को सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत किया है–

"घट्यैकया क्रोशदशैकमश्वः,
सुकृत्रिमो गच्छति चारुगत्या॥"
(समु.11)

इतिहास से सिद्ध इस वैज्ञानिक परम्परा का ध्यान वेदभाष्यकारों में केवल महर्षि दयानन्द ने ही रखा है, अन्य भाष्यकार उस गम्भीरता को नहीं समझ सके। यही कारण है कि अश्व का 'वेगगुण' या 'अग्नि' अर्थ या तो अपने वेदभाष्य में महर्षि ने किया है या फिर ब्राह्मणग्रन्थों में "**अग्निर्वै अश्वः**" (शत. ब्रा. 2.1.4.6) कहकर इस वैज्ञानिक सन्दर्भ को स्पष्ट किया है।

इस सन्दर्भ में मैं आपका ध्यान महर्षि के एक विलक्षण वैज्ञानिक चिन्तन की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं। शंकर आदि प्रायः सभी मध्यकालीन दर्शनाचार्यों ने अद्वैतवाद की कल्पना कर प्रकृति को नश्वर और मिथ्या घोषित किया। वे युक्ति, प्रमाण और भावना के आधार पर इस धारणा को पुष्ट भी करते रहे। उनका चिन्तन इस गम्भीरता तक नहीं पहुंच पाया कि यह धारणा विज्ञान की कसौटी पर भी खरी उतरती है या नहीं। आज के विज्ञान ने प्रकृति या जगत् मिथ्या के सिद्धान्त को अवैज्ञानिक सिद्ध कर दिया है। महर्षि दयानन्द ने भी इस सिद्धान्त को निरस्त कर **वैदिक त्रैतवाद** को पुनः स्वीकार और स्थापित किया। देखिए, महर्षि की दृष्टि कितनी क्रान्तदर्शी और दूरदर्शी थी कि आज उन द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर खरा उतर रहा है। त्रैतवाद में प्रकृति को नित्य और अनश्वर माना गया है।[10] इसका अभिप्राय यह है कि सत्त्व-रज- तम रूप मूल पदार्थ न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं, वे दूसरे पदार्थों में रूपान्तरित होते हैं। इसी प्रकार वेदों में अग्नि=ऊर्जा को अमृत अर्थात् कारणरूप में नित्य और अनश्वर माना है।[11] इस प्रक्रिया को महर्षि ने यज्ञ के संदर्भ

में '------' में इस प्रकार समझाया है–

"प्रश्न–चन्दन आदि घिस के किसी को लगावे वा घृत आदि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डाल के व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

उत्तर–जो तुम पदार्थ विद्या जानते तो कभी ऐसी बात न कहते। क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो! जहां होम होता है वहां से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने ही से समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म हो के, फैल के, वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।" (समु.3) यहां महर्षि ने स्पष्टतः कहा है कि द्रव्य का अभाव नहीं होता।

आधुनिक विज्ञान ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि कर दी है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टाइन (Einstein) ने यह सिद्धान्त दिया है कि द्रव्य (Mass) और ऊर्जा (Energy) न तो नष्ट होते हैं और न उत्पन्न होते हैं, केवल रूपान्तरित होते हैं। ऊर्जा द्रव्य में परिवर्तित होती है और द्रव्य ऊर्जा में। उन द्वारा प्रदत्त सूत्र है–$E=mc^2$। इस प्रकार प्रकृति के अस्तित्व व उसकी नित्यता पर आधुनिक विज्ञान ने प्रामाणिकता की मोहर लगाकर परोक्ष रूप से त्रैतवाद को दृढ़मूल कर दिया है।

आज बार-बार **सौर-ऊर्जा** की बात हो रही है। महर्षि दयानन्द ने आज से सवा सौ वर्ष पूर्व जहां पानी, पृथ्वी और आकाश से विद्युत् प्राप्त कर उससे उपयोग लेने की बात कही है, वहीं सौर ऊर्जा का उपयोग करने का भी अनेकत्र निर्देश दिया है। यजुर्वेद भाष्य में वे लिखते हैं–"मनुष्यों को चाहिए कि जो ऐश्वर्य प्राप्ति का विशेष कारण, सृष्टि के सूर्यों का निमित्त बिजुली रूप तेज है, उसको जानके उपकार लिया करें।" (22.18, भावार्थ) ऋग्वेदभाष्य में एक मन्त्रार्थ में उन्होंने इस तथ्य को और स्पष्ट कर दिया है–

"अगृभ्णात् सूरादश्वं
वसवो निरतष्ट।" (1.163.2)

अर्थ–"हे (वसवः) चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त हुए सज्जनो!... .....(सूरात्) सूर्य से (अश्वम् अगृभ्णात्) शीघ्रगमन कराने वाले अग्नि को ग्रहण करो, उसको (निरतष्ट) निरन्तर काम में लाओ।"

भावार्थ–"जो.....सूर्य से प्रकट हुए शीघ्रगामी अग्नि को प्रयोजन में लाते हैं, वे दरिद्रपन के नाश करने वाले होते हैं।"

अग्नि तत्त्व ही कारण रूप से सूर्य की संरचना करने वाला होता है, सूर्य उसका कार्यरूप है।[12] वह पृथिवी आदि लोकों का आकर्षण शक्ति से धारणकर्त्ता है और प्रकाशवान् होने के कारण चन्द्रमा आदि लोकों का प्रकाशक है। वह छेदक होने से मेघों से वृष्टि कराता है।[13] काल का कारण भी सूर्य ही है। उसी के कारण दिन, रात, ऋतु, अयन, मास, संवत्सर आदि कालावयवों का निर्माण एवं विभाग होता है। ऋग्वेद में यह भी स्पष्ट किया गया है कि दिन-रात आदि व्यवहार मात्र हैं, सूर्य तो सदा विद्यमान रहा करता है।[14] यह चराचर जगत् सूर्य के कारण ही अस्तित्व में रहता है। सभी जड़-चेतन

पदार्थ उसके कारण जीवन धारण करते हैं अतः वेदों में सूर्य को जड़-चेतन जगत् का आत्मा कहा गया है।[15] सूर्य का बहुविध महत्त्व एवं उपयोग होने के कारण महर्षि ने सूर्यविद्या को सीखने का निर्देश दिया है।[16] महर्षि ने ब्रह्माण्ड में अनेक सूर्यों का अस्तित्व माना है।[17]

पदार्थ और शिल्पविद्या में वायु और जल सहायकारी तत्त्व हैं। समस्त कलायन्त्र आदि में उनका वैज्ञानिक उपयोग होता है। महर्षि ने विमान, नौयान आदि में इनकी उपयोगिता का वर्णन करते हुए इनके गुणों को जान उनका उपयोग लेने का निर्देश दिया है। महर्षि ने वायु के स्थूल, सूक्ष्म और मध्यस्थ ये तीन भेद किये हैं। इसी तरह जलविद्या के अन्तर्गत जल के सात अवयवों का उल्लेख किया है।[18]

आकाश और द्युलोक विद्या का अध्ययन इनके अन्तर्गत विद्यमान सूक्ष्म पदार्थों और नक्षत्रों आदि विषयक समस्त ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहा गया है।[19] कालविद्या के अन्तर्गत दिन, रात, मास, संवत्सर, ऋतु, अयन आदि का ज्ञान और इनका जो प्रभाव जगत् पर पड़ता है, उसका अध्ययन करना चाहिये।[20] प्राणविद्या के अन्तर्गत दस प्राणों की स्थिति, गुण-कर्म-स्वभाव, उनके रोग और आरोग्य, नियन्त्रण तथा उनसे जीवन की स्थिति तथा आयुवृद्धि आदि का ज्ञान करना चाहिये।[21] आत्मविद्या के अन्तर्गत आत्मा- सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान आता है।[22] यज्ञविद्या के अन्तर्गत पर्यावरण शुद्धि और वृष्टि विद्या का उल्लेख है। यह यज्ञविद्या का भौतिक पक्ष है।[23]

2. पृथिवी विद्या

वैदिक पृथिवी विद्या के अन्तर्गत आधुनिक भूगोल एवं भूगर्भ विद्या का अन्तर्भाव होता है। पृथिवी के बाह्य रूप का ज्ञान भूगोल के अन्तर्गत और आन्तरिक ज्ञान भूगर्भ के अन्तर्गत माना है। महर्षि "नीच, मध्यम, उत्तम, उत्तमतर, उत्तमतम गुण वाले पांच प्रकार के पृथिवी लोक" मानते हैं[24] और कहते हैं कि "पृथिवी आदि पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभावों के जाने बिना कोई भी विद्वान् नहीं हो सकता।"[25] उनका निर्देश है कि भूमि के गर्भ से अग्नि और विद्युत् को खोजकर तथा अन्न व जल की प्राप्ति कर सुखी रहें।[26] उन्होंने ऋग्वेद के एक मन्त्र के आधार पर लिखा है कि भूमि की स्थिति सामान से भरी एक नौका के समान है और यह अग्नि तथा वायु के संयोग से कांपती है।[27] भूगोल की भाषा में इसे ही भूकम्प कहा जाता है।

भूमि के गर्भ में खनिजों, धातुओं, रत्नों आदि के रूप में अपार सम्पत्ति भरी हुई है। इसी कारण वेद में इसका नाम "वसुधिति" और लौकिक संस्कृत में 'वसुधा' एवं 'वसुन्धरा' हैं।[28] महर्षि लिखते हैं–"मनुष्यों को चाहिये कि भूगर्भ और अग्निविद्या से पृथिवी के पदार्थों का अच्छे प्रकार परीक्षण करके सुवर्ण आदि रत्नों को उत्साह के साथ प्राप्त होवें।"[29]

पृथिवी के संरचना-काल पर प्रकाश डालते हुए 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में महर्षि ने इसकी उत्पत्ति का काल सन् 1876 में एक अरब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नौ सौ छिहत्तर (1 96 08 52 976) वर्ष बतलाया है।[30] वैदिक ज्योतिष द्वारा निर्धारित इस काल को पाश्चात्य समीक्षकों ने पढ़ा तो

उन्होंने इसे महागप्प कहा और इसका मखौल उड़ाया था। जब मैडम क्यूरी ने रेडियम धातु की खोज की और रेडियम के कणों में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर पृथिवी-संरचना का काल दो अरब वर्ष निर्धारित किया तो सारे आलोचक बगलें झांकने लगे। इस कालनिर्धारण के द्वारा आधुनिक विज्ञान ने एक और वैदिक वैज्ञानिक तथ्य की पुष्टि कर वैदिक विज्ञान का जयघोष कर दिया। आप देखिये, सृष्टि संवत् की रक्षा में भारतीयों ने कितना अद्भुत श्रम किया है?

3. आकर्षण एवं लोकभ्रमण विद्या

आधुनिक इतिहासकारों के मतानुसार लगभग 4000 वर्ष प्राचीन **प्रश्न-उपनिषद्** में शरीर की क्रियाओं का विवेचन करते हुए बताया गया है कि शारीरिक मल-मूत्र की नीचे की ओर गति पृथिवी के आकर्षण के कारण होती है।[31] लगभग 2500 वर्ष पूर्व हुए महर्षि पतञ्जलि ने **महाभाष्य** में आकर्षण शक्ति का उल्लेख करते हुए उसे इस प्रकार समझाया है–

"लोष्ठः क्षिप्तो बाहुवेगं
गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति,
नोर्ध्वमारोहति। पृथिवीविकारः
पृथिवीमेव गच्छति, आन्तर्यतः।"

(1.1.49 सूत्र व्याख्या में)

अर्थात्–'फेंका हुआ ढेला बाहु के वेग के अनुसार ऊपर जाकर न तो अगल- बगल में जाता है और न ऊपर को जाता है। वह पृथिवी का विकार है, इसलिए पृथिवी पर ही आता है। इसका कारण आन्तरिक आकर्षण शक्ति है।' इसे ही आज की भाषा में गुरुत्वाकर्षण कहते हैं।

ऋग्वेदभाष्य में, एक मन्त्रार्थ में इसी तथ्य को महर्षि इस प्रकार स्पष्ट करते हैं– "जैसे आकाश के बीच में फेंका हुआ मिट्टी का ढेला पृथिवी की आकर्षण शक्ति से पृथिवी ही पर लौटकर आ पड़ता है, इसी प्रकार दूर भी ठहरे हुए पृथिवी आदि लोकों को सूर्य ही ने आकर्षण शक्ति की खैंच से धारण कर रखा है।" (1.1.4) यजुर्वेदभाष्य में उन्होंने इस वैज्ञानिकता को इस प्रकार वर्णित किया है–"सूर्य बिना सहाय अपनी कक्षा में चलता है, फिर इसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रलोक प्रकाशित होता है।" (23.10) "इस संसार में सूर्यलोक अपनी आकर्षण शक्ति से अपनी ही कक्षा में वर्तमान है।" (23.10) पृथिवी लोक के भ्रमण की चर्चा अग्रिम मन्त्र में बहुत स्पष्ट शब्दों में है–

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ (यजु. 3.6)

भावार्थ–"यह भूगोल=पृथिवी, जल और अग्नि के निमित्त से उत्पन्न हुई, अन्तरिक्ष वा अपनी कक्षा अर्थात् योनि रूप जल के सहित, आकर्षण रूपी गुणों से सबकी रक्षा करने वाले सूर्य के चारों तरफ क्षण-क्षण घूमती है।" (यजु. भाष्य) ऐसे ही अन्य लोक घूमते हैं।

4. जीव-जन्तु विद्या

वेदों में सैंकड़ों मन्त्रों में पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि जीवों का उल्लेख है। यजु. अध्याय 24 में तो एकत्र ही कई दर्जन पशु-पक्षियों का वर्णन है। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत सूची के अनुसार वेदों में 16 जलीय जन्तुओं, 38 सरीसृपों, 62 पक्षियों, 51 स्तनधारी जन्तुओं, 33 वनचर पशुओं, 25

कृमि-कीटों का नामोल्लेख मिलता है।[32] महर्षि ने सभी जीव-जन्तुओं को पालने, उनके गुणों को जानकर उनसे तथा उनके अनुकरण पर यन्त्र आदि बनाकर उनका उपयोग लेने का निर्देश दिया है। वे कहते हैं–"सब पशु-पक्षी गुण-भरे हैं। उनको जानकर, व्यवहारसिद्धि के लिए सब मनुष्य निरन्तर युक्त करें।" (यजु. भाष्य 24.40, भावार्थ) तथा–"जो मनुष्य सब दिशाओं में स्थित जीवों को यथावत् उपयोग में लाते हैं, उनके सब कार्य सिद्ध होते हैं।" (यजु. भाष्य 16.63) और–"पृथिवी-सम्बन्धी असंख्य जीवों को जानें, उनसे उपकार लें और उनके कर्त्तव्यों को भी ग्रहण करें।" (यजु. भाष्य 16.54, भावार्थ)। ऐसे ही निर्देश आकाशस्थ, जलचर और वनचर जीवों के विषय में हैं।[33] कुछ स्थलों पर उपयोग लेने सम्बन्धी उदाहरण देकर उसे समझाया है। यहां भी महर्षि की वैज्ञानिक दृष्टि रेखांकित करने योग्य है। महर्षि के इस वाक्य को आप भी गम्भीरता से विचारिये–"विद्वानों को चाहिये कि अग्निस्थ वायुओं और जीवों को जान और उपयोग में लाके आग्नेय आदि अस्त्रों को सिद्ध करें।" (यजु. भाष्य 16.56 भावार्थ) इसी प्रकार एक मन्त्रार्थ में हरिण आदि से वेगगुण प्राप्त करने का कथन है। (यजु. भाष्य 24.27, भावार्थ) यह चिन्तन महर्षि की मौलिक ऊहा है।

5. चिकित्सा एवं वनस्पति विद्या

इस प्राचीन विद्या के अन्तर्गत मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा वनस्पति विज्ञान एवं उन वनस्पतियों की चिकित्सा का समावेश है। वैदिक चिकित्सा विज्ञान अति उन्नत एवं समृद्ध था। इस उन्नति का परिचय हमें इस बात से मिलता है कि आयुर्वेद में धरती पर उपलब्ध प्रत्येक वृक्ष, ओषधि, अन्न, फल, मूल, पुष्प, जल, वायु, मिट्टी, पत्थर, धातु, रत्न, विष, प्राणिशरीर तथा ऋतु आदि सभी के गुण-दोषों का विवेचन मिलता है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध आर्ष ग्रन्थ चरक, सुश्रुत एवं निघण्टु हैं। वेदों में पदे-पदे इस विषयक वर्णन प्राप्त होते हैं। सुश्रुत के वर्णनानुसार उस काल में मस्तिष्क की शल्यक्रिया भी संभव थी। मृतप्रायः अथवा सद्यः मृत व्यक्ति को जिलाने वाली 'मृत संजीवनी विद्या' आविष्कृत हो चुकी थी। वाल्मीकीय रामायण में मरणासन्न लक्ष्मण को जिलाने के लिए संजीवनी जैसी दिव्य ओषधि का प्रयोग किया गया वर्णित है। चिकित्सा विद्या की शाखाओं के रूप में पश्वायुर्वेद, हस्त्यायुर्वेद, अश्वायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद आदि विद्याएं विकसित थीं और उनके स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त थे। जीवन से जुड़ी विद्या होने के कारण महर्षि ने सामान्य वैद्यक शिक्षा को सभी स्त्री-पुरुषों के लिए अनिवार्य घोषित किया है। चिकित्सा विद्या में प्रवीण वैद्यों का कार्य सम्पूर्ण राष्ट्र के प्राणियों को नीरोग रखना है। महर्षि लिखते हैं–"श्रेष्ठ वैद्य लोग सबको आरोग्य और स्वतन्त्रता के सुख की उन्नति करें, जिससे सब सुखी हों।" (यजु. भाष्य 16.50) "विद्वानों को चाहिये कि..... ..मनुष्य, पशु आदि युक्त राज्य को रोगरहित, पुष्टियुक्त और निरन्तर सुखी रखें।" (यजु. भाष्य 16.48, भावार्थ) महर्षि ने वेदभाष्य में चार प्रकार के वैद्य रखने का निर्देश दिया है–1. शरीर चिकित्सक, 2. मनोचिकित्सक, 3. पशु चिकित्सक और 4. पर्यावरण शोधक। उनके वाक्य हैं–

(क) "वैद्य दो प्रकार के होते हैं.....एक, ज्वरादि शरीर के रोगों के नाशक चिकित्सा करने हारे और दूसरे, मन के रोग जो कि अविद्या आदि मानस क्लेश हैं,.....रोगों के विनाश से प्राणी लोग शरीर और मन के रोगों से छूटकर सुखी होते हैं।" (यजु.भाष्य 20.57, भावार्थ)

(ख) "राजा को चाहिये कि दो प्रकार के वैद्य रखे.....एक तो, सुगन्ध आदि के पदार्थों के होम से वायु, वर्षा, जल और ओषधियों को शुद्ध करें। दूसरे, श्रेष्ठ विद्वान् वैद्य होकर निदान आदि के द्वारा सब प्राणियों को रोगरहित रखें।" (यजु.भाष्य 11.38, भावार्थ)

(ग) "जो वैद्य घोड़े आदि पशुओं की ओषधि.....करते हैं, वे सदा उद्यम करते हुए हम लोगों को प्राप्त होवें।" (यजु.भाष्य 25.29, भावार्थ)

महर्षि ने मन्त्रार्थ में अनेक स्थलों पर महिला वैद्याओं का भी कथन किया है।[34] चिकित्सा कार्य को यज्ञरूप मानते हुए वैद्यों का मान-सत्कार करने का निर्देश दिया है।[35]

6. यान, विमान, नौयान विद्या

यह विद्या प्राचीन भारत की प्रसिद्ध विद्या है। व्यापार सिद्धि, धनप्राप्ति, सुखलाभ, आवागमन, देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर का ज्ञान, शत्रु पराजय, राज्यलाभ, परोपकार आदि लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए महर्षि ने इस विद्या पर पर्याप्त बल दिया है और इसे सिद्ध करने को "ईश्वर की आज्ञापालन" तक कहा है। वे लिखते हैं–"परस्पर प्रीति के साथ, विद्या और शरीर का बल सम्पादन करके, क्रिया, कलायन्त्रों से अनेक यान बनाकर सबको सुख देना, ईश्वर की आज्ञा का पालन तथा ईश्वर की उपासना करनी चाहिये।" (यजु. भाष्य 1.26, भावार्थ) ये यान तीन प्रकार के वर्णित हैं–1. रथ या यान, 2. विमान, 3. नौका या नौयान। चतुर्थ यान के रूप में त्रिमार्गगामी यान का भी निर्देश और वर्णन है जो भूमि, जल और आकाश में चलने वाला होता है। महर्षि ने इन यानों की संरचना की ओर भी मन्त्रार्थों में संकेत किया है। इन यानों को अग्नि, वायु, जल, ताम्बा, पीतल आदि धातुएं, काष्ठ आदि से सिद्ध करने का निर्देश है।[36]

रथयान भूमि पर चलने वाला यान है यह मूल रचना भेद से दो प्रकार का होता है–1. अश्व नामक पशुओं से खींचा जाने वाला रथ, 2. "अनश्व" और "अनर्व" रथ जो घोड़ों से नहीं अपितु यन्त्र चालित होता है। इसका प्रमाण पूर्व पंक्तियों में दिया जा चुका है। महर्षि ने प्रसंगानुसार रथ शब्द का विमान अर्थ भी किया है।[37]

"जिनसे आकाश में जाने-आने की क्रिया सिद्ध होती है", उनका नाम विमान है। वेदों में विमानों को अन्तरिक्ष में श्येन और पक्षियों के समान उड़ने वाला बताया है।[38] केवल आकाश में उड़ने वाले विमान आज प्रत्यक्ष हैं किन्तु वेदों में और मन्त्रार्थ में दर्जनों स्थानों पर महर्षि ने उन त्रिमार्गगामी विमानों का उल्लेख किया है जो भूमि, जल और आकाश में चल सकें। आज के उन्नत विज्ञान को अभी तक त्रिमार्गगामी विमान बनाने में सफलता नहीं मिल सकी है। महर्षि लिखते हैं–"मनुष्यों को चाहिये कि पृथिवी, जल, अन्तरिक्ष में

चलने वाले, उत्तम शोभायमान, सूर्य के तुल्य प्रकाशित यानों को बनावें।" (यजु. भाष्य 33. 73, भावार्थ)[39]

विमानों की गति की चर्चा करते हुए महर्षि बहुत तीव्रगामी विमानों को "मनोजव" या "मनोजुव" यान कहते हैं। इनकी गति मन के सदृश तीव्र वेग वाली होती है।[40] अन्यत्र वे लिखते हैं कि ये विमान ऐसे गतिशाली होने चाहियें जो "एक दिन-रात में भूगोल, समुद्र, अन्तरिक्ष मार्ग से तीन-तीन बार जाने को समर्थ हो सकें।" (ऋक् भाष्य 1.34.2, भावार्थ) या "जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप-द्वीपान्तर में जा सकते हैं।" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, नौविमान विषय) ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करने वाले ऐसे विमानों का उल्लेख भी वेदार्थ में किया गया है जो "ग्यारह दिन और ग्यारह रात्रियों में ब्रह्माण्ड के चारों ओर जाने में समर्थ हो सकते हैं।" (ऋक् भाष्य 1.34.11, भावार्थ) इस प्रकार की गति सीमाओं का बहुत्र उल्लेख है।

वैज्ञानिक दूरदृष्टि का एक और उदाहरण

महर्षि के ग्रन्थों तथा वेदार्थ में उल्लिखित इन तथ्यों को पढ़कर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहा जाता जिनकी कि तब तक न चर्चा थी और न आविष्कार हुआ था। अमेरीकी राइट् बन्धुओं ने 1903 में वायुयान उड़ाया था किन्तु महर्षि ने उससे बहुत पूर्व अब से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व विमान निर्माण कर उड़ाने का विचार दिया था। आज तक सौर ऊर्जा के यान-विमान नहीं बन पाये हैं किन्तु महर्षि ने एक मन्त्रार्थ में सवा सौ वर्ष पूर्व सौर ऊर्जा के यान-विमान बनाने का विचार दिया है–

"संशितो रश्मिना रथः
संशितो रश्मिना हयः।" (यजु. 23.14)

अर्थ–"जो मनुष्यों से (रश्मिना) किरणसमूह से (रथः) आनन्द को सिद्ध करने वाला यान (संशितः) अच्छे प्रकार सूक्ष्म कारीगरी से बनाया.....जाय तो क्या-क्या सुख न मिले।"

साहित्य एवं इतिहास से पुष्टि

प्राचीन भारत में विमान विद्या उन्नत स्थिति में रह चुकी है, इसके पोषक प्रमाण साहित्य तथा इतिहास से मिलते हैं। महर्षि ने एक स्थान पर लिखा है–"मैंने भी एक विमान-रचना का पुस्तक देखा है।" (उपदेश मंजरी, उप. 5) महर्षि का संकेत सम्प्रति उपलब्ध "बृहद् विमानशास्त्र" नामक ग्रन्थ की ओर है। यह महर्षि भारद्वाजकृत है। वस्तुतः "यन्त्र सर्वस्व" नामक एक विशाल ग्रन्थ कभी था जिसमें चालीस अध्याय थे और उनमें विभिन्न प्रकार के यन्त्र बनाने की विधि थी। उस ग्रन्थ का केवल एक अध्याय उपलब्ध हुआ है जो विमान तथा वैमानिक यन्त्रों के निर्माण से सम्बन्धित है। उसको उक्त नाम से प्रकाशित किया गया है। यह स्वामी ब्रह्ममुनि की टीकासहित सार्वदेशिक सभा दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ में **97 वैज्ञानिक ग्रन्थों का उल्लेख** है जिनमें छह विमान-रचना से सम्बन्धित हैं। इसमें विमान चालक को निर्देश दिये गये हैं कि वह विमान की गतियों, आकाशस्थ विमान मार्गों, आकाशीय भंवरों का ज्ञान प्राप्त करे। विमानों के निर्माण में काम आने वाली धातुओं का विवरण भी दिया है। मान्त्रिक, तान्त्रिक और कृतक भेद से **56** प्रकार के विमानों की निर्माण-विधि दी गयी

है। **एक त्रिपुर** विमान का उल्लेख है जो भूमि, जल और आकाश में चल सकता था। सौर ऊर्जा से चलने वाले विमान का भी वर्णन है जिसमें ऊपर **'शक्त्याकर्षण'** नामक यन्त्र लगा होता था जो सौर ऊर्जा का आकर्षण कर उसे विद्युत् रूप में परिवर्तित कर विमान को संचालित करता था। इसके अतिरिक्त विमान के 28 अंगों और 32 वैमानिक यन्त्रों का वर्णन है। इनमें कुछ प्रमुख हैं–**शब्दाकर्षण** यन्त्र=दूर या पृथिवी से चालक द्वारा बातचीत सुनने का यन्त्र, **कालमापक** यन्त्र=काल का ज्ञान कराने वाला, दिशाबोधक यन्त्र, तापमान यन्त्र, **सूर्यतापरक्षक यन्त्र, वर्षारक्षक यन्त्र, शिरःकीलक यन्त्र**=बिजली गिरने से रक्षा करने वाला, **विद्युत् यन्त्र** आदि। इसी प्रकार के ग्रन्थ राजा भोज द्वारा रचित **'समरांगण सूत्र'** और **'युक्तिकल्पतरु'** भी हैं। इनमें भी सौर ऊर्जा से चलने वाले विमान का वर्णन है।

इतिहास में हमें रामायण काल में पुष्पक विमान का वर्णन मिलता है जिसमें बैठकर राम श्रीलंका से अयोध्या लौटे थे। इसके अतिरिक्त राजा भोज के काल में अश्वयान का उल्लेख है। वसु नामक चेदिराजा के पास भी विमान था। वह इतना अधिक भ्रमण करता था कि उसका विशेषण ही 'उपरिचर' हो गया। महर्षि लिखते हैं–"उपरिचर नामक राजा था। यह सदा भूमि को स्पर्शन करता हुआ हवा ही में फिरा करता था। पहले के जो लोग लड़ाइयां लड़ते थे, उन्हें विमान रचने की विद्या भली प्रकार विदित थी।" (उपदेश मंजरी, उप. 5) "विश्वकर्मा परमेश्वर का भी नाम है और एक शिल्पकार का भी। अस्तु, विश्वकर्मा ने विमान की युक्ति निकाली। फिर इस विमान में बैठकर आर्य लोग इधर-उधर भ्रमण करने लगे।" (वही, उप. 8)

इसी प्रकार प्राचीन काल में अग्नि-विद्युत्-समुद्रयान भी थे मन्त्रार्थ में महर्षि ने ऐसी नौकाओं और समुद्रयानों का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं–"तू बड़े-बड़े अश्वतरी नाव अर्थात् धूआंकण आदि बनाने की विद्या से नौका आदि यान पर बैठकर समुद्र को जा।" (यजु. भाष्य 6.21) ऋग्वेद 1.116.5 में सौ और हजार अरित्र वाले बड़े नौयानों के निर्माण का वर्णन है। और "जिस प्रकार उन (नाव आदि) यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको। हे मनुष्यो! आओ, आपस में मिलके इस प्रकार के यानों को रचें, जिनसे सब देश-देशान्तर में हमारा जाना-आना बने।" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका नौविमान०) ऐसा उल्लेख अनेक मन्त्रों में आता है।[41]

ऐतिहासिक सन्दर्भों से इनकी पुष्टि करते हुए महर्षि लिखते हैं–"श्रीकृष्ण और अर्जुन पाताल में अश्वतरी अर्थात् जिसको अग्नियान नौका कहते हैं, बैठके पाताल में जाके महाराजा युधिष्ठिर के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को ले आये थे।" (सत्यार्थप्रकाश समु. 10) "इस आर्यावर्त देश के आर्यपुरुषों के वैभव का वर्णन जितना ही किया जाय, थोड़ा है। समुद्र पर चलने वाले जहाजों पर कर लेने की आज्ञा मनु ने अष्टम अध्याय में लिखी है।"[42] "जो कहते हैं कि प्रथम जहाज नहीं चलते थे, वे झूठे हैं।" (उपदेश मंजरी, उप. 3; सत्यार्थप्रकाश समु. 6)

7. विद्युत् शस्त्रास्त्र विद्या

शस्त्रास्त्र विद्या किसी भी राज्य का मूल है। राज्य की सुरक्षा, विस्तार, नये राज्य की

प्राप्ति, शत्रु पराजय आदि कार्य इस विद्या पर निर्भर हैं। महर्षि ने न केवल शस्त्रास्त्र शिक्षण का निर्देश दिया है अपितु शस्त्रास्त्र-प्रशिक्षक का सत्कार करने का भी आदेश दिया है।[43] भारतीय साहित्य में आग्नेयास्त्र, ब्रह्मास्त्र आदि विद्युत् चालित अस्त्रों का स्पष्ट और तथ्यात्मक उल्लेख मिलता है।[44] महर्षि ने इनके शोध और निर्माण का निर्देश दिया है–"विद्वानों को चाहिये कि अग्निस्थ वायुओं और जीवों को जान और उपयोग में लाके **आग्नेय आदि अस्त्रों** को सिद्ध करें।" "बिजुली, आग्नेयास्त्र आदि तारबरकी (बिजुली के तारों से युक्त विद्या)-----से विद्युत् रूप अग्नि को अच्छी प्रकार जान।" (यजु.भाष्य 16.56; 6.21) महर्षि के दूरदर्शी वैज्ञानिक चिन्तन का इससे प्रबल प्रमाण क्या हो सकता है कि सवा सौ वर्ष पूर्व जब आग्नेयास्त्र अर्थात् मिसाइल की कल्पना भी आधुनिक विज्ञानविदों के मस्तिष्क में नहीं थी, तब महर्षि विद्युत् से आग्नेयास्त्र के निर्माण का निर्देश दे रहे थे। महर्षि का अग्रिम उद्धरण विशेष ध्यान देने योग्य है–

"मनुष्यों को चाहिए कि जैसे लोहा और पत्थरों में बिजुली रहती है वैसे ही सब पदार्थों में प्रवेश कर रही है। उसकी विद्या को ठीक-ठीक जान और कार्यों में उपयुक्त करके, इस पृथिवी पर आग्नेय आदि अस्त्र और विमान आदि यानों को सिद्ध करें।" (यजु. भाष्य 11.11, भावार्थ)

प्राचीन काल के शस्त्रास्त्रों का उल्लेख करते हुए महर्षि कहते हैं–"देखो! चारों ओर जाति-विभाग होकर हम निर्बल हो गये हैं। पहले आर्य लोगों में शतघ्नी अर्थात् तोपें भी थीं और भुशुंडी अर्थात् बन्दूकें भी थीं। यह सब हमारा बल किधर चला गया? आग्नेय-अस्त्र आदिकों का लोप कैसे हुआ?------वरुणास्त्र, आग्नेयास्त्र आदि उन्हें विदित थे अर्थात् पदार्थों के गुणों को जान, उसकी विशेष योजना वे करते थे।" (उपदेश मंजरी, उप. 5)[45]

इसी प्रकार खगोल, गणित, तार, रत्न, काल, यज्ञ, वृष्टि, सैन्य, स्थापत्य आदि अन्य अनेक विद्याओं/विज्ञानों का उल्लेख भी महर्षि ने यथास्थान किया है। विस्तारभय तथा स्थानाभाव के कारण उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। प्रमुख वैज्ञानिक विद्याओं के, स्थालीपुलाक न्याय से प्रस्तुत सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो गया है कि महर्षि दयानन्द का वैज्ञानिक चिन्तन गम्भीर, व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण था। वे अधिकाधिक व्यक्तियों को विज्ञान-प्रवीण और राष्ट्र को विज्ञान-समृद्ध देखना चाहते थे। उनका विज्ञान-वर्णन अभिशाप लक्ष्य रूप नहीं अपितु सुख, शान्ति और समृद्धि के लक्ष्य को प्राप्त कराने वाला है। महर्षि का चिन्तन देखिये कि प्रायः सभी वचनों में उन्होंने विज्ञानविद्याओं का प्रयोजन धन-ऐश्वर्य-प्राप्ति, सुखलाभ, विद्यावृद्धि, मानव समाज की उन्नति, राष्ट्रसमृद्धि, शान्ति और उपकार भावना को रखा है। ऐसा लेखन उनकी दूरदर्शिता तथा सकारात्मक सोच का परिचायक है।

उद्धरण-सूची

1. यजु. भाष्य 20.12, 29.32; ऋग्भाष्य 1. 116.7; स.प्र.समु. 3; सं.वि. गृहाश्रम।
2. यज्ञ-यजु. भाष्य 4.11, 5.17; ऋग्भाष्य 1.3.10, 5.87.3 आदि।
   ब्राह्मीय शरीर-स.प्र.समु. 3, 4 में मनु 2. 28 श्लोकार्थ में।
   आज्ञापालन-यजु.भाष्य 1.26, भावार्थ।

3. जालान्तर्गते भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः। प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते।। मनुस्मृति 8.133 (उपदेश मे. 8)
4. ऋग्. 1.164.1
5. यजु.भा. 11.28, 15.26, 29; पृथिवी गर्भ में-यजु.भा. 11.16, 12.23, 61
6. यजु.भा. 15.24, 28 तथा 11.28-32, 12.20 आदि।
7. यजु.भा. 11.22, 15.22
8. हिन्दी विश्वकोश, भाग 103-नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
9. यजु.भा. 7.1-2, 2.29, 12.24, 26, 29, 31-34
   ऋग्भाष्य 1.164.47
10. "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
    अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।। (श्वेताश्व.उप. 4.5)
    "नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेः"
    तथा अन्य समीक्षा (स.प्र., समु. 8)
11. अमृतम्-यजु.भाष्य 12.24-25, 15. 32-33, कारणरूप से नित्य-यजु.भाष्य 15.33
12. यजु.भा. 5.4
13. यजु.भाष्य 12.23, 37; 5.16; ऋग्भाष्य 1.1.4, 1.7.8, 1.164.10, 2.11.20। वृण्किर्त्ता-ऋग्भाष्य 1.1.4, 1.46.4, 1. 164.47, 51; यजु.भाष्य 38.6
14. ऋग्भाष्य 1.164.11-12; यजु.भाष्य 5. 37 सूर्य सदा वर्तमान-
15. "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" यजु. 7. 42 "प्राणी और जड़ जगत् का जो आत्मा है उसको सूर्य कहते हैं" (पञ्चम.यज्ञ.)
16. यजु.भाष्य 4.36, 13.56; ऋ.भा.भू. पितृयज्ञ विषय।
17. यजु.भाष्य 15.27 में भरतेभ्यः=आदित्येभ्यः। सूर्याः=अनेक सूर्य, ऋग्भाष्य 2.27.8
18. वायु के भेद-यजु.भा. 15.16
    जल के सात अवयव-यजु. 34.24
19. यजु.भाष्य 15.9
20. यजु.भाष्य 6.21, 15.6; 13.25, 14. 6-27, 15.57, 30.15
21. यजु.भा. 15.13, 18.17; ऋ.भा.भू. वर्णाश्रम विषय; सं.वि.उपनयन।
22. यजु.भा. 26.44; व्य.भानु 170; स.प्र.समु. 4
23. यजु.भा. 14.8, 17.91, 22.26-33 तथा 1.26, 2.16 आदि।
24. ऋग्भाष्य 1.7.9
25. यजु.भा. 15.9
26. यजु.भा. 11.16, 12.61; तथा 9.22, 11. 22 आदि।
27. ऋग्भाष्य 5.59.2
28. ऋग्भाष्य 3.31.17, 4.48.3
29. यजु.भा. 16.43, 18.13; रत्न-11.10, 19, 21
30. ऋ.भाष्य भूमिका, वेदोत्पत्तिविषय।
31. प्रश्न उप. 3.5, शांकरभाष्य भी द्रष्टव्य- "सैषा पुरुषस्यापानवृत्तिमाकृष्य-"।
32. वेदों में विज्ञान, पृ. 100-106
33. आकाशस्थ-यजु.भा. 16.63; जलचर-यजु. भा. 24.21
    वनचर-यजु.भा. 24.27, 32; भूचर-यजु. भा. 16.54, 63
34. यजु.भा. 19.12
35. यजु.भा. 12.80
36. ऋ.भा.भू., नौविमान विषय।
37. रथम्=विमानादियानविशेषम् ऋग्भाष्य 6. 47.27 तथा 5.75.1; यजु.भा. 27.37
38. ऋग्भाष्य 1.116.3, 1.118.1-5, 5.63.7 आदि।
39. ऋग्भाष्य 1.1.3, 1.34.2; यजु.भा. 6.21, 10.19; ऋ.भा.भू. नौविमान विषय।

40. ऋ.भा.भू., नौविमान विषय।
41. यजु.भा. 16.42, 21.6-7, ऋ.भा.भू. नौविमान विषय तथा संस्कृत वाक्य प्रबोध पृ. 13-14 आदि।
42. समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः। स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति।। मनुस्मृति 8.157 "इससे स्पष्ट है कि समुद्रयान-आदिक पहले हमारे लोग बनाया करते थे।" (उपेदश मंजरी, उप. 3)
43. यजु.भा. 16.29
44. द्रष्टव्य रामायण, महाभारत आदि में शस्त्रास्त्रों का विवरण।
45. अस्त्र-शस्त्र-विषयक चिन्तन सत्यार्थप्रकाश समु. 11 में भी द्रष्टव्य है।

✦✦✦

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि। -अथर्व. 7.115.1
हे पाप से अर्जित लक्ष्मी! तू हमारे पास से दूर चली जा।

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि। -अथर्व. 8.4.15
आज ही मर जाऊँ यदि मैं राक्षस होऊँ।

न विजानामि यदि वेदमस्मि। -अथर्व. 9.10.15
अहो, मैं यही नहीं जानता कि मैं क्या हूँ?

अनागोहत्या वै भीमा। -अथर्व. 10.1.29
निर्दोष की हत्या करना बड़ा भयंकर है।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (17-29) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों की भाषावैज्ञानिक अवधारणाएं
(ऋग्वेद की शाकल संहिता के परिप्रेक्ष्य में)

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री, हरिद्वार

धर्मशास्त्र प्रणेता महर्षि मनु के अनुसार वेद सर्वज्ञानमय हैं[1], उनमें सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की झांकी मिलती है। वैदिक संहिताओं में केवल किसी एक ही ज्ञानधारा को कहीं प्रमुखता प्राप्त नहीं है। इस पर भी यह सत्य है कि वेदों में बहुत से विचार प्रौढ़ रूप में प्रकट हुए हैं, कि उन्हें यदि हम एकत्र निबद्ध करें तो उनसे उस उस विशिष्ट विषय का वैज्ञानिक स्वरूप भी सामने आता प्रतीत होता है। निस्सन्देह ऐसा किसी विज्ञानान्वेषण की भावना से न होकर वैदिक ऋषियों की जीवन के प्रति खुली एवं समग्र दृष्टि के कारण हुआ है। वेद का ऋषि जीवन और कविता को अविच्छिन्न में आबद्ध मानकर चलता था। उसकी कविता उसके जीवन-पर्यालोचन से जन्मी थी। इसी कारण जीवन के सभी पक्षों का उसमें यथास्थल समीक्षण हो गया था। जीवन के इन विविध पक्षों का अध्ययन ही विविध विज्ञानों को जन्म देता है। निरुक्तकार के एक कथन के अनुसार सामान्य लौकिक ज्ञान की यह शर्त होती है कि वह एक ही विशेष दिशा में पूर्णता प्राप्त करता है किन्तु वेद में जीवन और ज्ञान के सभी पक्ष इस तरह घुलमिल कर सामने आए हैं कि उसे समझने के लिए हमें सभी लौकिक ज्ञानों से परिचित होना आवश्यक हो जाता है। इसे ही हम निरुक्त की भाषा में 'भूयोविद्यात्व' कह सकते हैं।

वेद की इसी समग्रवृत्ति का परिणाम है मानवजीवन की सर्वप्रमुख आधारभूता 'भाषा', इस की प्रकृति, व्यवहार एवं आविर्भाव के सम्बन्ध में भी अनेक स्थलों पर वेद में अनेक विचार इस प्रकार के प्रकट हुए हैं जिन्हें यदि हम एकत्र करके अध्ययन करें तो उनसे भाषा-विषयक ज्ञान या भाषा विज्ञान का अच्छा खासा परिचय हमें मिल सकता है। हम अगली पंक्तियों में इनमें से केवल कुछ प्रमुख पर्यवेक्षणों मात्र का ही परिचय प्राप्त करेगें, यद्यपि ऐसा करते हुए हम स्थानाभाव के कारण केवल ऋग्वेद की शाकल संहिता में से ही प्रमुखतम पर्यवेक्षणों को अपने विचार-प्रसंग में लेंगे।

वेद मन्त्रों के पर्यवेक्षणों के परिगणन से पूर्व हम उन कुछ प्रमुख सूक्तों का उल्लेख अवश्य करना चाहेंगे, जिनमें इस प्रकार के चिन्तन को वैज्ञानिक प्रमुखता प्राप्त हुई है। इससे हमें यह भी अनुमान हो जाएगा कि वैदिक ऋषि 'भाषा' को मानव जीवन का कितना महत्त्वपूर्ण अंश मानकर चलते थे। साथ ही, हमें इस तथ्य को सदा ध्यान में रखना चाहिये कि वैदिक सूक्त मूलतः

कवि-दृष्टि से रचे गये हैं, वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से नहीं। इसलिए 'वाक्' भी भाषा से सम्बद्ध इन सूक्तों में वैज्ञानिक पर्यवेक्षण मूलगत कविदृष्टि का अंश बनकर ही सामने आया है, वैज्ञानिक विवेचन का स्वतन्त्र अस्तित्व लेकर नहीं आया है।

एतद् विषयक चिन्तन के सर्वप्रमुख सूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल में ही हैं। सर्वप्रमुख सूक्त **दशम मण्डल का 71वाँ** बार्हस्पत्य सूक्त[2] है; जिससे वाक् के अविर्भाव एवं प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ अत्यन्त चमत्कारी सिद्धान्त सामान्य पर्यवेक्षण के रूप में प्रकट हुए हैं। 2. इसी मण्डल का दूसरा प्रमुख 125वां सूक्त 'वागाम्भृणीय' के नाम से प्रख्यात है। इसमें वाणी के व्यावहारिक एवं लौकिक पक्ष से सम्बद्ध पर्यवेक्षणों की प्रधानता रही है।[3] 3. इसी मण्डल का तीसरा प्रधान सूक्त 177वां है, जिसमें वाणी के आभ्यन्तर एवं आविर्भूत रूपों के विषय में बहुत ही मार्मिक तथ्य कहे गए हैं; यद्यपि इसका वर्ण्यविषय 'वाणी' प्रधानतः नहीं है।[4] 4. यही बात इस मण्डल के 114 एवं 189 सूक्तों में आए कुछ तथ्यों के लिए भी कही जा सकती है।[5]

ऋग्वेद की शाकल संहिता के भाषाविषयक अन्य प्रमुख सूक्तों में सर्वप्रमुख **प्रथम मण्डल** का **164वां** सूक्त, तथा 4र्थ मण्डल का 58वां सूक्त है। इन दोनों में वाणी एवं भाषा के विविध पक्षों से सम्बन्धित अनेक तात्विक एवं महत्वपूर्ण बातें कही गई हैं। इन दोनों का अध्ययन इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है, कि इनका भी प्रमुख विषय भाषा या वाक् का विचार न होकर कुछ अन्य ही रहा है। इस पर भी इनमें एतत्सम्बद्ध विचार अत्यन्त प्रौढ़ता के साथ व्यक्त हुए हैं।

अन्य कई सूक्तों में भी यत्र-तत्र विकीर्ण रूप में कई उल्लेख इस विषय में ऐसे हुए हैं, जिन्हें कई दृष्टियों में अत्यधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इन सब पर्यवेक्षणों का उल्लेख हम यथास्थल करेंगे। यहां हम सर्वप्रथम पूर्वोक्त 5-6 प्रमुख सूक्तों का ही मण्डल क्रम से संक्षिप्ततम विवेचन करेंगे, ताकि उनमें लक्षित एतद्विषयक उपलब्धियों से हम परिचित हो सकें।

प्रथम मण्डल : 164वां सूक्त (अस्यवामीय)

यद्यपि इस सूक्त का प्रमुख देवता 'विश्वेदेवाः' को माना गया है, तथा 'वाक्' को केवल इसके 42 तथा 45 मन्त्रों का ही विषय (Subject matter) स्वीकार किया गया है; इस पर भी इसके अन्य अनेक मन्त्रों में वाग्विषयक तथ्यों का उल्लेख हुआ है। इस सूक्त के 23 से 26 मन्त्र तक छन्दों के स्वरूपों की चर्चा हुई है।[6] अन्य बातों के अतिरिक्त 24वें मन्त्र में सप्तवाणी का उल्लेख महत्वपूर्ण है। कारण यह है कि ऐसी चर्चा अन्यत्र भी आई है। अन्यत्र इसे 'सप्तरेभी' भी कहा गया है। इस सूक्त के 29 से 31 मन्त्रों में फिर से वाणी के विविध पक्षों एवं शक्तियों की चर्चा आलंकारिक ढंग से हुई है।[7] 29वें मन्त्र में इसके 'मनोभाव' एवं 'अभिव्यक्ति पक्ष' पर, 30वें में इसके सजीव-निर्जीव विभेद-सामर्थ्य के विषय में, एवं 31वें में इसके चेतनावत् सर्वव्यापकत्व के सम्बन्ध में आलंकारिक ढंग से कहा गया है। 34वें मन्त्र में 'वाणी के परम व्योम' के प्रति जिज्ञासा की गई है[8], जिसके उत्तर में 35वें मन्त्र में 'ब्रह्म' को 'वाणी का परम व्योम'

बताया गया है।[9] 36वें मन्त्र में मनीषियों द्वारा 'धीति' और 'मन:' के द्वारा ही 'समस्त भुवन को परिव्याप्त कर लेने' की बात कही गई है।[10] 39वें मन्त्र में समस्त ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त परम तत्त्व की अक्षरब्रह्म के रूप में चर्चा की गई है[11] और उसे वेदादिज्ञान का मूल स्रोत बताया गया है। 41वें मन्त्र में वाणी के 'वागात्मा' पक्ष को 'गौरी' कह कर उसके द्वारा 'एकपदी' से लेकर 'नवपदी' तक की विविध रचनाओं के सृजन एवं स्वयं उसके 'सहस्राक्षरा' होने की बात कही गई है।[12] साथ ही उसका विस्तार क्षेत्र 'अनन्त आकाश' को बताया गया है। 42वें मन्त्र में इसी 'वागात्मा' गौरी से जीवमात्र के जीवन के आधार भावसमुद्रों के प्रवर्तन की बात कह कर उससे ही उस अक्षर के निस्सरण की बात कही गई है[13], जो इस विश्व के जीवन का आधार है। इस प्रकार 'अक्षर' को 'ब्रह्म' के तुल्य घोषित करके प्रथम बार 'शब्दब्रह्म' की परवर्ती कल्पना की नींव इसी सूक्त में डाली गई। इस सूक्त का 45वां मन्त्र वैयाकरणों एवं भाषाविदों में बहुचर्चित हुआ है; 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि'[14] महाभाष्यकार पतंजलि ने इससे 'नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात' की कल्पना को 'चारपद' के रूप में पुष्ट किया है। जबकि नागेश भट्ट ने 'चारपद' का अर्थ वाणी के चार चरण–परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी के रूप में तथा नामाख्यातादि चार पदों के रूप में उभयथा किया है। हमें नागेश का प्रथम अर्थ अधिक तर्कसंगत लगता है क्योंकि एक तो 41वें मन्त्र में वाणी को एक पदी नवपदी तक निभाया है, दूसरे इसमें तीन पदों के गुहा स्थित होने एवं केवल चौथे पद या चतुर्थांश मात्र के मनुष्यों द्वारा उच्चरित होने की बात कही गई है। ये दोनों बातें वाणी के मानसिक एवं उच्चरित पक्ष से ही सम्बद्ध ठहरती है। इसमें 'तुरीय' शब्द कह जिस रूप में प्रयोग किया गया है, उससे यह भी आभासित होता है कि उनकी दृष्टि में जनता के मध्य में उठने वाली भावना जब तक शब्दों का रूप धारण करके बाहर आती है, तब तक यह इतनी संक्षिप्त हो चुकी होती है मानों वह मूल भावना का एक चतुर्थांश मात्र हो। इस पर भी यह चतुर्थांश ही वक्ता के पूर्ण अभिप्राय को वहन करने में समर्थ हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि भाषा का महत्व एक माध्यम मात्र के रूप में ही है, वास्तविक अभिप्राय तो वक्ता के हृदय में निहित रहता है, जिसे 'गुहास्थित' कहा गया है तथा जिसकी उपलब्धि श्रोता का लक्ष्य रहती है।

इस प्रकार यह सूक्त मूलत: 'वाणी' के प्रति अर्पित न होकर भी, उसके स्वरूप एवं महत्व की स्पष्ट करने में अत्यधिक सहायक कहा जा सकता है।

चतुर्थमण्डल का 58वां सूक्त

यहां भाष्यकार पतञ्जलि ने इस सूक्त के तीसरे मन्त्र '***चत्वारि शृंगा:***' को भी अत्यधिक महत्व दिया है। इसको उन्होंने 'शब्द' रूपी महादेव का उद्घोषक माना है। इस सूक्त के देवता अग्नि, सूर्य, अप्, गो एवं घृत हैं। इस पर भी पतञ्जलि ने इस मन्त्र को शब्द के पदरूप की चर्चा का आधार माना है। उनके अनुसार इस मन्त्र में (1) नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात के रूप में चार पद-भेदों, (2) भूत-भविष्य-वर्तमान रूपी तीन काल-भेदों, (3) नित्य-कार्य भेद से

शब्द के बुद्धिस्थ एवं श्रुतिरूपों अथवा प्रातिपदिक एवं पदरूपों, (4) सात विभक्तियों, (5) उरस्, कण्ठ एवं शिरस् के रूप में तीन उच्चारण-स्थानों आदि का वर्णन हुआ है। 'महान् देव' को ही बाद में भर्तृहरि ने 'शब्दब्रह्म' या 'परमब्रह्म' कहा। इसी व्याख्या को कैयट और नागेश ने भी स्वीकार किया है। यजुर्वेद में इसे ही '***खं ब्रह्म***' कहा है। किन्तु हमें इस सम्पूर्ण सूक्त में ही वाणी के विविध पक्षों के महत्वांकन की झांकी मिलती दिखाई देती है। प्रथम मन्त्र में भावसमुद्र से उठती लहर 'गुहास्थित ऋत या घृत' एवं जिह्वा से निःसृत वाणी की स्पष्ट चर्चा है। द्वितीय मन्त्र में चतुःशृंग गौर को वाणी का 'उद्गिरण' या 'वमन' करने वाला माना गया है, उसके ही सुनने समझने वाले को 'ब्रह्मा' कहा गया है। चतुर्थ मन्त्र में वाणी के पूर्वोक्त गुहास्थित तीन चरणों की चर्चा है, जिन्हें जानकर विद्वान् लोग वाणी के परम सत्य घृत या ऋत को जान लेते हैं। इनमें से प्रथम चरण इन्द्र अथवा आत्मा में स्थित है, द्वितीय चरण सूर्य अथवा मन के अधिकार क्षेत्र का है एवं तृतीय चरण वेन अथवा प्राण का है। ये ही तीनों चरण बाद में परा पश्यन्ती एवं मध्यमा के रूप में माने गए।

इस सूक्त के अन्य मन्त्रों में वाणी के केवल आभ्यन्तर एवं बाह्य पक्षों की ही दृष्टि से चर्चा हुई है।

अष्टम मण्डल का 59वां सूक्त

इस सूक्त के प्रत्यक्ष देवता यद्यपि इन्द्र और वरुण हैं परन्तु उन दोनों का सम्बन्ध 'वाणी के दोहन' एवं 'अधिगतज्ञान' के साथ माना गया है। इस प्रसंग में ये कथन अवधेय हैं–

1. उस परम सत्य को इन्द्र और वरुण सात वाणियों के माध्यम से दुहते हैं।
2. ऋत या परम सत्य की सात बहिनें हैं : 'सप्तवाणीः'।
3. इन्द्र और वरुण सात विभक्तियों या सात वाणियों से सम्बद्ध त्रिधा विभक्त काल-वचन-पुरुषादि के माध्यम से हमारी रक्षा करें। एवं
4. इन्द्र और वरुण ने इन्द्रियों या ऋषियों को आरम्भ में मनीषा, मति और श्रुत को प्रदान किया। ये तीनों वाणी के साथ सम्बद्ध हैं।

अष्टम मण्डल का 100वां सूक्त

इस सूक्त के 10-11 मन्त्रों का देवता 'वाक्' को माना गया है। इनमें भाषा- वैज्ञानिक दृष्टि से दो महत्वपूर्ण बातों को कहा गया है। प्रथम यह कि जिस वाणी को विशिष्ट ज्ञान चेतना से हीन प्राणी कृमिकीटपशु आदि बोलते हैं, वही शोभमाना एवं मन्दस्वरमयी होकर देवों के मध्य आ बैठी है। इन देवों के मध्य में आने वाली इसी की चार पयस्विनी धाराएं ऊपर की ओर उठीं। इनमें से इसकी सर्वोच्च या परम धारा कहाँ गई?[15] (मन्त्र–10) द्वितीय यह कि जिस दिव्या वाक् को दिव्य शक्तियों ने अपने भीतर से जन्म दिया, उसे भिन्न-भिन्न रूप वाले सभी प्राणी बोलते हैं। यही वाणी 'मन्द्रा' होकर हमारे अन्दर समा गई है और हमारे लिए धेनु बनकर हमारे इष्ट और बल का निष्पादन कर रही है।[16] (म. 11) इन मन्त्रों में यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि पशु, मनुष्यादि सभी का व्यवहार

वाणी के बिना नहीं चलता। दोनों की वाणी में स्पष्टता-अस्पष्टता का अन्तर उनके वक्ताओं की चेतना में ज्ञानमयता की स्पष्टता-अस्पष्टता के अन्तर पर निर्भर करता है। इस प्रकार पशुवाक्, पक्षीवाक्, मानवीवाक् आदि एक ही 'वाक्' के विविध स्तर हैं।

दशम मण्डल : बार्हस्पत्य सूक्त[17]

हम कह आए हैं कि इसमें वाणी के आविर्भाव, प्रकृति तथा बुद्धि एवं मन के साथ उसके सम्बन्ध आदि की चर्चा प्रमुख रही है। इसमें वाणी के उच्चारण एवं ग्रहण पक्षों पर भी प्रकाश डाला गया है। इस सूक्त के कुछ वक्तव्य इस प्रकार हैं।–

1. वाणी का आरम्भिक आविर्भाव शब्दात्मक इकाई के रूप में होता है। वह वस्तुओं को नाम देने के बहाने उनके सम्बन्ध में अपनी सम्पूर्ण भावनाओं को व्यक्त करने का प्रयास करता है।
2. आन्तरिक भावना ही बाह्य वाणी के रूप में उच्चरित होती है : तीव्र प्रेरणा से।
3. आत्मा में उठती भावनाओं को 'मनन' के द्वारा 'छाना' जाता है और तब वाणी के रूप में वह सामने आती है। जिसे केवल समान ज्ञान वाले व्यक्ति ही समझने में समर्थ होते हैं।
4. ये मनोभाव पहले मन में 'पद' या 'शब्द' का रूप ग्रहण करते हैं, तभी प्राण और इन्द्रियाँ इन्हें सात स्वरों या सात वाणियों (सात स्थानों में उद्भूत वाणियों) के रूप में प्रकट करती हैं।
5. 'भाषा' या 'वाणी' केवल देखने सुनने का ही विषय नहीं है। वह 'समझ' की वस्तु है : बुद्धि का व्यापार है। अन्यथा देख सुनकर भी 'वाणी' किसी-किसी के लिए 'बांझ' ही बनी रहती है।
6. समान इन्द्रियों वाले होकर भी मनोवेग की भिन्नता के कारण सभी मनुष्य प्रकाशित वाणी को समान रूप से समझ या ग्रहण नहीं कर पाते।
7. वेद और ज्ञान की चर्चा न करने वाले लोग ही वाणी का प्रयोग दुर्भावना और पाप से पूर्ण होकर करते हैं।

इस प्रकार वाणी के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल देने के कारण यह सूक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

दशम मण्डल के 144 एवं 125 सूक्त

इनमें से प्रथम सूक्त का देवता 'विश्वेदेवा:' को माना गया है[18], जबकि द्वितीय सूक्त का देवता 'आम्भृणी वाक्' या 'आन्तरिक वाणी' को माना गया है।

1. 114वें सूक्त के चतुर्थ एवं पंचम मन्त्रों में इस तथ्य को कहा गया है कि किस प्रकार एक ही सत्य वाणी विविध रूप में प्रकट करने में समर्थ होती है। छठे मन्त्र में यह तथ्य कहा गया है कि विविध परिमाणों के आधार पर इस कलावाक् के माध्यम से ही विविध छन्दों, यज्ञादि एवं ऋक्सामादि का प्रवर्तन होता है। सातवें मन्त्र में इस तथ्य को कहा गया है कि अभिव्यक्ति के विविध प्रकारों को वाणी के सात

रूपों के माध्यम से ही व्यक्त किया जाता है। आठवें मन्त्र में वाणी के अनन्त सामर्थ्य एवं विस्तार को बताते हुए घोषणा की गई है : 'जहां तक ब्रह्म, वेद या ज्ञान का विस्तार है, वहां तक वाणी भी विस्तृत है अर्थात् ज्ञान केवल वाणी रूप में ही रह सकता है। नवें मन्त्र में वाणी को 'धिष्ण्या' कहा गया है : 'बुद्धि के चिन्तन व्यापार से जन्म लेने वाली'।

2. 125वां सूक्त वाणी के आन्तरिक स्वरूप की चर्चा करता है।[19] यहां फिर से वाणी के दिव्य स्वरूप को प्रथम दो मन्त्रों में स्पष्ट किया गया है। तृतीय मन्त्र में उसे राष्ट्री, अर्थात् सबमें प्रकाशमान वसूनां संगमनी, अर्थात् मानव-जीवन के आवश्यक तत्त्वों को एकत्र जुटाने में समर्थ एवं 'यज्ञियानां प्रथमा चिकितुषी' अर्थात् यज्ञ से उपलभ्य तत्त्वों में सर्वप्रमुख कहा गया है। इसी मन्त्र में इसके (1) देश भेद से विविध भाव रूपों (भूरिस्थात्राम्) (2) सर्वत्र विद्यमानता (पुरुत्राम्) एवं (3) प्राणिमात्र में उपस्थित रहने वाली (भूर्यावेशयन्तीम्) शक्ति को भी स्पष्ट कहा गया है। यह कथन इसके लोक-सम्बद्ध व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करते हैं। चतुर्थ मन्त्र में वाणी को समस्त मानवीय क्रियाओं की संचालिका एवं सत्य की उद्घोषिका कहा गया है। अगले तीन मन्त्र वाणी की विविध शक्तियों एवं उसकी समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापकता का वर्णन करते हैं। अन्तिम आठवें मन्त्र में उसे सर्वलोक-मायिनी एवं समस्त चराचर सृष्टि की सीमा से भी परे तक व्याप्त घोषित किया गया है।

वाणी के चरण

दशम मण्डल के ही 177 सूक्त में वाणी के चार चरणों की स्पष्ट व्याख्या आई है। इस सूक्त में कुल तीन मन्त्र है।[20] इसका देवता 'मायाभेदः' तथा ऋषि 'पतंगप्राजापत्यः' है। प्रमुख रूप से इसमें 'पतंग' प्रतिपाद्य है। जिसे बहुधा सूर्य एवं परमात्मा के अर्थों में लिया जाता है। सामवेद भाष्यकार डॉ. रामनाथ वेदालंकार ने इस शब्द (पद) के परमात्मा, जीवात्मा, प्राण, अग्नि, सूर्य, भूमण्डल, पक्षी, मेघ, विस्फुलिंग, रथ, अश्व, राक्षस, शलभ आदि अनेक अर्थ अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "वैदिक शब्दार्थ विचारः" के पृ. 73-80 पर प्रदर्शित किये हैं। किन्तु यहां इसका अर्थ स्पष्टतः 'वागात्मा या शब्दब्रह्म' से है। प्रथम मन्त्र में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि यह वागात्मा तब उस आत्माभिव्यक्ति की इच्छा को मन में-मनोभाव के रूप में ले जाता है जहां इन्द्रियों का अधीश्वर मन इसे शब्दरूप में अपने गर्भ में धारण करता है। यह मनोभाव रूप स्थिति ही 'मनीषा' है जिसे कवि लोग 'ऋत' के पद पर लाकर पीते हैं। अर्थात् कवि मनोभावों को ही शब्दरूप में 'अमृत' कर देते हैं। बाद में तृतीय मन्त्र के अनुसार, यह अविनश्वर वाक् ही बाह्य वाणी के रूप में लोकलोकान्तर में विचरती हुई देखी या समझी जाती है।

अन्य वेदों में

यूं तो यजुर्वेद और सामवेद में भी ऐसे

स्थल ढूंढे जा सकते हैं जिनमें वाणी की चर्चा आई है, किन्तु हमारा उद्देश्य इन सभी स्थलों की चर्चा करना मात्र नहीं है। अथर्ववेद की सत्ता स्वतन्त्र होने से उसमें आए कुछ सूक्तों पर विचार आवश्यकतानुसार किया जा सकता है। इसके चतुर्थकाण्ड का तीसवां सूक्त ऋग्वेद के 'वागाम्भृणीय सूक्त' (10. 1.85) से बहुत मिलता जुलता है। तृतीय काण्ड का तीसवां सूक्त ज्ञान वाणी एवं मन के समन्वयकारी पक्ष पर अधिक बल देता है और इसीलिए सांमनस्य सूक्त कहलाता है।[21] हम यहां सत्ता की पृथक्ता की दृष्टि से अथर्ववेद के सर्वप्रथम सूक्त का उल्लेख करना अनिवार्य समझते हैं। इस सूक्त का देवता 'वाचस्पति' है। इसके सर्वप्रथम मन्त्र में ही यह कहा गया है कि[22] जो ये शब्दरूप तीन और सात के क्रम में विभक्त होकर विविध रूपों को धारण करते हुए सर्वत्र काम में आते हैं, वाचस्पति हमें उनके बल से युक्त करे अर्थात् हमें उनके सशक्त प्रयोग में समर्थ बनाए। (अर्थ. 1.1.1) शेष मन्त्रों में 'मन' और 'श्रुत' (ज्ञान) के सम्बन्ध की चर्चा की गई है। यह हमारा 'श्रुत' ही हमें सांमजस्यपूर्ण बना सकता है और यही हमें परस्पर विरोध में भी ले जा सकता है अत: मन को केन्द्रित करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

हमारी दृष्टि से अथर्ववेद का यह प्रथम मन्त्र ही इतना महत्वपूर्ण है कि इसके बाद हमें उसके किसी अन्य सूक्त के विवेचन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इस मन्त्र में तीन, सात और रूप 'सर्वत्र' व्यवहृत होने वाले ये तीन पद अवधेय हैं। यह तीनों ही शब्दरूपों एवं उनके विविधात्मक प्रयोगों की ओर इंगित करते हैं। स्पष्ट है, यहां पद-भेदों के व्याकरणात्मक विभाजन का निर्देश है। शेष सभी बातें ऋग्वेद के सूक्तों में कथित तथ्यों से मिलती जुलती हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के दशम मण्डल का 189 सूक्त अथर्ववेद के षष्ठ काण्ड के 31वें सूक्त के रूप में अविकल तथा 20वें काण्ड के 48वें उत्तरार्ध के रूप में अविकल उद्धृत हुआ है। इसमें भी उच्चार्यमाण वाणी–'गो' एवं शब्दरूपा 'वाक्' की ही चर्चा है।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक ऋषि जहां जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों के पर्यवेक्षण के प्रति प्रबुद्ध था, वहां स्वयं द्वारा व्यवहृत ही जाने वाली भाषा के व्यवहार, स्वरूप एवं विश्लेषणात्मक परिज्ञान के विषय में भी उसकी दृष्टि सजग थी। हम साररूप में उसके पर्यवेक्षणों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत कर सकते हैं–

1. भाषा की अभिव्यक्ति

अध्ययन और ज्ञान का नित्य सम्बन्ध है। हृदय या आत्मा में उठते भावों के अम्बार को मन और बुद्धि शब्दों का परिवेश देकर अत्यन्त सीमित कर देते हैं। इसे ही इन्द्रियां उच्चारण के रूप में प्रकट करती हैं। आत्मा में उठने वाले भावों से उनके बाह्य उच्चारण के बीच से अन्य स्थितियां भी आ चुकी होती हैं– शब्दरूप देने एवं उच्चारणात्मक प्रयत्न करने की। अत: मनुष्य द्वारा मुखरित जिस वाणी को हम सुनते हैं वह वाणी का तुरीय या चतुर्थ चरण मात्र है इसके पहले के तीनों चरण आत्मा, मन एवं इन्द्रियों के अधीन स्थित रहते हैं।

2. भाषा का माध्यम मात्र

भाषा या वाणी का वास्तविक प्रयोजन वक्ता और श्रोता को 'सखा=समान ज्ञान वाला' बना देता है। यदि वक्ता के बोलने पर भी श्रोता उसे समझ नहीं पाया तो वाणी 'वाणी' नहीं, क्योंकि तब वह अफला-अपुष्पा और वन्ध्या रहती है। यही कारण है कि भाषा का अर्थग्रहण केवल आंख-कान के माध्यम से नहीं होता, और न वह इनका विषय ही है। भाषा के अर्थग्रहण का सामर्थ्य तो श्रोता के मन में होता है। जिसका मन जितना ही केन्द्रित एवं प्रबुद्ध होता है वह उतना ही शीघ्रता से अर्थग्रहण में समर्थ हो जाता है। इस 'मनोजव' के द्वारा ही श्रोता वक्ता के मन और आत्मा में स्थित आशय तक पहुंचने में समर्थ होता है।

'वाणी' का यह माध्यम सर्वजनहित का भी साधन बन सकता है, तथा दुर्भावना एवं शत्रुता उत्पन्न करने का भी। इसलिए वाणी को चिन्तन द्वारा छान कर जितना ही पुनीत कर लेंगे, यह उतना ही अर्थ साधन करती है।

3. वाणी का आध्यात्मिक पक्ष

वागात्मा 'गौरी' है। 'गौ' या 'वाक्' उससे ही उत्पन्न होती है। वाणी का परम व्योम (विस्तार) 'ब्रह्म' है। इसीलिए ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्मा को 'गौर' एवं 'चतुश्रृंग गौर' के रूप में कहा गया है। स्वरों के विविध विस्तार–तीन स्वर, सात स्वर, आदि के रूप में–इसी वाणी को विविध रूप में प्रकट करते हैं। 'गौरी' से ही वह 'अक्षर' निकलता है जो 'ब्रह्म' के रूप में इस जगत् के जीवन का आधार है। अभिव्यक्त वाणी हृदय या वागात्मा में उठे मूल भावों की चतुर्थांश मात्र होती हैं। वाणी के आविर्भाव में मन का बहुत बड़ा हाथ रहता है। 'गुहा' में मूलतः स्थित भाव ही चतुर्थांश (वैखरी) वाणी के रूप में सामने आते हैं।

4. पदज्ञान

चार पदों, तीन काल, वचन, पुरुष, लिंगादि, दो उपग्रहों, सात विभक्तियों आदि की रूपकात्मक चर्चा विविध मन्त्रों में आई है। वाक्य और पद का सम्बन्ध निश्चित संख्या में नहीं हो सकता। एक पद से लेकर वाक्य कितने भी पदों का हो सकता है।

5. ध्वनि और वर्ण

ध्वनि और वर्ण केवल बाह्याभिव्यक्त रूप मात्र है। बुद्धिस्थ रूप में वे 'अक्षर' या अविनश्वर हैं। 'ध्वनि' ही स्थान–प्रयत्नादि भेद से सात स्थानों से उत्पन्न या सात स्वरों वाली आदि रूपों में प्रकट होती है। अक्षरों, वर्णों एवं ध्वनियों की संख्या अन्तिम रूप में निश्चित नहीं की जा सकती। बुद्धि, मन में स्थित शब्द इन बाह्य ध्वनि रूपों से परे है।

6. शब्द ब्रह्म

शब्द आन्तरिक रूप से अविनश्वर है। चेतन पुरुष नित्य है। चेतना बिना ज्ञान के रह नहीं सकती। इसीलिए पुरुष, चेतना, वेद और ज्ञान को 'ब्रह्म' कहा गया है। 'ब्रह्म' का विस्तार 'आकाश' या 'स्पेस' के तुल्य है। अतः जहां तक भी 'ब्रह्म' या 'स्पेस' की सीमा सम्भव है, शब्दरूपा वाणी भी उतनी विस्तृत है। ब्रह्म की अविनश्वरता के कारण वाणी भी अविनश्वर है। आकाश में परिव्यापक होने से वाणी या शब्द उसका ही गुण मान

लिया जाता है। वास्तव में चेतना, ज्ञान, शब्द और आकाश एक दूसरे से गुंथे और सम्बद्ध हैं : 'ओ३म् खं ब्रह्म' (यजु. 40/17)।

7. अर्थपक्ष

अर्थवाहकता और अर्थपरिज्ञान के बिना शब्दों का कोई प्रयोजन नहीं (अफला-अपुष्पा)। अर्थ का परिज्ञान ही ज्ञानवान् की पहचान है। समान ज्ञान वालों की समता एवं मैत्री इसी अर्थ परिज्ञान के माध्यम से होती है। अर्थज्ञान में कुशल व्यक्ति ही वादविवादों, शास्त्रार्थ आदि में जीत सकता है। एक ही शब्द विविध स्थानों पर विविध अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है।

8. वाक् अखण्ड : वाक्यरूपा

यद्यपि वाक्य की चर्चा पृथक् से नहीं हुई है, इस पर भी वाणी की अखण्डता एवं वाक्य की पदरूप में विस्तारभिन्नता अनेकत्र घोषित की गई है। एक स्थल पर स्पष्ट ही कहा गया है : वाक्य एक पद भी हो सकता है, अपि वा नौ या अधिक पदों का भी, वह एक अक्षर का भी हो सकता है और सहस्राधिक अक्षरों का भी, इस पर भी अभिव्यक्त वाक् के रूप में एक ही है। यही 'वाक्', 'गौ' आदि शब्द उच्चरित वाक् के अखण्ड रूपात्मक 'वाक्य' के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। वेद में कहीं भी अलग अलग शब्दों की सार्थकता की बात न कहकर 'वाक्' की ही चर्चा है। 'उक्ति' या 'वाक्य' का समानार्थ भी 'वाक्' शब्द ही है।

उपसंहार

इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। किन्तु हमारा अभिप्राय यहां केवल इतना ही इंगित करना है कि वेद में ज्ञान के जिस समग्र रूप के दर्शन हमें होते हैं, उसमें व्याकरण एवं भाषाविषयक तथ्यों का भी अत्यन्त प्रौढ़ समावेश स्वभावतः ही हो गया है; ज्ञान-विशेष की दृष्टि से नहीं। इसीलिए वेदज्ञ के लिए निरुक्तकार ने 'भूयोविद्यात्व' की शर्त रखी।

इन पंक्तियों में हमने देखा कि वेदों में अभिव्यक्त भाषावैज्ञानिक धारणाएं ही बाद में पनपे भारतीय भाषा-चिन्तन का मूलाधार बनीं।

पाद-टिप्पणियां

1. सर्वज्ञानमयो हि सः मनु. 2/7
2. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं
   यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
   यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्
   प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥१॥
   सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
   यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
   अत्रा सखायः सख्यानि जानते
   भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥२॥
   यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्
   तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
   तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां
   सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥३॥
   उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं
   मुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
   उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे
   जायेव पत्य उशती सुवासाः॥४॥
   उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहु
   र्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
   अधेन्वा चरति माययैष वाचं
   शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥५॥
   यस्तित्याज सचिविदं सखायं
   न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।

यदीं शृणोत्यलकं शृणोति
नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥६॥
अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो
मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे
हृदा ईव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥७॥
हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु
यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभि
रोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे॥८॥
इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति
न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया
सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥९॥
सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन
सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषा
मरं हितो भवति वाजिनाय॥१०॥
ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य
मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥११॥
(ऋ. १०/७१/१-११)

3. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्य-
हमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥१॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं
त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते
सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते॥२॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा
भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥३॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति
यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति
श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥४॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥५॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं
द्यावापृथिवी आ विवेश॥६॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम
योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं
द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥७॥
अहमेव वातइव प्र वाम्यारभमाणा
भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना
सं बभूव॥८॥ (ऋ. १०/१२५/१-८)

4. पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा
पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते
मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥१॥
पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति
तां गन्धर्वोऽवदद्गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषा
मृतस्य पदे कवयो नि पान्ति॥२॥
अपश्यं गोपामनिपद्यमान मा
च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान
आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥३॥
(ऋ. १०/१७७/१-३)

5. घर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतु
स्तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम।
दिवस्पयो दिधिषाणा अवेषन्
विदुर्देवाः सहसामानमर्कम्॥१॥
तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतीरुपासते
दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः।

तासां नि चिक्युः कवयो
निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु॥२॥
चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा
घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र
देवा दधिरे भागधेयम्॥३॥
एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश
स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तित स्तं
माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्॥४॥
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु
ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश॥५॥
षट्त्रिंशाँश्च चतुरः कल्पयन्त
श्छन्दांसि च दधत आद्वादशम्।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष
ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति॥६॥
चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य
तं धीरा वाचा प्रणयन्ति सप्त।
आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येन
पथा प्रपिबन्ते सुतस्य॥७॥
सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था
यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं
यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥८॥
कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः
को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद।
कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी
इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित्॥९॥
भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति
रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।
श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो यदा
यमो भवति हर्म्ये हितः॥१०॥
(ऋ.१०/११४/१-१०)

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥१॥
अन्तश्चरति रोचना ऽस्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम्॥२॥
त्रिंशद्धाम वि राजति वाक् पतङ्गाय
धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः॥३॥
(ऋ.१०/१८९/१-३)

6. यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितं
त्रैष्टुभाद् वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद् वा जगज्जगत्याहितं पदं य
इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥२३॥
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण
साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदा
ऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥२४॥
जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद्
रथंतरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो
मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥२५॥
उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां
सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नो
ऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम्॥२६॥
(ऋ.१/१६४/२३-२६)

7. अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता
मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं
विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥२९॥
अनच्छये तुरगातु जीव मेजद्
ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो
मर्त्येना सयोनिः॥३०॥
अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा
च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान
आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥३१॥
(ऋ.१/१६४/२९-३१)

8. पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः
पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।

पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य
रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥
(ऋ.१/१६४/३४)

9. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या
अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो
ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥
(ऋ.१/१६४/३५)

10. सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो
विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः
परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥
(ऋ.१/१६४/३६)

11. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्
देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य
इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥
(ऋ.१/१६४/३९)

12. गौरीर्मिमाय सलिलानि
तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी
सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥
(ऋ.१/१६४/४१)

13. तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति
तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति॥
(ऋ.१/१६४/४२)

14. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि
विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं
वाचो मनुष्या वदन्ति॥(ऋ.१/१६४/४५)

15. यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री
देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि
क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥
(ऋ.८/१००/१०)

16. देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां
विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना
धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥
(ऋ.८/१००/११)

17. देखो, पादटिप्पणी सं. २ पर - (ऋ. १०/७१/१-११)

18. घर्मा समन्ता त्रिवृतं
स्तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम।
दिवस्पयो दिधिषाणा अवेषन्
विदुर्देवाः सहसामानमर्कम्॥१॥
तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतीरुपासते
दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः।
तासां नि चिक्युः कवयो
निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु॥२॥
चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा
घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतु
र्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥३॥
एकः सुपर्णः स समुद्रमा
विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं
माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्॥४॥
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु
ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश॥५॥
षट्त्रिंशाँश्च चतुरः कल्पयन्त
श्छन्दांसि च दधत आद्वादशम्।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष
ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति॥६॥
चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य
तं धीरा वाचा प्रणयन्ति सप्त।
आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचे
द्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य॥७॥
सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था
यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं

यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥८॥
कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः
को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद।
कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी
इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित्॥९॥
भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति
रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।
श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो
यदा यमो भवति हर्म्ये हितः॥१०॥
(ऋ.१०/११४/१-१०)

19. देखो, पादटिप्पणी सं. ०३ पर (ऋ. १०/१२५/१-८)

20. पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा
पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते
मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥१॥
पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति
तां गन्धर्वोऽवदद्गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषा
मृतस्य पदे कवयो नि पान्ति॥२॥
अपश्यं गोपामनिपद्यमान मा
च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान
आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥३॥
(ऋ. १०/१७७/१-३)

21. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत
वत्सं जातमिवाघ्न्या॥१॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु
शन्तिवाम्॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा
स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा
वाचं वदत भद्रया॥३॥
येन देवा न वियन्ति नो
च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो
गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥४॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि
यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥५॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा
नाभिमिवाभितः॥६॥
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्ये-
कश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः
सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥७॥
(अथर्ववेद ३/३०/१-७)

22. ये त्रिषप्ताः परियन्ति
विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो
अद्य दधातु मे॥१॥
पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय
मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥२॥
इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु
मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥३॥
उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान्
वाचस्पतिर्ह्वयताम्।
सं श्रुतेन गमेमहि मा
श्रुतेन वि राधिषि॥४॥
(अथर्ववेद १/१/१-४)

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (30-38) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेद तथा तदुत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में मिथकीय तत्त्व

प्रो. कमलेश कुमार छ. चोकसी
संस्कृत विभाग, भाषासाहित्यभवन,
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद

विगत उन्नीसवीं शताब्दी से पश्चिम के, विशेषत: अमेरिका के साहित्यालोचक विद्वानों ने मिथक को लेकर काफी विस्तृत तथा गंभीर विचार किया है। उनके इस विचार ने इस मिथक को विश्वसाहित्य के समालोचना के क्षेत्र में (मिथकीय समीक्षा के रूप में) एक नवीन विषय का रूप दे कर उसे ठीक ठीक प्रतिष्ठापित कर दिया है। स्वाभाविक है, इसी कारण भारतीय, विशेषरूप से संस्कृत-साहित्य के विद्वान् भी इस मिथक को अपने काव्य का समीक्षा साधन समझने लगे हैं, और उसे दृष्टि समक्ष रख कर संस्कृत साहित्य की रचनाओं की समीक्षा- समालोचना करने लगे हैं।

इस स्थिति में संस्कृत साहित्य की दृष्टि से इस मिथक के स्वरूप का यथार्थ विचार होना आवश्यक बन गया है तथा साथ ही उस विचार बीज का संस्कृत साहित्य में किस रूप से कहाँ पर मूल देखा जा सकता है, वह भी आकलित करना आवश्यक बना है। प्रस्तुत लेख में हमने इसी बात पर विमर्श करने का उपक्रम रखा है।

यह सुप्रसिद्ध हैं कि यह मिथक शब्द पश्चिम से आया है। इस शब्द से जो तत्त्व अभिप्रेत है, उसकी परिकल्पना भी पश्चिम ने स्वयं ही निश्चित की है।[1] अत: स्वाभाविक है कि मिथक के अर्थ को जानने की इच्छा रखने वाले को वहीं जाना होगा और उन्हीं के वचनों के आधार पर उसकी परिकल्पना को समझना होगा। इधर भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में जब हम मिथक के अर्थ के विषय में विचार करते हैं, तब हमें सर्वप्रथम यह समझ लेना होगा है कि इस मिथक शब्द का संस्कृतसाहित्य की छाया में रह कर इदमित्थंतया अर्थ करना संभव नहीं है। क्योंकि इस शब्द का संस्कृत साहित्य में तो प्रयोग दुर्लभ है तथा जिस अर्थ में पश्चिम के साहित्यशास्त्री इसे प्रयुक्त करते आये हैं और आज भी कर रहे हैं, उस अर्थ में, संस्कृत साहित्य में यह शब्द कहीं पर भी प्रयुक्त नहीं हुआ है, यह निश्चित है। कुछ समय से यह शब्द भारतीय भाषाओं में विशेषत: हिन्दीसाहित्य में प्रयुक्त होने लगा है, और वहाँ अब यह मिथक शब्द अंग्रेजी के मिथ शब्द का पर्यायरूप माना जाने लगा है।[2]

अंग्रेजी में जिस मिथ (Myth) शब्द

का प्रचलन है, वह वहाँ पर इसे यूनानी भाषा के माइथोस शब्द से निष्पन्न माना गया है। माइथोस का यूनानी भाषा में अर्थ होता है- आप्तवचन अथवा अतर्क्य वचन।[3] अरस्तु ने कथा-विधान (फेबिल Fable) के अर्थ में इसका प्रयोग किया है।[4] पर, पश्चिम में आज कल इस मिथक को लेकर जो व्यापक विचार हुआ है, उसने मिथक के अर्थ को ही अस्पष्ट बना दिया है। अतः एव रिचर्ड चेज का कथन है कि- मिथक के साथ पश्चिम के अनेक उत्साही आलोचकों ने इतनी खींचतान की है कि उसके अर्थ का अनंत विस्तार हो गया है।[5] इस कारण आज हमारे लिये पश्चिम की मिथ विषयक परिभाषा आकारित करना तथा उसके अनुरूप कोई लक्षण कल्पित करके मिथ के अर्थ के इदमित्थंतया वर्णित करना संभव नहीं है।

पुनरपि ''सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया'' इस परम्परागत परिपाटी का अनुसरण करते हुए संस्कृत भाषा की दृष्टि से इस (अंग्रेजी मिथ Myth के पर्याय) मिथक शब्द के स्वीकार्य अर्थ पर विचार करना हो, तो सर्वप्रथम हमें इस शब्द के साथ ध्वनिसाम्य रखने वाले संस्कृत के मिथस् या मिथ्या शब्द को ध्यान पर लेना होगा। मिथस् शब्द संस्कृत में परस्पर का वाचक है जबकि मिथ्या शब्द असत्य-अनृत का वाचक है। यदि हम मिथक शब्द को संस्कृत के उपर्युक्त दो शब्दों से जोड़ कर देखते हैं और ऐसा करके उस के अर्थ का विचार करते हैं, तो इस मिथक के संभवित अर्थ में मिथ्यात्व (=कल्पनापन) तथा किन्हीं दो वस्तुओं के साथ का परस्पर संबन्ध- इन दो भावों को एक साथ या पृथक् पृथक् जोड़ कर देखा जा सकता है। इसी पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध समीक्षक तथा काव्यशास्त्री प्रो. नगेन्द्र ने इसके अर्थ की परिकल्पना करते हुए बताया है- ''मिथक संस्कृत का सिद्ध शब्द नहीं है। संस्कृत में इसके निकटवर्ती दो शब्द हैं: (1) मिथस् या मिथः - जिसका अर्थ है परस्पर और (2) मिथ्या, जो असत्य का वाचक है। यदि मिथक का संबध मिथस् से स्थापित किया जाए तो इसका अर्थ हो सकता है सत्य और कल्पना का परस्पर- अभिन्न- सम्बन्ध अथवा ऐकात्म।''[6] अर्थात् सत्य तथा मिथ्या किंवा कल्पना के दो चक्रों पर गति करने वाला जो कथन है, वही मिथक है।

इस अर्थ को स्वीकार्य रखकर अब यह विचारणीय बनता है, कि इस मिथक शब्द से जो उपर्युक्त भाव सूचित हो रहा है, उसी भाव के चिन्तन की परम्परा संस्कृत साहित्य में कहीं पर उपलब्ध है या नहीं है? यदि है तो किस रूप में है। इस परम्परा का प्रभाव कहाँ से है और किस प्रकार से, कहाँ-कहाँ, किस-किस रूप से उसे प्रस्थापित हुआ देखा जा सकता है।

प्रस्तुत लेख में हमने सोदाहरण इसी भाव को प्रदर्शित करने का उपक्रम रखा है।

हमारी परम्परा रही है कि सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। अर्थात् सभी विचार वेद से प्रसिद्ध होते हैं। इस परम्परा का प्रस्तुत प्रसंग में भी पालन किया जाना चाहिये, यह विचार कर सर्वप्रथम हम वेद से ही इस चर्चा का प्रारंभ करते हैं।

यजुर्वेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र है-

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि

तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥[7]

इस मन्त्र में अग्नि को सम्बोधित करते अस्मत् पदवाच्य बनकर कोई व्यक्ति अनृत से सत्य की ओर जाने के व्रत को आचरित करने का संकल्प कर रहा है। इस संकल्प को व्यक्त करने के लिये जो वाक्यरचना की गई है, वह ध्यातव्य है। पाणिनि के द्वारा संकल्पित शब्दानुशासन की छाया में इस पर थोड़ा सूक्ष्म विचार करना प्रासंगिक होगा। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार अनृतात् पद में अपादान कारक में पञ्चमी है। अपादान कारक के लिये[8] जिन शरतों का निर्देश किया है, उसमें अपाय का होना आवश्यक है। अपाय का आशय बताते हुए कहा गया है– संयोगपूर्वकवियोगानुकूल–व्यापारः अपायः। अर्थात् संयोगपूर्वक का वियोग के अनुकूल व्यापार ही अपाय है। इस प्रकार जहाँ संयोगानन्तर वियोग होता है, वहाँ पर ही अपादान कारक होता है और अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति।

पाणिनि के द्वारा विचारित इस अपादान तथा तत्प्रयुक्त विभक्ति की व्यवस्था के संदर्भ में उपर्युक्त मन्त्र के प्रयुक्त अनृतात् पद के अर्थ का विचार करने पर सूचित होता है कि जो व्यक्ति इस मंत्र के द्वारा अनृत से सत्य की ओर जाने का व्रत ले रहा है, वह प्रथम तो अनृत के साथ संयुक्त रहता है। अनृत के साथ संयुक्त हुए बिना अनृत से वियोग की क्रिया का होना संभव ही नहीं है। अतः इस मंत्र में जो कथन है, उसमें इस कथन को बोलने वाला व्यक्ति प्रथम तो अनृत से संयुक्त होता है। अपने तप तथा ज्ञान के कारण उसमें जो चेतना प्रकट होती है, उस चेतना के कारण इस स्थिति से स्वयं परिचित हो जाता है। इस परिचयात्मक ज्ञान के कारण ही अब वह अनृत से संयुक्त हो रहा वह व्यक्ति, अनृत को छोड़ कर सत्य की ओर जाने का संकल्प करता है, जो इन शब्दों में व्यक्त करता है।

इस मंत्र का भाष्य करते हुए आचार्य महीधर लिखते हैं– अहं यजमानोऽस्मादनृतात् मनुष्यजन्मन उद्गत्य सत्यं देवताशरीरम् उपैमि प्राप्नोमि।[9] अर्थात् मैं यजमान इस अनृत से –मनुष्य जन्म से ऊपर जाकर सत्य– देवताशरीर को प्राप्त करता हूँ।

इस वेदार्थ में आचार्य महीधर ने भी संयोग के साथ वियोग का तात्पर्य देखा है। उनके अनुसार जो व्यक्ति इस संकल्पवचन का पाठ कर रहा है, वह वर्तमान में मनुष्य जन्म के साथ संयुक्त है और अब यह मनुष्यजन्म की संयोगावस्था को त्याग कर, देवताशरीर की ओर जाने वाला है। दूसरी भी एक ध्यातव्य बात इस मंत्र के भाष्य में आचार्य महीधर ने कही है। वे कहते हैं– ''अनृतं मनुष्यजन्म शीघ्रविनाशित्वात्। ... सत्यं देवजन्म बहुकालस्थायित्वात्।''[10] यहाँ पर वे मनुष्य जन्म को, जिसके साथ सम्प्रति संकल्पकर्ता संयुक्त है, अनृत मानते हैं तथा जिस ओर वह जाने का संकल्प कर रहा है, उस देवजन्म को सत्य बताते हैं। इस विचार की पृष्ठभूमि पर रहकर यदि हम विचार करेंगे तो पायेंगे कि मनुष्य अवस्था अनृत है तथा देव अवस्था सत्य है।

जब मनुष्य अनृतरूप है, तब उसके साथ संलग्न पदार्थ की वेद की दृष्टि में क्या स्थिति है? यह भी विचारणीय बन जाता है। इस स्थिति में अथर्ववेद का यह मंत्र ध्यातव्य है–

एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिदः
समिद् भव।
आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय।।[11]

इस मन्त्र का आचार्य सायण के द्वारा किया गया भाष्य इस प्रकार है– ''हे अग्ने ते तुभ्यम् एताः समिध आहृताः। ताभिः समिद्भि-स्त्वम् इद्धः प्रज्वलितो भव। ततः अस्मासु समिध आहितवत्सु आयुः जीवनं धेहि। आचार्याय अस्मदुपाध्यायाय उपनयनकर्त्रे गायत्रीप्रदात्रे वेदाध्यापकाय अमृतत्वम् अविनाशं च धेहि प्रयच्छ।।[12] अर्थात् हे अग्ने! आपके लिये ये समिधाएँ लायी गई हैं। इन समिधाओं से आप प्रज्वलित हुजिये। तत्पश्चात् हम समिधाओं के लाने वालों को जीवन प्रदान करना। हमारे आचार्य, जो कि उपनयन संस्कार के कर्ता हैं, को अमृतत्व दीजिये।

यहाँ पर मनुष्य के स्वामित्ववाली समिधा का निर्देश देकर एक प्रार्थना की गई है। इस प्रार्थना में समिधा को लेकर अमृतत्व को देने की बात की गई है। क्या जो वस्तु स्वयं विनाशशील है, तो क्या वह अमृतत्व दे सकती है? इस प्रश्न का प्रत्यक्षरूप से उत्तर तो यहाँ नहीं देखा जा सकता है, पर इस सिद्धान्त की स्वीकृति प्राप्त की जा सकती है कि वेद की दृष्टि में विनश्वर पदार्थों से अमृतत्व की प्राप्ति की जा सकती है।

उपर्युक्त दोनों मंत्रों का तात्पर्य जोड़कर उसका सार विचारा जाये, तो हम कह सकते हैं कि सांसारिक प्रत्येक भौतिक वस्तु स्वयं में अनृतत्व से युक्त है। पर, अनृत से जो इनका जो संयोग है, वह नित्य नहीं है। अनृतत्व से संयुक्त वस्तु को एक न एक दिन सत्य की ओर जाने का उपक्रम करना ही होता है। यह परम सत्य है, और यही परम सत्य इन मंत्रों के शब्दों में अन्तर्निहित है।[13]

अथ च सत्य की ओर गति करने वाला प्रत्येक पदार्थ या व्यक्ति जब किसी समय में अनृत से जुड़ा हुआ रहा हो, तो स्वाभाविक है कि उसमें अनृतत्व के कुछ संस्कार भी आ ही जाते हैं। अतः जब वह पदार्थ या व्यक्ति जब अनृत की स्थिति से सत्य की ओर गति करता है, तब भी उसमें अनृतत्व के संस्कार का किञ्चित् अस्तित्व रहता है, यह मानना पड़ेगा। वेद में उपलब्ध ऐसे मंत्रों से ही अनृत में सत्य किंवा ऋत के संमिश्रण होने की भावना का प्रवाह प्रारंभ होता है।

यह प्रवाह वेद से चलकर ब्राह्मण-ग्रन्थों में अंकित हुआ है। शतपथ में वचन है– ते देवाः सत्यमित्युपासते। तदेतत्त्र्यक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरममित्येकमक्षरम्। प्रथमोत्तमेऽक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतम्, तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति।।[14] अर्थात् सत्य शब्द में तीन अक्षर हैं– 1. स, 2. ती तथा 3. अम्। इनमें से प्रथम स तथा उतम अम् – ये दोनों सत्य है जबकि मध्य में रहने वाला ''ती'' वर्ण अनृत है।

शतपथ के इस वचन का तात्पर्य भी वही प्रतीत होता है जो यजुर्वेद-अथर्ववेद के उपर्युक्त मन्त्रों में हम देख आयें हैं। शतपथ के इस वचन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सत्य शब्द स्वयं ही अनृत से युक्त है। अर्थात् सत्य शब्द में भी अनृत का, मिथ्यापन का अस्तित्व है। जब सत्य शब्द में ही ऐसा है, तो तद्वाच्य अर्थ में, पदार्थ में भी उसकी सत्ता स्वीकार करनी होगी। ऐसी स्थिति में

प्रत्येक सत्य, फिर वह वस्तु के रूप में हो, या वक्तव्य के रूप में, सब सत्यासत्य का, ऋतानृत का संमिश्रण है। सत्यासत्य के इसी संमिश्रण को हम अब मिथक के नाम से प्रचलित हुआ मानते हैं।

उपर्युक्त विचार पथ पर आगे चलते हुए हमें इस तथ्य का साक्षात्कार होना स्वाभाविक है कि कोई भी सत्य घटना हो, असत्य के आश्रय के बिना उसका शाब्दिक वर्णन संभव नहीं है। प्रत्येक घटना, चाहे वह ऐतिहासिक हो या कल्पित हो, उसका वर्णन कहीं न कहीं एक ओर अनृत से जुड़ा रहता है, और दूसरी ओर ऋत से जुड़ा रहता है। इस प्रकार से सत्यघटना में भी अनृत के संमिश्रित होने के कारण सत्यघटना भी (उसी समय नहीं तो कालान्तर में भी) मिथक का रूप ले लेती है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि मिथक में पूर्णरूप से कोई मिथ्या कल्पना ही हो। मिथ्या कल्पना के अभाव में नितान्त सत्य कथन में भी मिथ्यात्व की छाया स्वीकार करनी होगी, यदि हम यजुर्वेद तथा शतपथ के उक्त वचनों का अनुसरण करके विचार करें तो।

वस्तुतः मनुष्य स्वयं अनृत तथा सत्य का संमिश्रण है। क्योंकि मनुष्य का एक भाग आत्मा है तथा दूसरा शरीर। आत्मतत्त्व को सत्य माना गया है और शरीरतत्त्व को अनृत।[15] इस प्रकार मनुष्य भी सत्यासत्य का मिश्रण है। अर्थात् स्वयं मनुष्य ही मिथक है। मनुष्य जब मिथक की कोटि में आता है, तो उसके द्वारा विरचित काव्य में स्वाभाविक रूप से मिथक होना चाहिये। अतः हम संस्कृत साहित्य के अध्येताओं को प्रत्येक काव्य में मिथक है यह बात स्वाभाविक लगती है और इसके सिवाय सभी बातें स्वाभाविकता के स्थान पर कृत्रिम।

अद्वैत विचारधारा के प्रवर्तक आचार्य शंकर का यह वचन भी इस संदर्भ में स्मरणीय है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के प्रारंभ में ही वे कहते हैं- युष्मदस्मत्प्रत्यय-गोचरयोर्विषय-विषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्ध-स्वभावयोरितरेतर-भावानुपपत्तौ..... तथाप्यन्योऽन्य-धर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन अत्यन्त-विविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्या-ज्ञान-निमितः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।।[16] आचार्य शंकर के इस वचन में 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य .... नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।' इतने पद ध्यातव्य हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि जितना भी लोकव्यवहार है, वह सभी अंधकार तथा प्रकाशरूप परस्पर विरुद्ध स्वभाव वालों की तरह सत्य तथा असत्य के संमिश्रण से प्रवर्तित हो रहा है। इस वचन में तो आचार्य शंकर ने मिथक को साहित्य तथा कला के क्षेत्र से भी आगे बढ़ा कर मानवजगत् के प्रत्येक व्यवहार तक पहुँचा दिया है।

इधर संस्कृत काव्यशास्त्र में ब्रह्मा की सृष्टि से कवि की सृष्टि की विशेषताओं का विवरण देते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है- काव्य नियतिकृतनियमरहित होता है।[17] मम्मट के इस कथन पर भी प्रस्तुत संदर्भ में ध्यान देना आवश्यक है। काव्य को जब नियतिकृत-नियमरहित कहा जाता हे, तब इसका तात्पर्य पूर्णरूप से कवि की सृष्टि नियतिकृतनियम से रहित होती है, ऐसा नहीं होता है। अपितु इस वाक्य में कवि की सृष्टि थोड़े अंश में नियतिकृतनियम के साथ-साथ नियतिकृत-

नियमरहित भी होती है, इस बात की स्वीकृति भी है। अर्थात् समग्र काव्य को कोई कवि नियतिकृतनियम से रहित नहीं रख सकता है और नहीं कोई कवि समग्र काव्य को नियतिकृतनियम के सहित रख सकता है। हकीकत यह है कि प्रत्येक कवि नियतिकृत-नियम का अनुसरण भी करता है और नियतिकृतनियम का अनुसरण नहीं भी करता है। नियतिकृतनियम को यदि हम सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं, तो नियतिकृतनियम के अभाव को हमें असत्य किंवा अनृत (मिथ्या) स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में कवि की सृष्टि नियति के नियमानुकूल होने से सत्य तथा नियति के नियमानुकूल न होने से अनृत-असत्य, इस तरह सत्यासत्य का संमिश्रण है, यह तथ्यात्मक तात्पर्यार्थ भी हम उक्त कथन के अन्तःस्थल में देख सकते हैं। यह तात्पर्यार्थ काव्यमात्र मिथक होता है, इस मत को प्रस्थापित करता है।

इधर वैयाकरणों के चिन्तन पर दृष्टिपात करने पर शब्द मात्र को मिथक मानने को बाध्य होना पड़ता है। वक्ता के मुख से उच्चरित शब्द श्रोता के कान तक पहुँच कर विलीन हो जाता है। पर, वह विलीन हुआ शब्द श्रोता के हृदय में (विलीन हुए उस शब्द के अर्थ का बोध कराकर) नित्य रूप ले लेता है।[18] इस प्रकार से प्रत्येक शब्द सत्य तथा अनृत का संमिश्रण होने से मिथक ही माना जाना चाहिये। इतना ही नहीं वैयाकरण जिस स्फोट के प्रवर्तक माने जाते हैं, वह स्फोट भी एक ओर से नश्वर तथा दूसरी ओर से नित्य है। इस प्रकार स्फोटमात्र मिथक बन जाता है। क्योंकि प्रत्येक शब्द स्फोट से युक्त है, अतः प्रत्येक शब्द को मिथक मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये।

इतना ही नहीं संस्कृत काव्यशास्त्र में जिन तीन शब्द शक्तियों (अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना) की प्रतिष्ठा की गई है, उन त्रिविध शब्दशक्तियों में भी सत्यानृतत्व के संमिश्रण की गंध प्राप्त होती है। अभिधा शक्ति से प्राप्त होने वाला शब्दार्थ सत्य है। जबकि लक्षणा से प्राप्त होने वाला अर्थ सत्यानृत समन्वित होता है। क्योंकि इस लक्ष्यार्थ में प्रथम तो अभिधेयार्थरूप सत्यार्थ की प्रतीति होती है, और तत्पश्चात् जब वह अभिधेयार्थ बाधित होने लगता है, तब लक्षणार्थ का अवबोध होता है। इस प्रकार से लक्ष्यार्थ को अर्धमर्धम् (आधा सत्य तथा आधा अनृत) मानना होगा। उधर जो व्यंजना शक्ति से प्राप्त होने वाला व्यंग्यार्थ है, वह (अभिधेयार्थ या कोशगत अर्थ की दृष्टि से विचारने पर) सम्पूर्णरूप से काल्पनिक (मिथ्या) होता है।[19]

इस स्थिति में अभिधेयार्थ पूर्णतः सत्य, लक्षणार्थ आधा सत्य तथा आधा अनृत तथा व्यंग्यार्थ पूर्णतः अनृत है। शब्द की इन मान्य तीनों शक्तियों को मिलाकर विचारने पर स्वाभाविकरूप से ही इनमें सत्यानृत का संमिश्रण प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में संस्कृत काव्यशास्त्रियों की यह त्रिविध शब्द शक्तियाँ भी एकरूप से तो मिथक ही बन जाती हैं।

इसी परंपरा में नाट्याचार्य भरत के रससूत्र के अर्थघटन के विविधवादों में प्रसिद्ध श्रीशंकुक का चित्रतुरगन्याय[20] भी स्मरणीय है। यह न्याय सत्यानृत का संमिश्रण ही है। घोड़ा घोड़े के रूप में सत्य है। पर चित्र के रूप में उसे सत्य कैसे माना जा सकता है। चित्र के रूप

में तो घोड़े को अनृत ही मानना होगा। यहाँ पर यदि हम सत्य के दृढ़ आग्रही रहकर तुरग को सत्य तुरग मानकर अथवा अनृत के आग्रही रहकर चित्रगत तुरग को अनृत मानकर विचार करेंगे, तो रससूत्र के विषय की श्रीशंकुक की बात का कोई मतलब ही नहीं निकलेगा।

काव्य की तरह मूर्तिकला एवं चित्रकला भी वस्तुतः सत्यानृत का संमिश्रण ही होता है। इन दोनों कलाओं में कलाकार के द्वारा संकल्पित वस्तु वास्तविक रूप में- सत्य स्थिति में, जगत् में विद्यमान होते हुए भी वह चित्र या शिल्प के रूप में वास्तविक नहीं होती, अपितु अनृत होती है। इसी प्रकार जगत् में जो वस्तु वास्तविक रूप से है ही नहीं, और इस प्रकार वह अनृत है, फिर भी उसे सर्वदैव अनृत मानना संभव नहीं है। कलाकार उसे अपनी कल्पनाशक्ति से अस्तित्व में ला देता है, और उसे अमरता की ओर गति प्रदान कर देता है। इस प्रकार कल्पना शक्ति से अस्तित्व में आया हुआ चित्र तथा शिल्प भी काव्य की तरह ही मिथकीय कोटि में समाविष्ट हो जाता है।

उपसंहार

वस्तुतः वेद के मन्त्रों में अन्तर्निहित विचारों का वैविध्य इतना है कि उनमें मानव मस्तिष्क में, उठने वाले नवीनतम विचार या फिर उन विचारों के बीज मिल ही जाते हैं। इसी कारण ''सर्वज्ञानमयो हि सः।''[21] का घोष किया गया था। यह घोष इस उपर्युक्त चर्चा के द्वारा समर्थित होता है। इतना ही नहीं वेद में प्रयुक्त अग्नि शब्द को भौतिक अग्नि का वाचक तथा परमेश्वर का वाचक माना गया है। वेदों की इस परम्परागत मान्यता में भी मिथक की गंध अनुभव की जा सकती है। सामान्य जीवन जीने वाले लोग वेद में प्रयुक्त अग्नि शब्द का श्रवण करते हैं, तो उनके मन में पृथ्वी स्थानीय भौतिक अग्नि का बोध होता है। क्योंकि यही अर्थ उनके लिये प्रत्यक्ष है। यही स्वाभाविक प्रक्रिया भी है। पर, इसी अग्नि शब्द को जब निरुक्तादि वेदाङ्ग शास्त्र का अध्येता सुनता है, तब वह उसको इस अग्नि शब्द के उक्त अर्थ के साथ साथ ही परमेश्वरादि अन्य अर्थों का बोध भी हो जाता है।

एक ही शब्द के दो दृष्टि से होने वाले अर्थघटन में एक दूसरे के लिये एक सत्य तथा दूसरा अनृत -इस प्रकार अग्नि शब्द तथा उसका अर्थ- दोनों सत्यानृत के सम्मिश्रण का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार से तो वेद में प्रयुक्त होने वाले अग्नि आदि अनेक शब्द भी स्वभावतः मिथकरूप हैं, यह कहना कोई अतिशयोक्त नहीं मानी जानी चाहिये।। इति दिक्।।

पाद-टिप्पणियां

1. पश्चिम के विद्वानों ने मिथक के संबंध में जो विचार किया है, उससे परिचित होने के लिये हिन्दीभाषाविदों को ''मिथक और साहित्य'' इस शीर्षक से निबद्ध डॉ. नगेन्द्र कृत पुस्तक पठनीय है। (प्रकाशक- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरिया गंज, नई दिल्ली-110002, सन् 1979, प्रथम संस्करण)
2. जबकि संस्कृत में इस मिथक के लिये कहीं कहीं पुराकथा शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। अब कहीं कहीं मिथक शब्द का प्रयोग भी होने लगा है।
3. आप्तवचन से यह आशय लिया जा सकता

है कि वह प्रामाणिक वचन है। अथवा उस पर विश्वास किया जा सकता है। तुलना करें- आप्तोपदेशः शब्दः। न्यायसूत्रम् (अध्याय 1, आह्निक 1, सूत्र- 7) इसी प्रकार से अतर्क्य वचन का आशय उस वचन से है, जिसके विषय में अब कोई ननु न च करना ही नहीं है। बस, जो कहा गया है, उसे उसी रूप में स्वीकार कर लो, (इसे वचनों के लिये ही आज कल ''बाबावाक्यम् प्रमाणम्।'' - यह लोकोक्ति प्रचलित हुई है।)

4. देखें, डॉ. नगेन्द्र, तत्रैव पृ.6
5. द्रष्टव्य- तत्रैव पृ. 6 (रिचर्ड चेज, नोट्स ओन दि स्टडी ओफ मिथ)
6. तत्रैव, पृ. 7
7. यजुर्वेद, अध्याय-1, मन्त्र 6
8. ध्रुवमपायेऽपादानम्। पा. सू. 1.4.33
9. शुक्लयजुर्वेदसंहिता (श्रीमहीधरकृतवेद-दीपाख्यभाष्येण संवलिता), संपा.- वासुदेव शास्त्री, प्रका.- निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, द्वितीयावृत्तिः, सन्- 1929, पृ. 8-9
10. तत्रैव, पृ. 9
11. अथर्ववेदः, काण्ड- 19, सूक्त- 64, मन्त्र- 4
12. अथर्ववेद- सायणभाष्यम्, (सं. शंकर पाण्डुरंग पंडित, प्रका. कृष्णदास अकादमी, पुनर्मुद्रित संस्करण, सन् 1989), भाग-4, पृ. 543
13. भास के द्वारा कर्णभार में कहा गया यह वचन इस संदर्भ में स्मरणीय है- हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति। इस वचन में जो दर्शन व्यक्त हुआ है, वह इस तथ्य को उजागर करता है कि विनश्वर वस्तु यदि हुत या दत्त होती है, तो वह तथैव अर्थात् उसी रूप में तिष्ठित- बनी रहती है। किसी वस्तु का वैसे ही रूप में बना रहना अनित्य पदार्थ का नित्य की ओर गमन है। याज्ञिक कर्म की दृष्टि से अग्नि में हुत होने वाले पदार्थ भले ही सीमित हों, पर दत्त पदार्थों की कोई सीमा नहीं है। इसमें सभी पदार्थों का समावेश हो सकता है। इस प्रकार सभी पदार्थों के साथ इस दर्शन को जोड़ा जा सकता है।
14. शतपथब्राह्मणम्- 14, 8, 6, 2 (संपादक- डॉ. सत्यप्रकाश, प्रका.प्राचीन वैज्ञानिक अध्ययन अनुसंधान, संस्थान, परिषद्, नई दिल्ली, सन्- 1970, भाग-3, पृ. 1957)
15. द्रष्टव्य- न हन्यते हन्यमाने शरीरे। - यह वचन 1- श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-2, श्लोक - 20 ।
16. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, अध्यासभाष्यम्- पृ. 9-10 (संपा. आचार्य जगदीश शास्त्री, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, सन्- 1980)
17. देखें- नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयी-मनन्यपरतन्त्राम्। -इत्यादि वचन-1 -काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, कारिका-1(संपा.-करमरकर रघुनाथ, प्रका. भाण्डारकर ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, संस्करण- 7, सन् 1965) पृ. 2
18. तुलना करें- द्वावुपादनशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
    एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते।।
    -वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, कारिका-44 (संपा. पण्डित रघुनाथ शर्मा, प्रका, सं.सं. वि.वि., वाराणसी, सन्- 1988, संस्करण-3, पृ. 88)
19. हम जानते हैं कि प्रयुक्त पदों से नित्य एक सा ही व्यंग्यार्थ प्राप्त नहीं होता है। बल्कि तत्तत् पदों से विभिन्न अवसर पर विभिन्न व्यंग्यार्थ प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से यहाँ पर यह विधान किया गया है।
20. चित्रतुरगन्याय का आशय चित्र में चित्रित किये गये घोड़े को देखकर होने वाली

अनुभूति से है। आचार्य भरत के रससूत्र पर विचार करते हुए आचार्य शंकुक ने इसे उद्धृत किया है। वहाँ नाटक में दिखाई देने वाले रामादि का अभिनय करने वाले नट को देखकर प्रेक्षक को कैसी अनुभूति होती है, इसका विमर्श करते हुए आचार्य शंकुक का कथन है कि जैसे भित्तिका पर चित्रित अश्व के चित्र को देखकर दर्शक को 1. यह अश्व नहीं है, ऐसा सम्यक् ज्ञान नहीं होता है, और न ही 2. यह अश्व है, इस प्रकार का मिथ्याज्ञान ही होता है। इस कथन को प्रस्तुत संदर्भ में इसलिये हमने उद्धृत किया है कि आचार्य शंकुक के इस अनुमितिवाद में भी चित्र में 1.अश्व का होना- इस सत्य का तथा साथ ही 2. अश्व का न होना- इस मिथ्या का जो संमिश्रण है, उसे नकारा नहीं जा सकता है। (देखें- प्रतिभाति न संदेहो न तत्त्वं न विपर्ययः। .. इत्यादि 1- अभिनवभारती, संपा.- एम. रामकृष्ण कवि, प्रका. -गायकवाड ओरियेन्टल सीरीज, वडोदरा, पुनःप्रकाशन, सन्- 1980, पृ. 108)

21. मनुस्मृतिः, अध्याय -2 श्लोक- 7(संपा. -राजवीर शास्त्री, प्रका.- आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, नई दिल्ली।

✦✦✦

नः मधुमतस्कृधि। -अथर्व. 1.34.1
हमें मधुमय बना दे।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। -अथर्व. 1.34.3
मेरा जाना मधुर हो, मेरा आना मधुर हो।

भूयासं मधुसदृशः। -अथर्व. 1.34.3
मैं मधु जैसा मीठा हो जाऊँ।

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः। -अथर्व. 1.34.4
मैं मधु से अधिक मीठा होऊँ, महुए से अधिक मीठा होऊँ।

अश्विना सारघेण मा मधुनाक्तं शुभस्पती। -अथर्व. 6.69.2
हे शुभ-पति अश्वि-युगलो! मेरे जीवन में मधु-जैसा मिठास भर दो।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (39-44) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक साहित्य में वृत्त एवं मण्डल का गणित तथा भाषा-विज्ञान

आचार्य सुद्युम्न

प्राच्यविद्या शोध संस्थान, बैंक कालोनी रोड,
कोलगवां, सतना-485001 (म.प्र.)

सर्वज्ञानमय वेद शब्द विद सत्तायाम्, विदज्ञाने तथा विद्लृ लाभे-इन तीन धातुओं से विकसित होकर अपनी व्यापक सत्ता को, सर्वज्ञानमयता को तथा अतुलित लाभ-प्रदानशीलता को एक साथ प्रकट करता है। रोचक तथ्य यह है कि इस पवित्र ज्ञान का प्रकाशक ब्रह्म का सत्, चित्, आनन्द स्वरूप भी क्रमशः इन्हीं तीन धातुओं से गतार्थ होते हैं।

यह दो स्वरों वाला 'वेद' शब्द भारत से यूरोप तक के लोगों की वाणी का एक साथ अलङ्कार बना था तथा उनके लिये उच्चतम ज्ञान एवं मनीषा अर्थ का परिचायक बना था। इंग्लिश में इससे विकसित Wisdom शब्द तथा ग्रीक, लैटिन, स्लाव, गॉथिक, जर्मन इत्यादि भाषाओं में विकसित इसके अनेकानेक रूपान्तर इसी तथ्य को सम्पुष्ट करते हैं। (देखें Monier William विरचित Sanskrit English Dictionary में विद् शब्द)

वेदों में अनेक विद्याओं के साथ-साथ भौतिकी एवं खगोल-विज्ञान का भी वर्णन है। इसके अन्तर्गत विश्व में उपलब्ध अनेक प्रकार की आकृतियों तथा उनकी रचना का भी निरूपण है। हमारे जीवन में प्रतिदिन उपलब्ध होने वाले सूर्य, चन्द्र की आकृति के लिये वृत्त, मण्डल जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शतपथ ब्राह्मण में वृत्त या Circle के लिये 'मण्डल' शब्द का प्रयोग है। गणित के ग्रन्थों में अण्डाकार के लिये आयत-वृत्त का प्रयोग है। परन्तु मण्डल शब्द प्रकरण अनुसार दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। बौद्ध ग्रन्थ धम्मसंगनी की अश्वघोष कृत टीका में परिमण्डल का अर्थ कुक्कुटाण्ड किया है तथा इसकी पीतवत्थु टीका में इसका अर्थ 'आयत-वृत्त' दिया गया है। इस अर्थ में 'विषम-चक्रवाल' शब्द भी इन ग्रन्थों में प्रयुक्त होता रहा है।

वैदिक ग्रन्थों की लम्बी परम्परा में सूर्य, चन्द्र जैसे बृहत्तम दृश्य आकार के लिये तथा परमाणु जैसे सूक्ष्मतम आकार के लिये भी मण्डल शब्द का प्रयोग होता रहा है। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में अणु-परिमाण के लिये 'पारिमाण्डल्य' शब्द का प्रयोग प्राप्त है[1]। ये इस वैज्ञानिक अवधारणा से परिचालित हैं कि नियमित घूर्णन करने वाली वस्तुएँ इस आकार को धारण करती हैं।

यह 'मण्डल' शब्द प्रमुख रूप से संस्कृत से इतर द्रविड़ परिवार की भाषाओं में अधिक

प्रचारित रहा है। विद्वानों का विचार है कि टवर्ग-युक्त शब्द इन भाषाओं में अधिक प्रयुक्त होते रहे हैं। R.L. Jurner महोदय ने A Comparative Dictionary of Indo-Aryan Languages में इस शब्द की तमिल के mutalai से तुलना की है तथा इसके प्राचीनतम शब्द Mondale की अभिकल्पना की है। इसलिये 'मण्डल' शब्द की संस्कृत के 'मण्ड+ल' जैसे किसी विग्रह से या 'मण्डप' शब्द की 'मण्ड+प' विग्रह से व्याख्या नहीं की जा सकती। अतः भाषाविदों ने इन्हें रूढ शब्द माना है। संस्कृत में अलङ्कार अर्थ वाले 'मण्डन' शब्द से अथवा सार अर्थ वाले मण्ड शब्द (देखें- घृतात्पर मण्डमतीव सूक्ष्मम् श्वेताश्वतर उपनिषद् 4.16) से इसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

इस प्रकार यह उक्त संस्कृत शब्दों से सर्वथा भिन्न होते हुए 'वर्तुल' अर्थ को प्रकट करता रहा है। कमण्डलु या उदकमण्डलु शब्द भी जलपात्र के इस आकार को प्रकट करते हैं।

आगे चलकर Circle से sphere आकृति के सर्वथा विभेद प्रकट करने के लिये 'गोल' शब्द का विकास हुआ। आर्यभट के महनीय ग्रन्थ में सर्वप्रथम 'भूगोल' शब्द का प्रयोग प्राप्त हुआ है[2]। यह शब्द भी 'गुड' जैसे सामान्य शब्द से विकसित होकर नक्षत्रों के आकार के लिये प्रयुक्त होने लगा। इसका सम्बन्ध भी मूलतः दक्षिण भारतीय भाषाओं से है।

वेदों में 'परिमण्डल' आकार को प्रकट करने के लिये 'चक्र' शब्द प्रस्तुत है। वेद के एक मनोहारी मन्त्र में कहा है कि बारह अरों वाला एक विशाल चक्र द्युलोक में निरन्तर महान् घूर्णन कर रहा है, वह कभी बूढ़ा नहीं होता–

द्वादशारं न हि तज्जराय
वर्वति चक्रं परि द्यामृतस्य

–ऋग्वेद 1.164.11

यहाँ इसके वर्तुल आकार को 'चक्र' नाम दिया गया है। साथ ही इसे महान् घूर्णनशील बताया है। चक्र शब्द की निष्पत्ति इस तथ्य को अपने में समेटे हुए है। व्याकरण के अनुसार 'चक्र' शब्द कृञ् से 'क' परे रहने पर द्विर्वचन होकर निष्पन्न होता है[3]। यह द्विर्वचन सामान्य से अधिक संक्रिया को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त होता है। इस मन्त्र में 'वर्वर्ति' शब्द भी यङ्लुगन्त में द्विर्वचन को प्राप्त होकर सविशेष संक्रिया दिखाता है। ये दोनों तथ्य मिलकर इस वैज्ञानिक तथ्य का संकेत देने में सक्षम हैं कि वृत्ताकार अन्यों की तुलना में अधिक घूर्णनशील होता है। उसमें कम बल प्रयुक्त होता है।

भारतीय मनीषा ने इस तथ्य का अनुभव करके सूर्य, चन्द्र का अनुकरण करते हुए जिस उपकरण का विकास किया उसका भी वही 'चक्र' यह विशिष्ट नाम प्रदान किया, जिसका भारोपीय अन्य भाषाओं में से ग्रीक में रूपान्तर उपलब्ध हुआ है[4]। इस विश्व में मानव की इन्द्रियों के अनुकरण पर अनेक उपकरण विकसित हुए हैं। आँखों के अनुकरण पर कैमरे का तथा कान के पर्दे के अनुकरण पर उसके समान स्पन्दनशील डायफ्राम (diaphragm) वाले टेलीफोन का विकास हुआ है। परन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में सविशेष गतिशीलता के लिये पैरों के अनुकरण पर

नहीं, अपितु बाहरी विश्व के सूर्य-चक्र के अनुकरण पर उसी विशेषता वाले चक्र का विकास हुआ। उस समय चक्र की वृत्ताकारता की यह विशेषता जान ली गई थी कि इसमें स्पृष्ट पिण्ड के साथ घर्षण-बल की रुकावट न्यूनतम होती है। पैरों के धरती पर प्रयुक्त घर्षण-बल की रुकावट से विपरीत चक्र का प्रत्येक बिन्दु उस घर्षण से रुकावट प्राप्त करने से पहले ही अपना स्थान छोड़ देता है। इस प्रकार चक्र वह है जो सविशेष चक्रण करता है।

वर्ग तथा मण्डल के मात्रकों के विभाजन

भारतीय मनीषा ने आयाम प्रमाण वाले पदार्थों की दूरियों के योजन आदि (मात्रकों (Units) के लिये दाशमिक विभाजन (decimal division) का उपयोग किया। इसके आधार पर स्थानीय मान विकसित हुए। यजुर्वेद में दाशमिक तथा उनकी गुणज संख्याओं के वर्णन के अन्तर्गत इसके प्रमाण उपलबध हैं[5]।

परन्तु चक्र सदृश वृत्ताकार पदार्थों के राशि, अंश आदि मात्रकों के लिये 60 तथा उसके गुणज से कटने वाले विभाजन (sexagesimal division) का आविष्कार किया गया। इसके लिये बृहत्तम दृश्य मूर्त वृत्ताकार तारक को सूर्य-चक्र माना गया तथा इसके आधार पर निर्मित होने वाले अमूर्त पदार्थ को भी काल-चक्र के रूप में स्वीकृत किया गया। इस कालचक्र के लिये सबसे बढ़िया विभाजन 360 दिन अथवा 720 अहोरात्र के रूप में देखा गया। इसका वर्णन करते हुए वेद की आलंकारिक भाषा में कहा गया कि इस अतिविशाल सूर्य-चक्र के पुत्ररूपी 720 खण्ड विराजते हैं–

आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र
सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः।

–ऋग्वेद 1.164.11

इसके आधार पर विश्व में काल का यह विभाजन स्वीकृत हुआ। अत एव काल के भारतीय तथा अन्य देशों के विभाजनों में अनेकानेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणतः यूरोप में 24 घण्टे वाले अहोरात्र का प्रत्येक घण्टा 60 मिनट के समकक्ष होता है। भारत में 60 घटी वाले अहोरात्र की प्रत्येक घटी 24 मिनट के समतुल्य होती है।

काल-चक्र के इस बढ़िया विभाजन 360 खण्डों के आधार पर इस काल को बनाने वाले विशालतम सूर्य-चक्र को तथा इसकी तुलना से किसी भी आकार वाले वृत्त को 360 अंशों में विभाजन का आविष्कार किया गया। यह देखना सुखद है कि आज सम्पूर्ण विश्व में वृत्त का 360 अंशों में विभाजन स्वीकार किया जाता है। मैक्समूलर जैसे विद्वानों ने इस तथ्य को महत्त्वपूर्ण माना कि आधुनिक युग में सभी के मात्रकों को दाशमिक पद्धति के आधार पर बदल दिया गया, तब भी काल तथा वृत्त के इस विभाजन को यथावत् रहने दिया गया[6]। वास्तव में वृत्त का यह विभाजन इस प्राचीनतम परिकल्पना की याद दिलाता है।

वृत्त और वर्ग का सह-सम्बन्ध तथा π का मान

भारतीय रेखा-गणित के प्राचीनतम ग्रन्थ शुल्वसूत्रों में वर्गाकार वेदि को वृत्ताकार या

वृत्ताकार को वर्गाकार बनाने के तथा इनके समतुल्य क्षेत्रफल को जानने के नियम बताए हैं। वहाँ वृत्त के व्यास तथा परिधि के अनुपात के भी संकेत प्रदान किये हैं। इन नियमों के अनुसार एक निश्चित क्षेत्रफल वाली वृत्ताकार वेदि के स्थान पर उसी क्षेत्रफल वाली वर्गाकार वेदि का निर्माण किया जाता था। इन नियमों में π के मान का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु अर्थापत्ति से अवश्य प्राप्त है। यदि कोई उल्लेख किसी अन्य के बिना सम्भव न हो तो उसे भी अनायास ही स्वीकार किया जाता है। इस स्थिति से यह स्पष्ट है कि स्वदेश में आर्यभट तथा अन्य देश के आर्किमिडीज़ (Archimedes 287-212 B.C.) जैसे ज्योतिषयों से बहुत पहले बौधायन शुल्ब सूत्रकार π के निकटतम मान को प्राप्त करने में सफल रहे थे। इस तथ्य को शुल्ब सूत्र के उद्धरण से विस्तार से सिद्ध करते हैं–

वृत्त का समक्षेत्र वर्ग प्राप्त करने के लिये वृत्त के व्यास से समतुल्य वर्ग की भुजा प्राप्त करने के लिये यह सूत्र प्रस्तुत है–

मण्डलं चतुरस्त्रं चिकीर्षन्
विष्कम्भमष्टौ भागान् कृत्वा
भागमेकोनत्रिंशधा
विभज्याष्टाविंशतिभागान् उद्धरेत्,
भागस्य च षष्ठमष्टमभागोनम्।
–बौधायन शुल्व सूत्र 1.59

अर्थात् वृत्त का समक्षेत्र वर्ग प्राप्त करने के लिये I उसके व्यास में से 8वाँ गुणित 29वें भाग के 28 अंश को प्राप्त करें। II पुनः इसमें से पूर्वोक्त भाग छठे भाग को घटाएँ। III पुनः इस पूर्वोक्त भाग के आठवें भाग का योग करें।

सूत्रानुसार वृत्त का व्यास 1 होने पर समक्षेत्र वर्ग की भुजा–

व्यास–1d = वर्ग की भुजा→

$$1-\frac{28}{8\times 29}-\frac{1}{6\times 8\times 29}+\frac{1}{6\times 8\times 29\times 8}=.8787d$$

$$1\ d = 0.8787\ d$$

वृत्त का क्षेत्रफल–$\pi 1^2/4$= वर्ग का क्षेत्रफल→.8787×.8787=.772 d^2

π=0.772×4=3.088

इसके अगले सूत्र में भी वृत्त के समक्षेत्र वर्ग प्राप्त करने का एक अन्य सरल नियम बताया गया है–

अपि वा पञ्चदश भागान् कृत्वा
द्वावुद्धरेदेषानित्या चतुरस्त्रकरणी।
–बौधायन शुल्व सूत्र 1.60

अर्थात् (वृत्त के व्यास के) 15 भाग करके, इसमें दो भाग कम करके शेष भाग समक्षेत्र वर्ग की भुजा की लम्बाई होती है। इसे तथा इससे प्राप्त π के मान को इस प्रकार सिद्ध करते हैं–

वृत्त का व्यास→1d = वर्ग की भुजा

$$\frac{13}{15}1d$$

वृत्त का क्षेत्रफल–$\frac{\pi 1^2}{4}$ = वर्ग का क्षेत्रफल $(\frac{13}{15}1d)^2=\frac{169}{225}d^2$

$$\pi=\frac{169}{225}\times 4=\frac{676}{225}=3.004$$

आगे चलकर महान् विज्ञानी आर्यभट ने बृहत् संख्याओं के माध्यम से π के सर्वाधिक निकटतम मान प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। पश्चात् भास्कराचार्य ने इन संख्याओं को लघुरूप देते हुए इसके मान को इस रूप में व्यक्त किया–

व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते
खबाणसूर्यैः परिधिः स सूक्ष्मः

–लीलावती, क्षेत्रव्यवहार श्लोक 40

अर्थात् 1250 से विभक्त 3927 संख्या को व्यास से गुणित करने पर उस व्यास की सूक्ष्म परिधि प्राप्त होती है। यह मान वास्तव में आर्यभट द्वारा प्रोक्त संख्या का ही संक्षिप्त रूप है–

π = आर्यभट– $\frac{62832 \div 16}{20000 \div 16}$ =

भास्कराचार्य $\frac{3927}{1250} = \frac{21600}{225} = 3.14 + 96$

उन्होंने अगले चरण में संख्याओं को लघुतम रूप देते हुए इसके स्थूल मान को इस प्रकार प्रकट किया–

द्वाविंशतिघ्ने विहतेऽथ शैलैः
स्थूलोऽथवा स्याद् व्यवहारयोग्यः।

अर्थात् 7 से विभाजित 22 को व्यास से गुणा करने पर उस परिधि का स्थूल मान प्राप्त होता है। आर्यभट की सरणि में भास्कराचार्य द्वारा प्रोक्त यह मान आधुनिक गणित के पाठ्यक्रमों में आर्किमिडीज़ के π के मान के अधिकतम सीमा के रूप में आज पढ़ाया जाता है।

इस विवरण से प्रकट है कि भारत के गणित-ज्योतिष के विद्वानों ने π क्रमशः निकट से निकटतम मान प्राप्त किया। साथ ही बौधायन शुल्व सूत्र में उल्लिखित 225 से विभाजित संख्या का उपयोग आगे अन्य तथ्यों को प्राप्त करने के लिये भी किया जाता रहा। ज्योतिष में एक सिद्धान्त प्रचलित रहा कि–

वृत्तस्य षण्णवत्यंशः
दण्डवत् परिगृह्यते।

अर्थात् वृत्त का 96वाँ अंश दण्ड के समान सरल रेखा वाला माना जाता है। यहाँ यह कहीं भी उल्लिखित नहीं है कि इसे दण्डवत् मानने के लिये 96वें अंश को ही क्यों चुना गया। वास्तव में यह संख्या कालचक्र के एक वर्ष में 60×30×12=21600 घटी को 225 के विभाजन से प्राप्त की गई है–

इस सिद्धान्त का उपयोग वृत्त के क्षेत्रफल को जानने के लिये किया गया था। लीलावती के टीकाकार गणेश ने 21600 कला वाले भूमण्डल के प्रत्येक 225 कला वाले 96 खण्डों की अभिकल्पना की। इनमें प्रत्येक खण्ड को उक्त अवधारणा अनुसार दण्डवत् माना गया। इस प्रकार 96 समकोण त्रिभुज प्राप्त किये गए, जिनका आधार उस भूमण्डल की त्रिज्या थी तथा लम्ब 225 कला वाला खण्ड था। π का मान 3.14 मानते हुए 21600 का व्यास 6876 तथा त्रिज्या 3438 कला प्राप्त की गई। यहाँ समकोण त्रिभुज के क्षेत्रफल को समन्वित करते हुए उसके 96 गुणित को इसका क्षेत्रफल निर्धारित किया गया–

$$\frac{3438\times225}{2}\times96=37130400 \text{ कला}^2$$

पूर्वोक्त प्राचीन तथा आधुनिक क्षेत्रफल के सूत्र को भी समन्वित करने पर यही निकटतम मान प्राप्त करते हैं–

$\pi\ 3438^2$ = 37130400 कला^{2} (निकटतम)

π के सूक्ष्मतम मान में कुछ अन्तर होने से यह निकटतम मान है।

सर्वथा परिशुद्ध क्षेत्रफल के लिये आर्यभटीय भाष्यकार नीलकण्ठ सोमसुत्वन् ने एक बढ़िया उपपत्ति प्रदान की है। जिसे उनका नाम न लेते हुए आधुनिक गणित के पाठ्यक्रम में ठीक उसी प्रकार पढ़ाया जाता है। उनका कहना है कि किसी वृत्ताकार पत्र या कागज को मोड़कर ऐसे खण्डों में बाँटा जा सकता है जिसका एक भाग सूची की नोक के आकार का हो तथा दूसरा वृत्ताकार परिधि का खण्ड हो। इसके प्रत्येक सूची-खण्ड को दूसरे सूचीखण्ड से मिलाने पर एक सन्निकट आयत तैयार होता है, जिसकी लम्बाई वृत्त की परिधि की आधी तथा चौड़ाई त्रिज्या के समतुल्य होती है। इससे वृत्त का क्षेत्रफल $\pi\times$ त्रिज्या^{2} सिद्ध होता है।

इस सम्पूर्ण विवरण से प्रकट है कि वृत्त के क्षेत्रफल π का मान, वृत्त और वर्गाकार के सह-सम्बन्ध इत्यादि विषयों पर क्रमिक विकास हुआ था, जिसके लिये वेद, शुल्वसूत्र, वैदिक साहित्य से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

सन्दर्भ

1. कारणत्वञ्चान्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः–प्रशस्तपादभाष्य, साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरण।
2. मृज्जलशिखिवायुमयो भूगोलः सर्वतो वृत्तः–आर्यभटीय, गोलपाद, श्लोक 7
3. कृञादीनां के द्वे भवतः–अष्टा 6.1.12 पर वार्तिक
4. देखें - चक्र, ग्रीक - Kuklos (Wheel)- The etymology of Yaska. इससे प्रकट है कि उस प्राचीनतम युग में इस भारतीय आविष्कार का ग्रीस में प्रचार हो चुका था।
5. इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च---यजुर्वेद 17.2.
6. India; What can it teach us-Max Muller, Page 17.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (45-57) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदानुसार औषधियों के नामकरण

डॉ. धर्मवीर

प्रशांत विहार, दिल्ली–85

पृथक् पृथक् औषधियों को जो पृथक् पृथक् नाम दिये गये हैं। वे बिना किसी समझ बूझ के नहीं दे दिये गये हैं। अपितु प्रत्येक औषधि के नाम के अन्दर उसकी विशेषता झलकती है। औषधियों का यह नामकरण निम्नलिखित आधारों पर किया गया है।

1. वनस्पतिशास्त्र संबंधी सिद्धांतों के आधार पर।
2. औषधियों के रोगनाशकत्व प्रभाव के आधार पर।
3. औषधियों की भोजन संबंधी उपयोगिता के आधार पर।

वनस्पतिशास्त्र संबंधी सिद्धांतों के आधार पर

इस आधार के अन्दर वनस्पतियों के निम्न नाम आते हैं।

1. वनस्पति, 2. वानस्पत्य, 3. औषध, 4. वीरुध[1], 5. काण्डिनी, 6. विशाखा, 7. एकशुंगा[2], 8. नमस्यन्ती[3], 9. रोहिणी[4], 10. सहस्त्रपर्ण्यः[5], 11. अपुष्पा, 12. पुष्पिणी, 13. अफला, 14. फलिनी[6]।

औषधियों की भोजन संबंधी उपयोगिता के आधार पर

1. अन्धः[7], 2. वाजः[8], 3. क्षु[9], 4. ब्रह्म[10], 5. स्वधा[11], 6. सूनृत[12]।

औषधि ज्ञाताओं के नाम के आधार पर

1. आथर्वणी, 2. आंगिरसी, 3. दैवी, 4. मनुष्यजा[13], 5. बृहस्पति प्रसूता[14]।

औषधियों के रोगनाशकत्व प्रभाव के आधार पर

1. सौ वर्ष तक जीवित रखने वाली[15], 2. बलासनाशिनी, 3. विषदूषणी, 4. कृत्या–दूषणी[16], 5. पुरुषों की चिकित्सा करने वाली, 6. अश्वों की चिकित्सा करने वाली, 7. पशुओं की चिकित्सा करने वाली, 8. गौवों की चिकित्सा करने वाली[17], 9. यक्ष्मा का नाश करने वाली[18], 10. मनुष्यों को जिन्दा करने वाली[19], 11. जीवन देने वाली[20], 12. क्षेत्रीय रोग का नाश करने वाली[21], 13. वृष्य औषधि[22]।

शब्दों के तीन प्रकार हैं– 1. यौगिक, 2. रुढ़ि तथा 3. योगरुढ़ि।

1. **यौगिक** – जो प्रकृति और प्रत्ययार्थ तथा अवयवार्थ का प्रकाश करते हैं, यथा – कर्त्ता, हर्त्ता, दाता, अध्यापक, लंबकर्ण इत्यादि।

2. **रूढ़ि** – जिनमें प्रकृति प्रत्यय का अर्थ न घटता हो और वे संज्ञा बोधक हों, रूढ़ि हैं, यथा – खट्वा, माला, शाला इत्यादि।

3. **योगरूढ़ि** – जो अवयवार्थ का प्रकाश करते हुए अपने अर्थ से अन्य अर्थ में नियत हों, यथा–दामोदर, सहोदर, पंकज इत्यादि। उक्त प्रकार के शब्द नामांतर से भी प्रसिद्ध हैं, अर्थात् यथा–

(अ) **जातिवाचक** – इसके दो भेद हैं – 1. सामान्य जाति और 2. सामान्य विशेष जाति।

1.सामान्य जाति – मानव, पशु, पक्षी इत्यादि।

2.सामान्य विशेष – जाति – मानव में – स्त्री–पुरुष। पशु में – गो, हस्ती, अश्व इत्यादि। पक्षी में – हंस, काक, मयूर आदि।

(आ) **गुणवाचक** – जो द्रव्य के आश्रित हों, यथा – धर्म, संस्कार, शुल्क तथा सुख।

(इ) **क्रियावाचक** – जो चेष्टा और व्यापार के वाचक हों, यथा – भवति, पचति, करोति तथा अत्ति इत्यादि।

(ई) **यदृच्छाशब्द** – यथावत् बोलने में असमर्थ होकर जिनका अन्यथा उच्चारण किया जाए, यथा – ऋतक के स्थान पर लृतक। वैदिक नामों में भी उक्त प्रकार की स्थितियाँ प्राप्त होती हैं।

वैदिक संहिताओं में अनेक ऐसे नाम प्राप्त होते हैं जो भाष्यकारों द्वारा वनस्पतियों (प्लान्ट) के वाचक माने जाते हैं। इतना ही नहीं वैदिक साहित्य में ऐसे भी बहुत से नाम प्राप्त होते हैं जिनका भाष्यकारों ने वनस्पति वाचक अर्थ नहीं किया है किन्तु लोक व्यवहार में उनका वनस्पति वाचक अर्थ माना गया है। इतना ही नहीं अनेक मंत्रों तथा सूक्तों के देवताओं के रूप में भी इन नामों को वैदिक संहिताओं में वरीयता प्रदान की गयी है। इसके मूल में लोक में प्रचलित नामकरण की परंपरा आज भी प्रचलित है।

वैदिक संहिताओं में नाम शब्द का उल्लेख प्राचीन समय से ही नाम के सार्थक होने का प्रमाण है। ऋग्वेद में नाम शब्द का उल्लेख तो है ही, इसके अलावा उसमें प्राप्त **'तन्नाम गुह्यम्'** उल्लेख सामान्य के अतिरिक्त एक अत्यंत विशिष्ट **गुह्य नाम** का संकेत भी विद्यमान है[23]। यजुर्वेद में तो परमेश्वर को **'यो देवानां नामधाएकएव'** (यजु.– 17/27) अर्थात् एक होकर भी विविध देवों के विविध नामों का धारण करते हैं। ऋग्वेद में उसे **बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः'** (ऋ.–10/71/1) लिखकर एकमात्र सर्वप्रथम नामादि की व्यवस्था करने वाला स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में ही **'नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त संदृष्टौ'** (ऋ.– 6/1/4) उल्लेख यजनीय नामों को धारण करने की प्रेरणा देता है। इसी प्रकरण में यजुर्वेद की **'यस्य नाम महद्यशः'** (यजु.–32/3) पंक्ति भी महनीय यज्ञ के लिए नाम की आवश्यकता को सिद्ध करती

है। '**बृहदारण्यकोपनिषद्**' में '**अथास्य नाम करोतिवेदोऽसीति तदस्यतद् गुह्यमेव नाम भवति**' (बृ.उ.-6/4/26) वेद को गुह्य नाम वाला माना है। यजुर्वेद (7/29) का '**कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनाती.**' इत्यादि मंत्र वैदिक नामकरण पद्धति का मूलाधार है। मनुस्मृति का '**सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेद शब्देभ्य एवादौ। पृथक् संस्थाश्च निर्ममे**' (मनु.-20/4) उल्लेख स्पष्ट करता है कि सृष्टि के आदि में कवियों ने सब नाम वेद से ही ले-लेकर रखे थे। इसी प्रकार गृह्य सूत्र तथा संस्कार विधि की पुस्तकों में वर्णित नामकरण संस्कार तथा उससे संबंधित प्रकरण वैदिक नामकरण पद्धति की महत्ता के जीवंत प्रमाण हैं।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार वैदिक संहिताओं में जो नाम प्राप्त होते हैं वे सभी किसी न किसी विशेष अर्थ अथवा किसी विषय के ज्ञानात्मक रहस्यों से परिपूर्ण दृष्टिगत होते हैं। इन्हीं रहस्यों को समझने के लिए भाषा और उसके व्याकरण तथा अर्थ प्रक्रिया पद्धति का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। वैदिक निर्वचन पद्धति अथवा निरुक्त शास्त्र का ज्ञान तथा लोक में पद और उनके अर्थ की स्थिति भी हमारे शोध-कार्यों के लिए नितांत आवश्यक है। अत: इस प्रकार वैदिक पदों (नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपातों) तथा इनके यौगिक अथवा योगरूढ़ अर्थों का तथा अन्यान्य भाषाओं में गए ध्वनि और प्रयोजन सादृश्यों का अध्ययन ही वेद की अनेक उपयोगी विद्याओं और रहस्यों को खोज निकालने के मार्ग का निर्धारण करेगा।

वर्तमान में विद्यमान आचार-विचार तथा पर्यावरण में व्याप्त विकृतियों जैसी गंभीरतम समस्याओं से निबटने के लिए वेद में वर्णित सभी नामों (संज्ञाओं) का गहन अध्ययन करना होगा। विशेषत: पर्यावरण की दृष्टि से वनस्पतियों से संबंधित सभी नामों का अध्ययन भी मानवीय अपेक्षाओं की वैज्ञानिक आवश्यकता पूर्ति तथा समस्या-निदानार्थ अपेक्षित है। इसके लिए सभी वैदिक नामों, विभिन्न विषयों को लेकर अध्ययन करना भी इसी क्रम का एक सार्थक प्रयास है।

वैदिक नामों के अंतर्गत अनेक ऐसे नाम हमारे सामने आते हैं जिनका अर्थ प्राय: भाष्यकारों ने वनस्पति वाचक किया है। ये सभी वनस्पति वाचक नाम अपने अन्यान्य अर्थों के साथ-साथ अधिकांशत: वनस्पति वाचक अर्थ में प्रयुक्त मिलते हैं। अनेक अन्य नाम ऐसे भी हैं जो सूक्त देवता के रूप में प्रतिष्ठित वनस्पति नाम हैं, यथा—अपामार्गो वनस्पति: (अथर्व.-4/17-19), अपामार्गवीरुत् (अथर्व.-7/67) अश्वत्थ: (पीपल वृक्ष) - वनस्पति (अथर्व.-3/6) आसुरी वनस्पति (अथर्व.-1/24), वनस्पति:असिक्नि (अथर्व. -1/23), वनस्पति - पृश्निपर्णी (अथर्व. -2/35) इत्यादि। इसीलिए आवश्यक उपयोग की दृष्टि से वनस्पतियों से संबंधित नामकरण पद्धति का अध्ययन किया गया है, जिसका विवरण निम्नलिखित प्रकार प्राप्त होता है—

मानव प्राचीन काल से ही वनस्पतियों को अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति में उनके प्रायोगिक अध्ययनों को विभिन्न नाम देकर अपने परिचय में संजोए, अपने जीविकोपार्जन की परंपरा के निर्वाह में लगा है। मानव जीवन किस प्रकार प्रकृति से अपने अभिप्राय का संग्रह कर उन्हें

अपने परंपरागत ज्ञान से समायोजित करके कैसे उनका नामकरण करता रहा है? इसका प्रामाणिक संकेत तो अथर्ववेद (8/7) का औषधयः सूक्त ही कर देता है।

'पाणिनीय शिक्षा' के अनुसार '**निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते**' (41) कहकर वेद शरीर का श्रोत्र कहा जाने वाला प्रमुख वेदांग निरुक्त वेद का न केवल प्रमुख निर्वचन कर्त्ता है, बल्कि वेद के सार्थक प्रयोजनों को प्रकाशित करने वाला अत्यंत ही महत्वपूर्ण शास्त्र है। इसी में निरुक्तकार यास्क ने वेद की प्रमुख-प्रमुख संज्ञाओं की न केवल निरुक्तियाँ ही दी हैं, बल्कि उन्हीं नामों को सार्थक आधार प्रदान करते हुए समस्त प्राकृतिक वनस्पति आदि के समस्त नामों से तादात्म्य की परंपरा और पद्धति का मार्ग भी प्रशस्त किया है। निरुक्तकार की निरुक्तियाँ कितनी अधिक सार्थक हैं अथवा हो सकती हैं? इसका परिचय तो पद(नामादि) के वैदिक प्रयोजन, निरुक्त के अनुसार प्राप्त अभिप्राय, अन्यान्य भाषाओं में इसी अभिप्राय में प्रयुक्त शब्द, अन्यान्य भाषाओं उच्चारण या ध्वनि सादृश्य रखने वाले सभी शब्द तथा उनसे व्यक्त विभिन्न अभिप्राय तथा प्रकृति (लोक) में प्राप्त अभिप्राय एवं प्रयोग - इन सभी की सार्थकता की शोधपरक तथा वैज्ञानिक परीक्षा करने पर ही स्पष्ट हो सकेगा। उदाहरणार्थ - यास्क द्वारा प्रदत्त निर्वचनों में वनस्पति नामों की सार्थकता नाम के आधार पर निम्नलिखित प्रकार से उपलब्ध होती है–'**बिल्वं भरणाद्वा भेदनाद्वा**' (निरु.-1/4) तथा '**शाल्मलि सुशरो भवति, शरवान् वा**' (निरु.-12/3)।

आदिकाल से ही मानव को इतनी अधिक सार्थक नामावलि का परंपरा से प्राप्त होना पूर्णतया वेदोत्पत्ति विषय में स्वामी दयानंद द्वारा मान्य मत "चारों वेद परमेश्वर से ही प्रकाशित हैं" की पुष्टि करता है[24]। स्वामी दयानंद का वेद को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक स्वीकार करना[25], मनु के '**सर्वज्ञानमयो हि सः**' द्वारा अनुमोदित मिलना, व स्वामी जी द्वारा वेद में वैद्यकादि विद्याओं की विद्यमानता को वर्तमान वैज्ञानिक अभिप्रायों (जो सत्य से अनुप्राणित हैं) के समान सिद्ध करना तथा वेद में ठीक वैसा ही प्राप्त होना - ये सभी वेद की सार्थक नामकरण पद्धति (वैज्ञानिकता तथा सत्यता से युक्त) के प्रमाण हैं, जो वेद में पर्याप्त मात्रा में यत्र-तत्र विद्यमान हैं।

वैदिक वनस्पतियों के नाम तथा वनस्पतिज्ञान प्राप्ति की प्रविधि के विषय में क्रमशः ऋग्वेद व यजुर्वेद तथा अथर्ववेद ही (ओषधयः सूक्त-8/7) पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। अथर्ववेद के **ओषधयः (भैषज्य, आयुष्यं व ओषधयः)** सूक्त (8/7) स्वयं ही वनस्पतियों के ज्ञानात्मक संवर्धन की प्रायोगिक-प्रविधि को अभिव्यक्त करते हैं। अथर्ववेद में वर्णित यही प्रविधि न केवल मानव के अपितु समस्त प्राणियों के स्वभावों में प्रत्यक्षतः देखी जा सकती है। इसी स्वाभाविक प्रविधि के आधार पर मानव ने न केवल वनस्पतियों का बल्कि प्रत्येक पदार्थ का नामकरण इसी परंपरा से प्राप्त नामावलि के आधार पर किया होगा। भले ही उसने स्वसुविधानुसार इस ज्ञान को अन्य और आधारों (यथा-रूप, रस, गंध, गुण, उपयोग तथा अन्य अवयवादि) पर और अधिक विस्तृत कर लिया है। फिर भी यदि ज्ञान के आदि स्रोत की बात आती है तो हमारे समक्ष

एकमात्र वेद ही उस ज्ञान का मूल दृष्टिगत होता है।

वैदिक परंपरा तथा द्रव्यों की वैदिक नामकरण पद्धतियाँ अपने आप में पूर्णतया वैज्ञानिक रही हैं, भले ही वे वर्तमान में प्राप्त नामों के साथ पूरी तरह ताल-मेल से युक्त नहीं रहीं। इस वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में यदि ताल-मेल का अभाव दृष्टिगत होता है, तो इसके लिए हम स्वयं को दोषी मानते हैं, क्योंकि हमने ही अपनी इस वैज्ञानिक पद्धति की संरक्षण पद्धति की न केवल अवहेलना की है बल्कि आज भी परिश्रम से बचने के लिए हम इसके निर्वाह से अपना बचाव करने में लगे हैं। किसी भी ज्ञान को सरल, सुबोध और संक्षेप में समायोजित करने के लिए जो गुण एक वैज्ञानिक भाषा में होने चाहिए वे सभी वैदिक भाषा में विद्यमान हैं। संस्कृत भाषा तक आते-आते हम संस्कृत के उस अर्थ को गँवा बैठे हैं, जिससे वैदिक भाषा अथवा देव वाणी का अभिप्राय लिया जाया करता था। आधुनिक संस्कृतज्ञ भले ही वैदिक भाषा को संस्कृत कह कर स्वयं को वेदज्ञ समझते रहें, परंतु वेद की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए उन्हें वैदिक भाषा के साथ-साथ समस्त प्राचीन भाषाओं तथा लोक प्रचलित समस्त भाषाओं का अध्ययन कर उन सब की गहराई तक जाना होगा। आधुनिक विज्ञान तथा कंप्यूटर उसमें अत्यंत सहायक हैं।

वैदिक नामों तथा आधुनिक प्रचलित नामों में प्राप्त ताल-मेल के अभाव का प्रमुख कारण भाषा संबंधी कठिनाइयाँ तथा तत्संबंधी नामादि परिवर्तन के कारण भी इसके मूल में रहे होंगे अन्यथा नामों का रूढ़ हो जाना प्राप्त न होता, बल्कि इसके अलावा केवल यौगिक अर्थ ही प्राप्त होते। इसी प्रकार पर्यायात्मक नामों का सादृश्य, स्वरूपात्मक सादृश्य, विकल्पात्मक सादृश्य तथा अन्य प्रकार के सादृश्य भी मानवों को दुविधा में डालने के कारण हो सकते हैं, जिसके कारण विकृत एवं रूढ़ नामों को ही प्रयोग में स्वीकृत माना गया है। विद्वानों की मान्यता के अनुसार - "वनस्पतियों के नामकरण" पर अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव भी कम नहीं था, जिससे समस्त प्राचीन सभ्यताओं ने स्वभाव से ही उत्तरवर्ती सभ्यताओं को सम्यक् प्रभावित किया है, जिसके कारण भारतीय वनस्पतियों के बहुत-से नाम असीरियन जैसी अन्य भाषाओं के नामों से मिलते-जुलते प्राप्त होते हैं[26]। नामकरण के विषय में सभ्यताओं ने परस्पर किसको कितना प्रभावित किया, इसका स्पष्ट संकेत तो हमें प्राप्त नहीं होता है। फिर भी भारत का अन्य देशों से संपर्क इतना संकेत तो देता ही है कि कुछ नाम भारत से बाहर पहुँचे, तो कुछ बाहर से यहाँ आए। ऐसी स्थिति में नामों का यौगिक न रहकर रूढ़ि में परिवर्तित हो जाना संभव ही है।

इसके अतिरिक्त वैदिक संहिताओं में अनेक नाम इस प्रकार के भी मिलते हैं, जो संहिताओं में तो उपलब्ध हैं, परंतु उनका परिचय या प्रयोजन संदिग्ध है या लुप्त हो चुका है अथवा फिर उनका स्थान अन्य नामों ने ले लिया है, यथा - जंगिड (अथर्व. -2/4/1-6), खलकुल (बृहदारण्यकोपनिषद्-6/3/22) आदि। वैदिक संहिताओं में मिलने वाले बहुत-से नाम ऐसे हैं, जोकि ज्यों-के-त्यों अब तक वैसे ही चले आ रहे हैं। उदाहरण के लिए, उदुंबर तथा अश्वत्थादि।

इसके अतिरिक्त ऐसे नाम भी हैं, जिनमें कालक्रम से परिवर्तन हो गया मिलता है, यथा – गुल्गुल-गुग्गुल तथा काष्मर्य-काश्मर्य इत्यादि।

इसके अतिरिक्त अन्य बहुत-से ऐसे शब्द भी संहिताओं में प्राप्त होते हैं, जो उत्तर काल में वनस्पतियों के नामों के रूप में प्रचलित मिलते हैं। किंतु संहिताओं के व्याख्याकार परंपरानुसार उनका वनस्पतिपरक अर्थ न करके अन्य अर्थ करते आ रहे हैं, यथा – ज्योतिष्मती (ऋ.-1/46/60), त्रिवृत् (1/140/2), द्रवंती (ऋ.-5/41/18) तथा विश्वभेषज (ऋ. -10/60/2, 137/3) इत्यादि।

ऋग्वेद में **अतस**[27] काष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त शब्द है, इसी शब्द का स्त्रीलिंग रूप **अतसी**[28] भी ऋग्वेद में ही विद्यमान है। दोनों ही शब्द **अत सातत्यगमने**[29] धातु से व्युत्पन्न माने गए हैं। आचार्य सायण[30] तथा स्वामी दयानंद[31] दोनों वेद के भाष्यकार अर्थ की दृष्टि से लगभग काष्ठ तथा वृक्ष तक ही पहुँच पाए हैं, परंतु उपयुक्त वनस्पति तक पहुँचना अभी शोध पर ही निर्भर करेगा। आयुर्वेदिक **निघंटु**[32] में **अतसी** को धान्य वर्ग की वनस्पति हिंदी नाम – अलसी, लैटिन नाम – *लिनी सेमिना* लिखा है, जबकि वैदिक कोशकार सूर्यकांत[33] ने "बोर्टैरबूख-रॉथ-बोहटलिंग्क" के मत का उल्लेख करते हुए इसे शणवृक्ष (सनई) भी लिखा है। वैसे उन्होंने इसे शीघ्र जलने वाले पदार्थ (काष्ठ) का द्योतक माना है। हिंदी नामों में प्राप्त **अतीस**[34] नाम एक और अन्य वनस्पति **अतिविषा** लै.ना. – *एकोनाइटम हेटेरोफाइलम* को उक्त नाम के निकट लाता प्रतीत होता है। इसका भी क्षुप वर्गीय वनस्पति का होना पुनः शंका खड़ी कर देता है। अरणी अग्निमंथन काष्ठ संज्ञक नाम है, जो उत्तर साहित्य में वनस्पति संज्ञक अग्निमंथ लैटिन नाम – **क्लेरोडेन्ड्रोन फ्लोमाइडिस,** हिंदी नाम – अरनी या अरणी है। जबकि सूर्यकांत[35] द्वारा वैदिक कोश **'शमीमश्वत्थ आरूढ़स्तत्र पुंसवनं कृतम्'** (अथर्व.-6/11/1) के आधार पर अरणी से दो प्रकार की अरणियों का ग्रहण किया गया है, जिनमें प्रथम उत्तरारणि (यह शमीवृक्ष के ऊपर उगे अश्वत्थ वृक्ष के काष्ठ की बनी हुई होती है)। द्वितीय अधरारणि (यह प्रथम स्थिति के अनुसार शमी वृक्ष की काष्ठ से बनी होती है) उत्तरारणि को अधरारणि पर मंथन की प्रक्रिया द्वारा घर्षण से अग्नि-प्रज्वलन किया जाता है। ऋग्वेद[36] में भी अरणी की अनेकत्र चर्चा विद्यमान है। एक स्थान पर ऋग्वेद में अरणी का उल्लेख निम्न प्रकार है–

हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भ हवामहे दशमे मासि सूतवे॥

(ऋग्वेद-10/184/3)

अर्थात् हिरण्यमयी अरणी जिसको अश्विनी कुमार मथते हैं, उस गर्भ को हम दसवें मास में उत्पन्न होने के लिए बुलाते हैं। अग्निमंथ की लकड़ियों को आपस में रगड़ने से आग निकलती है। अतः इसका नाम अग्निमंथ है। ऋग्वेद[37] में **'अरण्योर्निहितो जातवेदा'** तथा **'अग्निं मंथाम पूर्वथा'** अर्थात् अरणियों में निहित अग्नि का नाम जातवेदा है और पूर्व की तरह मंथन करके अग्नि को प्रकट करें[38]। **करंज**[39] और **अररु**[40] ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में राक्षसों के नाम हैं, जो उत्तरवर्ती साहित्य में वनस्पति वाचक प्राप्त होते हैं[41]। घृताची[42] का लाक्षा[43] हुआ तथा

ऋग्वेद और यजुर्वेद में वर्णित **जीवंती** शब्द भी अथर्ववेद में वनस्पति का वाचक है[44]। **इट** ऋग्वेद में एक ऋषि का वाचक है, जो अथर्ववेद में वनस्पति का वाचक है[45]। **महाबला** अथर्व-परिशिष्ट में देवता विशेष का बोधक है, किंतु भाव-प्रकाश निघंटु में यह वनस्पति का नाम है[46]। इस प्रकार वैदिक संहिताओं में अनेक ऐसे शब्द हैं जो आजकल वनस्पतियों के प्रचलित नाम हैं, यथा- अग्नि-चित्रक का[47], सरस्वती-ब्राह्मी का[48], अक्ष-विभीतक का[49], पद्म-कमल का[50] तथा अर्जुन-ककुभ वनस्पति का[51] पर्याय हो गए हैं। अथर्ववेद में (8/7/23-24) के अनुसार हमें पशु-पक्षियों के आहार-विहार से वनस्पति ज्ञान संवर्धन में पर्याप्त सहायता प्राप्त होने का उल्लेख है। अतः वनस्पतियों के अनेक नाम उनके आधार पर भी रखे गए मिलते हैं, यथा-अजशृंगी[52], अश्ववार[53], काकमाची[54], मेष शृंगी[55] तथा नाकुली[56] इत्यादि।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में आए वनस्पतियों के नामकरण की पद्धति तथा प्रक्रिया में निम्नलिखित प्रमुख आधार हमारे सामने आते हैं, यथा–

कर्मवाचकता पर आधारित नाम

वेद में वनस्पतियों का उपयोग अनेकानेक कर्मों में होने के कारण कुछ के नाम से ही उनकी कर्मवाचकता के आधार पर उनके कर्मात्मक उपयोग या उनके कर्म पर आधारित गुण इत्यादि की जानकारी मिल जाती है। किंतु यहाँ सामान्य, विशेष तथा चिकित्सा कर्मों पर ही प्रमुखता से विचार करते हुए वनस्पति नामों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार वर्गीकृत नामों का विवरण निम्नलिखित प्रकार मिलता है :

1. **सामान्य कर्मानुसार नाम - अपामार्गः** = अप(हृत्य दोषान् शरीरं) मृज्यते अनेन इति अपामार्गः। (अथर्व.-4/7/17 सायण) अर्थात् जिसके द्वारा दोषों का निर्हरण होकर शरीर का संशोधन हो वह **अपामार्ग** है[57]। इस प्रकार अमला[58], उदोजस[59], ऊर्जयंती[60], जीवला[61], प्रायमाणा[62], रोहिणी[63], विकंकत[64] तथा सहमाना[65] आदि नाम सामान्य कर्मवाचक ही हैं।

2. **विशिष्ट कर्मानुसार नाम** - विशेष कर्म अर्थात् केशों का दृढ़ीकरण करने वाली वनस्पति **कोशदृंहणी** नाम से अभिहित है[66]। इसी प्रकार केशवर्धक वनस्पति **केशवर्धनी**[67] कहलाती है। क्लीबकरणी[68], मशकजंभनी[69], शेप-हर्षणी[70], सरूपंकरणी[71] तथा सुभगं-करणी[72] आदि नाम इसी प्रकार के हैं।

3. **चिकित्सा कर्मानुसार नाम** - विभिन्न रोगों में प्रयुक्त वनस्पतियों द्वारा चिकित्सा करने के कारण निम्नलिखित नाम भी चिकित्सा कर्म को दृष्टिगत रखते हुए उन्हें प्रदान किये गये हैं, यथा - ईर्ष्याभेषज[73], किलसभेषज[74] क्षेत्रिय-नाशनी[75], बलासभेषज[76], विषदूषण[77], हरितभेषज[78] इत्यादि।

प्रशस्तिवाचक आधार वाले नाम

वैदिक वनस्पतियों की गुणवत्ता तथा उपयोगिता को दृष्टिगत रखते हुए उन्हें प्रशस्तिवाचक नामों से अभिहित किया गया, जिस नाम से उनकी गुणात्मक प्रशस्ति स्पष्ट

झलकती है, यथा – अर्क[79], पूतद्रू[80], भद्र[81] इत्यादि इसी प्रकार के वनस्पति नाम हैं।

गुणवाचक आधार वाले नाम

वनस्पतियों के वैदिक नाम उनके गुणों यथा – रूप-रंगगत, रसगत तथा गंधगत आधार पर रखे जाते रहे हैं, जिससे इन वनस्पतियों के महत्वपूर्ण उपयोगों की जानकारी का स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है। ये न केवल वैज्ञानिक हैं, बल्कि आयुर्वेद सम्मत भी हैं। इस प्रकार के प्रमुख नामों का विवरण इस प्रकार से है–

1. **रूप-रंगगत आधार वाले नाम** – इस प्रकार के नामों में वनस्पतियों के वे नाम आते हैं, जो उनके रूप और रंग के अनुसार उनकी पहचान तथा उपयोग को सार्थक करते हैं, यथा – अर्जुन[82], असिक्नी[83], पीतदारु[84] आदि।
2. **रसगत आधार वाले नाम** – वैदिक साहित्य में रस के गुण अर्थात् स्वाद के आधार वाले सार्थक नाम भी प्राप्त होते हैं, यथा – मदुध (मधुक)[85], मधुला[86], रसा[87] इत्यादि।
3. **स्वगंधगत आधार वाले नाम** – वैदिक साहित्य में गंध के अनुसार अपने गुण और उपयोग तथा स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाले नाम भी विद्यमान हैं, यथा – अश्मगंधा[88], औक्षगंधि[89], पूतिरज्जू[90], सुगंधितेजन[91], इत्यादि।

उद्भव वाचक आधार वाले नाम

वैदिक वनस्पतियों के अनेक नाम अपने उद्भव स्थान तथा उद्भव काल आदि के संबंध में स्पष्ट ज्ञान प्रदान करने वाले हैं, यथा – क्यांबू[92], वषार्हू[93], वर्षाह्वा[94], शीतिका[95] आदि।

स्वरूप वैशिष्ट्य वाचक आधार वाले नाम

वैदिक वनस्पतियों के अनेक नाम उनके स्वरूप वैशिष्ट्य का परिचय कराने वाले हैं, यथा – आंडीक[96], तीक्ष्णशृंगी[97], न्यग्रोध[98], नितत्नी[99], पुनर्नवा[100] इत्यादि।

अवयव वाचक आधार वाले नाम

वैदिक साहित्य में वनस्पतियों के पर्ण, पुष्प, फल, बीज, वल्क, वल्श, शाखा, कांड, पर्व, स्कंध, काष्ठ तथा मूल आदि समस्त अवयवों की चर्चा भी है[101]। इन्हीं अवयवों के उपयोगी वैशिष्ट्य को अभिव्यक्त करने वाले नाम भी वैदिक संहिताओं में प्राप्त होते हैं। प्रायः ऐसे नामों में किसी न किसी अवयव का नाम संयुक्त मिलता है। इस प्रकार के नामों के कुछ वर्ग निम्नलिखित प्रकार से देखे जा सकते हैं, यथा –

1. **पर्ण वैशिष्ट्य के आधार वाले नाम** – पत्तों की विशेषता के आधार पर भी अनेक नाम वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं, यथा – पर्ण[102], पर्णधि[103], पर्णा[104], मंडूकी[105], माषपर्णी[106], सहस्र पर्ण[107], सहस्रपर्णी[108], पुष्करपर्ण[109], उत्तानपर्णा[110], चित्रपर्णी[111], पृश्नि-पर्णी[112], स्रेकपर्ण[113], हिरण्यपर्ण[114], हिरण्यपर्णा[115], अर्कपर्ण[116], ऋतु-पर्ण[117], शतपत्रा[118] इत्यादि।
2. **पुष्प वैशिष्ट्य के आधार पर नाम** – वैदिक साहित्य में पुष्प के आधार

पर भी अनेक ऐसे नाम प्राप्त होते हैं, यथा-पुष्पा[119], पुष्पवती[120], पुष्पिणी[121], अपुष्पा[122], सदंपुष्पा[123], सुवर्णपुष्पी[124], हिरण्यपुष्पी[125] इत्यादि इसी प्रकार के नाम हैं जो वनस्पतियों के पुष्पों के आधार पर उनकी पहचान निर्धारित करते हैं।

3. **फल वैशिष्ट्य के आधार पर नाम** – वैदिक साहित्य में फलों पर आधारित नाम भी प्राप्त होते हैं, जो वनस्पतियों के फलों के आधार पर उनकी पहचान व उपयोग निर्धारित करते हैं, यथा – फलिनी[126], फलवती[127], अफला[128], सदंफला[129] इत्यादि।

4. **तृण वाचक आधार वाले नाम** – वैदिक साहित्य में तृण पर आधारित वनस्पतियों का परिचय प्रदान करने वाले नाम भी प्राप्त होते हैं, यथा – वेदस्तृण[130] आदि।

5. **वल्श वाचक आधार वाले नाम** – वैदिक साहित्य में वल्श की विशेषता को दृष्टिगत रखकर भी वनस्पतियों को अनेक नाम दिए गए प्राप्त होते हैं, यथा – तीक्ष्णवल्श[131] आदि।

6. **पर्व तथा कांड वाचक आधार वाले नाम** – पर्व तथा कांड की विशेषता के आधार पर भी अनेक ऐसे नाम वेद में प्राप्त होते हैं, जो वनस्पतियों के पर्व तथा कांड के परिचय से ही जाने जाते हैं, यथा – कांडिनी[132], शत कांड[133], सहस्त्रकांड[134], शतपर्व[135] इत्यादि।

7. **स्कंध एवं काष्ठ वाचक आधार वाले नाम** – वैदिक साहित्य में स्कंध (तना) और काष्ठ की विशेषता को अभिव्यक्त करने वाले नाम वेद में प्राप्त होते हैं, यथा-संस्कंधा[136] तथा पीतदारु[137] इत्यादि इसी प्रकार के नाम हैं, जिससे उनके उपयोग तथा महत्त्व को जाना जा सकता है।

8. **कंद तथा मूल वाचक आधार वाले नाम** – कंद तथा मूल की विशेषता के आधार पर भी अनेक वनस्पतियों के परिचय वैशिष्ट्य को अभिव्यक्त करने वाले अनेक नाम वेद में प्राप्त होते हैं, यथा – कांदविष[138], अमूला[139] तथा सहस्त्रमूल[140] इत्यादि।

इस प्रकार विभिन्न आधारों पर प्राप्त अनेक ऐसे नाम जो वेद में भी प्राप्त होते हैं, वे सब वेदज्ञों की अन्यान्य विषयों के संबंधित उसी धारणा का पोषण करते हैं, जिसे स्मृतिकार मनु ने **सर्वज्ञानमयो हि सः** कहकर वेद के सार्थक वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया था। इस प्रकार से प्राप्त नाम वेद में छिपे वनस्पति विज्ञान संबंधी ज्ञान के प्रवाह को अनवरत प्रवाहित करते रहे हैं।

सन्दर्भ

1. वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुष्पजनान् पितृन्। अ. 8-2-14
सर्वास्तां अर्बुदे स्वामाभितेभ्योदृशेकुरु दारांश्च प्रदर्शय। अ. 11-5-25
2. प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुंगाः प्रतन्वीरोषधीरा वदामि।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधोवैश्वदेवी रुग्राः पुरुष जीवनीः।
अ. 8-7-4

3. जानामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्ति नमस्यन्ती जीयते गर्भमस्मिन् अच्छा पुत्रं धनेवा वाव शाना महश्चरन्ति विम्रत वयूंषि। अ. 3-57-1
4. या वभ्रयो याश्च शुक्रारोहिणीरुत पृश्नयः। असिक्नीःकृष्णा औषधीःसर्वा अच्छावदामसि। अ. 8-7-1
5. यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिवयामध्योषधीः
ता मा सहस्रपर्ण्योऽमृत्योर्मुञ्चत्वंहसः।। अ. 8-7-13
6. याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा वाश्च पुष्पिणीः।
वृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्तवंहसः।। ऋ. 10-97-15
7. अध्वर्यवो भरतेन्द्राय सोममामत्रेभिः सिन्चता मद्यमन्धः।
कामी हि वीरः सदमस्य पीतिं जुहोत वृष्णे तदिदेव वष्टि।। ऋ. 2-14-1
8. त्वं सु मेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य सुभ्वः साकमीरते।
अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमेन्द्रं ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः।। ऋ. 1-52-1
9. त्वमग्न ऋभुरा के नमस्यस्त्वं वाजस्य क्षुमतो राय ईशिषे।
त्वं वि भास्यनु दक्षि दावने त्वं विशिश्रुरसि यज्ञमातनिः।। ऋ. 2-1-10
10. इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः उपब्रह्मणि वाघतः। ऋ. 1-3-5
11. क्व स्या वो मरुतः स्वधासीद् यन्मामेकं समधत्ताहिहत्ये।
अहं ह्यूग्रस्तविषस्तुविष्मान्विश्वस्य शत्रोरनमं वधस्नैः। ऋ. 1-165-6
12. आ त्वा जुवो रारहाणा अभि प्रयो वायो वहन्त्विह पूर्वपीतये
सोमस्य पूर्वपीतये। ऊर्ध्वा ते अनु सुनृता मनस्तिष्ठतु जानती।।
नियुत्वता रथेना याहि दावने वायो मखस्य दावने।। ऋ. 1
13. आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि।। अ. 11-4-16
14. याः फलिनार्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुंञ्चन्त्वंहसः। ऋ. 10-97-15
15. तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि।
अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः।। अ. 8-7-22
16. उन्मुंचन्तीर्विवरुणा उग्रा या विदूषणीः।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः। अ. 8-7-10
17. अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्ठुताः।
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम्।। अ. 8-7-11
18. यद् वः सहः सहमाना वीर्यं यश्च वो बलम्।
तेनेममस्माद् यक्षमात् पुरुषं मुन्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम्।। अ. 8-7-5
19. प्रस्तृणती स्तंबिनीरेकशुंगाः प्रतन्वतीरोष-धीरा वदामि।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधोवैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः।। अ. 8-7-4
20. जीवलां नधारिषां जीवन्तीमौषधीमहीम्।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेस्मा अरिष्टतातये। अ. 8-7-6
21. अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु।। अ. 2-8-2
22. अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम्।
उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम्।। अ. 4-4-5

23. ऋ.-1/55/1 व 2
24. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका - दयानन्द, वेदोत्पत्ति विषय - पृ.7. ऋ.-10/90/1, यजु.-31/7, 40/8, अथर्व.-10/7/20
25. आर्य समाज के नियम-तृतीय नियम।
26. G Hayse, Sivakosa, Introduction, pp XLX-LII.
27. प्रभूतेषु काष्ठेषु-ऋ.-1/58/2, अतसं काष्ठं दहसि-ऋ.-10/89/5 सायण। काष्ठम्-यजु. 13/12 ऋ.-4/7/10
28. कन्नव्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्य : ऋ.-8/3/13, 1/30/40, अथर्व:-20/50/1 सायण।
29. धातुपाठ - दयानंद पृ-2
30. वृद्धमतसम्-शुष्कं काष्ठम्-ऋ.8/60/7, सायण, ऋ.-1/58/2, सायण। अतसम्-काष्ठम्-यजु.-13/12 दयानंद।
31. ऋ.-1/58/4, यजु.-13/12
32. भाव प्रकाश निघंटु-के.सी. चुनेकर, धान्यवर्ग-66 (पृ.-652)
33. वैदिक कोश - सूर्यकांत, पृ.-9
34. भाव प्रकाश निघंटु-हरितक्यादि वर्ग - 200 (विश्व. द्विवेदी, पृ.-76)
35. वैदिक कोश-सूर्यकांत-पृ.-22 भाव प्रकाश निघंटु-गुडुच्यादि वर्ग-23-24 (पृ.-150-151)
36. ऋ.-1/127/4, 129/5, 3/29/2, 5/9/3, 7/1/1, 10/184/3 इत्यादि।
37. ऋ.-3/29/2 तथा 1
38. ऋ.-द्वितीय भाग-आ.श्रीराम शर्मा-ऋ. -3/29/2 व 1 का हिंदी भाष्य।
39. ऋ.-1/53/8, 10/48/8, अथर्व. -20/21/8
40. ऋ.-1/29/3, 10/99/10, अथर्व. -6/46/1
41. अथर्व.-3/9/2, सायण। भाव प्रकाश निघंटु-के.सी. चुनेकर, गुडुच्यादि वर्ग-119-करंज (पृ-349), 25 अरलु (283)
42. ऋ.-1/167/3, 3/6/1, 4/6/3
43. अथर्व.-10/4/24
44. ऋ.-5/78/9, का.सं.-31/2, तै.सं. -3/4/3/5, अथर्व.-3/14/6, 8/2/6, 8/7/6
45. ऋ.-10/17/11, अथर्व.-6/14/3, 9/3/18
46. अथर्व-परिशिष्ट-71/17/7, भा.प्र.नि. -गुडु.वर्ग-142
47. भा.प्र.नि.-के.सी.चुने.पृ.-799 तथा 21
48. भा.प्र.नि.-के.सी.चुने.-गुडुच्या.वर्ग-279
49. भा.प्र.नि.-के.सी.चुने., हरित.वर्ग-35
50. भा.प्र.नि.-के.सी.चुने., पुष्प वर्ग-4
51. भा.प्र.नि.-के.सी.चुने., वटादि वर्ग-26
52. अथर्व.-4/37/2, 6, पैप्पलाद सं.-13/4/2
53. मैत्रायणी सं.-3/7/9, अथर्व.-10/4/2
54. अथर्व.-6/136/1, कौशिक सूत्र-31/28
55. कौशिक सूत्र-28/9, 11
56. मैत्रायणी सं.-2/4/8
57. यजु.-35/15, अथर्व.-4/17/6, 7, 18/8 इत्यादि।
58. जैमिनीय उप.-1/12/4/6.15. कठ-25/4
59. ऋ.-10/297/7, तै.सं.-9/2/6/3, पै. -11/6/10
60. ऋ.-10/97/7, पैप्प.-11/6/10
61. अथर्व.-8/7/6
62. अथर्व.-8/2/6
63. अथर्व.--4/12/1-7, पैप्प.-4/15/1-7
64. मै.सं.-3/1/9, तै.सं.-3/5/7/3, अथर्व. -5/8/1
65. यजु.-12/99, 13/26, अथर्व.-8/2/6, पैप्प.-6/8/1
66. अथर्व.-6/21/3, 6/136/1
67. अथर्व.-6/136/1-3, 6/21/1-3

68. 6/138/1-5. अथर्ववेद
69. अथर्व.-6/56/2, पैप्प.-21/13/8
70. पैप्प.-4/5/1-10
71. अथर्व.-1/24/4
72. अथर्व.-6/139/1
73. अथर्व.-6/18/1
74. अथर्व.-1/24/2
75. अथर्व.-2/8/1-5
76. अथर्व.-6/14/1-3
77. अथर्व.-8/7/10
78. अथर्व.-4/9/3
79. तै.सं.-5/4/3/3, अथर्व.-6/72/1
80. अथो अमीव चातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् अथर्व.-8/2/28
81. अथर्व.-5/5/5, पैप्प.-20/3/2
82. ऋ.-1/122/3, अथर्व.-2/8/3, 32/2, 4/37/5
83. ऋ.-7/5/3, अथर्व.-8/7/1, 5/13/8, 12/2/20, 1/23/1, 3
84. काठक सं.-25/6, कपिष्ठल-कठ सं. -39/4
85. अथर्व.-6/102/3, अथर्व-परिशिष्ट-2/5/6-7
86. ऋ.-1/191/10-13, अथर्व.-7/56/2
87. ऋ.-9/41/6. यजु.-33/21, अथर्व. -4/2/5
88. शतपथ ब्राह्मण-13/8/1/16
89. अथर्व.-4/37/3
90. अथर्व.-8/8/2
91. मैत्रायणी सं.-1/10/4, 3/8/5, क.सं. -39/4 तैत्तिरीय संहिता-6/2/8/4
92. ऋ.-10/16/3, अथर्व.-18/3/6
93. मै.सं.-3/14/19, यजु.-24/38
94. तै.सं.-2/4/10/3
95. ऋ.-10/16/14, अथर्व.-18/3/60
96. अथर्व.-4/34/5, 5/17/16, पैप्प. -10/2/10
97. अथर्व.-4/37/6, 8/7/9
98. मै.सं.-4/4/2, काण्व सं.-23/13, 43/4, 44/1, अथर्व.-4/37/4, 5/5/5, पैप.-6/6/4, 13/4/7, खिल-4/7/5
99. मै.-2/8/13, काठ.-40/4, तै.-4/4/5, अथर्व.-6/136/1 पैप्प.-1/67/1-4, 5/5/6-7, 20/37/4-5
100. अथर्व.-8/7/8, पै.-16/12/8
101. वैदिक संहिताओं की वनस्पतियाँ (आयुर्वेद के परिप्रेक्ष्य में) -शोधप्रबंध-1992, वेद विभाग, गु.काँ.वि.वि., हरिद्वार, पृ. 126-136
102. ऋ.-10/97/6, मै.-4/1/1, अथर्व. -5/5/5
103. अथर्व.-4/6/5
104. ऋ.-1/182/7. 10/68/10
105. अथर्व.-18/3/60
106. अथर्व.-2/25/3
107. अथर्व.-19/32/1
108. अथर्व.-6/139/1, 8/7/13, पैप्प-16/13/5, 12/4/1
109. अथर्व.-8/14/6
110. ऋ.10/142/2, अथर्व.-3/18/2, पैप्प. -3/12/7
111. अथर्व.-2/25/1 सायण।
112. अथर्व.-2/2/1-सा. 2/25/1-5, पै. -4/13/1-7
113. मै.सं.-4/13/8, काठ.-16/21
114. यजु.-21/56, 28/33, मै.सं.-3/13/7, 3/11/5
115. खिल.-4/7/7
116. तै.-5/4/3/3. क.-31/21
117. निरु.-यास्क-8/19
118. अथर्व.-परिशिष्ट-70/3/5
119. अथर्व.-8/7/6, पै.-16/12/6
120. ऋ.-10/97/3, अथर्व.-8/7/27
121. ऋ.-10/97/15

122. ऋ.-10/97/15, यजु.-12/97
123. सदंपुष्पा-अथर्व.-4/20/1-9, पै. -13/10/11
124. अथर्व.-परिशिष्ट-18/1/15-17
125. अथर्व.-परिशिष्ट-18/1/16
126. ऋ.-10/97/15, यजु.-12/89, अथर्व. -8/7/27
127. यजु.-22/22, अथर्व.-7/52/9, 19/31/3
128. अफला-ऋ.-10/97/3, यजु.-12/89, अथर्व.-8/7/27
129. अथर्व.-परिशिष्ट-13/10/11
130. अथर्व.-7/29/1
131. पै.-7/7/7
132. अथर्व.-8/7/4
133. अथर्व.-19/32/21-10, 19/33/1-5
134. अथर्व.-2/7/3, पै.-7/7/7, 12/4/3, 19/23/2, 20/43/10
135. यजु.-33/99, अथर्व.-8/5/5, 12/11/5, 20/107/3
136. पै.-19/48/13-16
137. काठ.-25/6
138. अथर्व.-4/6/7-8, 10/4/22, पै. -16/17/2-3
139. अथर्व.-5/31/4
140. अथर्व.-13/3/15

✦✦✦

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्। -अथर्व. 1.8.1
यह हवि रोग-कृमियों को बहा ले जाये, जैसे नदी फेन को।

सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत। -अथर्व. 3.30.6
सब मिल कर अग्निहोत्र किया करो।

त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता। -अथर्व. 5.29.1
हे यज्ञाग्नि! तू साक्षात् वैद्य है, जो हमारी दवा करता है।

हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये। -अथर्व. 6.39.1
हे यज्ञाग्नि! मुझ हविष्मान् को बढ़ा, जिससे मैं बड़ा बनूँ।

यस्य कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्। -अथर्व. 6.5.3
हे यज्ञाग्नि! जिसके घर हम अग्निहोत्र करें उसे तू समृद्ध कर।

तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उपसदेम सर्वे। -अथर्व. 7.74.4
हे यज्ञाग्नि! हम सब परिवार के लोग तुझे प्रज्वलित कर अग्निहोत्र किया करें।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (58-64) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक कर्मफल-विज्ञान

डॉ. विक्रमकुमार विवेकी
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

कर्मफल-विज्ञान

सृष्टि के रहस्यों को कोई नहीं जान सकता। कुछ रहस्य ऐसे होते हैं जिनके विषय में **'इदमित्थम्'** की घोषणा नहीं की जा सकती। किसी भी रहस्य को जानने के लिए दो मार्ग सुप्रसिद्ध हैं। प्रथम, दर्शन शास्त्र= (तर्क, प्रमाण आदि) द्वितीय, विज्ञान= (प्रयोगशाला)। यहाँ यह ध्यातव्य है कि दोनों ही मार्गों में कुछ मान्यताओं को आधार मानकर चला जाता है, सत्यान्वेषण के लिए। पुनरपि बहुधा अनेक निष्कर्ष नितान्त हास्यास्पद ही निकलते हैं।

आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, वेदान्त-अनुमत ईश्वर, जीव, माया, अविद्या आदि रहस्यमय तत्त्व सर्वदा विवेच्य ही रहे हैं। कर्म, कर्मफल, पाप-पुण्य कर्म, जन्म-मृत्यु, काल-अकाल मृत्यु आदि विषय भी रहस्यपूर्ण ही हैं। शुभ-अशुभ कर्मों का मानदण्ड क्या है? कौन सी सीमा-रेखा इन्हें पृथक् करती है? यह जान पाना संभवतः असंभव ही है, जिससे इन रहस्यों की सार्वकालिकता सिद्ध होती है।

संसार की विविध विषमता को देखकर जिज्ञासा होती है- ऐसा क्यों? उत्तर मिलता है- **'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्।''**[1] कर्मों की विभिन्नता से ही सृष्टि की विविधता है। भाव यह हुआ कि जिस किसी के साथ जो कुछ भी सुख-दुख घटित हो रहे हैं, वे सब कर्मफल हैं। कोई दरिद्र तो कोई धनी है, कोई विकलांग तो कोई स्वस्थ है, कोई राजा तो कोई नौकर है, कोई हिंसक तो कोई शिकार है, ये सब कर्मफल ही हैं।

कुछ मनीषियों का कथन है कि-समान योग्यता वाले दो कर्मचारियों में से एक को 5000 रुपये और दूसरे को 10000 रुपये मासिक वेतन मिलता है तो यह भी कर्मफल ही है। एक अयोग्य व्यक्ति उच्च सिंहासन पर विराजमान है और अनेक योग्य व्यक्ति बेरोजगार हैं तो यह सब भी केवल कर्मों का ही खेल है। उनका कथन होता है-

भाग्यं फलति सर्वत्र
न विद्या न च पौरुषम्।
समुद्रमन्थनाल्लेभे
हरिर्लक्ष्मीं हरो विषम्॥

सर्वत्र भाग्य ही फलित होता है, विद्या और पुरुषार्थ पिछड़ जाते हैं। समुद्र-मन्थन के पश्चात् लक्ष्मी तो विष्णु जी को प्राप्त हो गई परन्तु शिवजी को गरल ही प्राप्त हुआ। क्योंकि यहाँ भी कर्मफल (भाग्य) का ही

चक्र था। आज दुर्जन, अत्याचारी, अन्यायी, असत्यवादी, छली व कपटी कष्टमुक्त हैं और सज्जन, धर्मात्मा, सदाचारी, परोपकारी कष्टयुक्त हैं। अधिकांशतः ऐसा दृश्य निरंतर दृष्टिगोचर होता रहता है तो इनका भी एकमात्र उत्तर यही दिया जाता है-**'कर्मफल'।**

सामान्यजन ऐसे कर्मफल- सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर पाते। उनका तर्क होता है कि सामाजिक सुव्यवस्था या दुर्व्यवस्था भी सुख-दुख के कारण होते हैं। बहुधा अनेक परिस्थितियों में सुख-दुःखात्मक फल की प्राप्ति में व्यक्ति का अपना कर्म कारण नहीं होता। उदाहरणतः- भारतीय समाज के समस्त विश्वविद्यालयों में पदोन्नति से संबंधित एक ही प्रकार का नियम मान्य है, परंतु यह नियम समस्त विश्वविद्यालयों में चरितार्थ होने के पश्चात् भी यदि किन्हीं एक या दो विश्वविद्यालयों में यह नियम फलित न हो सकने के कारण, तत्रस्थ प्राध्यापकगण दुःख अनुभव कर रहे हैं तो ये दुःखात्मक फल क्या उन माननीय शिक्षकों के किन्हीं स्वकर्म विशेषों के फल हैं या तत्रस्थ प्रशासकों के द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यर्थ-दुर्व्यवस्था के ये फल हैं? यह एक विचारणीय तथ्य है।

अपरञ्च, उपरोक्त विषमताओं के अतिरिक्त गौएं, बकरियाँ, मुर्गे, सूअर कट रहे हैं। हिसंक, भ्रष्टाचारी जन मिथ्या-भाषण कर वैभव के सहयोग से छूट जाते हैं तथा सरल, शान्त एवं सत्यप्रिय सज्जन कानून-माध्यम से फँसा दिए जाते हैं तो क्या ये स्व-कर्मफल हैं?

यदि ये स्व-कर्मफल हैं तो मनीषियों का कथन है कि कर्त्ता जीवात्मा को ज्ञात कराना चाहिए, विशेषतः प्रभु की ओर से संकेत किया जाना चाहिए कि कौन से कर्म का कौन-सा फल है। दर्शनकार तो कह कए- **''सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः''**[2] जीवात्मा को पूर्व संचित कर्मों के आधार पर जाति (मानव, पशु, पक्षी आदि), आयु और भोग मिलते हैं। **''पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः।''**[3] पूर्वकृत कर्मों के फलानुसार ही जीवात्मा को जन्म मिलता है। **पुण्येन पुण्यं लोकं नयति। पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।**[4] जीव पुण्य कर्मों के द्वारा उच्च योनियों, पाप के द्वारा नीच योनियों तथा पुण्य-पापमय कर्मों से मनुष्य योनि को प्राप्त करता है।

प्रश्नकर्त्ता की दृष्टि में पुण्य-अपुण्य, शुभ-अशुभ या धर्म-अधर्म कर्मों के मध्य पृथिवी-समुद्रवत् या छाया-आतपवत् सीमा का रेखांकन करना ही असंभव है। उसकी दृष्टि में वस्तुतः सुखदायक एवं दुःखदायक कर्मों का परिज्ञान पूर्व ही जीवात्मा को करवा दिया जाना चाहिए, तत्पश्चात् ही उसके लिए तत्कर्मानुसार फल-प्राप्ति सुनिश्चित होनी चाहिए। जैसे समाज में व्यक्ति को विदित होता है कि चोरी, हत्या आदि अमुक-2 कर्म दण्डनीय हैं तथा परोपकार, सत्यवादिता व सद्व्यवहार आदि अमुक-2 कर्म पुरस्करणीय, वैसे ही देवयोनि या मानवयोनि-प्रदायक शुभकर्म कौन से व पशु, पक्षी, तिर्यक्, स्थावर-योनिप्रदायक अशुभ कर्म कौन हैं? यह भी जीवात्मा को पूर्वज्ञात होने चाहिएं, जिससे वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य को प्रारंभ से ही जानकर जीवन यात्रा में अन्यथा आचरण न करे। लेकिन लोक में ऐसा नहीं है। महान् दार्शनिक भी इस गुत्थी को अन्तिम रूपेण नहीं सुलझा

सके हैं। वे यही कह गए हैं- **''किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।''**[5] **''गहना कर्मणो गतिः।''**[6] कर्मों का चक्र अतिगहन है।

परंतु प्राचीन चिंतक, दर्शनों के रचयिता महर्षि कर्म व कर्मफल के विषय में पर्याप्त प्रकाश कर गए हैं जिनके आलोक में नाना प्रश्नों का समाधान प्राप्त किया जा सकता है। चाहे हम समस्या-समाधान के अंतिम छोर तक न भी पहुँच पायें, पुनरपि एतद्विषयक कुछ तो दिग्दर्शन होता ही है।

पूर्वज महर्षियों ने विविध दृष्टिकोणों से कर्मों का विभाजन किया है। भोग-काल की अवधि के आधार पर कर्मों के तीन भेद होते हैं-[7] प्रारब्धकर्म, क्रियमाण कर्म एवं संचित कर्म। ''प्रारब्ध कर्मों'' के आधार पर वर्तमान जन्म प्राप्त हुआ है, जिसे हम भोग रहे हैं। 'क्रियमाण कर्म' वे कहलाते हैं जिनको हम वर्तमान जीवन में कर रहे हैं। इन क्रियमाण कर्मों में से कुछ कर्मों का फल तो तत्काल या इसी जन्म में ही कभी मिल जाता है और उनमें से कुछ कर्म, जिनका भोग इस जीवन में नहीं हो पाता, वे 'संचित कर्म' कहलाकर पूर्व जन्मों में किए गए तथा ''प्रारब्ध कर्म'' के रूप में जाने गए कर्मों में एकत्रित होकर भावी जन्मों के कारण बनते हैं।

स्वरूप के रूप में कर्म चार प्रकार के माने गए हैं- **(1) शुक्ल, (2) कृष्ण, (3) शुक्ल-कृष्ण, (4) अशुक्ल-अकृष्ण। चतुष्पदा खल्वियं कर्मजातिः।**[8] शुक्ल अर्थात् सुख-फलद पुण्य कर्म, कृष्ण अर्थात् दुःख-फलद अपुण्य कर्म, शुक्ल-कृष्ण अर्थात् सुख-दुःख-फलद पुण्यापुण्य कर्म, अशुक्ल-अकृष्ण अर्थात् सुख-दुःख-फलशून्य निष्काम कर्म। वस्तुतः शुक्ल और कृष्ण कर्मों की वास्तविक पहचान ही दुष्कर एवं टेढ़ी खीर है, यद्वा असंभव ही है। चूँकि 'कर्म' भोग के कारण होते हैं और 'भोग' सुख व दुःख के रूप में ही प्राप्त होते हैं, अतः इन सुख-दुःखात्मक भोगों के ''कारण कर्म'' मुख्यतः दो ही हैं- पुण्य एवं अपुण्य। ये पुण्य-अपुण्यात्मक कर्म प्रारब्ध, क्रियमाण एवं संचित नामक कर्मों में विद्यमान होते हैं जो फल-भुक्ति में निमित्त बनते हैं।

प्रायः ऐसा माना गया है कि संसार के समस्त कर्म पुण्य एवं अपुण्य से मिश्रित होते हैं- **'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धि-क्षयातिशययुक्तः।''**[9] विशुद्ध पुण्य रूप कर्म अत्यल्प होते हैं। कर्मों में अविशुद्धि=पाप की मात्रा तो होती ही है। यदि वस्तुतः कर्मों की स्थिति ऐसी ही है तो यह प्रश्न भी यहाँ रेखांकित होने लगता है कि जीवात्मा के साथ ऐसा अन्याय क्यों? किसी भी कर्म को करते हुए यदि उसे पाप-संवलित होना ही है तो इसमें जीवात्मा का क्या दोष? उसे तो जीवन-यात्रा के प्रसंग में अनिवार्यतः विवशतावश ये पुण्यापुण्य कर्म करने पड़ते हैं, जबकि अत्यल्प-पाप-संवलित इन अपुण्यों का भी दण्ड उसे भोगना ही पड़ता है। सुन्दर एवं विज्ञानपूर्ण जगत् के निर्माता परमेश्वर के न्यायालय में ऐसा विसंगतिपूर्ण अन्याय क्यों? परंतु इस समस्या का समाधान पातंजल योगदर्शन में विस्तार से दर्शाया गया है, जो तत्र द्रष्टव्य है।[10]

शुभ-अशुभात्मक कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य कर्मों का उल्लेख वेदों में भी उपलब्ध होता है, क्योंकि **''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।''**[11] **धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।''**[12]

वेदों में शुभ-अशुभ कर्मों के विषय में पर्याप्त निर्देश हैं- **'अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।''**[13] परमात्मा ने असत्य के प्रति अश्रद्धा तथा सत्य के प्रति श्रद्धा करने का आदेश किया है। **''सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परिवृत्ता।''**[14] सत्य आचरण से युक्त होकर, यश से भी परिपूर्ण बनो। **''मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।''**[15] **''अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।''**[16] **''संगच्छध्वं संवदध्वम्''**[17] **''इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।''**[18] **''अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व।''**[19] **''गां मा हिंसीः''**[20] **''कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत्।''**[21] **''आरे स्याम दुरितस्य भूरेः।''**[22] **''न पापत्वाय रासीय।''**[23] **''त्वमग्ने .... सुकृते सुकृत्तरः (असि)।''**[24] **''विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव।''**[25] इत्यादि अनेक वेदवचन हैं जिनके आलोक में शुभ-अशुभ कर्मों की छान-बीन का प्रयास किया जा सकता है। इसीलिए महर्षि जैमिनी मीमांसा में 'वेद' को 'विधान' कहते हैं, जिसको विधाता ने सृष्टि के आदि में ही विधि-निषेध के रूप में प्रस्तुत कर दिया था।

इस सन्दर्भ में गीता का निम्न श्लोक भी ध्यातव्य है- **''कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।''**[26] कर्मों की गति अति गहन है। अतः मानव को कर्म, विकर्म तथा अकर्म का परिज्ञान प्राप्त करते हुए आगे बढ़ना है। गीता में कर्म= पुण्यकर्म, विकर्म= अपुण्यकर्म तथा अकर्म=कर्महीनता को भी ज्ञात करने का उपदेश दिया गया है। आलस्य प्रमादवश कर्महीन बनकर शास्त्र प्रतिपादित कर्मों का न करना अकर्म है जिससे दरिद्रता रूपी फल प्राप्त होता है। अतः विकर्म एवं अकर्म से दूर रहते हुए कर्म में ही हमें संलग्न रहना है, यह शास्त्र का विधान है।

कर्मफल के संदर्भ में यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि जीवात्मा को दूसरे जीवात्मा के द्वारा कृत कर्मों का फल मिलता है या नहीं? लोक में तो यही दृष्टिगोचर होता है कि कर्म कोई अन्य करता है और फल किसी अन्य को मिलता है। **''एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।''**[27] यथा-एक व्यक्ति मधुमक्खियों को छोड़कर भाग जाता है, निकटस्थित द्वितीय व्यक्ति को दंश-पीड़ा सहनी पड़ती है। एक राजा द्वारा विहित गलत निर्णय का फल समस्त प्रजा को भोगना पड़ता है। मित्र अपने कर्मों से हमारे कष्टों को बढ़ाकर दुःख देते हैं। इन व्यवहारों से अन्यव्यक्तिकृत कर्म का फल अन्य को प्राप्त होने का मत सुदृढ़ होता है, परन्तु यह भ्रम मात्र है।

यथार्थतः व्यक्ति स्वकृतकर्मफल को ही भोगता है। व्यक्ति द्वारा स्वकृतकर्मफलों की भुक्ति के समय अन्य व्यक्ति द्वारा विहित कर्म निमित मात्र ही बनते हैं। अर्थात् सम्पूर्ण जीवन में जो भी सुख-दुःख हमें भोगना है वे सब हमारे स्वकर्मफल होते हैं। अन्यव्यक्तिकृत कर्मफलों को अन्य व्यक्ति नहीं भोगता।[28] यहाँ यह ध्यातव्य है कि फलद-कर्म सुनिश्चित होते हैं, वे स्वयं के ही होते हैं। हाँ, सुनिश्चित स्वकर्मों की फल-भुक्ति में अन्यकृत कर्म जो निमित्त बना करते हैं वे जीवात्मा के सीमित ज्ञान की अपेक्षा से असंगत प्रतीत होते हैं,

जबकि सर्वज्ञ विभु के ज्ञान की दृष्टि से वे पूर्णतः सुसंगत ही होते हैं।

अथ च, इस संदर्भ में यह धारणा भी रेखांकित होने लगती है कि यदि वस्तुतः किसी व्यक्ति के स्वकर्मफलों की भुक्ति में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा कृत निमित्त बनते हैं तो वे निमित्त बने अन्य व्यक्ति के कर्म शुभ या अशुभ की कोटी में परिगणित नहीं होने चाहिएं। यथा किसी भी प्राणी की हत्या में निमित्त बना हिंसक का 'हत्या कर्म'। परंतु यही तो कर्मफल विषय की गहनता है, जो अति जटिल है। वैदिक परंपरा एवं सिद्धान्तानुसार किसी भी कर्मफल की भुक्ति में निमित्त बने अन्य व्यक्ति कृत कर्म भी शुभ-अशुभ की कोटी में ही परिगणित होते हैं, जिनका फल तत्कर्त्ता को मिलता है। यदि इस सिद्धांत को नहीं माना जाएगा तो परमात्मा की न्याय-व्यवस्था ही लड़खड़ाने लगती है।

एक अन्य प्रश्न है। एक ही प्रकार के कर्म का दो व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न फल क्यों मिलता है? जैसे- दो व्यक्तियों को चोरी का दण्ड कारावास दिया गया। एक व्यक्ति को दिल्लीस्थित कारावास मिला तो दूसरे व्यक्ति को फिरोजपुरस्थित कारावास। दोनों स्थानों पर जेलर व अन्य संबन्धित कर्मचारियों के व्यवहार-आन्तर्य के कारण एक ही प्रकार के कर्म किए हुए दोनों व्यक्तियों के 'दण्ड-फल' के स्वरूप में यथा-तथा अन्तर आ ही जाता है एवं इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख-दुखरूप फल उन्हें भोगना पड़ता है। ऐसा क्यों? इस संदर्भ में भी हमें दोनों व्यक्तियों के प्रारब्ध (भाग्य) को ही स्वीकारना होगा, अन्यथा इस समस्या का अन्य क्या समाधान माना जाएगा?

प्रायः सदाचारी, पुरुषार्थी, सज्जन व्यक्ति सर्वथा दुःखी एवं दुराचारी, प्रमादी व दुर्जन व्यक्ति धन-निमित्त से सर्वथा सुखी दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें भी पूर्वजन्मकृत कर्मों को ही कारण माना जाता है, जो सामान्यजनों को हृदयंगम नहीं हो पाता। परतु वस्तुतः यह सब पूर्वजन्म के कर्मों के कारण होता है, ऐसा मानना पड़ता है। सज्जन तो सुकर्म करते हुए भी दुःखी सम्भवतः इसलिए हैं क्योंकि उन सज्जनों की मरणोपरान्त-गति, पदोन्नति के रूप में शरीर-परिवर्तन के साथ उत्तम होनी है। कोई सम्पन्न परिवार, सु-समाज, स्वर्ग, मोक्ष या अन्य किसी स्वर्गमय लोक में जन्म आदि फल उन्हें उनके क्रियमाण सुकर्म एवं प्रारब्ध कर्मों के मिलने हैं, अतः उन सज्जनों के पूर्वजन्मकृत, प्रारब्ध-अन्तर्गत जो दुष्कर्म हैं, उनका एकत्रित व सामूहिक फल वर्तमान जीवन में ही निःशेषरूपेण उन्हें दिया जा रहा है। इसके विपरीत दुर्जन दुष्ट कर्म करते हुए भी सुखी जीवन को इसलिए भोग रहे हैं क्योंकि उन दुर्जनों की भी मरणोपरान्त-गति, शरीर-परिवर्तन के साथ पदावनति के रूप में सम्भवतः अधर्म होनी है। कोई विपन्न परिवार, दुःसमाज, नरक या तिर्यक्-योनि में जन्म आदि फल उन्हें प्राप्त होने हैं, अतः उन दुर्जनों के पूर्वजन्मकृत सुकर्मों का एकत्रित= सामूहिक फल वर्तमान जीवन में ही दिया जा रहा है। यद्यपि हम सबकी दृष्टि में यह एक विसंगतिपूर्ण दृश्य दृष्टिगोचर होता रहता है कि सज्जन दुःखी तो दुर्जन सुखी हैं तथापि परमात्मा की न्यायव्यवस्था में कोई विसंगति नहीं है।

पुनरपि कर्मफल के रहस्य को 'इदमित्थम्' की घोषणा के साथ अन्तिम निष्कर्षरूपेण

नहीं कहा जा सकता। इस संबंध में एक और उदाहरण:-पचास व्यक्ति एक बस की प्रतीक्षा में खड़े हैं। बस आती है। उन 50 व्यक्तियों में से एक व्यक्ति धनबल से पचास सीटों की टिकटों को अकेले खरीदकर, ड्राईवर-कण्डक्टर को रिश्वत देकर अकेले ही उस बस में बैठकर चण्डीगढ़ से दिल्ली जाने का प्रयास करके अन्य 49 व्यक्तियों को अनावश्यक कष्ट एवं असुविधा में छोड़ जाता है तो इन 49 व्यक्तियों का दु:ख क्या उन सबका स्वकर्मफल है या इस घटना को एक सामाजिक अव्यवस्था मानी जानी चाहिए? सम्भवत: ऐसी परिस्थिति से युक्त यह घटना एक सामाजिक अव्यवस्था है। इस घटना को 49 व्यक्तियों का स्वकर्मफल दु:ख एवं उस एक धनाढ्य व्यक्ति का स्वकर्मफल सुख है, कोई भी नहीं स्वीकार करेगा।

कुछ मनीषियों के मत में या तो ऐसी और इस घटना को भी 'कर्मफल' ही स्वीकार कर लेना चाहिए या यदि वह एक सामाजिक अव्यवस्था है तो इस प्रकार की अन्य घटनाओं (परिस्थितियों) को भी सामाजिक अव्यवस्था ही माननी चाहिए, न कि कर्मफल। जैसे-धनाढ्यता के ही कारण एक व्यक्ति की एक नगर में 10-15 कोठियों का होना तथा अन्य सैकड़ों व्यक्तियों का उसी नगर में गृहहीन होकर रहना। एक ओर धन-बल से एक ही परिवार में नाना उपकरणों व विभिन्न व्यंजनों का 'परिग्रह' हो जाना तथा बहुधा इन पदार्थों का व्यर्थ नाश होना, दूसरी ओर हजारों व्यक्तियों का कुपोषित या बुभुक्षित रह जाना।

अनेक मनीषी विद्वान् ऐसी इन घटनाओं को भी सामाजिक व्यवस्था न मानकर कर्मफल ही कहते हैं। क्योंकि सामाजिक दुर्व्यवस्था से युक्त देश, काल एवं परिस्थिति में जन्म लेकर ऐसे विषमतापूर्ण वातावरण में रहने को विवश होना भी तो कर्मफल है। कुछ लोग अमेरिका की व्यवस्था में हैं तो कुछ लोग रूसी व्यवस्था में। कुछ नागरिक सम्पन्न व्यवस्था में तो कुछ ग्रामीण असुविधापूर्ण व्यवस्था में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सुव्यवस्था या दुर्व्यवस्था-जनित तत्र-तत्रस्थ तत् तत् सुख-दु:खों को तत्रस्थ सब व्यक्ति ''प्रारब्ध-कर्म-भण्डार'' के स्वकर्मफलानुसार ही भोग रहे हैं। अत: यह सब कर्मफल का ही चक्र है।

परन्तु ऐसा मानने से समाज में उच्छृंखलता, उद्दण्डता, दूसरों की उपेक्षा करते हुए आगे बढ़ जाने की ललक, चापलूसी के द्वारा अयोग्य होते हुए भी बड़े पद की प्राप्ति की अभिलाषा तथा एतदर्थ योग्यता के मानदण्ड पर खरा उतरने की तमन्ना में बिना पढ़े, बिना पुरुषार्थ किए ही बन्दूक की नोक पर या अन्य अवांछनीय प्रकारों से परीक्षाओं में अधिकांक छीन लेने की भावना को प्रश्रय मिलता है।

अन्तत:, वस्तुत शुभकर्म या अशुभकर्म कौन से हैं? भाग्य क्या, कहाँ तक और कितना है? पुरुषार्थ का अस्तित्व किस प्रकार किस समय है? कौन से कर्म का कौन सा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष फल है? इत्यादि का सर्वथा ज्ञान सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ परमात्मा को ही हो सकता है।

किं कर्म किमकर्मेति
कवयोऽप्यत्र मोहिता:।

पाद-टिप्पणियां

1. सांख्य दर्शन 6.41
2. योगदर्शन 2.13
3. वैशेषिक दर्शन 3.2.60
4. प्रश्न उपनिषद् 3.7
5. गीता 4.16
6. गीता 4.17
7. भारतीय दर्शन
8. योगदर्शन 4.7., व्यासभाष्य
9. सांख्य कारिका 2
10. कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। योगदर्शन 4.7
11. मनुस्मृति 1.125
12. मनुस्मृति 1.132
13. यजुर्वेद 19.77
14. अथर्ववेद 12.5.2
15. अथर्ववेद 3.30.3
16. अथर्ववेद 3.30.1
17. ऋग्वेद 10.191.2
18. ऋग्वेद 10.85.42
19. ऋग्वेद 10.34.13
20. यजुर्वेद 13.43
21. ऋग्वेद 3.36.1
22. ऋग्वेद 3.39.8
23. ऋग्वेद 7.32.18
24. ऋग्वेद 1.31.4
25. ऋग्वेद 5.82.5
26. गीता 4.17
27. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास में उद्धृत।
28. न किल्विषमत्र नाधारो अस्ति न
    यन्मित्रैः सममान एति।
    अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं
    पक्वः पुनराविशाति।। अथर्व. 12.3.48

✦✦✦

ऊर्जा मधुमती वाक्। –अथर्व. 16.2.1
मेरी वाणी बलवती और मिठासभरी हो।

मधुमतीं वाचमुदेयम्। –अथर्व. 16.2.2
मीठी वाणी बोलूँ।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (65-72) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

पर्यावरण की समस्या तथा इसका वेदोक्त समाधान

वेदाचार्य डॉ० रघुवीर वेदालंकार

पूर्व उपाचार्य, रामजस कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पर्यावरण शब्द 'परि' तथा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'वृञ् आवरणे' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है- चारों ओर का आवरण वेद के अनुसार जलवायु तथा ओषधियों ने विश्व को आवृत्त किया हुआ है।[1] आज विश्व की चिन्ता का विषय यह पर्यावरण ही है जो निरंतर दूषित होता जा रहा है। वर्तमान में पर्यावरण प्रदूषण के निम्न प्रकार हैं-

वायु प्रदूषणः प्रकृति में वायु प्रदूषण निवारण की क्षमता थी किन्तु आज मानव ने वायु मण्डल को प्रदूषित करने वाली प्रक्रियाओं में इतनी वृद्धि कर ली है कि प्रकृति उसके संशोधन में असमर्थ होने लगी है। शक्ति तथा ऊष्मा के साधन, विशालतम कारखाने, यातायात के साधन इस वायु प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं। समुद्री जहाज धुएं तथा विषैले द्रव्यों से समुद्री वातावरण को प्रदूषित कर रहे हैं। उक्त साधनों से निकलने वाले कार्बन डाई आक्साइड कार्बन मोनो आक्साइड तथा सल्फर डाई आक्साइड से लगभग तीन करोड़ विषैले पदार्थ प्रतिवर्ष वायुमण्डल में घुल जाते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार एक मोटर वाहन से वर्ष भर में 200 कि० ग्रा० कार्बन मो० ओ०, 40 कि० ग्रा० नाइट्रोजन, 200 कि० ग्रा० हाइड्रोजन वायुमण्डल में मिश्रित हो जाती है। पिछले दशाब्द में हुए परमाणु परीक्षणों से भी वायुमण्डल प्रदूषित हुआ है। इन दोनों से वातावरण में कोरे, धूल, धुएं सल्फर डाइ०, कार्बन मो० आ०, कार्बन डाई आ०, नाइट्रोजन के आ०, सीसे के कण आदि की वृद्धि वायुप्रदूषण को उत्पन्न कर रही है।

जल प्रदूषणः जल को जीवन कहा गया है किन्तु यह जल आज कितना प्रदूषित है, यह सब जानते हैं। भारत के नगरों में प्रायः पीने के पानी नदियों से लिया जाता है किंतु इन्हीं नदियों को कूड़ा-कचरा, अधजले शव, मुर्दा पशु आदि डाल कर प्रदूषित किया जा रहा है। देश का 50% मत्स्य उत्पादन भी नदियों में ही होता है। कारखानों का मल तथा विसर्जित पदार्थ भी नदियों में ही डाले जाते हैं। इससे जल में क्लोरीन की मात्रा भी बढ़ जाती है। चीनी, रासायनिक खाद्य, चमड़े, शराब आदि के कारखाने तथा शहरी जनता का प्रतिदिन नदियों में डाला जाने वाला मल जल प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं। ऋग्वेद में जलों को जीवन धारण करने वाला कहा गया है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में तो इन्हें साक्षात् अमृत ही कहा है।[3] आज यह अमृत विषाक्त हो गया।

भूमि प्रदूषणः पृथिवी पर फेंके गये

मल-मूत्र तथा नाना प्रकार की गन्दगी से वायु प्रदूषण के साथ-साथ भूमि प्रदूषण भी उत्पन्न हो रहा है। खेतों में डाली जाने वाली कीटनाशक दवाएं तथा रासायनिक खाद भूमि को निरंतर प्रदूषित कर रहे हैं प्रदूषित जल का बहाव भी इसमें प्रमुख कारण है।

ध्वनि प्रदूषणः वायुयान, यातायात के साधन रेल तथा अन्य वाहनों से उपजा शोर, टी०वी०, ध्वनिविस्तारक यन्त्र, बड़े-बड़े कारखानों तथा मशीनों का भयंकर शोर ये सभी ध्वनि प्रदूषण के घटक हैं। दिल्ली जैसे महानगर केन्द्र में शोर का माप ९५ बिन्दु है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय माप ४५ बिन्दु है। इस प्रदूषण का सबसे भयंकर प्रभाव हृदय तथा मस्तिष्क पर होता है। रक्तचाप, अशक्ति, कर्णरोग आदि रोग भी इसकी ही देन हैं।

जनसंख्या में वृद्धिः जन संख्या में वृद्धि भी पर्यावरण प्रदूषण का प्रमुख कारण है। बढ़ती जन संख्या के कारण वनों का सफाया किया जा रहा है। सिद्धांत है कि जन संख्या बढ़ेगी तो वन कटेंगे। जन संख्या कम रहेगी तो वन बढ़ेंगे जो कि पर्यावरण को शुद्ध रखेंगे।

पर्यावरण की रक्षा का वैदिक मार्गः आज जिस पर्यावरण प्रदूषण की समस्या से समस्त विश्व चिन्तित हैं, वेदों में उसका उल्लेख एवं समाधान दोनों ही प्राप्त होते हैं। पर्यावरण चाहे बाह्य हो या आन्तरिक, इसके घटकतत्त्व पञ्च महाभूत ही हैं। अग्नि, पृथ्वी, जल, आकाश तथा वायु ये पाँचों तत्त्व ही पर्यावरण के आधार हैं। ये दूषित होंगे तो पर्यावरण भी दूषित हो जायेगा। ये शुद्ध होंगे तो पर्यावरण भी शुद्ध होगा, न केवल बाह्य, अपितु आन्तरिक भी, क्योंकि मन भी भौतिक है तथा इन्हीं तत्त्वों से मिलकर बना है। ये पाँच तत्त्व ही व्यष्टि= शरीर तथा समष्टि = समस्त विश्व को नियंत्रित कर रहे हैं। इसलिए वेद में इनके शान्तियुक्त होने की बात कही गयी है। यजुर्वेद में कहा गया है कि हमारे लिए शान्तिदायक वायु बहे, सूर्य भी शान्तिप्रद रूप में तपे, बादल शान्तिदायक वर्षा करें।[4] ऐसा नहीं कि अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि से हमारा विनाश करें। ऋग्वेद कहता है कि पर्वत भी हमारे लिए शान्तिदायक हों। नदियाँ शान्तिदायक जल लाएं। ऐसा नहीं कि आज की तरह प्रदूषण युक्त हो जाएं। वेद केवल इनके शान्तियुक्त होने की ही बात नहीं करता, अपितु इसके उपाय भी बतलाता है। यजुर्वेद में कहा गया है-

हविष्मतीरिमाऽआपो
हविष्माँ आ दिवासति।
हविष्मान्देवोऽध्वरो
हविष्माँ अस्तु सूर्यः॥ यजु० ६.२३

यहाँ पर जलों तथा सूर्य के लिए हवि देने को कहा गया है। यज्ञिय हवि के द्वारा ही जल तथा वायु को शुद्ध किया जा सकता है। वही यज्ञिय हवि सूर्य को प्राप्त होती है जिससे शक्तिदायक वर्षा होती है। इसके लिए ही वेद में 'शन्नः पर्जन्योऽभिवर्षतु' कहा गया है। मनुस्मृति में इसी रहस्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः
सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टि-
र्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ मनु.अ. 3/76

अर्थात् अग्नि में डाली गयी आहुति सूर्य

को प्राप्त होती है जिससे वृष्टि होती है। जैसे ही आहुति सूर्य को प्राप्त होगी, उससे वैसे ही बादल बनेंगे, तथा वैसी ही वृष्टि होगी। यज्ञ की हवि से भावित शुद्ध वायु से बादल भी शुद्ध बनेंगे, तथा उनसे वर्षा भी शुद्ध होगी। उस वर्षा से जीवनदायिनी कृषि वनस्पति आदि भी शुद्ध होंगी।[5]

इसके विपरीत उद्योगों तथा वाहनों से उत्पन्न विषैले हुए धुएं के सम्पर्क से वायु भी विषैली बन जायेगी तथा बादल भी दूषित जल बरसायेंगे। इस प्रक्रिया के अनुसार विषैले धुएं के कारण तेजाबी वर्षा को स्वयं अपनी आँखों से देखकर आज वैज्ञानिक भी इस पर विश्वास करने लगे हैं। अमेरिका से प्रकाशित पत्रिका 'नेशनल हार्डीकलचर सोसायटी' के सम्पादक डॉ० एन० मेक्केलिप्स के अनुसार इस तेजाबी वर्षा से बचने का एक मात्र उपाय अग्निहोत्र है।

यज्ञिय आहुति जहाँ एक ओर शान्तिदायक बादलों को उत्पन्न करती है, वहाँ वातावरण में भी माधुर्य का संचार कर देती है। ऋग्वेद में सिन्धु, ओषधि, वनस्पति, पृथिवी, द्यौ आदि सभी के मधुयुक्त होने की बात कही गयी है। माधुर्य का अर्थ केवल मीठा ही नहीं, अपितु समता युक्त (Balanced) है। वही वायु मधु कहलायेगी जो न बहुत रूक्ष हो, न दाहक हो, न अधिक शीतल हो, तथा न ही झंझावात के रूप में विनाशिनी हो। इसी प्रकार नदियों के जल भी रोगोत्पादक, विषैले न होकर माधुर्य पूर्ण हो।

पर्यावरण की यह समरसता यज्ञ द्वारा ही संभव है, अन्य साधन से नहीं। भारत में 'पर्यावरण संरक्षण संघ' नासिक के अध्यक्ष प्रो० एस० सी० मूले ने 'मेडिसिना एल्टरनेरिया' द्वारा आयोजित एक विश्व सम्मेलन में अग्निहोत्र के बारे में बतलाया कि प्रदूषण के कारण सूर्य तथा पृथिवी के मध्य का वातावरण बिगड़ गया है जिसे अग्निहोत्र द्वारा ही अनुकूल बनाया जा सकता है।

ऋग्वेद में द्यावा-पृथिवी को घृत से घिरा हुआ, घृत को धारण करने वाले तथा घृत से बढ़ने वाले कहा गया है।[6] यह प्रक्रिया यज्ञ द्वारा ही संभव है कि यज्ञाग्नि में प्रदत्त घृत सूक्ष्म होकर द्यावा-पृथिवी में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। उन्हें सिञ्चित कर होता है, जिससे उनकी वृद्धि होती है। इसी सूक्त के पंचम मंत्र में द्यावा-पृथिवी को मधु से परिपूर्ण तथा मधुव्रत वाले कह कर बतलाया गया है कि द्यावा-पृथिवी तभी मधु तथा घृत से पूर्ण होते जब कि यज्ञ को धारण करेंगे।[7]

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ ही वेदों का खाद्य है अर्थात् अग्नि आदि भौतिक जड़ देवों की तृप्ति यज्ञ के द्वारा ही होती है।[8] यज्ञ न होने से जल-वायु आदि भूतों पर देवशक्तियों का नियंत्रण न रहने से ही अतिवृष्टि, अनावृष्टि-जलप्लावन आदि विपत्तियाँ प्राप्त होती हैं।[9] ये सभी जड़देव अग्नि के माध्यम से ही अपनी हवि ग्रहण करते हैं। इसी अभिप्राय से ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्नि को देवों का मुख कहा गया है।[10] प्रकृति की सभी प्राणरक्षक-प्राणदयिनी जीवन शक्तियाँ ही देव कहलाती है। यज्ञ के नष्ट होने पर इन सभी देवों का नाश हो जाता है या इनमें क्षति उत्पन्न होती है। जिससे सब कुछ नष्ट हो जाता है। न केवल जड़ देवों, अपितु चेतन प्राणियों का पालन भी यज्ञ ही करता है।[11] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ में सभी प्राणी समाविष्ट हैं अर्थात्

यज्ञ उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण रक्षक तत्त्व है।[12] यज्ञ एक प्रकार का विज्ञान है तथा इसकी सभी क्रियाएं वैज्ञानिक हैं। इसी आशय से तैतिरीय उपनिषद् में *'विज्ञानं' यज्ञं तनुते'* कहा गया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भू० भू० वैज्ञानिक डॉ० सत्यप्रकाश ने यज्ञ की सामग्री का विश्लेषण करते हुए पाया कि उसमें ऐसे तत्त्व हैं जिनसे फारमेल्डीहाइड (Formaldihyde) गैस उत्पन्न होती है। यह गैस बिना परिवर्तित हुए वायुमण्डल में फैल जाती है। कुछ अंश में कार्बन डाई ऑक्साइड भी इसी गैस में परिवर्तित हो जाती है। आप लिखते हैं- "To some extent even carbondioxide is also reduced to formaldihyde" आप आपनी पुस्तक Agnihotra के पृ० 153 पर लिखते हैं कि 1886 में ल्यू तथा फिशर (Loew and fisher) ने मालूम किया था कि फार मेल्डी हाइड गैस एक शक्तिशाली कीटाणुनाशक तत्त्व है। केम्वीयर तथा वाचेट (Cambier and Brochet) ने अनेक परीक्षणों से यह सिद्ध किया है कि इस गैस से घर के गर्दे के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। यह बात विशेष है कि इस गैस का प्रभाव तभी होता है जबकि पानी के वाष्पों की संगति इसे मिले। यज्ञ में इसी अभिप्राय से यज्ञ कुण्ड के चारों ओर मेखलाओं में पानी भरा जाता है। वैज्ञानिकों के अनुसार घी में एथिलीन ऑक्साइड, प्रपिलीन ऑक्साइड, फार्म लडीहाइड, वीटा प्रोपियो लेक्टोन तथा एसिटिलीन गैसें होती हैं। एसिटिलीन तीव्र ऊर्जा की गैस है जो दूषित वायु को अपनी ओर खींच कर शुद्ध कर देती हैं।

यज्ञ के लिए गोघृत ही सर्वोत्तम है। गोघृत में ही यह शक्ति है कि वह जल-वायु में मिले विष को तत्काल फाड़ देता है। गोघृत तथा गो दुग्ध में और ऊर्जा छिपी रहती है। गाय सूर्य से ऊर्जा लेकर इसे अपने दूध में घोल देती है। जब गोघृत को चावलों के साथ मिश्रित करके होम किया जाता है तो इससे एसिटिलीन नामक तत्त्व उत्पन्न होता है जो कि प्रदूषित वायु को अपनी ओर खींच कर शुद्ध कर देता है। यज्ञाग्नि में आहुति डालने से वायु मण्डल में मार्जन शोधन, भेदन क्रिया उत्पन्न हो जाती है। यज्ञाग्नि में प्रयुक्त द्रव्य सूक्ष्माति-सूक्ष्म होकर उत्तरोत्तर ऊपर की ओर गति करता है तथा यज्ञसमाप्ति पर तापमान की न्यूनता के कारण नीचे की ओर भी गति करता है। इस प्रकार घर्षण क्रिया होकर वायु प्रदूषक तत्त्वों का विनाश होने लगता है। इसी के लिए वेद 'शन्न वातः पवताम्' (यजु० 36.10) कहता है, तथा इस वायुमण्डल की पवित्रता के लिए *'शमुसन्तुयज्ञाः'* कहता है। यज्ञ के द्वारा पर्यावरण की शुद्धि के विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-

'जो केशर, कस्तूरी आदि सुगन्धित, घृत, दुग्ध आदि पुष्ट, गुड, शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि, बल तथा धैर्य वर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यंत उत्तमता होती है, उसी से सब जीवों को परम सुख होता है।[13] केवल यज्ञ कुण्ड में घृत सामग्री डालने का नाम ही यज्ञ नहीं है, अपितु यज्ञ तो एक जीवन शैली है। उपभोक्ता से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण का सशक्त उपाय यज्ञ ही है। न केवल बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही प्रकार के पर्यावरण का शोधन यज्ञ से होता है, अपितु यज्ञ से नाना

रोगों से मुक्ति भी मिलती है, ऐसा अनेक परीक्षणों से सिद्ध किया जा चुका है। वेद में इसी आशय से 'अयक्ष्मं च मे अनामयच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' (यजु 18/6) कहा गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि यज्ञ की हवि रोग के कीटाणुओं को उसी प्रकार बहा ले जाती है जैसे कि नदी भागों को बहा देती है।[14] इस विषय में पं० वीरसेन जी वेदश्रमी वेदविज्ञानाचार्य ने अपने निबंध 'विश्व स्वास्थ्य के लिए यज्ञ की उपयोगिता' में लिखा है 'यज्ञ के इस अद्भुत प्रभाव से हमने हृदय, वात, श्वास, उन्माद, लकवा, वाक्सामर्थ्यहीनता, रक्तचाप के रोगी, शारीरिक पीड़ा गलित कुष्ठ, कम्पवात, कैंसर, क्षय, सन्तानहीनता, अशक्ति आदि अनेक रोगों का दूर होना अनुभव किया है। फ्रांस के विज्ञान के प्रो० हिल्वर्ट के अनुसार जलती हुई शक्कर के धुएं में वायुशोधन की विलक्षण क्षमता है। उन्होंने अपने प्रयोगों में यज्ञ से क्षय आदि अनेक रोगों के कीटाणुओं को नष्ट होते पाया।

रोगों की उत्पत्ति का मुख्य कारण वायुप्रदूषण ही है। इस विषय में महर्षि दयानन्द अपने पूना प्रवचन में 'यज्ञ और संस्कार' नियम पर बोलते हुए कहते हैं–

'इन दिनों होम के न्यून होने से बारंबार वायु बिगड़ रही है, सदा विलक्षण रोग उत्पन्न हो जाते हैं।' यज्ञ का लाभ बतलाते हुए महर्षि लिखते हैं। 'होम हवन से वायु शुद्ध होकर सुवृष्टि होती है। उससे शरीर नीरोग और बुद्धि विशद होती है, विद्या प्राप्ति होती है। इसी प्रकार सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास में स्वामी जी लिखते हैं, 'अग्निहोत्र से वायु–वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना, अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास, स्पर्श, खान–पान से आरोग्य वृद्धि, बल, पराक्रम बढ़के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना।'

वेदों में पर्यावरण के घटक तत्त्वों–पृथिवी, जल तथा वायु आदि की शुद्धि पर पर्याप्त बल दिया गया है। समस्त प्राणी वायुमण्डल से प्राण, वायु–पृथिवीमण्डल से भोजन तथा जलमण्डल से जल को ग्रहण करते हैं। इन्हीं के ऊपर हमारा जीवन निर्भर है। आज ये तीनों ही मण्डल दूषित हो गये हैं। परिणाम स्वरूप पर्यावरण समस्या उत्पन्न होने से जीवन दूभर होता जा रहा है।

वेदों में इन तीनों ही मण्डलों की सुरक्षा पर पर्याप्त बल दिया गया है। वेद का ऋषि भूमि को माता मानकर चलता है,[15] तथा इसे स्योना= सुखकर बनाने की कामना करता है। जड़ होने पर भी पृथिवी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका कि हम दोहन मात्र करते जाएं तथा बदले में इसकी सुरक्षा का प्रयत्न न करें। यदि हमें पृथिवी नामक महाभूत को दोषमुक्त रखना है तो माता के समान इसकी रक्षा करनी होगी। ऋषि भूमि से प्रार्थना करते हुए कहता है कि हे भूमि मात:! मैं तुझे जिस रूप में क्षति पहुँचाऊँ, वह क्षति शीघ्र ही पूर्ण हो। यदि पुराने वृक्षों को काटा जाए तो उनके स्थान पर नये वृक्ष अवश्य लगा दिये जाएं।[16] इससे पर्यावरण समस्या उत्पन्न नहीं होगी। प्रकृति ने वन तथा वृक्ष पर्यावरण की शुद्धि के लिए ही बनाये थे। आज जन मानस स्थानाभाव के कारण तथा लकड़ी के लोभ के कारण वृक्षों एवं वनों को निर्दयता के साथ काट रहा है तो इससे पर्यावरणप्रदूषण की समस्या उत्पन्न होगी ही। ऋग्वेद में वृक्षों को न उखाड़ने का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया

गया है।

पृथिवी में अपनी एक स्वाभाविक गन्ध होती है।[17] किन्तु आज कारखानों से निकलने वाले रसायन युक्त गन्दे पानी तथा पृथिवी के ऊपर फैंकी गई गन्दगी ने उस गंध को समाप्त कर दिया। खेती में डाले गये रासायनिक खादों ने भी पृथवी के स्वरूप को बदल दिया है। यही हाल जल का है। नदियों में फेंके गये शवों, कूड़े तथा दूषित जल के मिश्रण से नदियों का वह स्वरूप नहीं रह गया जिसके लिए वेद में *'मधु क्षरन्ति सिन्धवः'* कहा था। अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से कहा गया कि शुद्ध जल ही हमारे शरीर के लिए बहे, अशुद्ध नहीं।[18] यदि हम नदियों के शुद्ध, पवित्र जल में नाना प्रकार की अशुद्धियाँ डाल रहे हैं तो यह एक प्रकार से जलों की हत्या ही है। यजुर्वेद में स्पष्ट रूप में इसका निषेध किया गया है।[19] ऋग्वेद में तो जलों के किनारे पर खड़े वृक्षों को काटने का भी निषेध किया गया है।[20] पृथिवी तथा जल तत्त्व की भाँति आज अन्तरिक्ष भी पूर्णतः दूषित है। परमाणु शस्त्रों के परीक्षण धर्मी तथा तेजाबी पदार्थ हवा में जमा होते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप वायुमण्डल दूषित होता जा रहा है। यह अन्तरिक्ष की हिंसा है। इसीलिए वेद कह रहा है- अन्तरिक्षं मा हिंसीः।

वेद के ऋषि को यह पता है कि यदि भूमि, द्यौ, अन्तरिक्ष, जल, वनस्पति आदि दूषित हो जाएंगे तो जीवन दूभर हो जायेगा। इसीलिए वेद इन सभी की शान्ति की बात करता है। सुप्रसिद्ध शान्ति मन्त्र[21] का प्रयोजन मात्र इतना ही नहीं है कि किसी क्रिया-कलाप के अन्त में इसे बोल लिया जाए। इस मंत्र में पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि उन तत्त्वों का परिगणन किया गया है जिन पर हमारा जीवन निर्भर है। पृथ्वी, जल, वनस्पति, अन्तरिक्ष, ओषधि आदि तत्त्वों की शान्ति की बात कही गयी है। इन तत्त्वों को प्रदूषण मुक्त रखना ही उनकी शान्ति है। इन्हें प्रदूषण मुक्त रखने का एक ही साधन है- यज्ञ। कदाचित् इसी अभिप्राय से ऋग्वेद में द्यौः तथा पृथिवी को 'यज्ञियासः' कहा गया है।[22]

आज वायु तथा नदियों के प्रदूषण को करोड़ों रुपया व्यय करके दूर करने के यत्न किये जा रहे हैं, तथापि ये शुद्ध नहीं हो पा रहे हैं। गंगा नदी को दूध से शुद्ध करने की चेष्टा हो रही है किन्तु यह व्यर्थ है। इनकी शुद्धि का एकमात्र साधन यज्ञ है। यज्ञ में डाली गयी आहुति अग्नि में पड़कर सूक्ष्म स्वरूप को धारण करके पृथिवी, जल, अन्तरिक्ष वायु वनस्पति, ओषधि सबको ही शुद्ध कर देती है। इसी कारण भारतीय मनीषियों ने अनेक प्रकार के यज्ञों को मानव-जीवन का अंग ही बना दिया है। इस संदर्भ में अनेक प्रकार के पाक्षिक, मासिक इत्यादि दीर्घयज्ञ तो किये ही जाते हैं इनके साथ ही दैनिक अग्निहोत्र को सभी के लिए अनिवार्य घोषित करते हुए इसे महायज्ञ की संज्ञा प्रदान की है। ऐसा इसलिए कि मनुष्य दैनिक जीवन में अपने शरीर में श्वास, पसीना, मल-मूत्र तथा अन्य शारीरिक मैल के रूप में जितनी गन्दगी उत्पन्न करता है, इसका शोधन तो उसे करना ही चाहिए। यह उसका धर्म है। दैनिक अग्निहोत्र से उसके पास का 800 वर्ग मीटर क्षेत्र शुद्ध हो जाता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति नियम से दैनिक अग्निहोत्र करने लगे तो पर्यावरण की समस्या उत्पन्न ही न हो। यहाँ पर यह भी अवधेय है कि पशु-पक्षी भी

अपने शरीरों से पर्याप्त गन्दगी उत्पन्न करते हैं किन्तु ये यज्ञ नहीं कर सकते। अतः इसका शमन भी मानव द्वारा प्रतिदिन किए जाने वाले यज्ञ से ही संभव है। इस शुद्धिकरण की प्रक्रिया यह है कि अग्निहोत्र दूषित वातावरण में पोषक तत्त्वों को उत्पन्न करता है, जिससे वायु शुद्धि के साथ-साथ ऑक्सीजन की चक्रण प्रणाली में भी संतुलन उत्पन्न होता है। सामग्री में दूध, घृत मखाने, दाख, अखरोट आदि पुष्टिकारक पदार्थ इसी उद्देश्य से डाले जाते हैं। ये पोषक तत्त्व केसर, कस्तूरी, अगर, तगर, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों के साथ मिलकर दूषित वायु को शुद्ध करते हैं। यज्ञिय अग्नि में ही अपना सामर्थ्य है कि वह दूषित वायु को उस स्थान से बिल्कुल नष्ट करके वहाँ के वातावरण को शुद्ध कर दे। इस अग्निहोत्र के द्वारा ही ऑक्सीजन की चक्रण प्रणाली में संतुलन उत्पन्न किया जाता है।

पर्यावरण की समस्या पर विचार करते हुए मानव की प्रकृति पर भी विचार करना होगा जिसके कारण यह समस्या उत्पन्न हुई है। आज मानव ने अपने स्वार्थवश भूमि, जल, वन, पर्वत, नदी आदि प्राकृतिक पदार्थों का दोहन प्रारंभ कर दिया है। इतना ही नहीं, अपितु अपने आपको सर्वश्रेष्ठ प्राणी घोषित करते हुए वह न केवल प्रकृति अपितु पशु-पक्षियों को भी अपने उपयोग की वस्तु समझता है। यह धारण सर्वथा अवैदिक है। प्राचीनकाल में ऋषियों ने प्रकृति अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों के साथ तादात्म्य बनाया हुआ था। प्रकृति का मानवीकरण किया हुआ था। जड़ होते हुए भी उनमें चेतन प्राणी के समान आदर बुद्धि स्थापित की थी। रात्रि में वृक्ष सोते हैं, अतः इन्हें काटना नहीं चाहिए जन-जन में फैली यह धारणा प्रकृति के मानवीकरण का ही परिणाम है। अथर्ववेद में *'वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय'* कह कर वनस्पति से लोकजीवन को उन्नत बनाने की प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद के *'अरण्यानी सूक्त'* में वन की महत्ता का विशद् चित्रण किया गया है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में हरे-भरे वनों एवं पर्वतों से आच्छादिन पृथिवी की कामना की गई है।[23] यहीं पर यह भी कहा गया है कि भूमि पर वृक्ष तथा वनस्पतियाँ स्थायी रूप में खड़े रहे।[24] इन्हें कोई नष्ट न करने पाए। यजुर्वेद में औषधियों के मूल को नष्ट न करने की कामना की गयी है। वहीं पर जलों के उद्गम स्थानों को नष्ट न करने की बात भी कही है।[26] अथर्व० 5.4.22 में पीपल को *'देवानाम् सदनमसि'* कहकर उसमें देवों का वास बतलाया गया है। सम्भवतः यही कारण है कि लोक में पीपल की पूजा की जाती है। जंगल-जलेबी के वृक्ष में तेजाबी वर्षा से मुक्ति दिलाने की क्षमता है क्योंकि यह वृक्ष वर्षा के मुख्य घटक सल्पर डाई आक्साइड की सान्द्रता को 80% तक सोख लेता है। इसी प्रकार चीड़ का वृक्ष मिट्टी से वैरीलियम धातु को तथा सेम व मटर के पौधे भूमि से 'मालिन्डिनम' जैसी भारी धातुओं के प्रदूषण से भूमि को मुक्त करते हैं।[27] इस प्रकार वन सम्पदा से जहाँ हमें फलों, लकड़ियों तथा औषधियों की प्राप्ति होती है वहाँ वन पर्यावरणरक्षा का भी सशक्त एवं अपरिहार्य साधन हैं। वेद में इसी दृष्टि से 'वनानां पतये नमः' तथा 'नमो वृक्षेभ्यो' कहकर उनके रक्षकों को आदर दिया गया है।

पाद-टिप्पणियां

1. आपो वाता ओषधयः तान्येकस्मिन् भुवने अर्पितानि। अथर्व० 18/1/17
2. जीवधान्या इमा आपः। ऋ० 1/80/4
3. अमृतं वा एतस्मिन् लोके यदापः। ऐ० ब्रा०
4. शन्नो वातः पवतां शन्नस्तपतु सूर्यः।
   शन्न कतिक्रद्देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु।।
   यजु० ३६.१०
5. शन्नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शन्नः सिन्धवः शमु शन्त्वापः (ऋ० ७.३६.८)
6. घृतेन द्यावापृथिवी अभीवृते घृताश्रिया घृतपृचा घृतवृधा। ऋ० 6.70.4
7. मधु नो द्यावा पृथिवी मिमिक्षतां मधुश्चुता मधुदधे मधुव्रते दधाने यज्ञं द्रविणं च देवता महिश्रवो वाजमस्मे सुवीर्यम्।। ऋ० 6.70.5
8. प्रजापतिर्देवानब्रवीत् यज्ञो वोऽन्नम्। यज्ञः उ देवानामन्नमभूत्।
9. यज्ञे नष्टे देवनाशः ततः सर्वं प्रणश्यति (वा० पु० 60.5)
10. अग्निर्वै देवानां मुखम्।
11. यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति (शत० 9, 4, 1, 11)
12. यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि (शत० 8, 7, 2, 21)
13. दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका,
14. इदं हविर्यातुधानान् नदीफेनमिवावहत् (अथर्व० 1.8.1)
15. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्व० 12.1.12)
16. यत्ते भूमि विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु (अथर्व० 12.1.35)
17. यस्ते गन्ध पृथिवी संबभूव० (अथर्व० 12.1.23)
18. शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु (अ० 12.1.30)
19. मा अपो हिंसीः। 6.22
20. यदर्णसं मोषधा वृक्षं कपनेव वेधसः। ऋ० 5.54.6
21. द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिरापः शन्तिरोषधयः-शान्तिः।
22. द्यौश्च त्वा पृथिवी यज्ञियासो०। ऋ० 3.6.3
23. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु (अथर्व० 12.1.11)
24. यस्यां वृक्षा वनस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा (वही 12.1.27)
25. पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम् (यजु० 1.25)
26. माऽपो मौषधीर्हिसीर्धाम्नो० (यजु० 6.22)
27. 'योजना' मासिक, जून 1995 पृ० 28

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (73-77) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेद में मनोविज्ञान

डॉ० वेद कुमारी घई
राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

आधुनिक चिकित्साविज्ञान ने मानव शरीर के विविध भागों का ज्ञान प्राप्त करने में अद्भुत सफलता प्राप्त कर ली है। आज शल्यचिकित्सा द्वारा अङ्गों का प्रत्यारोपण साधारण बात हो गई है। रक्तसंचारप्रणाली, श्वसनप्रणाली, पाचनप्रणाली, नाडीसंस्थान की संरचना, इन सबकी जानकारी उपलब्ध है। मस्तिष्क की बनावट तथा उसके विभिन्न भागों के कुछ कार्यों का विवरण भी अब प्राप्त है। चोट आदि लगने से किसी एक भाग के प्रभावित होने पर उस भाग की वह विशेष शक्ति समाप्त हो जाती है। मस्तिष्क के भीतर 86 बिलियन कोशिकायें हैं जिनमें प्रत्येक कोशिका की दस हजार उपकोशिकायें हैं। यह सब जान लेने के बाद भी वैज्ञानिकों के लिए यह प्रश्न चुनौती बना हुआ है कि मनुष्य की स्वेच्छा का स्रोत क्या है? मनुष्य की इच्छाशक्ति और निर्णयशक्ति का परस्पर सम्बन्ध क्या है? यह जानना रुचिकर है कि भारत के वैदिक ऋषियों का इस विषय में क्या मत रहा है?

यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के प्रथम छः मन्त्रों का विषय मन है। मन की ऐसी सुंदर व्याख्या तथा ऐसा सटीक विश्लेषणात्मक विवरण शायद ही विश्व के किसी प्राचीन ग्रन्थ में मिलता हो। अनेक विशेषणों और प्रतीकों की सहायता से ये मन्त्र मन की व्याख्या भी करते हैं और मानव जीवन में उस के महत्त्व का प्रतिपादन भी करते हैं। इन मन्त्रों का ऋषि शिवसंकल्प है और प्रत्येक मन्त्र में मन के शिवसंकल्पयुक्त होने के लिए प्रार्थना की गई है। छठे मंत्र में मन के अधिष्ठान, उसके स्वरूप तथा उसकी गति को इस प्रकार बताया है--

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्ने-
नीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

जिस प्रकार एक अच्छा सारथि रथ के घोड़ों को रश्मियों द्वारा नियंत्रण में रखते हुए अभीष्ट स्थान तक पहुँचाता है, उसी प्रकार हृदय में स्थित (हृत्प्रतिष्ठ), कभी जीर्ण न होने वाला (अजिरं), सबसे अधिक तेज गति वाला (जविष्ठं) मन मनुष्यों को मंजिल तक पहुँचाता है। यहाँ हृत्प्रतिष्ठं से तात्पर्य मस्तिष्क में स्थित होने से है। मन के जो अन्य विशेषण प्रज्ञान, चेतस्, धृति, अन्तर्ज्योति तृतीय मंत्र में दिये गये हैं उनसे यही प्रकट होता है। अमरकोश में चित्त, चेतस्, हृदय, स्वान्त, हृत्, मानस और मन इनको पर्याय बताया है।

चरक संहिता में हृदय का वर्णन करते हुए कहा है- पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्। जाग्रतस्तद् विकसति स्वपतश्च निमीलति। रक्तप्रक्षेपक हृदय तो सोते हुए का भी उसी प्रकार कार्य करता रहता है जैसे जागते हुए का अतः वहाँ भी हृदय से तात्पर्य मस्तिष्क में स्थित तत्त्व से है। कठोपनिषद् में रथ और सारथि के प्रतीक द्वारा मन और बुद्धि के निकट संबंध को इस प्रकार प्रकट किया है- आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। (कठ 3. 37) यहाँ शरीर को रथ, आत्मा को रथ का स्वामी, बुद्धि को सारथि और मन को रश्मियाँ कहा है। जैसे सारथि रश्मियों के बिना घोड़ों को नियंत्रण में नहीं रख सकता, उसी प्रकार बुद्धि मन की सहायता के बिना ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से काम नहीं ले सकती। दार्शनिक ग्रन्थों में अन्तःकरणचतुष्ट्य की चर्चा है जिसमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की गणना की गई है। प्रश्न उठता है कि क्या ये चारों तत्त्व अलग अलग हैं या परस्पर सम्बद्ध हैं? प्रतीत यही होता है कि इनका एक दूसरे से इतना निकट संबंध है कि इन्हें एक तत्त्व की भिन्न-भिन्न चार स्थितियाँ कह सकते हैं। मननात्मक स्थिति या संकल्प विकल्प करने की स्थिति मन है। बृहदारण्यकोपनिषद् 2. 14.11 में कहा है, सर्वेषां संकल्पानां मन एवायनम्। विवेचन कर के निर्णय लेने की स्थिति बुद्धि है। वह स्थिति जिसमें संस्कार एकत्रित होते रहते हैं तथा समय-समय पर प्रकट होते हैं चित्त है। अहंकार स्व की प्रमुखता की स्थिति है।

जागृत अवस्था में मनुष्य सभी कार्यों को ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के माध्यम से करते हैं। किसी भी वस्तु को जानने का कार्य ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से होता है। कोई वस्तु ठंडी है या गर्म यह ज्ञान स्पर्शेन्द्रिय की सहायता से होता है, वह गन्धरहित है या सुगन्धित है या दुर्गन्धयुक्त है इसका पता घ्राणेन्द्रिय की सहायता से चलता है, वह किस रंग की है, उसका आकार कैसा है, यह जानने का कार्य दर्शनेन्द्रिय के सहयोग से सम्पन्न होता है। कोई ध्वनि कटु है या मधुर, उच्च है या निम्न, तीव्र है या मन्द यह जानने का कार्य श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम से किया जाता है। परन्तु यह सब जानना तभी हो पाता है जब मन उस विशेष ज्ञानेन्द्रिय से जुड़ता है। बातचीत करते हुए हम कई बार वक्ता को कहते हैं कि क्षमा करें मैं आपकी बात को सुन नहीं पाया क्योंकि मन कहीं और चला गया था। इसी प्रकार मन के कर्मेन्द्रियों के साथ जुड़ने से बोलना, चलना, पकड़ना आदि कर्म किये जाते हैं। उदाहरणार्थ बोलने की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए संस्कृत के प्राचीन वैयाकरण पाणिनि पाणिनिशिक्षा में कहते हैं-

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति सः प्रेरयति मारुतम्।।आदि। अर्थात् आत्मा बुद्धि से वस्तुओं को इकट्ठा करके मन को बोलने की इच्छा से युक्त करता है। मन शरीर के भीतर स्थित अग्नि को धकेलता है, वह ऊर्जा या अग्नि प्रश्वास को प्रेरित करता है। वही प्रश्वास कण्ठ के रास्ते मुख में आकर विभिन्न ध्वनियों का रूप धारण करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्मा और इन्द्रियों के बीच मन ही मध्यस्थ है जो आत्मा के आदेश के अनुसार इन्द्रियों से कार्य कराता है। यदि मन कुशल

सारथि है तो वह इन्द्रियरूपी घोड़ों के स्वास्थ्य का भी पूरा ध्यान रखता है और उन्हें नियंत्रित रखते हुए ठीक मार्ग पर ले जाता है। इस मंत्र में मन के लिए दो अन्य विशेषण **अजिरं** तथा **जविष्ठं** प्रयुक्त हुए हैं। मन कभी जीर्ण नहीं होता। शरीर के जीर्ण हो जाने पर भी उसकी इच्छाएं, तृष्णाएं वैसी की वैसी बनी रहती हैं। वह **जविष्ठं** अर्थात् सबसे अधिक तीव्र गति वाला है। एक क्षण में लाखों मीलों की यात्रा कर लेता है। इस अध्याय के प्रथम मंत्र में मन के लिए जविष्ठ के स्थान पर दूरङ्गम विशेषण का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि यह जागृत अवस्था में भी और सुप्तावस्था में भी दूर-दूर तक चला जाता है। प्रकाश की गति ही वैज्ञानिकों के अनुसार सब से तेज मानी गई है पर सब ज्योतियों की भी ज्योति इस जविष्ठ मन की गति तो गणित की परिधि से परे है। -- यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अठावनवें सूक्त में इस दूरङ्गम मन की यात्राओं का वर्णन किया गया है कि यह कभी पृथ्वी पर, कभी द्युलोक पर, कभी चारों दिशाओं में समुद्रों, पर्वतों, उषा, सूर्य, जलों, औषधियों, पूरे जगत् में, काल के विभिन्न खण्डों में दूर दूर घूमता है। इसे बार-बार वापिस ला कर एक लक्ष्यबिन्दु पर केन्द्रित करने से ही जीवन में सफलता मिलती है, अन्यथा केवल भटकन है।

द्वितीय मंत्र में मन को प्रजाओं (इन्द्रियों) के भीतर रहने वाले अद्भुत यक्ष (यजमान) कहा है जिसकी सहायता से ही धीर कर्मशील मनीषी यज्ञ में तथा अन्यत्र सभाओं समितियों में कार्य करते हैं। भाव यह है कि सभी सामाजिक कार्य तभी सम्पन्न होते हैं जब कार्यकर्ताओं के मन शिवसंकल्प से युक्त हों-

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

तृतीय मंत्र में मन को इन्द्रियों के भीतर की ऐसी अमृत ज्योति बताया गया है जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता। इस मंत्र में मन के लिए प्रज्ञानं, चेतस् और धृतिः इन तीन विशेषणों का प्रयोग किया गया है। जब मन ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से किसी वस्तु के बारे में ज्ञान प्राप्त कर आत्मा को पहुँचाता है जैसे कि यह पुष्प पीला है, सुगन्धियुक्त है, छूने में कोमल है आदि आदि तो वह मन का प्रज्ञान रूप है। उस पुष्प के विषय में संस्कार मन में बैठ जाने पर, उसके सामने न होने पर भी जब उसका स्मरण करते ही उसके सब रंग रूप गुण सभी का स्मरण हो आता है तो वह मन का चेतस् रूप है। जब सोते हुए सूक्ष्म इन्द्रियों से उसी पुष्प को देखने, सूँघने तथा छूने का अनुभव होता है तो वह मन का धृति रूप है। कई बार ऐसा होता है कि किसी जटिल प्रश्न का समाधान खोजने का भरसक प्रयास करने पर भी हमें समाधान नहीं सूझता परंतु प्रगाढ़ निद्रा में सोते हुए समाधान मिल जाता है। तब स्थूल इन्द्रियां तो शिथिल हो गई होती हैं। सब बाह्य क्रियाएँ बंद होती हैं। तब धृति मन कई बार मनन के समाधान प्रस्तुत कर देता है। उस धृति मन ने न जाने कितने जन्म जन्मान्तरों के संस्कार संभाल कर रखे होते हैं जो अचानक ही आवश्यकता होने पर अतिथि के रूप में

आकर समस्या का समाधान सुझा देते हैं। मन के दो अन्य विशेषण हैं अमृत और अन्तर्ज्योति। मनुष्य का शरीर तो मरणशील है परन्तु मन अमृत है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने अपने अलौकिक स्वरूप को मन के रूप में मनुष्य में प्रतिष्ठित किया है। अपूर्वा प्रजापतेस्तनूविशेषस्तन्मनः (ऐतरेय ब्राह्मण 5. 25) मन पर पड़े संस्कार जन्मान्तर में साथ जाते हैं और मन गहन अंधकार में डूबे हुए उन भूले बिसरे संस्कारों को भी जागृत कर देता है। मन अन्तर्ज्योति है–

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

चतुर्थ मन्त्र में कहा है कि भूतकाल, भविष्यत् काल और वर्तमान काल तीनों इस अमृत मन की मुट्ठी में हैं। यह यजमान वर्तमान में जीवनयज्ञ कर रहा है जिसके सात होता हैं। ये होता हैं– सुनने के लिए श्रवणेन्द्रिय, देखने के लिए दर्शनेन्द्रिय, सूंघने के लिए घ्राणेन्द्रिय, चखने के लिए रसनेन्द्रिय, छूने के लिए स्पर्शेन्द्रिय, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चित्त तथा बुद्धि। यह जीवनयज्ञ करते हुए मन अतीत के संस्कारों का भी प्रयोग कर रहा है तथा भविष्य के लिए संस्कार भी संचित कर रहा है। इसीलिए कहा है कि भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों को मन ने पकड़ रखा है।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

इस मंत्र का भाव यह भी है कि मन के माध्यम से जो कर्म मनुष्य ने भूतकाल में किये उन्हीं से उसका अच्छा या बुरा अतीत बना और उस अतीत ने कुछ न कुछ वर्तमान को भी प्रभावित किया है। वर्तमान में वह मन के शिव या अशिव संकल्पों से युक्त होने पर जैसे कर्म कर रहा है उन्हीं से उसके वर्तमान और भविष्य का निर्माण हो रहा है।

पञ्चम मंत्र में मन को ज्ञान का अधिष्ठान कहा है। ऋक्, साम, यजु सब वेदज्ञान इसी मन के भीतर ऐसे स्थित है जैसे रथ की नाभि में अरें जुड़ी होती हैं। इसी मन में समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) का चित्त पिरोया हुआ है अर्थात् सभी इन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न किये गये कर्मों के संस्कारों को इसी चित्तरूप मन ने संभाल रखा है।

सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के कम या अधिक अनुपात के कारण चित्त रूप मन की पाँच प्रकार की वृत्तियाँ क्लिष्ट (क्लेश देने वाली) और अक्लिष्ट (क्लेश न देने वाली) दोनों तरह की होती हैं। (पातञ्जल योगसूत्र 1.5 वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाक्लिष्टाः) चित्तवृत्तियों के पाँच प्रकार हैं– प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति (वही 1.6)। इन सब वृत्तियों के निरोध को ही योग कहा गया है (वही 1.1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) जो अभ्यास और वैराग्य से सम्भव होता है (वही 1.12 अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः)। ऋग्वेद 5.81. 1 और यजुर्वेद 11.4 में कहा है कि उस महान्, सर्वज्ञ, सब कर्मों के ज्ञाता प्रभु से जुड़ने के लिए ज्ञानी लोग मन और बुद्धि को योग में लगाते हैं।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य, बृहतो विपश्चितः।

वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

इस प्रकार वेद में ईश्वर प्राप्ति के लिए भी मन के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है तथा इस संसार में सुखपूर्वक और शान्तिपूर्वक जीवन बिताने के लिए भी (ऋग्वेद 10.58 इह क्षयाय जीवसे) मन के महत्त्व का निर्देश किया गया है। यजुर्वेद के उपर्युक्त छः मंत्रों में बार-बार मन के शिव संकल्पों से युक्त होने की प्रार्थना की गई है। मन में तो नाना प्रकार के विकल्प उदित होते ही रहते हें जो मन की शक्ति को क्षीण करते हैं। यदि उन्हें हटा कर बार-बार मन को किसी कल्याणकारी संकल्प में प्रवृत्त किया जाता है तो केन्द्रित हुए मन की शक्ति आश्चर्यजनक रूप से कई गुणा बढ़ जाती है और उस कार्य की सिद्धि में सहायक होती है। सूर्यकिरणों के सर्वत्र बिखेर होने पर हमें उनके अधिक ताप की अनुभूति नहीं होती पर जब वे किसी स्फटिक पर केन्द्रित होती हैं तो अग्नि प्रकट हो जाती है। सौर ऊर्जा के उत्पादन में वैज्ञानिक सूर्यकिरणों को केन्द्रित करने की पद्धति का ही प्रयोग करते हैं। मन तो ज्योतियों की ज्योति है उस की विचार रूपी किरणों को केन्द्रित करके अद्भुत शक्ति प्राप्त की जा सकती है। विश्व के महान् वैज्ञानिकों ने बड़े-बड़े आविष्कार मन की एकाग्रता की शक्ति से ही किये हें। मन की इस शक्ति का प्रयोग विकास के कार्यों के लिए भी हो सकता है और विनाश के लिए भी। विश्व के महायुद्धों की योजनायें सर्वप्रथम राष्ट्रनायकों के मन में ही बनती हैं फिर विनाशप्रक्रिया प्रारंभ होती है। संयुक्तराष्ट्रसंघ ने भी इस बात को स्वीकारते हुए विश्व शान्ति के बीज लोगों के मनों में बोने की आवश्यकता समझी है। मन की यह शक्ति व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए हो, विनाश के लिए नहीं इसीलिए मन का शिव संकल्पों से युक्त होना आवश्यक है। विकल्प और संकल्प में वैसा ही अन्तर है जैसा व्याधि और समाधि में। व्याधि हमें मृत्यु की ओर धकेलती है तो समाधि अमृत तक पहुँचाती है। शिवसंकल्प-युक्त मन ही वह कल्पवृक्ष है जिसकी छाया में बैठकर मानव जाति सब सुख प्राप्त कर सकती है। यदि अशिवसंकल्पयुक्त मन हो तो विनाश का द्वार ही खुलता है। इस प्रकार वेदोक्त शिवसंकल्प युक्त मन की प्रासंगिकता आज के युग में सबसे अधिक महसूस की जा रही है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (78-89) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक साहित्य में प्रतिपादित नैतिक आचार की प्रासंगिकता

डॉ० (श्रीमती) कृष्णा आचार्या, प्रोफेसर
संस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द वि.वि., रोहतक

[सारांश- वैदिक चिन्तन परम्परा के अनुसार मनुष्य का उद्देश्य है- सब प्रकार के दु:खों से मुक्त होकर आनन्द की चरमावस्था को प्राप्त करना। बिना ज्ञान के दु:खों से मुक्ति असम्भव है ''**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**''। वही ज्ञान सुख शान्ति और आनन्द के सोपान की और अग्रसर कर सकता है जिस ज्ञान की परिणति नैतिक आचार में होती है। आचरण रहित ज्ञान सूचना देने का काम तो कर सकता है परन्तु उसकी भूमिका, व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्रिय जीवन के सुखद भविष्य के निर्माण में वन्ध्यापुत्र के समान निष्फल ही रहती है।

व्यक्ति का व्यक्तिगत आचरण ही सामाजिक जीवन में परिलक्षित होता है। यह धारणा अनुचित है कि सामाजिक/राजनीतिक व्यक्ति की दुर्बलताओं की चर्चा उसके सामाजिक/राजनीतिक जीवन के साथ नहीं करनी चाहिए। आचार शब्द धर्म, कर्त्तव्य कर्म और नीति को अपने पर्यायरूप में लिये हुये है। ऋग्वेद में नैतिक आचार के रूप में सात मर्यादायें निर्धारित की हैं- (1) चोरी न करना, (2) परस्त्री गमन न करना, (3) विद्वान् की हत्या न करना, (4) भ्रूण हत्या न करना, (5) शराब आदि मादक पदार्थों का सेवन न करना, (6) पापकर्म की आवृत्ति न करना और (7) झूठ न बोलना। इन मर्यादाओं का जितना महत्त्व वैदिककाल में था सम्प्रति भी ये उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन मर्यादाओं का पालन न करने के कारण अनेक प्रकार की पारिवारिक और सामाजिक समस्यायें सबको विचलित कर रही हैं। उदाहरणार्थ भ्रूण हत्या से लिङ्गानुपात की विषमता सम्पूर्ण समाज के आधार की जड़ें हिला रही है।

वैदिक साहित्य में चर्चित नैतिक आचारदर्शन के सिद्धान्तों को छः भागों में विभाजित किया जा सकता है- (1) वैयक्तिक आचार, (2) पारिवारिक आचार, (3) सामाजिक आचार, (4) शैक्षणिक आचार, (5) धार्मिक आचार और (6) राजनीतिक आचार। ये सब पृथक्-पृथक् होते हुये भी एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति का आचरण अथवा नैतिकता ही शेष पांचों में परिलक्षित होती है। अतः प्राधान्येन वैयक्तिक-नैतिक आचार के वैदिक साहित्य में प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही प्रस्तुत शोधपत्र में विवेचन किया गया है।]

वैदिक चिन्तन का फलितार्थ है

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दु:खों की निवृत्ति। सब प्रकार के दु:खों की निवृत्ति के लिये जो उपाय बताये गये हैं। वे हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, दान और परस्पर का सामंजस्य आदि। यह सब नैतिक और आचारिक साधना से साधित जीवनचर्या के अनिवार्य अंग हैं। वैदिक चिन्तन ज्ञान की परिणति आचार में स्वीकार करता है। आचरण रहित ज्ञान सूचना देने का काम तो कर सकता है; परन्तु उसकी भूमिका व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्रिय जीवन के सुखद निर्माण में आकाश पुष्प के समान ही रहेगी। अत: कहा गया है कि **''आचारहीनं न पुनन्ति वेदा:''** अर्थात् आचारहीन व्यक्ति को तो वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।[1] इसीलिये मनु ने आचार को परमधर्म कहा है।[2]

इस प्रकार आचार दर्शन का उद्देश्य है आत्म नियंत्रण व्यष्टि से समष्टि तक सामंजस्य स्थापित करना जिससे आत्मिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिय सुव्यवस्था स्थापित हो तथा सब सुख शान्ति का अनुभव करें।[3] पारिवारिक जीवन में यदि पति-पत्नी और सन्तान अपने आचरण से विमुख हो जायें तो वह परिवार बिखर जायेगा और सामाजिक जीवन में नैतिक आचार को तिलांजलि दे दी जाये तो परस्पर अविश्वास की भावना से कोई कार्य सम्पन्न ही नहीं होगा। इसकी कुछ झलक सम्प्रति परिवार और समाज में परिलक्षित हो रही है। जिससे सब त्रस्त हैं। येन केन प्रकारेण छल प्रपंच द्वारा पद और धन प्राप्त करने वालों की प्रतिष्ठा हो रही है। निर्धन सदाचारी उपहास के पात्र बन गये हैं। भ्रष्टाचार शिष्टाचार बनता जा रहा है। नैतिक मूल्यों के ह्रास का दुष्प्रभाव धार्मिक, पारिवारिक, सामाजिक, शैक्षिक और राष्ट्रिय सामंजस्य की जड़ें हिला रहा है। ऐसी स्थिति में वैदिक साहित्य में प्रतिपादित नैतिक आचार दर्शन पर विचार करना न केवल बौद्धिक विलास मात्र है अपितु सामयिक आवश्यकता है। सम्प्रति तथाकथित बुद्धिजीवी यह तर्क स्थापित करने में संलग्न हैं कि सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन दो अलग-अलग दिशायें हैं। इसलिये व्यक्तिगत जीवन की दुर्बलताओं की चर्चा उसके सामाजिक जीवन के साथ नहीं करनी चाहिये। क्या यह चिन्तन उचित है? अपवित्र कलुषित और अनैतिक आचरण वाला व्यक्ति क्या सामाजिक जीवन में पवित्र रह पायेगा? यह प्रवृत्ति न तो व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन के लिये शुभ है और न सामाजिक जीवन के लिये। क्योंकि व्यक्तिगत जीवन और उसके संस्कारों के प्रभाव से सामाजिक जीवन अछूता नहीं रह सकता। कुछ समय के लिये वह अपने कुसंस्कारों और कुविचारों को छिपाकर आदर्शवादी जीवन का अभिनय तो कर सकता है, परन्तु उनको बदल नहीं सकता। अन्ततोगत्वा उसके कुसंस्कारों का दुष्प्रभाव उसके सामाजिक जीवन में परिलक्षित होगा ही। इसके अनेक उदाहरण इतिहास प्रसिद्ध हैं और सम्प्रति न्यायालयों में चल रहे अभियोग इसके साक्षी हैं। अत: वैदिक चिन्तन का सार यह है कि व्यक्ति जो अन्दर है वही बाहर हो। इसीलिये वैदिक साहित्य में बारम्बार, सत्य, अहिंसा, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय आदि नैतिक आचार को अपनाने पर बल दिया गया है।

मनुष्य की चारित्रिक विशिष्टताओं को

'आचार' कहा जाता है।[4] जो उसकी ऐच्छिक क्रियाओं का परिणाम होता है। आचार शब्द के पर्यायवाची रूप में धर्म, कर्त्तव्य कर्म और नीति को भी लिया जा सकता है। ये तीनों शब्द पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक ही लक्ष्य को लक्षित करते हैं। जिनका उद्देश्य चारित्रिक गुणों के विकास द्वारा मानव को सब प्रकार से सुखी बनाकर मोक्ष प्राप्त कराना है। वैशेषिक दर्शन में ''धर्म''[5] का उद्देश्य प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि- **''यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः''** अर्थात् जिससे इस लोक और परलोक दोनों में सफलता मिले वही धर्म है। मनुस्मृति में प्रतिपादित धर्म के दस लक्षणों में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए आवश्यक कर्त्तव्यों का निर्देश- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध के रूप में किया है।[6]

इस प्रकार भारतीय मनीषियों ने धर्म को किसी मत या सम्प्रदाय के लिए प्रयुक्त न करके व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है। धर्म व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक चारित्रिक गुणों का नाम है। इस शब्द के अन्तर्गत मानव मात्र के उन सभी कर्त्तव्य कर्मों का समावेश हो जाता है जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्ट्य को प्राप्त करने में सहायक हैं।

''नीति'' शब्द भी धर्म का ही वाचक है।[7] नैतिकता से रहित धर्म आचार की श्रेणी में नहीं आ सकता। इस प्रकार धर्म, कर्त्तव्य कर्म और नीति का समन्वित अर्थ आचार दर्शन को परिभाषित करता है। वैदिक साहित्य में चर्चित आचार दर्शन को निम्नलिखित छः भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. वैयक्तिक आचार
2. पारिवारिक आचार
3. सामाजिक आचार
4. शैक्षणिक आचार
5. धार्मिक आचार
6. राजनीतिक आचार

ये सब पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक-दूसरे के पूरक हैं। इनमें व्यक्ति का आचरण ही शेष पाँचों में परिलक्षित होता है। अतः प्राधान्येन, वैयक्तिक आचार का ही प्रस्तुत शोधपत्र में विवेचन किया गया है।

इसके अन्तर्गत व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक आचार सिद्धांतों का परिगणन किया जा सकता है- यथा ऋत एवं सत्य, तप, श्रद्धा, अहिंसा, अद्रोह, वाक्संयम, पुण्य आचरण, पाप-क्षय, शिव संकल्प युक्त मन, ब्रह्मवर्चस् एवं तेज की कामना, यश प्राप्ति, विवेकशीलता, पुरुषार्थ और जीवन की पवित्रता।

वैदिक चिन्तन परंपरा में नैतिक आचार पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। इसी कारण षोडश संस्कारों की परम्परा का प्रचलन हुआ। संस्कारों का उद्देश्य जन्म लेने वाले जीव को उन उन उत्तम मानवीय चारित्रिक गुणों से युक्त करने का प्रयास है जिनके कारण वह मानव कहलाने का अधिकार प्राप्त करता है। इसीलिए ऋग्वेद **''मनुर्भव''** के माध्यम से उन गुणों की ओर संकेत कर रहा है जो मनुष्य के व्यक्तित्व विकास में सहायक हैं।[8] महर्षि याज्ञवल्क्य **''मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद''** के माध्यम से

यही संदेश दे रहे हैं कि उत्पन्न होने वाले बालक का पहला गुरु माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य है।[9] ये तीनों बालक के कुसंस्कारों और अनैतिक आचारण को दूर करके उसे सुसंस्कारों और नैतिकता के गुणों से युक्त करते हैं। अतः ये तीनों ही बालक के लिए देव तुल्य हैं।[10]

यजुर्वेद में निर्देश है कि जब बालक आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए जाये तब सबसे पहले आचार्य उसके चारित्रिक दोषों को दूर करने के लिए संकल्प ले कि ''**चरित्राँस्ते शुन्धामि**''[11] अर्थात् मैं तेरे सभी चारित्रिक दोषों को दूर करने का संकल्प लेता हूँ। इसके लिए आचार्य बालक के वाणी के दोषों को, प्राणों के दोषों को, आँखों के दोषों को एवं कानों आदि सभी अंगों के दोषों को दूर करने का प्रयास करता है।

वेद के अनुसार दोषों को, पापाचरण को दूर करने का यह उपक्रम बाल्यकाल से लेकर यावज्जीवन चलता रहता है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता है और संसार के कार्यक्षेत्र में कदम रखता है वैसे-वैसे वह पापाचरण से दूर रहने का प्रयास करता है। इसी कारण मंत्रों में अनेक बार पाप कर्मों से दूर रहने की प्रार्थना की गयी है। नैतिक आचार का अभिप्राय भी यही है कि व्यक्ति पापाचरण से दूर रहे और सदाचार पर चले।[12]

अहिंसा

हिंसा का अभाव अहिंसा शब्द व्यक्त करता है। हिंसा शब्द की निष्पत्ति चुरादिगणस्थ ''**हिसि हिंसायाम्**''[13] धातु से ''नुम्[14] और ''टाप्''[15] प्रत्ययों के योग से होती है। 'नञ्' उपसर्ग के संयोग से 'अहिंसा' शब्द निष्पन्न होता है।

कोषकारों ने हिंसा शब्द का प्रयोग निम्नलिखित बहुत व्यापक अर्थों में किया है यथा- हत्या, वध, किसी प्रकार का कष्ट देना, विध्वंस करना, हानि पहुँचना, चोट मारना, ईर्ष्या करना, द्वेष करना[10] आदि। वेद के अनुसार निष्प्रयोजन प्राकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग भी हिंसा की श्रेणी में आता है। यथा- औषधियों के मूल को नष्ट करना हिंसा है। इसलिये कहा गया है ''औषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्''[17] ''मापो मौषधीर्हिंसीः''[18] पृथ्वी मा हिंसी[19] अन्तरक्षिं मा हिंसीः[20] दिवं मा हिंसीः[21] मा हिंसी स्वा योनिमाविशन्तीम्[22]।

योगदर्शन के अनुसार ''सर्वथा, सर्वदा सब प्राणियों में अनभिद्रोह अहिंसा है; इसके विपरीत सब हिंसा है।''[23] उदयवीर शास्त्री ने योगदर्शन के भाष्य में अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया, आदि का उभरना भी हिंसा है।[24]

जैन दर्शन में बाह्य एवं आभ्यन्तर दो प्रकार की हिंसा मानी गयी है। प्राणों का हनन बाह्य हिंसा के अन्तर्गत आता है। दार्शनिक शब्दावली में इसे द्रव्य हिंसा कहा जाता है। दूसरी आभ्यन्तर हिंसा है जिसे जैन दर्शन में भाव हिंसा कहा जाता है। राग, द्वेष, मोह आदि भावों की उत्पत्ति होना भी हिंसा है, तथा इनकी उत्पत्ति न होना अहिंसा है।[25] महात्मा बुद्ध ने कठोर तप, नंगे शरीर रहकर वर्षा, शीत तथा ग्रीष्म को सहना, नंगे पैर कांटों पर चलना, भूखा रहना, पंचाग्नि तप करना हिंसा ही माना है। महात्मा गांधी के अनुसार किसी के प्राणों और जीवात्मा को शरीर से पृथक् कर देना हिंसा है। आचार्य

तुलसी ने भय को सबसे बड़ी हिंसा माना है। उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि मनसा वाचा, कर्मणा किसी प्राणी के अहितार्थ कष्ट देना हिंसा है और उसके हित के लिये यदि कष्ट दिया जाता है तो वह हिंसा की कोटी में नहीं आता। जैसे माता-पिता और गुरु बच्चों को उनके कल्याण के लिए प्रताड़ित करते हैं। अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिये यदि किसी को हानि पहुँचायी जाती है तो वह भी हिंसा नहीं है। जैसे- डाक्टर द्वारा की जानी वाली शल्य चिकित्सा, सामाजिक सुरक्षा के लिये अपराधियों को दिया जाने वाला मृत्यु दण्ड और राष्ट्र की रक्षा के लिए शत्रुओं का वध आदि हिंसा की श्रेणी में नहीं आते। गीता इसका उदाहरण है। अथर्ववेद में उल्लेख है यदि कोई हमारे गौ, अश्वादि पशुओं को तथा प्रजा का वध करे तो उसको शीशे की गोली से बींध दो।[26]

हिंसा के प्रकार

योग दर्शन में इस विषय का सम्यक् विवेचन इस प्रकार किया गया है-

क) ''वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ क्रोध मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रादुःखा ज्ञानान्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्''

ख) तत्र हिंसा तावतकृतकारितानुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांस- चर्मार्थेन क्रोधेनापकृतमनेनेति, मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति। क्रोधलोभमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदु- मध्याधिमात्राः पुनस्त्रिविधा मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रो मध्य तीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति। एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति।[27]

अर्थात् प्रथम हिंसा के तीन भेद होते हैं-

1. कृता- स्वयं की जाने वाली हिंसा।

2. कारिता- दूसरों से कराई जानी वाली हिंसा

3. अनुमोदिता- दूसरों द्वारा की गयी हिंसा का समर्थन करना।

इन तीनों में से प्रत्येक हिंसा के लोभ, क्रोध और मोह पूर्वक होने से तीन-तीन भेद हो जाते हैं। यथा लोभ द्वारा कृता, कारिता तथा अनुमोदिता। क्रोध द्वारा कृता, कारिता तथा अनुमोदिता। मोह द्वारा कृता, कारिता तथा अनुमोदिता।

लोभ, क्रोध और मोह के भी मृदु, मध्य और अधिमात्र ये तीन भेद होते हैं। अर्थात् मृदु लोभ, मध्यलोभ, अधिमात्र लोभ, मृदु क्रोध, मध्य क्रोध, अधिमात्र क्रोध, मृदु मोह, मध्य मोह, अधिमात्र मोह।

इस प्रकार हिंसा के 27 भेद होते हैं। मृदु, मध्य और अधिमात्र के भी तीन-तीन भेद होते हैं। यथा- मृदु-मृदु, मध्यमृदु, तीव्र मृदु मध्य, मध्य-मध्य, तीव्र मध्य, इसी प्रकार मृदु तीव्र, मध्यतीव्र, अधिमात्र तीव्र। इस प्रकार हिंसा के 81 भेद होते हैं। यह 81 प्रकार की हिंसा भी तीन भेदों से युक्त रहती है।[26] नियम हिंसा। यथा- कोई कहे कि मैं सिर्फ मुर्गे को ही मारकर खाऊँगा अन्य को नहीं, नियम हिंसा के अंतर्गत आती है। विकल्प हिंसा- यथा कोई कहे कि मैं मुर्गे अथवा मछली में किसी एक को मारकर खाऊँगा। यह विकल्प हिंसा है। समुच्चय हिंसा- यथा कोई कहे

मुझे जो भी जीव मिलेगा मैं उसे मारकर खाऊँगा यह समुच्चय हिंसा कहलाती है। इस प्रकार हिंसा असंख्य भेदों वाली हो जाती है।

व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा का भाव बना रहे इसके लिए वेद अनेकशः निर्देश देता है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि अहिंसक व्यक्ति का अनुसरण करो **''अस्य प्रियस्य शर्मण्य हिंसानस्य सश्चिरे।''**[29]

यजुर्वेद में उल्लेख है साँप आदि हिंसक प्राणियों का अनुकरण मत करो।[30] इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक सिद्धांत न तो हिंसा का पक्षधर है और न हिंसा करने वाले को आदर की दृष्टि से देखता है। अपितु देवों से सदा हिंसक शत्रुओं को नष्ट करने की कामना करता है। एक मंत्र में प्रार्थना की गई है। हे जगदीश्वर! हमें बहुत दुःख देने वाले हिंसा रूप पाप एवं हिंसक शत्रुओं से दूर रखो।[31] इस प्रकार अहिंसा का भाव मानव जीवन की अशांति को समाप्त करके उसको शांति प्रदान करेगा। शांत मनुष्य सामाजिक गुणों से युक्त होकर समाज में सकारात्मक कार्य को गति प्रदान करेगा।

ऋत एवं सत्य

वैदिक संहिताओं में ऋत और सत्य पर्यायवाची हैं।[32] ऋत और सत्य की तप रूप तत्त्व से एक साथ उत्पत्ति मानी गयी है।[33] ऋत और सत्य द्युलोक और पृथिवी लोक में प्रतिष्ठित होकर जीवन का आधार बने हुए हैं।[34] वास्तव में ये प्राकृतिक नियम ही मानवीय जगत् में नैतिक आचार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यथा श्रुत, यथा दृष्ट और यथा चिन्तित को उसी रूप में मानना एवं कहना सत्य कहलाता है। सत्य कथन का निहितार्थ प्राणिमात्र का हित है। इसी भाव को अभिव्यक्त करती है यह सूक्ति **''सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्''**। ऋग्वेद में सत्य के मार्ग को सहज एवं सुगम बताया गया है।[35] मनुष्य का आत्म संयम, सत्य संकल्प युक्त मन के द्वारा ही संभव है। अतः प्रार्थना की गयी हैं कि मेरे मन में सत्य संकल्प ही आयें।[36] यजुर्वेद में प्रार्थना है कि मैं अनृत से सत्य को प्राप्त करूँ।[37] वैदिक चिन्तन का सार यह है कि असत्य का आधार खोखला होता है और सत्य का सुदृढ़। अतः सत्य को जीवन के आधायक चारित्रिक गुणों में महत्व पूर्ण स्थान दिया गया है। अनेक बार विभिन्न प्रकार के कथनोपकथनों के माध्यम से सत्य को अपनाने के प्रति आग्रह किया गया है। सत्य के अतिरिक्त जीवन की रक्षा संभव नहीं है। धर्मात्मा को सत्य की नाव ही पार लगाती है।[38] दुष्कर्मी सत्य का मार्ग नहीं अपनाते।[39] इसका भाव यह भी है कि जो असत्य का मार्ग अपनाते हैं वे सत्कर्म नहीं करते जिसके फलस्वरूप दुःख सागर में गोते लगाते रहते हैं। अतः वैदिक ऋषि की यह कामना– **''सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः''**[40] अतीव सामयिक प्रतीत होती है। यह सत्य भाषण की ही शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्य पाप कर्मों से बचा रहता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ जैसे श्रेष्ठ एवं शुभतम कर्म को करने का अधिकार केवल सत्यवादी को ही दिया गया है, अनृतवादी को नहीं।[41] अतः **"दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्"**[42] अर्थात् यज्ञ करने के लिए दीक्षित पुरुष को सत्य ही बोलना चाहिए। कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार सत्यवादी को ही दीक्षित किया जाता है।[43] क्योंकि दीक्षा सत्य में ही प्रतिष्ठित रहती है।[44] सत्य के प्रति यह आग्रह इसलिए है क्योंकि

मनुष्य पूर्णरूपेण सत्यवादी नहीं होते, देवता पूर्णरूपेण सत्यवादी होते हैं।

इस विषय में अथर्ववेद में उल्लेख है कि जब परमेश्वर ने पुरुष के शरीर को बनाया तब विविध छिद्रों वाले इस शरीर को घर बनाकर इन्द्रियरूप देवों ने इसमें प्रवेश किया। इनके साथ ही चोरी, दुष्कर्म, पाप, सत्य, यज्ञ, यश, बल, क्षत्र और ओज भी शरीर में प्रविष्ट हो गये।[45] अन्य स्थान पर उल्लेख है कि ''राजा वरुण मनुष्यों के मध्य उनके सत्य एवं असत्य व्यवहारों का अवलोकन करते हुए घूम रहा है।[46] इसी भाव को ब्राह्मण ग्रन्थों में ''**सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः**'' कहकर प्रकट किया गया है।[47] अतः मनुष्य के सामने देवत्व का आदर्श रखकर यज्ञ के लिए व्रत धारण कराकर दीक्षित किया जाता है। क्योंकि सत्य, व्रत और दीक्षा का ही रूप है।[48] दीक्षित पुरुष को सत्य भाषण के संकल्प का निर्देश देते हुए कहा गया है कि– ''**इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि इति तन्मनुष्ये-भ्योदेवानुपावर्तते स यावदस्य वशः स्यात् तावत् सत्यमेव विवदिषेत..... एकं देवा व्रतं यत्सत्यं तस्माद् यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति।**''[49] अर्थात् मनुष्य सत्याचरण करने पर देवत्व को प्राप्त करता है। अतः यथा शक्ति सत्य का ही आचरण करना चाहिए। क्योंकि देवों का एक ही व्रत है और वह है सत्याचरण, जो यह जानकर सत्य का आचरण करता है। वह यशस्वी होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में सत्य की महिमा बताने के लिए एक आख्यान में कहा गया है कि –मनु के पुत्र नाभानेदिष्ट को सत्य बोलने के कारण एक सहस्र गौ की प्राप्ति हुई।[50]

सत्य ही वाणी के फल और फूल है। सत्य से ही मनुष्य यश और कल्याण को प्राप्त करता है।[51] शतपथ ''ब्राह्मण में उपमा द्वारा सत्य की महिमा बताते हुए कहा गया है कि ''सत्य बोलना घृत से अग्नि का सेवन करना है तथा असत्य बोलना अग्नि का जल से सेवन करना है। असत्य बोलने वाले का तेज धीरे–धीरे कम हो जाता है, वह नित्य प्रति पापी होता है।''[52] वह बिना मूल के वृक्ष के समान नष्ट हो जाता है।[53] सत्य भाषण मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार सुकृत एवं धर्म का स्वरूप सत्य में ही प्रतिष्ठित है। इनको पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। अतः कहा गया है– ''सत्य ही सुकृत का संसार है।[54] धर्म ही सत्य है और सत्य ही धर्म है। इसीलिए सत्य बोलने वाले के लिए कहा जाता है कि धर्म को बता रहा है और जो धर्म को बताता है उसके लिए कहा जाता है कि सत्य बोल रहा है।[55] एक स्थल पर सत्य के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि ''असुरों से भयभीत देव प्रजापति के पास गये, प्रजापति ने भय से मुक्ति का उपाय ऋत, सत्य, ज्ञान, ओंकारोपासना एवं त्रिपदा गायत्री के जप को बताया।[56]

ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्य का क्षेत्र वाणी तक ही सीमित नहीं है अपितु सृष्टि के शाश्वत नियम भी इसी की सीमा में आते हैं। इन नियमों का उल्लंघन करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। भूमि और समुद्र उसी पर आश्रित हैं।[57] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अग्निहोत्र का अनुष्ठान, देवों की पूजा, पितरों और अतिथियों की पूजा न करने वाला असत्य पुरुष माना गया है।[58] भाव यह है कि नित्य करणीय कर्मों का एवं अपने कर्त्तव्यों का अनुष्ठान न

करना भी असत्य की श्रेणी में आता है। जो कि वैदिक संस्कृति के अनुसार पापाचार है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्य का पालन नैतिक दृष्टि से बहुत ही आवश्यक है। सत्य के बिना मनुष्य नैतिक आचरण से भ्रष्ट होकर स्वयं तो कष्ट भोगता ही है साथ ही अपने परिवेश को भी दूषित करता है। इसीलिए अनेक उदाहरणों से वैदिक साहित्य में मनुष्य को सत्य की ओर प्रेरित करने का प्रयास किया गया है।

नैतिक जीवन की सात मर्यादायें

ऋग्वेद के अनुसार नैतिक जीवन की सात मर्यादायें हैं। जिनका पालन करना आवश्यक है। यदि इन सात मर्यादाओं में से एक मर्यादा का भी उल्लंघन किया जाता है तो वह व्यक्ति का नैतिक पतन माना जाता है।[59] इन सात मर्यादाओं का परिगणन निरुक्त शास्त्र में यास्क ऋषि ने निम्नलिखित रूप में किया है:- 1. चोरी न करना, 2.परस्त्री गमन न करना, 3. विद्वान् की हत्या न करना, 4. भ्रूण हत्या न करना, 5. शराब न पीना, 6. दुष्कर्म को बार-बार न करना, 7.दुष्कर्म करके झूठ न बोलना। इन सातों मर्यादाओं में से यदि कोई व्यक्ति किसी एक का भी उल्लंघन करता है तो वह पापी होता है।[60]

ये सात नैतिक आचरण के ऐसे मानदण्ड हैं जो व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। यदि समाज में इन मर्यादाओं का उल्लंघन होने लगे तो समाज का सामंजस्य, स्थायित्व, सुख और शान्ति भंग होकर अशांति का साम्राज्य हो जायेगा, न व्यक्ति सुखी रह पायेगा और न ही समाज। विस्तार भय के कारण सबकी व्याख्या करना संभव नहीं है, पुनरपि भ्रूण हत्या के दुष्परिणाम तो सबके सामने हैं। इसके कारण बिगड़ते लिंगानुपात की भयावह समस्या मुँह बाये खड़ी है। इससे संपूर्ण सामाजिक ताना-बाना ही विखण्डित होने के कागार पर है। अत: भारत सरकार से लेकर प्रादेशिक सरकारें चिन्तित हैं। विभिन्न सामाजिक संगठन इस समस्या को बहुत ही प्रभावशाली ढंग से उठा रहे हैं।

यदि सरकार समय रहते नियम/कानून बनाकर राष्ट्र वासियों को वेद के इस नैतिक आचारशास्त्र को जीवन में धारण करने की प्रेरणा देती तो आज बिगड़ते लिंगानुपात की यह भयावह स्थिति न होती। वेद में अनेक बार नैतिक आचरण के सिद्धान्तों को अपनाने की प्रेरणा दी गयी है। कभी सीधे तौर पर और कभी पशु-पक्षियों के माध्यम से। जब वेद ये कहता है कि- ''हे मनुष्य! न तो तू साँप बन और न भेड़िया, तो इसका अभिप्राय यह है कि तू साँप के समान कुटिल और भेड़िये के समान हिंसक आचरण से दूर हो। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि- ''हे ऐश्वर्यशाली आत्मन्! तू उल्लू, भेड़िया, कुत्ता, चिड़ा, गरुड़ और गीध के आचरण को छोड़ दे।'' इसका भाव यह है कि- उल्लू मोह का प्रतीक है, भेड़िया क्रोध का, कुत्ता मात्सर्य का, चिड़ा काम का, गरुड़ अभिमान और गीध लोभ का प्रतीक है। अत: मनुष्य को निर्देश दिया जाता है कि तू काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य से दूर रह। आत्म विकास और समाज विकास में ये प्रवृत्तियाँ बाधक हैं।

सामाजिक जीवन की नैतिकता

वेद सामाजिक जीवन में मनुष्य को पाप, अपराध, स्वार्थ, लोभ से दूर रहने का निर्देश देता है। भोगों के प्रति अत्यधिक आसक्ति काम को जन्म देती है, काम से लोभ उत्पन्न होता है, लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है।[61] क्रोध मनुष्य को विनाश की ओर अग्रसर करता है। इसलिये वेद तप और त्यागी जीवन की बात करता है। ''**तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधःकस्यस्विद्धनम्**''[62] अर्थात् तू त्यागपूर्वक उपभोग कर, किसी के धन का लोभ न कर। यहाँ दो बिन्दु द्रष्टव्य हैं त्यागपूर्वक भोग और लोभ पूर्वक भोग। लोभ पूर्वक भोग आचार की सीमाओं को लाँघकर पाप कर्म की और प्रवृत्त करेगा। जबकि त्याग पूर्वक भोग नैतिक आचरण की सीमाओं में बँधकर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को नियंत्रित करेगा। अथर्ववेद का निम्नलिखित वाक्य ''**शतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर**''[63] अर्थात् सैकड़ों हाथों से कमाओ और हजारों हाथों से बाँटो'' **तेन त्यक्तेन भुंजीथाः** की ओर ही इंगित कर रहा है।

वैदिक कर्म सिद्धान्त

वेद का स्पष्ट निर्देश है कि आलस्य छोड़कर पुरुषार्थ करो। ऋग्वेद में उल्लेख है कि पुरुषार्थी व्यक्ति को ही देवता चाहते हैं। वे आलसी से प्रेम नहीं करते।[64] और न उस व्यक्ति से जो परिश्रमी नहीं है।[65] वेद कर्महीन आलसी और नैतिक आचार से हीन व्यक्ति को ही दस्यु कहता है।[66] इसलिये यजुर्वेद में कहा गया है कि ''कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करो।''[67] कर्म क्यों करना चाहिये? इसका कारण बताते हुए वेद कहता है कि– ''पुरुषार्थी ऐश्वर्य का मूल है और प्रमाद दरिद्रता का''[68] इसलिये ''महान् सौभाग्य प्राप्त करने के लिए उठो और उद्योग करो''।[69] यदि तुम पुरुषार्थ करोगे तो निश्चित रूप से सफलता तुम्हारे हाथ में होगी। इसी विचार को अथर्ववेद में इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि– ''मेरे बायें हाथ में कर्म है दायें हाथ में विजय है।''[70] ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि– ''देवता श्रम, तप और यज्ञ करते हैं। इसी कारण उनको स्वर्ग की प्राप्ति होती है।''[71] इसी ब्राह्मण ग्रन्थों में श्रम की महिमा का वर्णन निम्नलिखित रूप में किया है– ''जो थक कर चूर नहीं हो जाता उसको श्री प्राप्त नहीं होती।''[72] बैठे हुए व्यक्ति का भाग्य बैठ जाता है और खड़े हुये व्यक्ति का भाग्य खड़ा हो जाता है। सोये हुए का भाग्य सौ जाता है और जो विचरण करता है उसका भाग्य भी आगे–आगे चलता है।[73] विचरण करने वाला व्यक्ति मधु और स्वादिष्ट उदुम्बर के फलों को प्राप्त करता है।''[74]

पुरुषार्थ की प्रशंसा और प्रमाद की निंदा करने का भाव यह है कि प्रमादी व्यक्ति नैतिक आचार के मार्ग से सहज ही भ्रष्ट हो जाता है जबकि पुरुषार्थी व्यक्ति के भ्रष्ट होने की सम्भावना नगण्य होती है। इस प्रकार वैदिक कर्म सिद्धान्त नैतिक आचार का अभिन्न अंग है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैदिक चिन्तन नैतिक आचरण के प्रति स्पष्ट दिशा निर्देशन करता है।

पाद-टिप्पणियां

1. (क) इसी प्रकार का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है, ऋ० 1/164/39
   यथा- यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।
   (ख) नैनं छन्दांसि वृजनात्तारयन्ति। विदुर नीति 3.42 की टीका से उद्धृत
2. आचार: परमो धर्म:। मनु० 4.108
3. (i) सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीति शास्त्रकम्।
   धर्मार्थकाममूल हिं स्मृतं मोक्षप्रदं यत:।। शुक्रनीति 1.5
   (ii) Ethics is the narmative science of the conduct of human beings living in societies. An introduction to ethics- page 2. William Lily.
   (iii) Ethics is the science of rightness and wrongness of conduct. A manual of Ethics. Page 2.
   (iv) Ethics discusses man's habits and customs or in other words. Their characters the principles and which they habitually act considers what it is that constitutes the rightness or wrongness of those principles. The good or evil of those habits. Ibid.
4. (i) आचार: पुं. आ + चर् + भावे घञ्। आचरणे अनुष्ठाने स च अनुष्ठान निवृत्त्यात्मकभावाभव रूप: तत्र सदाचार: वेद स्मृत्यादिविदित: तत्र नित्यनिषिद्धश्च कदाचार इति भेदात् द्विविध:। वाचस्पत्यम्।
   (ii) आचार- conduct, behaviour, manner of action or of conducting one self. A custom.... ''तस्मिन्देशे य आचार: पारम्पर्यक्रमागत:''। आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।
   (iii) आचार पुं० (आङ् + चर + घञ्) व्यवहार:, चरित, चरित्र, वृत्त, शील, विचारशील ''आचारे नयनादौ'' आचाराति-क्रम: पुं० (आचरस्य अतिक्रम:) अशिष्टाचार:, असद्व्यवहार:, अयोग्यक्रिया। - हलायुध कोश
5. वैशेषिक दर्शन- 1.1.2
6. धृति:क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। मनु. 6.92,
7. (i) नीयन्ते संलभ्यन्ते उपायादय ऐहिका-मुष्मिकार्था वा अनया।- संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 611
   (ii) नीयन्ते संलभ्यन्ते उपायादय ऐहिकामुष्मिकार्था वास्यामनया वा- नी + अधिकरणे अच् = नय:। नी + भावे क्तिन् (प्रापणे - इति मेदिनी)
   (iii) सर्वोपजीवकं लोकस्थितकृन्नीति-शास्त्रकम्।
   धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यत: ।। शुक्रनीति।
8. ऋग्वेद 10.53.6
9. शतपथ ब्राह्मण
10. मातृ देवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षा वल्ली
11. यजुर्वेद 6.14
12. (i) परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा- मा सुचरिते भज। शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयि-माध्यन्दिन संहिता 4.28
    (ii) आरे बाधस्व दुच्छुनाम्। तदेव 9.38
    (iii) दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव। तदेव 30.3
    (iv) पुनर्न पाह्यहंस:। तदेव 11.9
13. पाणिनीय धातुपाठ: 10.256
14. अष्टाध्यायी 7.1.58
15. तदेव 4.1.4
16. संस्कृत हिन्दी कोश, संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, वाचस्पत्यम्, हिन्दी व्युत्पत्तिकोश, हिन्दी विश्व कोश, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी-मोनियर विलियम आदि।
17. शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयि मा.सं. 1.28

18. तदेव- 6.25
19. तदेव- 14.22
20. तदेव- 19.7
21. तदेव- 15.64
22. तदेव- 19.7
23. योगदर्शन 2, 30 द्र० व्यास भाष्य- तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।
24. योगदर्शन भाष्य, पृ० 135
25. सांख्य एवं जैन दर्शन की तत्त्व मीमांसा एवं आचारदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन- डॉ० रामकिशोर शर्मा, पृ०179-180 । जैन दर्शन में चार प्रकार की हिंसा बतायी गयी है। (1) आरंभी हिंसा, (2) उद्योगी हिंसा, (3) विरोधी हिंसा, (4) संकल्पी हिंसा, (5) द्र० सागर धर्मामृत, 10 । जैन धर्म (कैलाश चन्द्र शास्त्री, पृ० 185) जैन धर्म में प्रथम अणुव्रत अहिंसा है। द्र० रत्नकाण्ड श्रावकाचार 3.63,
26. यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा।। अथर्ववेद 1.16.4
27. योगदर्शन -2.34
28. सा पुनर्नियम- विकल्प-समुच्चय- भेदादसंख्येया प्राणभृद् परिसंख्येयत्वादिति। योग दर्शन 2, 34 व्यास भाष्य।
29. ऋग्वेद, 5.64.3
30. मा अहिर्भूर्मा पृदाकुः। शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयि माध्यन्दिन संहिता 6.12, 8. 23
31. पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि। तदेव 3.48
32. सत्यं वा ऋतम्। शत० ब्रा० 7.3.1.23, 14.3.1.18, तैत्ति. ब्रा. 38.3.4 ऋतमिति सत्यमेतत्। शत० ब्रा० 6.7.3.11, ऋतमित्येष वै सत्यम्। ऐत. ब्रा० 4.3.6
33. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोध्यजायत। ऋग्वेद 10.190.1
34. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञ पृथिवीं धारयन्ति। अथर्ववेद 12.1.1
35. सुगा ऋतस्य पन्थाः। ऋग्वेद 8.31.13
36. आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु। ऋग्वेद 10.128.4
37. इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयि माध्यन्दिन संहिता 1.5
38. सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्। ऋग्वेद 9. 73.1
39. ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृत। ऋग्वेद 9. 73.6
40. ऋग्वेद- 10.37.2
41. अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति। शत० ब्रा० 1.1.1.1
42. ऐत० ब्रा० 1.6
43. यो सत्यं वदति स दीक्षित इति ह स्माह। कौषीतकि ब्रा० 7.3
44. सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति। शत० ब्रा० 14.6.9.24
45. (क) यदा त्वष्टा व्यतृणत पिता त्वष्टुर्य उत्तरः। गृहं कृत्वा मर्त्य देवा पुरुषमाविशन्। अथर्व० 11.8.20
    (ख) स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञोबृहत्। बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु- प्राविशन्। वही० 11.8.20
46. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्। ऋग्वेदः 7.49.3 अथर्व० 1.33.2
47. शत० ब्रा० 1.1.1.4, 1.1.2.17, 3.3.2.2, 3.9.4.1, तथा अथो खल्वाहुः कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुम् सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्या इति। ऐत० ब्रा० 1.6
48. (1) एतत्खलु वै व्रतस्य रूपं यत्सत्यम्। शत० ब्रा० 12.8.2.4
    (2) सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति। शत० ब्रा० 14.6.9.24
49. शत० ब्रा० 1.1.5, एकं ह वै देवा व्रतं

चरन्ति यत्सत्यं तस्मादु सत्यमेव वदेत्। शत. ब्रा. 14.1.1.33, एकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेव। शत. ब्रा. 3.4.2.8

50. तव ह वाव किल भगव इदमिति में पिताऽऽहेति, सोब्रवीत्, तदहं तुभ्यमेव ददामि य एव सत्यमवदारिति।। ऐत० ब्रा० 22.9
51. तदेतत्पुष्पं फलं वाचो यत्सत्यं स हेश्वरो यशस्वी कल्याण-कीर्ति-र्भवितो: .... ऐतरेयारण्यकम् 2.3.6
52. स य: सत्यं वदति यथाग्निं समिद्ध तं घृतेना भिषिञ्चेदेवँ हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयोभूय एव तेजो भवति श्व:श्व: श्रेयान् भवत्यथ योऽनृतं वदति यथा अग्निं समिद्ध तमुदके-नाभिषिञ्चेदेवँ हैनँ रा जारायति तरय कनीय कनीय एवं तेजो भवति श्व: श्व: पापीयान्भवति तस्मादु सत्यमेव वदेत्। शत. ब्रा. 2.2.2.19
53. ऐतरेयारण्यकम् 2.3.6
54. सत्यं वै सुकृतस्य लोक:। तैत्ति० ब्रा० 3. 3.6.11
55. यो वै धर्म: सत्यं वैतत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म वदतीति धर्मं वा वदन्तँ सत्यंवदतीति। शत. ब्रा. 14.4.2.26
56. तस्य प्रजापतिरेतद् भेषजमपश्यत ऋतं च सत्यं च ब्रह्म च ओंकारं च त्रिपदां च गायत्रीं च ब्रह्मणो मुखमपश्यत्। षड्विंश ब्रा. 5.5.3
57. ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नात्येति किंचन। ऋते समुद्रआहित:। ऋते भूमिरियं श्रिता। तैति. ब्रा. 1.5.5.1
58. यदि ना हरेदनद्धा पुरुष:। ऐत० ब्रा० 7.2. 8, कोऽनद्धा पुरुष इति न देवान्न पितृन् न मनुष्यान् इति ऐत. ब्रा. 7.2.8 एष ह वा अनद्धापुरुषो यो न देवानवति न पितृन् न मनुष्यान्।
59. सप्त मर्यादा:कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिद भ्यंहुरो गात्। ऋग्वेद 10.5.6
60. स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्म हत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मण: पुन:पुन: सेवनं पातके-ऽनृतोद्यमिति।। नि० 6.27
61. ध्यायतो विषयान् पुसं: संङ्गस्तेषूपजायते सङ्गात् संजायते काम:, कामात् क्रोधोभि-जायते क्रोधात्भवति संमोह संमोहात् स्मृति विभ्रम: स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। श्रीमद्भगवद् गीता अध्याय 2
62. शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयि मा० संहिता- 40.1
63. अथर्ववेद- 3.24.5
64. इच्छन्ति देवा: सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। ऋग्वेद 8.2.18
65. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा:। ऋग्वेद 4.33.11
66. अकर्मादस्युरभि नो अमन्तुर् अन्यव्रतो अमानुष:। ऋग्वेद- 10.22.8
67. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समा एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्मलिप्यते नरे। शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयि माध्यन्दिन संहिता- 40.2
68. तदेव- 30.17
69. उत्क्राम महते सौभगाय। तदेव- 11.21
70. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्यआहित:। अथर्ववेद 7.52.8
71. देवा वै यज्ञेन श्रमेणतपसाहुतिभि: स्वर्गं लोकमजयन्, ऐत० ब्रा० 7.3
72. नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति, ऐत० ब्रा० -33.3
73. आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठत:। शेते निपद्यमानस्य चरति चरतोभगश्चरेवैति।। ऐत० ब्रा० 33.3
74. चरन्वैमधुविन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्, ऐत० ब्रा० 33.3

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (90-94) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैश्विक संदर्भ में वेदोक्त नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता

डॉ० मृदुल जोशी

असिस्टैंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

वेद नैतिक मूल्यों के संवाहक हैं। आज भारत में ही नहीं समूचे विश्व में मानवीय मूल्यों का तीव्रता से ह्रास हुआ है। मनुष्य-मनुष्य के रक्त का पिपासु हो चला है। मानव को मानव बनाने वाले करुणा, दया, प्रेम, संतोष, त्याग, बन्धुत्व के गुण तो लगभग समाप्त हो चले हैं। सत्ता, शक्ति और धन प्राप्ति की अंधी दौड़ समूचे विश्व को लक्ष्य विहीन मरु-भूमि में भटका रही है।

आज का मनुष्य तो इतना क्रूर हो चला है कि बिना किसी हिचक के निर्दोष- मासूम बच्चों को मृत्यु के मुख में पहुँचा देता है। पाकिस्तान में घटित पेशावर के सैन्य स्कूल की घटना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। आई० एस० आई०, तालिबान, हिजबुल मुज़ाहिदीन, जैसे न जाने कितने संगठन पाशविक कृत्यों में संतोष का अनुभव करते हैं। सीरिया सदृश न जाने कितने देशों में सरे आम सैनिकों, निर्दोष नागरिकों, पत्रकारों का कत्ल ही नहीं करते, समाज को आतंकित करने के लिए उनका वीडियो भी जारी करते हैं। ऐसे दृश्य एक-दो देशों में ही नहीं, अपितु समूचे विश्व के लगभग हर एक देश में देखने को मिल जाते हैं।

द्वेष, हिंसा, पाखण्ड, असंतोष, असुरक्षा, शंका और लोभ सुरसा की तरह अपना मुँह फाड़े समूचे विश्व-समाज को निगल रहा है। ऐसी परिस्थिति में दिशाविहीन विश्व-समाज को यदि कोई उचित मार्ग दिखा सकता है तो वह है केवल और केवल वैदिक वाङ्मय। वेदोक्त शाश्वत मूल्य मनुष्य को मनुजता की राह में चलने की सीख देते हैं। आज घबराया हुआ समाज उस निरापद पथ की तलाश में है जहाँ से चलकर वह भयमुक्त, निःशंक होकर प्रेम से भरपूर संतोषप्रद जीवन जी सके। आज आतंकवाद और नारी-सुरक्षा ये दो पहलू समाज के लिए विकट समस्या बनकर रह गए हैं। मानवीय मूल्यों का ह्रास ही समाज में अनैतिकता को जन्म देता है, सामूहिक बलात्कार, यौनाचार व बोको हरम की उपस्थिति इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं। विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेदों में इन सभी समस्याओं का समाधान है। वैदिक चिंतन मानवता के उदात्त मूल्यों का संस्थापक और संवाहक दोनों ही हैं।

समाज में व्यवस्था लाने के लिये नैतिक-नियमन की व्यवस्था है। स्वानुशासन स्वतः संयम और उचित सोच समाज में नैतिक नियमों का जनक है। नैतिकता पर

विचार करते हुए हमें सर्वप्रथम '**नीति**' शब्द पर विचार करना होगा, '**नीति**' शब्द की व्युत्पत्ति '**नी**' धातु से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है '**ले जाना**'। '**नीति**' वह विधायिका है, जो सभ्य, सुसंगठित व संस्कारित समाज के लिये 'पथ-प्रदर्शन' का कार्य करती है। वस्तुतः '**नीयते व्यवस्थाप्यते स्वेषु-स्वेषु सदाचरणेषु लोकाः यया सा नीतिः**' अर्थात् जिसके द्वारा समाज के लोग कुमार्ग से विरत होकर सदाचरण में लाये जा सकें वह 'नीति' कहलाती है। शुक्रनीति कहती है '**नयवाद् नीतिरुच्यते**' इसका सामान्य अर्थ होगा कि सन्मार्ग की ओर ले जाने वाली नीति है। व्यक्ति के लिये, परिवार के लिये, समाज के लिये, राष्ट्र के लिये प्रत्येक दृष्टि से कल्याण और उत्कर्ष हेतु विवेक द्वारा जिन-नियमों और सिद्धान्तों का निर्धारण करते हैं- वे सभी 'नीति' के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन नियमों के अनुकूल आचरण नैतिक व प्रतिकूल आचरण अनैतिक है।

मानवीय सम्बन्धों में मूल्य-चेतना से अभिप्राय उन सद्गुणों के आधारभूत तत्त्वों से है जिनके अनुपालन द्वारा मनुष्य-मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। इसका सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के नैतिक दायित्वों से आ जुड़ता है। व्यक्ति व समाज की मंगलकामना से सायुज्य सभी अवधारणाएँ नैतिक मूल्यों के अन्तर्गत परिगणित की जा सकती हैं।

व्यक्ति का विश्वशांति, विश्वबंधुत्व और विश्व संस्कृति में सकारात्मक योगदान नैतिक मूल्यों से ही संभव है। वेद हमें इन्हीं नैतिक मूल्यों का पाठ पढ़ाते हैं। मनुष्य सद्गुणों, सत्कर्मों से उन्नत व समाजोपयोगी हो सकता है इसीलिए वेद सद्गुणों से जुड़ने व दुर्गुणों को त्यागने हेतु उपदिष्ट करता है-

विश्वानि देव
सवितर्दुरितानि परासुव
यद्भद्रं तन्न आ सुव।[1]

सबसे पहले वेदों ने यह पाठ पढ़ाया कि मानव समग्र विश्व का अंग है। विश्व समष्टि है तो वह स्वयं व्यष्टि। इसलिए वेद व्यक्ति को विश्व-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत करते दिखाई देते हैं-

सहृदयं सामनस्यम्,
अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत,
वत्सं जातमिवाघ्न्या।[2]

(अर्थात् मैं (परमात्मा) सहृदयता, सौमनस्यता और द्वेषहीनता तुम्हारे लिये उत्पन्न करता हूँ। नवजात बछड़े को गाय प्रेम करती है, उसी प्रकार तुम सब परस्पर प्रेम करते रहो।) पारस्परिक द्वेष, कलह, ईर्ष्या व मनोमालिन्य समाज को सुसंगठित व एकता में नहीं रख सकता।

वैदिक मूल्य इतने उदात्त हैं कि उनके अनुपालन से एक उत्कृष्ट समाज की स्थापना हो सकती है। इनके द्वारा यह समाज परस्पर सौहार्द्र, प्रेम, शांति और सौमनस्य रखते हुए प्रसन्नता पूर्वक जीवन यापन कर सकता है-

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषाजुहोमि।[3]

वैदिक ऋषि समाज में एकता व समन्वय की अपेक्षा रखते थे। एक ऐसे आदर्श समाज की परिकल्पना उनके मानस में थी जहाँ सभी के संकल्प, सोच, भावनाएं, खान-पान,

मंत्र, यज्ञ-भावना एक सी हो। ये सामाजिक मूल्य हैं-

समानी व आकूतिः
समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति।[4]

वेदों में कामना है कि सबके मन सबके कल्याण में एक समान हों और ईश्वर स्मरण तथा शुभ गुणों के प्रति सबका चिंतन समान हो। सब प्राणियों के दुःख-नाश और सुख-वृद्धि की भावना सन्निहित हो। ऋग्वेद के 10वें मण्डल का निम्नांकित मंत्र भी यही भाव व्यक्त कर रहा है-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं
वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे
संजानाना उपासते।[5]

यह कल्याण कामना केवल एक समाज, एक राष्ट्र तक ही सीमित नहीं है। वेद तो समूचे विश्व को एक परिवार के सदृश मानता हुआ सबके मंगल, कल्याण और शुभ की कामना करता है। वेद किसी जाति, समुदाय या देश तक सीमित न होकर विश्व को एक महात्मा की संतति मनुष्य मात्र व समग्र विश्व को ईश्वरीय कृति मानता है। समूचे विश्व के मानव उस परम पिता के अमृत पुत्र हैं।

शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य
पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि
तस्थुः।[6]

इस मंत्र में समग्र मानव जाति ही एक इकाई के रूप में और समस्त वसुधा एक कुटुम्ब के रूप में उद्घाटित हो रही है। समग्र मानव जाति को एक ही परमपिता के अमृत पुत्रों का सम्बोधन दिया गया है। विश्व ब्रह्माण्ड को एक इकाई के रूप में देखने की विराट् दृष्टि देने वाले वेद विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेम के उदात्त और पवित्र भावों को पोषित करते हैं। यही वह धारणा है जहाँ परस्पर ईर्ष्या, विरोध, मनो मालिन्य, अविश्वास, जाति व रंग-भेद के तनाव जन्म ही नहीं ले सकते। आज विश्व पटल पर घृणा और विद्वेष के कारण ही युद्ध लड़े जा रहे हैं। जाति गत अलगाव, श्वेत-अश्वेत रंगभेद, नस्लीय हिंसा व साम्प्रदायिक वैमनस्य के कारण अनेक देशों में आतंकवादी संगठनों या फौजों के द्वारा युद्ध के बीभत्स और रौंगटे खड़े कर देने वाले दृश्य समुपस्थित हैं। इनका सिर्फ और सिर्फ यही कारण है कि मनुष्य मात्र से वह चिंतन ही लुप्त हो गया, जो वेदों में वर्णित है।

वेद हमें विविध जातियों एवं धर्मावलम्बियों में आत्मीयता, सद्भावना व प्रेम भाव परिपुष्ट करते हैं। अथर्ववेद का एक सूक्त मानव को परस्पर मिल-जुलकर रहने हेतु उपादेश करता है, समस्त प्राणियों में एक सूत्रता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। उसकी अपेक्षा है-

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।[7]

वैदिक संस्कृति विश्व की प्रचीनतम संस्कृति है। वैदिक ऋषि मानव मात्र में वे संस्कार भरना चाहते थे, जिससे पृथ्वी स्वर्ग सदृश मोहक, सुन्दर और आह्लादकारी बन सके। प्रेम की अचूक और अमोघ औषधि यजुर्वेद के इस मंत्र में हमें मिलती है-

यस्तु सर्वाणि
भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं
ततो न विचिकित्सति।[8]

अर्थात् जो व्यक्ति अपनी आत्मा में समस्त प्राणियों का अनुभव करता है और प्राणिमात्र में स्वयं को देखता है, वह सभी प्राणियों को स्वयं के समान और स्वयं को समस्त प्राणियों के समान देखता हुआ किसी से द्वेष और घृणा नहीं रख सकता। यह चिंतन संस्कार रूप में मनुष्य धारण कर ले तो वह मनुजता के पथ पर तीव्रता से बढ़ चलता है। वेद का चिंतन अध्यात्म से सायुज्य है। समग्र सृष्टि में परमात्मतत्व का अनुभव करने वाला मानव प्राणि मात्र में आत्मा का अनुभव करता है। यह एकत्व दर्शन उसे दुःख से भी बचाता है और उस मोह से भी जो अपने और परायेपन के विष बीज बो जाता है–

यस्मिन्सर्वाणि
भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः
शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।[9]

आज हमें इसी भाव धारा की प्रासंगिकता समझ आती है क्योंकि यही एक मात्र युद्ध के वातावरण से परे हमें सौहार्द्र में जीना सिखाती है। वेद **'सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय'** विचार धारा का पोषण करता है–

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम
देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि
देवहितं यदायुः।।[10]

(अर्थात् हम भद्र शब्द ही कानों से सुनें, भद्र दृश्य आँखों से देखें और अपने दृढ़ अंगों के द्वारा शरीर से यावज्जीवन वे ही कर्म करें, जिससे विद्वानों का हित हो।) यह चिन्तन हमें स्वच्छन्द व मनमाने दुराचरण से रोकता है। यह हमारी सोच को मनवचन व कर्म से शुभ व कल्याणप्रद कर्म हेतु ही प्रेरित करता है।

वैदिक सूक्तों ने हमें उत्तम जीवन की कला सिखाई है। विश्व में अधिकांश संघर्ष अनर्थकारी अनर्गल व कटूक्तियों से उत्पन्न होते हैं। वेद हमें विचारों से, वाणी से मधुमय जीवन-यापन के उपदेश देते हैं।

जिह्वाया अग्रे मधु मे
जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो
ममचित्तमुपायसि।[11]

(मेरी जिह्वा के अग्रभग में मधुरता हो और जिह्वा के मूल में मधुरता हो। हे मधुरता मेरे कर्म में तेरा वास हो और मन के अन्दर भी तू पहुँचे।)

मधुमन्मे निक्रमणं
मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्
भूयासं मधु सन्दृशः।।[12]

आज विश्व में दूसरी बड़ी चिंता स्त्री सुरक्षा को लेकर है, उसकी इयत्ता को लेकर है, उसके सम्मान के प्रति है। वेदों का उदात्त चिंतन स्त्री को वस्तु के रूप में कभी नहीं देखता। वहाँ तो स्त्री श्रद्धेय है, समाज की संस्कारक है, विदुषी है, लक्ष्मी है, शक्ति स्वरूपा है। हमारे देश में यह उदात्त चिंतन सदियों तक बना रहा लेकिन शनैः शनैः हम स्वयं ही इस उच्चता से गिर गये। इसीलिए हमारे देश में भी स्त्री को वह सम्मान प्राप्त नहीं हो पा रहा है जिसकी वह अधिकारिणी है। पाश्चात्य चिंतन का दुष्परिणाम है कि स्त्री वस्तु या भोग्या के रूप में देखी जा रही

है। परिणाम स्वरूप आये दिन समाचार पत्रों में यौनाचार, बलात्कार या संवेगात्मक शोषण के समाचार प्रकाशित हो रहे हैं। वेदों में स्त्री कही भी भोग्या नहीं थी। वह सम्मान व श्रद्धा की अधिकारिणी थी। यह वैदिक चिंतन ही था जिसके परिणास्वरूप संस्कारवान् पुरुष संतुलित व सम्यक् सोच रखते थे। वेद उसे ब्रह्मा, सरस्वती के सम्बोधनों से अभिहित करते हुए उसमें उज्ज्वलतम् उदात्त व पूज्य रूप को पाते हैं-

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योते
ऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता तेऽघ्न्ये नामानि
देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्।।[13]

अर्थात् हे स्त्री! तू स्तुति योग्य, उत्तमवाणी युक्त, रमणीय, पूजनीया, कमनीया, चन्द्र के समान आह्लादकारिणी, श्रेष्ठशील से प्रकाशमान, विविध गुणों व विद्याओं को प्राप्त विद्या प्रवीणा है। तू उत्तम गुणों के लिये मुझे उपदेश दे। वेद स्त्री को **'अघ्न्ये'** अर्थात् ताड़ना न करने योग्य व **'महि'** अर्थात् पूजनीय मानते हैं। आज का समाज पुनः यदि वेदों की ओर लौट चले तो घरेलू हिंसा, यौन उत्पीड़न व भावनात्मक शोषण की समस्त वारदातों में विराम लग सकता है। वैदिक चिन्तन में तो स्त्री-

शुद्धाः पूतो योषितो यज्ञिया
इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः।[14]

शुद्ध, पवित्र, पूजनीय ही नहीं है अपितु

सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्।[15]

अर्थात् सिर पर पगड़ी के समान आदर देने योग्य भी है। यह वह चिंतन है जहाँ पुरुष ने स्त्री को अपने से अधिक योग्य समझा है। अपने देश में भी आतंक, हिंसा व स्वेच्छाचार है। कारण यह कि हमारे जीवन से वैदिक मूल्य विलुप्त होते जा रहे हैं। अधुनातन संचार माध्यम विश्व भर में हो रही सूचनाओं के साथ पाश्चात्य देशों की अपसंस्कृति और अश्लीलता को भी हमारे घर-आंगन तक पहुँचा रहा है। उनकी भौतिक उन्नति की चकाचौंध में हम येन-केन प्रकारेण अर्थोपार्जन, शक्ति और सत्ता अधिगत करने की इच्छा में पगलाए असंतोष, असहिष्णुता व अशांति से भर गए हैं। हम इस उन्मत्त दौड़ में कहाँ पहुँचेंगे इसका हमें स्वयं ही पता नहीं है। घोर अशांति के इन क्षणों में समस्त विश्व को धैर्य, मानसिक शांति, संतोष, आत्म विश्वास व अजस्र ऊर्जा केवल और केवल वैदिक मूल्य ही दे सकते हैं।

संदर्भ संकेतः-

1. यजुर्वेद 30/3
2. अथर्ववेद 3.30.1
3. ऋग्वेद 10/191/3
4. ऋग्वेद 10/191/4
5. ऋग्वेद 10/192/2
6. यजुर्वेद 11,5
7. अथर्ववेद 19.15.6
8. यजुर्वेद, अध्याय 40/6
9. यजुर्वेद, 40/7
10. यजुर्वेद 25/21
11. अथर्ववेद 1/34/2
12. अथर्ववेद 34/3
13. यजुर्वेद 8/43
14. अथर्ववेद 11/1/17
15. यजुर्वेद 23/18

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (95-97) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक दर्शन में 'ऋत' की अवधारणा की वर्तमान में प्रासंगिकता

डॉ० (श्रीमती) रीमा सिन्हा
अध्यक्ष, इतिहास विभाग
बी.एस.एम. (पी.जी.) कॉलेज, रुड़की (उ.ख.)

आज के वैज्ञानिक युग में भी वेद का अध्ययन वांछनीय है, इससे हमें लौकिक और अलौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। वेद ज्ञान के भण्डार हैं मनु ने इन्हें 'सर्वज्ञानमयो हि स:' कहा है। वेद दर्शन में जगत् को सत्य माना गया है विश्व को पूर्णत: व्यवस्थित कहा है। यह जगत् एक नैतिक शाश्वत व्यवस्था है जो अनादि एवं अनन्त है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद में जगत् की नैतिक व्यवस्था को 'ऋत' की संज्ञा से पुकारा गया है। वैदिक ऋषियों के दृष्टिकोण से ऋत सृष्टि का आदि एवं धारक तत्व है। ऋत और सत् का युग्म ही वैदिक संस्कृति की आधारशिला है। वेद में ऋत के विचार का बड़ा महत्व है। ऋत नैतिक नियम है। देवता नैतिक नियम के पालन करने वाले तथा कराने वाले हैं। ऋत का अर्थ होता है जगत् की व्यवस्था। इसे प्राकृत नियम (Natural Law) भी कहा गया है। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, दिन, रात आदि इसी नियम द्वारा संचालित हैं यह नियम देवताओं को भी नियमित करता है। ऋत समस्त जगत् का आधार है। ऋत का संचालक 'वरुण' देवता को कहा गया है। स्वर्ग और नरक अपने वर्तमान स्थिति में ऋत के कारण ही है। ऋत नित्य एवं सर्वव्यापी नियम है। ऋत के सिद्धांत में कर्म सिद्धांत के बीज अन्तर्भूत हैं। आगे चलकर ऋत-सिद्धान्त-कर्म-नियम को जन्म देता है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार जैसा हम बोते हैं वैसा हम काटते हैं।[2]

ऋत का सिद्धान्त ऋग्वेद की मौलिक देन है। जो सत्य से अर्थ की समानता रखते हुए भी उससे भिन्न है, विद्वानों ने इसकी अलग-अलग विवेचना की है। वैदिक उदात्त भावनाओं तथा नैतिकता की कल्पना का मौलिक आधार ऋत और सत्य का व्यापक सिद्धांत है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय सम्पूर्ण विश्व प्रपञ्च में व्याप्त उसके नैतिक आधार से है। इस आधार के दो रूप हैं। बाह्य जगत् की सारी प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमों के आधीन चल रही है। परन्तु उन सारे नियमों में परस्पर विरोध न होकर एकरूपता विद्यमान है। इसी को ऋत कहते हैं।[3] आकाश में विकीर्ण असंख्य तारकों के प्रपुञ्ज संसार पर उत्साह का अभिषेक करने वाली तथा नर्तकी के समान नेत्रों का आनन्द प्रदान करने वाली स्मितवदना उषा, अनन्त आकाश को नापने वाले प्रात:काल के सूर्य अगाध तथा निर्मल

जल वर्षा, आंधी-तूफान, मेघों का गर्जन, बिजली की चमक-दमक आदि सब पदार्थों में वैदिकों की प्रतिभा ने एक ही नियंत्रण का अनुभव किया। रात और दिन, ऋतुओं के चक्र में उपस्थित होने वाले नियत वार्षिक परिवर्तन, पत्रों पुष्पों एवं फलों के रूप में होने वाला वनस्पतियों का नियत विकास, पशुओं तथा मानवों की गर्भधारणा में प्रतीत होने वाली निश्चित काल की अवधि आदि की ओर वैदिक ऋषियों ने बड़े गौर से देखा और उन्हें अनुभव हुआ कि प्रकृति नटी के कार्यकलाप नियमित रूप से चलते हैं। उनमें किसी व्रत का पालन करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। स्वर्ग और पृथ्वी के अटूट सम्बन्ध ने सृष्टि की आन्तरिक एकरूपता ने उनकी प्रतिभा को सूचित किया कि विश्व में एक निश्चित व्यवस्था है। इन्द्र, वरुण, सविता, अग्नि, वायु, हिरण्यगर्भ आदि देवता विश्व के इसी नियम का बड़ी सावधानी से और बिना किसी प्रमाद के पालन करते हैं। विश्व की इसी व्यवस्था को 'ऋग्वेद' ने ऋत की संज्ञा दी है।[4]

महर्षि यास्क ने ऋत का अर्थ उदक, सत्य एवं यज्ञ किया है।[5] योगीराज अरविन्द ने ऋत को सदाचार का मापदण्ड मानते हुए कहा है, 'सब वस्तुओं का सारभूत पदार्थ ऋत हैं। भौतिक से आध्यात्मिक रूप में परिवर्तन का कारण ऋत ही है। ऋत सूर्य, चन्द्र आदि का नियम दिखाई देता है, किंतु वस्तुतः यह आचरण का नियम है।[6] सायण ने ऋत को कर्मफल, स्तोत्र एवं गति अर्थ का वाचक भी माना है। वेद मंत्रों में आने वाले ऋत शब्द को संदर्भ, प्रसंगानुसार सत्य, यज्ञ, उदक, अग्नि, सूर्य, वेद एवं परमेश्वर का वाचक महर्षि दयानन्द ने स्वीकार किया। ग्रिफिथ के अनुसार ऋत शब्द द्वारा विश्व की व्यवस्था एवं उसके विधान का निर्देश किया गया है और इसका अर्थ शाश्वत विधान (एटरनल लॉ) अथवा पवित्र (होली आर्डर) किया है। ऋग्वेद में ऋत शब्द सैकड़ों बार प्रकृति और मानव के सम्बन्धों की मूल धारणा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वह दोनों के संबंधों का नियामक तत्व है। यह ऋत, ऋतुओं तथा सूर्यचन्द्र आदि की गतियों में भी निहित है। सूर्य की गति (अयन) और चन्द्रमा दोनों ऋतुओं के कारक हैं। विद्वानों के अनुसार वर्षा ऋतु में जल तत्व, शरद में इष (अन्न) ऊर्ज (दुग्ध, घृत आदि) और औषधियों को पुष्ट करने वाला तत्व होता है। पेड़-पौधे और शस्य तथा साथ ही मनुष्य का जीवन जलवायु पर आधारित ऋत क्रम पर आधारित होता है। मनुष्य और वनस्पति ही नहीं, समस्त जीव जगत् ऋत और ऋतु से बद्ध है।[7]

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का 190 वाँ सूक्त 'भाववृत्तम्' है जिसमें सृष्टि प्रक्रिया का विवरण है। तैत्तिरीय आरण्यक में यह उल्लेख है कि ब्रह्म तपस्या के उपरांत इस जगत् का सृजन करता है।[8] तपस्या के उपरान्त ऋत और सत्य का अविर्भाव होता है। ऋत, सन्निष्ठ मानसिक ध्यान का द्योतक है, तो सत्य, वाचिक सत्योच्चारण का[9] डा० राधाकृष्णन् ने ऋत को सदाचार का मार्ग तथा बुराईयों से रहित यथार्थ पथ बताया है।[10] वास्तव में ऋत अपने में गम्भीरता और अलौकिकता लिए हुए है। दैवी जगत् में ऋत अनन्त और शाश्वत विधान है, जिसके अधीन धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र, रात्रि दिन मास एवं ऋतुएं-सब मर्यादित होकर अपने-अपने कार्यों

में संलग्न रहते हैं। मानव-जगत् में 'ऋत' उन नैतिक मूल्यों और आदर्शों का अधिष्ठाता है, जो जीवन के प्रेरक और समाज की प्रतिष्ठा है। जगत् की व्यवस्था के सिद्धान्त को ही ऋत कहा गया है। यह हमें सचेत करता है कि जीवन के उत्कर्ष और लक्ष्य को पाने के लिए नैतिक नियमों और प्राकृतिक व्यवस्थाओं का अनुपालन नित्यप्रति किया जाना चाहिए।

पाद-टिप्पणियां

1. मनुस्मृति 2/7
2. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा भारतीय दर्शन की रूपरेखा। पृ० 37, 38 मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983
3. मंगलदेव शास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा, पृ० 104
4. लक्ष्मण शास्त्री जोशी, वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० 34
5. निरुक्त 2.25, 4.19
6. अरविन्द, वेद रहस्य, पृ० 102 व 107
7. गोविन्द चातक, संस्कृति समस्या और संभावना, पृ० 32
8. तैत्तिरीय आरण्यक 8.6
9. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसो अध्यजायत- ऋग्वेद 10.190.1
10. इण्डियन फिलासफी खण्ड 1, पृ० 79-80

✦✦✦

अयं लोकः प्रियतमः। -अथर्व. 5.30.17
आहा, यह संसार बड़ा ही प्यारा है।

आयं गौः पृश्निरक्रमीत्। -अथर्व. 6.31.1
यह रंग-बिरंगा भूमण्डल चारों ओर घूम रहा है।

देवस्य सवितुः सर्वे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः। -अथर्व. 6.23.3
सब मनुष्य प्रभु की आज्ञा में रह कर कर्म किया करें।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (98-104) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में प्रकृति संरक्षण की प्रासंगिकता

–डॉ. किशनाराम बिश्नोई

अध्यक्ष, गुरु जंभेश्वर धार्मिक अध्ययन संस्थान,
गुरु जंभेश्वर विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

पर्यावरण शब्द की निष्पत्ति परि+आवरण इन दो शब्दों के संयोग से होती है जिसका अर्थ चारों ओर का आवरण। जिसमें प्रकृतिजन्य समस्त तत्त्व आकाश, जल, अग्नि, वायु, ऋतुएँ, पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, वनस्पति, जीव–जन्तु तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाहित हो जाते हैं। मानव और पर्यावरण अन्योन्याश्रित है। प्राणियों का प्रकृति के साथ अध्ययन ही पारिस्थितिकी है। वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी विज्ञान के सूक्ष्म रहस्यों को समझा अतएव वैदिक संस्कृति, साहित्य और चिंतन में पर्यावरण, धर्म, अध्यात्म, नैतिकता एवं जीवन–पद्धति के रूप में विकसित हो सका।

वैदिक वाङ्मय में प्रकृति के भौतिक पर्यावरण, पारिस्थितिकी और प्रदूषण से संबंधित चिंतन ही नहीं है, अपितु जीवन पद्धति के रूप में सांस्कृतिक, सामाजिक तथा वाणी पर्यावरण की अभिव्यक्ति पाते हैं। प्रकृति की मातृवत अवधारणा वैश्विक दृष्टि की परिचायक ब्रह्माण्ड की संकल्पना, प्रकृति में अन्तर्निहित देवत्व का वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक चिंतन वैदिक संस्कृति से ही प्रस्फुटित हुआ है।

वैदिक साहित्य में पर्यावरण के पंचभूत तत्त्वों की व्यापक विवेचना हुई है। पंचतत्वों की व्याख्या मानव में प्राण रहने की स्थिति है तथा ये तत्व (जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश) प्रकृति के वे तत्व हैं, जिनसे सृष्टि का निर्माण हुआ है। बल्कि देवों में इन्द्र, वरुण, सोम, वायु, आदित्य, बृहस्पति, मरुत्, उषा, सविता, पर्जन्य, अश्विनौ इत्यादि पर्यावरणीय देवता हैं।[1] गायों को रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की भगिनी, कहकर पुकारा गया है। वस्तुतः वैदिक पर्यावरण का ही विषय नहीं है, बल्कि जीवजगत् को देखने की दृष्टि, मानव समाज को परखने की समग्र दृष्टि और जीवन पद्धति है। यही नहीं बल्कि वेदों में[2] विभिन्न पशु–पक्षियों, उनके गुण विशेष, ऋतु आधारित लाभ तथा महत्त्व दर्शाए गए हैं।

ऋग्वेद का नदीसूक्त[3] जल की महिमा को अभिव्यक्त करता है। अथर्ववेद में भी पर्यावरणीय घटक जल का उल्लेख मिलता है। ऋषि कहते हैं–जल ही जीवन है, जल का नाम ही अमृत है तथा जल ही औषधि है।[4] अतः इसमें मातृभूमि को शुद्ध जल से प्रवाहित करने की स्तुति की गई है।[5]

वैदिक पर्यावरण विज्ञान की विशिष्टता, समस्त प्राकृतिक शक्तियों के देवत्व में विश्वास की अभिव्यक्ति है। वेदों में ऐसे पर्याप्त सूक्त

मिलते हैं, जो विविध प्राकृतिक तत्वों वनस्पति, यहाँ तक कि छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं को भी समर्पित है। प्राकृतिक तत्वों में देवत्त्व की प्रतिष्ठा जनमानस में उनके प्रति देववत् सम्मान के संस्कार जगाने हेतु है। सम्मान का संबंध मन से है, शरीर से नहीं। प्राणी जो मन से ध्यान करता है, वही वाणी से अभिव्यक्त करता है। जो वाणी से अभिव्यक्त करता है उसी को ही व्यवहार में लाता है। उसी का फल भोगता है। वर्तमान युग में पर्यावरण प्रदूषण के लिए अनेक कारण जिम्मेदार हैं। प्राकृतिक संसाधनों का अति मात्रा में विदोहन, वृक्षों तथा जीवों की अनेक प्रजातियों का समाप्त होना, कल-कारखानों का बढ़ता प्रभाव, फैक्ट्रियों और वाहनों से निकलता धुआँ, वातानुकूलन एवं प्रशीतन में प्रयोग होने वाली गैसें, परमाणु परीक्षण, वायु तथा जल प्रदूषण इत्यादि प्रमुख कारण है। इसके अतिरिक्त शहरीकरण तथा जनसंख्या वृद्धि भी पर्यावरण प्रदूषण के लिए जिम्मेदार है। वैदिक ऋषियों ने उन्हीं वृक्षों और वनस्पतियों, नदियों एवं पर्वतों में परम सत्ता के साक्षात्कार का अनुभव किया था। इसकी पराकाष्ठा हमें पुरुष सूक्त के उन मंत्रों में उपलब्ध होती है, जिसमें पुरुष के विभिन्न अंगों से विभिन्न देवताओं की उत्पत्ति दर्शाई गई है। सहस्त्रशीर्षा पुरुष के मन से चंद्रमा, आँखों से सूर्य, मुख से अग्नि, प्राणों से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पाँव से भूमि और कानों से दिशाओं की तथा अन्य लोकों की उत्पत्ति दर्शाई गई है।[6] यजुर्वेद के मंत्रों में ऐसा ही वर्णन अक्षरशः उपलब्ध होता है।[7] अथर्ववेद में ही ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।[8] उनके अनुसार वायु को परब्रह्म का प्राण और अपान माना गया है।[9] वैदिक देवताओं को समर्पित सभी सूक्त समान रूप से पर्यावरणीय शिक्षा से प्रेरित हैं। इनके अनुसार मानव जीवन से संबंधित सभी प्राकृतिक शक्तियों को देवत्व से युक्त स्वीकार किया है।

वेदों में पर्यावरण संरक्षण और संवर्द्धन का महत्त्व इस बात में निहित है कि प्रत्येक मानव प्रतिक्षण प्रकृति की रक्षा सचेत होकर करे ताकि प्रकृति उसके जीवन की सौ वर्ष तक रक्षा करे। यजुर्वेद में कहा गया है कि हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवन जीएं, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक अपने स्वः पर आधीन रहें तथा सौ से अधिक वर्षों तक सुखी रहें।[10] पर्यावरण सुरक्षा से संबंधित जो आचार-संहिता वेदों में दी गई है, ऐसी आचार-संहिता विश्व के किसी भी धर्मग्रंथ में नहीं है। पर्यावरण संरक्षण का महत्त्व और उसकी सुरक्षा, प्रकृति का सान्निध्य, संवेदनशीलता आदि अनेक सूत्र वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में न केवल पर्यावरण संरक्षण के सभी पहलुओं पर विचार किया है, बल्कि उनकी सुरक्षा के अनेक सूत्र दिए हैं, जिसके सान्निध्य में आज हम सुखमय जीवन व्यापन कर सकते हैं।

वैदिक साहित्य में पर्यावरण संरक्षण पर प्रकाश डालते हुए भूमि प्रदूषण, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण और अन्य प्रदूषणों के विविध पहलुओं पर विभिन्न वैदिक ऋचाओं में बतलाया गया है कि श्वास और निःश्वास रूप में दो प्रकार की वायु चलती है, एक बाहर से अन्दर की ओर तथा दूसरी अन्दर से बाहर की ओर। यह प्रथम वायु तुम्हें बल प्रदान कराए और दूसरी वायु शारीरिक दोषों को अपने

साथ बाहर ले आती है। 'शरीरान्त संचारी वायुः प्राणः' इससे जाहिर होता है कि वायु प्राण शक्ति का आधार है, जीवन शक्ति की दाता है। इसके बिना जीवन असंभव है।

आ वात वाहि भेषजं
वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो
देवानां दूत ईयसे॥[11]

जीवन के सम्यक् संचालन हेतु वायु प्रदूषण के प्रशमन की नितान्त आवश्यकता है। अथर्ववेद ऋचा में पर्वत, जल, वायु, वर्षा और अग्नि को पर्यावरण शुद्धि करने वाले तत्वों के रूप में परिगणित किया गया है।

द्वाविमौ वातौ वात
आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु
परान्यो वातु यद् रपः॥[12]

वायु में दो महत्वपूर्ण गुण हैं। वह प्राणवायु के द्वारा मनुष्य में जीवन शक्ति का संचार करना और अपान वायु के द्वारा सभी दोषों को शरीर से बाहर करना। इसीलिए वायु को विश्व भेषज कहा गया है क्योंकि यह सभी रोगों और दोषों को नष्ट करता है। वायु में अमृत तत्त्व है, जीवन तत्त्व है, जिसको यहाँ आक्सीजन कहा गया है। इसलिए हमें ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे वायु में अमृत तत्त्व अर्थात् ऑक्सीजन की हानि हो।

यददो वात ते गृहे
अमृतस्य निधिर्हितः।[13]
तेन नो देहि जीवसे॥

ऋग्वेद में इस मंत्र के माध्यम से यह जाहिर होता है कि हे वायु! तुम्हारे पास अमृत का खजाना है, तुम ही जीवन शक्ति के दाता हो। तुम संसार के जनक, भाई, मित्र और सभी रोगों की औषधि हो। ऋग्वेद के एक और मंत्र में स्वास्थ्य लाभ प्रदान करने तथा दीर्घायु होने की कामना से वायु की अभ्यर्थना की गई है।

वात आ वातु भेषजं
शंभु मयोभु नो हृदे।
प्राण आयूँषि तारिषत्॥[14]

वेदों में यह बतलाया गया है कि वायु प्रदूषण से बचने के लिए वनों में वनस्पतियों का अधिकाधिक संवर्धन करें।

वनस्पतिं वन आस्थाप्यध्वम्।[15]

वृक्ष सुरक्षा के लिए वायु सुरक्षा अति आवश्यक सूत्र है। अतः यजुर्वेद में कहा गया है–

वनानां पतये नमः, वृक्षाणां पतये
नमः, औषधीनां पतये नमः।[16]

अर्थात् वनों के पति को नमस्ते, वृक्षों के पति को नमस्ते, औषधियों के पति को नमस्ते। यहाँ वृक्षों और औषधियों के प्रति आदर सत्कार की भावना का समर्थन किया गया है।

वनाय वनपमन्यतो–
ऽरण्याय दावपम्।[17]

अर्थात् हे राजन! ईश्वरीय सृष्टि में जहाँ वन हैं, उस भू–भाग की हानि करने के लिए वन को जलाने वालों को दूर कीजिए अर्थात् उनको दण्डित कर उस स्थान से दूर रखने का प्रयास कीजिए।

पृथिवी देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा
हिसिपं.....[18]

पृथ्वी, जो विद्वान् लोगों के श्रेष्ठ कार्य

करने की जगह है और उस पर जो औषधियाँ तथा वनस्पतियाँ हैं, उनकी वृद्धि करें तथा उनके मूल को कभी नष्ट न करूँ।

तनूनपादसुरी विश्वेदा देवो देवेषु
पथोअनक्तु मध्वा घृतेन॥[19]

इस मंत्र से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों को वैज्ञानिक ज्ञान था कि हवा में कई प्रकार की गैसों का मिश्रण है, जिसके अलग-अलग गुण एवं अवगुण तथा महत्त्व है अर्थात् उत्तम गुण वाले पदार्थों, उत्तम गुण वाला प्रकाश रहित तथा सबको प्राप्त होने वाला (तनूपात) जो वायु को शरीर में नहीं गिराता वह कामना करने योग्य मधुर जल के साथ आदि मार्ग को प्रगट करे। तुम उसको जानो।

यज्ञ एक ऐसा मोक्षदायक, परोपकारमय और पर्यावरण शोधक, वायु शोधक तथा दैनिक अनिवार्य कर्त्तव्य है, जिसे शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है, जो वायु तत्त्व को यज्ञों की हवियों से शुद्ध करने का निर्देश देता है। शुद्ध वायु ही जीवन का आधार है।

मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो
नराशसोऽअग्ने
सुकृद्देवः सविता विश्वारः॥[20]

जो मनुष्य यज्ञ (हवन) में सुगन्धादि पदार्थों के होम से वायु, जल को शुद्ध कर सबको सुखी करते हैं, वे स्वयं सब सुखों को प्राप्त करे।

हविष्मतीरिमा आपो हविष्माँ आ
विवासति।
हविष्मान् देवो अध्वरो
हविष्मां अस्तु सूर्यः॥[21]

यज्ञ की हवियों के द्वारा हम जल, आकाश और सूर्य को शुद्धता प्रदान करें।

यो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति॥[22]

यज्ञ सभी जड़-चेतन प्राणियों का पालन-पोषण तथा संरक्षण करता है। यज्ञ जीव-जगत का आधार है। यज्ञ ही विष्णु का स्वरूप है। यज्ञ सभी प्राणियों में समाविष्ट है। यज्ञिय की आहुति जहाँ एक ओर शान्तिदायक बादलों को उत्पन्न करती है, वहाँ वातावरण में भी माधुर्य का संचार करती है। ऋग्वेद में सिन्धु, औषधि वनस्पति, पृथिवी, द्यौ आदि सभी के मधुयुक्त होने की बात कही गई है। पर्यावरण की यह समरसता यज्ञ द्वारा ही संभव है। ऋग्वेद में द्यावा पृथिवी को घृत से घिरा हुआ और घृत को धारण करने वाला ही बतलाया है। यज्ञ में जो आहुति दी जाती है वह घृत सूक्ष्म होकर धावा पृथिवी में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। यज्ञ एक प्रकार का विज्ञान है। इसकी सभी क्रियाएँ वैज्ञानिक परीक्षणों पर खरी उतरती हैं। परंतु ध्यान देने की बात यह है कि हवनकुंड का नाप, यज्ञ का विधि-विधान, समय और दिशाएँ बदलती ऋतुएँ, प्रयोग विधि सभी उचित रीति और नीति से होना आवश्यक है। इसके लिए गोघृत होना आवश्यक है। गोघृत के अभाव में यज्ञ संभव नहीं है। गोघृत में ही यह शक्ति है कि वह जल व वायु में मिले विष को तत्काल समाप्त कर देता है। गोघृत तथा गो दुग्ध में सूक्ष्मरूप से ऊर्जा छिपी रहती है। गाय सूर्य से ऊर्जा लेकर इसे अपने दूध में घोल देती है। जब गोघृत को चावलों के साथ मिश्रित करके होम किया जाता है तो इससे एसिटिलीन नामक तत्त्व उत्पन्न होता है जो कि प्रदूषित वायु को शुद्ध कर देता है। यज्ञ

में आहुति डालने से वायुमंडल में पर्यावरण शुद्धि होती हे। उसी से सभी जीवों को परमसुख होता है।

वर्तमानकाल में यज्ञ में न्यूनता आने के कारण पृथ्वी का वायुमंडल बिगड़ रहा है, जिससे अनेक प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न हो रही हैं। हवन से वायु शुद्ध होती है, जिससे सुवृष्टि होती है। उससे शरीर निरोग और मानव की प्रज्ञा विकसित होती है। स्वामी दयानंद जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश में बताया है कि अग्निहोत्र से वायु-वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होता है अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास, स्पर्श, बल, पराक्रम, बढ़कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वेदों में पर्यावरण के घटक तत्त्वों पृथ्वी, जल तथा वायु आदि की शुद्धि का पर्याप्त बल दिया गया है। समस्त जीव वायुमंडल से प्राण, वायु-पृथिवीमण्डल से भोजन तथा जलमंडल से जल को ग्रहण करते हैं। इन्हीं के ऊपर हमारा जीवन निर्भर है। आज ये तीनों ही मंडल दूषित हो गए हैं। परिणामस्वरूप पर्यावरण समस्या उत्पन्न होने से जीवन जीना कठिन हो गया है। वेदों में इन तीनों ही मंडलों की सुरक्षा पर पर्याप्त बल दिया गया है। वेद विज्ञान के ऋषि भूमि को माता मानकर चलते हैं।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।[23]

पृथ्वी जड़ पदार्थ होने पर भी ऐसा नहीं है कि हम इसका दोहन करते जाएँ तथा बदले में इसकी सुरक्षा का प्रयत्न न करें। यदि हमें पृथ्वी नामक महाभूत को दोषमुक्त रखना है तो माता के समान इसकी रक्षा करनी होगी। इसलिए वैदिक ऋषि भूमि सुरक्षा करने की प्रार्थना बार-बार करते हैं।

पृथिवी में अपनी एक स्वाभाविक गंध होती है, परंतु पर्यावरण प्रदूषण के कारण वह गंध समाप्त हो गई है। खेती में डाले गए रासायनिक खादों ने भी पृथिवी के स्वरूप को बदल दिया है। यही हाल जल, नदियों तथा समुद्र का है। नदियों में फेंके गए शवों, कूड़े तथा दूषित जल के मिश्रण से नदियों का वह स्वरूप नहीं रह गया, जिसके लिए वेद में मधु क्षरन्ति सिन्धव कहा गया था। अथर्ववेद में स्पष्ट कहा गया है कि शुद्ध जल ही हमारे शरीर के लिए चलता रहे, अशुद्ध नहीं।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु।[24]

ऋग्वेद में तो जलाशयों के किनारे पर खड़े वृक्षों को काटने का भी निषेध किया गया है।

यदर्णसं मौषथा वृक्षं
कपनेव वेधसः।[25]

पृथिवी तथा जल तत्त्व की भांति आज अन्तरिक्ष भी पूर्णतः दूषित है। परमाणु शस्त्रों के परीक्षण से अन्तरिक्ष भी पूर्णतः प्रदूषित हो गया है। वैदिक ऋषियों को इस बात का अहसास था कि भूमि, द्यौ, अन्तरिक्ष, जल, वनस्पति आदि प्रदूषित हो जाएँगे तो जीवन दूभर हो जाएगा। इसीलिए वेद इन सभी की शांति की बात कहता है। पवित्र शांति मंत्र में पृथिवी, अन्तरिक्ष, वनस्पति और औषधि आदि तत्त्वों की शांति की बात कही गई है। इन तत्त्वों को प्रदूषण मुक्त रखना ही उनकी शांति है। इसलिए इन्हें प्रदूषण रहित रखने का एक ही साधन है वैदिक रीति से यज्ञ करना और

करवाना। वैदिक ऋषियों की मूल मान्यताओं के आधार पर ही प्रदूषण मुक्त समाज की स्थापना की जा सकती है।

मानव की स्वार्थवश प्रकृति से ही पर्यावरण की समस्या उत्पन्न हुई है। आज मानव ने अपने निहित स्वार्थ के लिए भूमि, जल, वन, पर्वत, नदी, आकाश आदि प्राकृतिक साधनों का अत्यधिक मात्रा में विदोहन किया है। इतना ही नहीं, अपितु अपने आपको सर्वश्रेष्ठ तथा विवेकशील प्राणी घोषित करते हुए वह न केवल प्रकृति अपितु पशु-पक्षियों को भी अपने उपभोग की वस्तु समझता है। मानव की ऐसी धारणा अवैदिक और अमानवीय है। प्राचीनकाल में ऋषियों ने प्रकृति अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों के साथ सामंजस्य बनाया हुआ था। इसलिए हमारे प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में प्रकृति का मानवीकरण किया गया है। जड़ पदार्थों के साथ भी चेतन प्राणी के समान आदर और सम्मान स्थापित किया है। जड़ और चेतन को एक समान माना है। हमारे ऋषि प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाकर चलते थे। प्रकृति और पुरुष के प्रति सामंजस्य था। एक-दूसरे के सहायक थे। आज मानव भोगवादी प्रवृत्ति के कारण प्रकृति का कसाई बन गया है। जिसके कारण प्रकृति समय-समय पर अपना बदलता रूप दिखाती है।

ऋग्वेद के अरण्यानी सूक्त में वन की महत्ता का सुन्दर चित्रण किया गया है। अथर्ववेद में पृथिवी सूक्त में हरे-भरे वनों एवं पर्वतों से आच्छादित पृथ्वी की कामना की गई है।

गिरयस्ते पर्वता हिम-
वन्तोऽरण्यंते पृथिवी स्योनमस्तु।।[26]

यहीं पर यह भी कहा गया है कि भूमि पर वृक्ष तथा वनस्पतियाँ स्थाई रूप से खड़े रहें।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या
ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।।[27]

रात्रि में वृक्ष मनुष्य की तरह सोते हैं, अतः इन्हें काटना नहीं चाहिए। जनसाधारण में प्रचारित यह धारणा प्रकृति के मानवीकरण का ही परिणाम हे। अथर्ववेद में **वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय** कहकर वनस्पति से लोकजीवन को उन्नत बनाने की प्रार्थना की गई है।

वस्तुतः आज का युग वैज्ञानिक परीक्षणों पर आधारित होता जा रहा है। भौतिकता की अंधी दौड़ में मानव प्रकृति रक्षा की बात बिल्कुल भूल गया है। जड़ और चेतन की एकात्मकता की भावना जो वेदयुगीन समय में स्थापित थी, उसको मानव समाज ने विस्मृत कर दिया है। वैदिक युग में पर्यावरण तथा प्रकृति रक्षा के विभिन्न मूल मंत्र, सूत्र और प्रमुख घटकों, उनके स्रोत, उनका धार्मिक महत्त्व, प्राकृतिक संरचना, पारिस्थितिक तंत्र में उनके महत्त्व, उनके शुद्ध स्वरूप को विकृत करने वाले कारक, उनकी रोकथाम तथा पृथ्वी और प्राकृतिक साधनों के पारस्परिक संतुलन पर ही प्राणी मात्र के अस्तित्व की निर्भरता का वैज्ञानिक दृष्टिकोण पूर्णतया विकसित हो चुका था। भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण के प्रति चेतना, जागरूकता एवं संवेदनशीलता वैदिक युग से ही प्राप्त होने लगी। वर्तमान भौतिकवादी, यांत्रिक, कृत्रिमतापूर्ण सभ्यता के दौर में वैदिक पर्यावरणीय, आध्यात्मिक, संतुलित, समग्र दृष्टि अत्यंत उपयोगी साबित हो सकती है।

पाद-टिप्पणियां

1. ऋग्वेद 1/139/11
2. अथर्ववेद 2/31/3, 5/13/5-8, 5/14/1, 6/50/2 यजुर्वेद 24/20, 24/22-25, 24/29
3. ऋग्वेद 10/75
4. अथर्ववेद 1/4/3, 1/6/4, 1/4/4, 3/7/5, 1/6/1
5. अथर्ववेद 12/1/30
6. ऋग्वेद 10/90/13-14
7. अथर्ववेद 31 : 12-13
8. अथर्ववेद 10/7/12
9. अथर्ववेद 10/7/34
10. यजुर्वेद 36-24
11. ऋग्वेद 10/137/3
12. ऋग्वेद 10/137/2
13. ऋग्वेद 10/186/3
14. ऋग्वेद 10/186/1
15. यजुर्वेद 5/43
16. यजुर्वेद 16/18-19
17. यजुर्वेद 30/19
18. यजुर्वेद 1/25
19. यजुर्वेद 27/12
20. यजुर्वेद 7/13
21. यजुर्वेद 6/23
22. शतपथ ब्राह्मण 9, 4.1.11
23. अथर्ववेद 12/1/12
24. अथर्ववेद 12/1/30
25. ऋग्वेद 5/54/6
26. अथर्ववेद 12/1/11
27. अथर्ववेद 12/1/27

✦✦✦

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। -अथर्व. 1.34.2
मेरे जिह्वाग्र पर मिठास हो, जिह्वामूल में मिठास हो।

वाचा वदामि मधुमत्। -अथर्व. 1.34.3
वाणी से मधुर भाषण करूँ।

गोसनिं वाचमुदेयम्। -अथर्व. 3.20.10
गो-दूध जैसी मीठी वाणी बोलूँ।

पयस्वन्मामकं वचः। -अथर्व. 3.24.1
मेरा वचन रसीला हो।

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि। -अथर्व. 12.1.58
जो कुछ बोलूँ मीठा बोलूँ।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (105-108) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

योग एवं वैदिक साहित्य में 'अहिंसा'

(वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता)

डॉ. राम हरीश मौर्य[1]

गोरखपुर

अनिष्टकारिता का अभाव, किसी प्राणी को न मारना, मन, वचन, कर्म से किसी को पीड़ा न देना अहिंसा है। अहिंसा व्यक्तिनिष्ठ नहीं समाजनिष्ठ है। यह न केवल योगी के लिए अपितु प्रत्येक व्यक्ति के लिए सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है। अहिंसादि को महर्षि पतञ्जलि ने सार्वभौम महाव्रत कहा है जिनमें कि जाति, देश, काल, समयादि किसी भी प्रकार से न किये जाने की छूट नहीं है।[2] अहिंसा की सिद्धि के लिए ही दूसरे यम और नियम हैं। योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने लिखा है–'**अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।**[3]' सब प्रकार (शरीर, वाणी, और मन) से सब कालों में सब प्राणियों में पीड़ा देने की भावना का परित्याग करना अथवा वैर भाव न रखना 'अहिंसा' है। '**सर्वथा कायेन मनसा वाचा सर्वदा प्राणात्ययादिसङ्कटकालेऽपीत्यर्थः, स्थावर-जङ्गमादिसर्वप्राणिनामनभिद्रोहः पीडन-बुद्धिराहित्यामित्येव योगाङ्ग- भूताऽहिंसा।**[4]' '**प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा, सा च सर्वानर्थहेतुः, तदभावोऽहिंसा।**[5]' '**अहिंसा नाम मनोवाक्कायैः सर्वदा सर्वभूतानामपीडनं परः शुक्ल एष धर्मः।**[6]' '**कायेन मनसा वाचा प्राणिपीडनवर्जनम्। मूलं यत् सर्व-धर्माणां साऽहिंसा योगिभिर्मता।।**[7]' योगदर्शन के अन्य आचार्य एवं विद्वान् यथा दार्शनिक शिरोमणि भाव गणेश[8], नागोजीभट्ट[9], अनन्तदेव[10], सदाशिवेन्द्र सरस्वती[11] आदि ने भी अहिंसा को लगभग उक्त प्रकार से ही परिभाषित किया है। उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि हिंसा तीन प्रकार की होती है–(क) **कायिक हिंसा**–ईष्या, द्वेष, लोभादि के वशीभूत होकर किसी प्राणी का प्राण हरण करना, अङ्ग भंग करना या अन्य प्रकार से शरीर पीड़ा पहुँचाना कायिक हिंसा है '**कायेन हस्तादिना।**[12]' (ख) **मानसिक हिंसा**–किसी के मन को क्लेश देना मानसिक हिंसा है। '**मनसा सङ्कल्पेन।**[13]' (ग) **वाचिक हिंसा**–कठोर भाषण के द्वारा दूसरों को कष्ट पहुँचना वाचिक हिंसा है। '**परुषया मर्म्मच्छिदा वाचा।**[14]' उक्त तीनों प्रकार की हिंसा का सर्वथा परित्याग करना ही अहिंसा है। अर्थात् किसी के चित्त में द्रोह करना, द्वेष करना, दूसरों की भलाई न देख सकना, उनसे शत्रुता आदि हिंसा के अन्तर्गत आता है, ऐसा न करना ही अहिंसा है। श्रीमद्भगवद् गीता के भाष्य में आचार्य शंकर ने लिखा है–'**अहिंसा**

अहिंसनं प्राणिनाम् अपीडनम्।[15]' अहिंसा– हिंसा न करना अर्थात् प्रणियों को कष्ट न देना।

महाभारत के शान्ति पर्व में अहिंसा को स्पष्ट करता हुआ महात्मा भीष्म का यह वाक्य है–'**अहिंसा सकलो धर्मो हिंसा-धर्मस्तथाहितः।**[16]' अहिंसा ही सम्पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है और अधर्म अहितकारक होता है। मनुस्मृति में हिंसा न करने का निर्देश दिया गया है–'**अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।।**[17]' धर्म की इच्छा करने वाला मनुष्य प्राणियों को अहिंसा से ही कल्याण के लिये शिक्षा दे और मीठी तथा कोमल वाणी बोले। '**नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः। ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यं तामुदीरयेत।।**[18]' दुःखी होने पर भी न तो दूसरे का मन दुखायें और न दूसरे से द्रोह करने में मन लगावें। जिससे किसी को दुःख हो ऐसी बुरी वाणी न बोले। उक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि अहिंसा सभी धर्मों का मूल है। कदाचित् महर्षि पतञ्जलि ने यम–नियम में अहिंसा को पहला स्थान दिया है। व्यास मुनि ने लिखा है–'**उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्त-त्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रति-पाद्यन्ते।**[19]' अहिंसा के बाद में बताये गये सत्यादि चारों यम और शौच आदि पाँचों नियम अहिंसा मूलक है। अहिंसा की सिद्धि करना ही इनका मुख्य उद्देश्य है अतः अहिंसा की सिद्धि के लिए ही दूसरे यम और नियम का प्रतिपादन किया जाता है। '**तत्प्रतिपादनाय अहिंसानिष्पत्तये प्रतिपाद्यन्ते गृह्यन्ते।**[20]' महर्षि पतञ्जलि के विचार में केवल पर पीड़ा का त्याग करना ही अहिंसा नहीं अपितु सुखी के प्रति मित्रता, दुःखी के प्रतिकरुणा, पुण्यवान् के प्रति प्रसन्नता और पापी के प्रति उपेक्षा भाव रखकर चित्त को निर्मल करने का भाव भी अहिंसा के अन्तर्गत आता है। '**मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्।**[21]'

वैदिक साहित्य यथा ईशादि प्रधान उपनिषदों में अहिंसा का पृथक् स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु अहिंसा का बीज वैदिक साहित्य अथवा ईशादि प्रधान उपनिषदों में पाये जाते है। ईशादि से भिन्न योगपरक उपनिषदों में अहिंसा आदि का वर्णन योगदर्शन के समान ही महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। वेद हिंसा न करने का उपदेश देता हुआ कहता है। '**मा स्त्रेधत सोमिनः।**[22]' सोमस्वरूप परमेश्वर को चाहने वाले साधको! तुम किसी की हिंसा मत करो। '**न स्त्रेधन्तं रयिर्नशत्।**[23]' हिंसक जन को ऐश्वर्य नही मिलता। '**तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे।।**[24]' जो व्यक्ति हिंसा नहीं करता, वह विद्वान् पुरुष संकटों को पार करता हुआ विजय प्राप्त कर राष्ट्र को समृद्ध एवं ऐश्वर्य युक्त बनाता है। अतः '**मा हिंसी पुरुषं जगत्।**[25]' योग साधक को अहिंसा का पालन करना चाहिए। साधक प्रार्थना करता है। **विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।**[26] हे सविता देव! हमारे सम्पूर्ण दुर्गुणों, दुर्व्यसनों, दुःख दारिद्र्य तथा अशुभ आचरणों को दूर कीजिए। महायोगीदत्तात्रेय जी ने अपने शिष्य साङ्कृत से अहिंसा का स्पष्ट निरूपण करते हुए कहा है–

वेदोक्तेन प्रकारेण
विना सत्यं तपोधन।

कायेन मनसा वाचा
हिंसा हिंसा न चान्यथा॥

आत्म सर्वगतोऽच्छेद्यो न
ग्राह्य इति या मतिः।
सा चाहिंसा वरा प्रोक्ता
मुने वेदान्त वेदिभिः॥[27]

हे तपोधन! वेद में वर्णित विधि के अतिरिक्त मन, वाणी एवं शरीर के द्वारा यदि किसी को किसी भी तरह से पीड़ित किया जाता है अथवा उससे प्राणों को शरीर से अलग कर दिया जाता है, तो वही वास्तविक हिंसा कही गयी है। इससे भिन्न और कोई हिंसा नही है। हे मुने! यह भाव रखना चाहिए कि आत्म तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, शस्त्र आदि के द्वारा वह नष्ट नहीं हो सकता। हाथों से या अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी आत्मा का ग्रहण होना असम्भव ही है। अतः इस तरह से जो श्रेष्ठ बुद्धि है, उसे ही वेदान्त के मर्मज्ञ विद्वानों ने श्रेष्ठ 'अहिंसा' कहा है। महर्षि शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि को अहिंसा का उपदेश इस प्रकार दिया है–'**अहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदा-ऽक्लेशजननम्**'।[28] अहिंसा का तात्पर्य है–मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्यों के द्वारा किसी भी प्राणी को कभी भी दुःख न देना। किन्तु किसी के कल्याण के लिए यदि उसे उक्त तीनों प्रकार का कष्ट पहुँचे तो अहिंसा ही कही जायेगी। जैसे शिक्षार्थ किसी को ताड़ना देना या रोग निवारण हेतु किसी को कटु औषधि देना, आपरेशन करना अहिंसा ही है।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि योगी के लिए तथा वर्तमानसमाज के लिए तो अहिंसा का उच्चतम स्वरूप प्राणिमात्र में अपनी आत्मा को व्यापक रूप से देखना है। यथा–'**यस्तु सर्वाणिभूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥**'[29] जो साधक सभी भूतों जड़–चेतन सृष्टि को आत्मतत्त्व में ही स्थित अनुभव करता है तथा सभी भूतों के अन्दर इस आत्म तत्त्व को समाहित अनुभव करता है, तब वह सर्व आत्मदर्शन के कारण किसी से घृणा नहीं करता। आत्मघाती या अनुशासन का उल्लंघन करने वाले लोगों को बताया गया है कि–**असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥**[30] जो कोई आत्मघाती लोग होते हैं। अन्तः करण को मलिन करने वाले हैं, वे मरकर उन लोकों में अर्थात् योनियों में जाते हैं जो असुरों के लोक कहलाते हैं और घने अंधेरे से ढके हुए हैं, अर्थात् ज्ञान रहित मूढ नीच योनियों में जाते है।

वैदिक काल से ही हिंसा न करने का निर्देश किया जा रहा है। अहिंसा से ही नैतिक मूल्यों का विकास होता है। हिंसा ही सभी समस्याओं की जड़ है। यदि तत्कालीन समाज में अहिंसा का पालन किया जाय तो देश एवं समाज में व्याप्त अनेक समस्याओं का हल स्वतः ही हो जायेगा। क्षेत्रवाद, भाषावाद, धर्मान्धता, आर्थिक विषमता, समन्वय का अभाव, न्यायपालिका की दुर्बलता आदि समस्याओं की जड़ में अहिंसा का अभाव ही है। वर्तमान में अतंकवाद विश्व के लिए एक चुनौती बनकर खड़ा हैं। इस समस्या का समाधान भी अहिंसा एवं नैतिकता की शिक्षा द्वारा किया जा सकता है। अहिंसा की शिक्षा से कर्तव्याकर्तव्य की भावना को जगाया जा सकता है। मानव में सत्यभाषण, सद्व्यवहार

अहिंसा वृत्ति के द्वारा ही जागृत होती है। अहिंसा वृत्ति के परिपालन में भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, महात्मा गाँधी आदि ने अपने जीवन ही व्यतीत कर दिये। महात्मा गाँधी के सत्य और अहिंसा नाम के दो शक्तिशाली हथियार थे। जिनके बल पर उन्होंनें देश को स्वतन्त्र कराया। मेरे दृष्टि में तो सबसे बड़े अहिंसक महर्षि दयानन्द है। जिन्होंने विष देने वाले ब्राह्मण जगन्नाथ को भी मुक्त कर दिया था। अहिंसा का महत्त्व और आवश्यकता को देखते हुए भारतीय संविधान में नागरिक के मूल कर्तव्य में कहा गया है कि "हम सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करें"।[31] नीति निदेशक तत्त्व में कहा गया है कि–**"पर्यावरण संरक्षण तथा संवर्धन और वन्य जीवों की रक्षा करना"**।[32] अहिंसा की महत्ता को स्वीकार करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O) द्वारा 02 अक्टूबर 2008 से ही 02 अक्टूबर को **'अन्तर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस'** मनाने की मान्यता प्रदान कर दी है।

पाद-टिप्पणियां

1. दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्व-विद्यालय गोरखपुर,
   E-mail Id: rhms.bhm@gmail.com
2. योगदर्शन – 2/31
3. योगदर्शन–व्यासभाष्य–2/30
4. व्यासभाष्य–भास्वती टीका–2/30
5. योगदर्शन–राजमार्तण्ड–2/30
6. योगदर्शन–मणिप्रभा–2/30
7. योग कारिका–64
8. योगदर्शन–प्रदीप टीका–2/30
9. योगदर्शन–नागोजी भट्टवृत्ति–2/30
10. योगदर्शन–चन्द्रिका टीका–2/30
11. योगदर्शन–योग सुधाकर–2/30
12. योगकारिका–64
13. योगकारिका–64
14. योगकारिका–64
15. भगवद्गीता–13/7
16. महाभारत शान्तिपर्व–272/20
17. मनुस्मृति–2/159
18. मनुस्मृति–2/161
19. योगदर्शन–व्यासभाष्य–2/30
20. व्यासभाष्य–भास्वती टीका 2/30
21. योगदर्शन–1/33
22. ऋग्वेद–7/32/9
23. ऋग्वेद–7/32/21
24. ऋग्वेद–7/32/9
25. यजुर्वेद–16/3
26. ऋग्वेद–5/82/5
27. जाबालदर्शनोपनिषद्–1/7-8
28. शाण्डिल्योपनिषद्–1/1
29. ईशावास्योपनिषद्–06
30. ईशावास्योपनिषद्–03
31. भारतीय संविधान–भाग 04 अनुच्छेद 51 क (ङ)
32. भारतीय संविधान–भाग 04 अनुच्छेद 48 क

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (109-116) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में प्रतिपादित जीवन दर्शन एवं उसकी प्रासंगिकता

डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग गु.कां.वि. हरिद्वार

सामान्यत: जीवन दर्शन से अभिप्राय उस दार्शनिक सिद्धान्त से है–जो मनुष्य के व्यक्तिगत एवं समष्टिगत – जीवन के दोनों ही स्तरों पर मार्गदर्शनकारी सिद्ध होता है। यह मानव जीवन एवं संसार के प्रति एक समग्र दृष्टि है। जिसके अन्तर्गत व्यक्ति का तात्त्विक दृष्टिकोण, जीवन-मूल्य और उद्देश्य तथा उन्हें प्राप्ति के साधन आदि सभी प्रमुख तत्त्वों का समावेश हो जाता है। जीवन दर्शन मनुष्य के चिन्तन, आचरण और सामाजिक प्रगति को मुख्य रूप से प्रभावित करता है।

किन्तु जहाँ तक वेदों में प्रतिपादित जीवन दर्शन सम्बन्धी स्वरूप का प्रश्न है– जो प्रस्तुत शोधनिबन्ध के अन्तर्गत मुख्य रूप से विचारणीय विषय भी है। उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वैदिक जीवन दर्शन समग्रतावादी है। क्योंकि यह त्रैतवादी तत्त्वदृष्टि पर आधारित है।[1] जिसके अनुसार यह संसार तीन मूलभूत तत्त्वों से निर्मित है– ईश्वर[2], जीव[3] और प्रकृति[4]। ये तीनों सत्तायें अनादि एवं स्वयं सिद्ध हैं। यथा–**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते[5]।** इस दृष्टि से त्रैतवाद पर आधारित जीवन दर्शन समन्वयवादी है क्योंकि अध्यात्ममूलक सत्ता परमात्मा, अस्तित्व बोधक सत्ता जीवात्मा और यथार्थ परक सत्ता प्रकृति–इन तीनों को मूल तत्त्व रूप में वैदिक परम्परा में माना गया है अत: तीनों की मूल विशेषतायें इस जीवन दर्शन के रूप में विचारणीय भी हैं और जीवन जगत् के प्रति मनुष्य के समग्रतावादी दृष्टिकोण को निर्मित करने की दिशा में अग्रसर करता है जिसकी वर्त्तमान के साथ-साथ हर युग में नितान्त आवश्यकता रही है।

इस समन्वित तात्त्विक दृष्टि का प्रभाव मनुष्य के जीवन उद्देश्य पर स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। वेदों में मनुष्य को अभ्युदय एवं नि:श्रेयस की दिशा में अग्रसर करने हेतु अनेक प्रार्थनाएं दृष्टिगोचर होती हैं यथा– **"स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानां आयु:.....।"**[6] पुरुषार्थ चतुष्ट्य की वैदिक अवधारणा भी इसी जीवन दर्शन का अभिन्न अंग है। इस अवधारणा से मनुष्य के जीवन सम्बन्धी दोहरे उद्देश्य का बोध होता है। अभ्युदय के अन्तर्गत अर्थ एव काम की संसिद्धि का पता चलता है जब कि निश्रेयस के अन्तर्गत मुक्ति का प्राप्तव्य आदर्श मानव मात्र के लिये अनुकरणीय हो जाता है और धर्म वह प्राथमिक पुरुषार्थ है जो एक ओर मनुष्य के अर्थोपार्जन और काम नामक पुरुषार्थ के सम्मुख लक्ष्मण रेखा की भूमिका अदा करता है किन्तु दूसरी ओर लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन उद्देश्य को जोड़ने

वाली आधारभूत कड़ी की महत्त्वपूर्ण भूमिका भी अदा करता है इसी हेतु वैदिक जीवन दर्शन के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को स्वीकार किया गया।[7] इस दृष्टि से विचार करने से उपर्युक्त चार पुरुषार्थ मनुष्य की लौकिक एवं पारलौकिक सम्बन्धी मूल आकांक्षाओं को पूर्ण करने वाली एक समग्र एवं सन्तुलित जीवन दृष्टि के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं जो कि पुरुषार्थ चतुष्टय पर आधारित वैदिक जीवन दर्शन की एक उल्लेखनीय विशेषता है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि जहाँ चार्वाक दार्शनिकों ने भोग भौतिकता केन्द्रित जीवन दर्शन अपनाया है।[8] वहीं इसके विपरीत बौद्धों और अद्वैतवादियों ने आध्यात्मिक मुक्ति को जीवन का एक मात्र लक्ष्य घोषित किया है।[9] किन्तु मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि वह जीवन में सांसारिक भोग एवं आध्यात्मिकता/भगवान् दोनों से जुडा रहे। किसी एक को वह सर्वथा न खो बैठे। जीवन की यह एक वास्तविकता है कि–**भोजन बिन भजन न होय गोपाला। या ले अपनी कंठी अरू माला।।** किन्तु भोग अन्ततः कब तक? क्या भोग केवल भोग के लिये हो? या जीवन में भोग का कोई अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भी है? वस्तुतः जीवन की दूसरी कटु सच्चाई है कि भोग की भी एक समयावधि होती है। उससे आगे अशक्त तन और थका मन क्या भोग की ओर उन्मुख होगा? इसीलिये भर्तृहरि को यह कहना पडा कि–**भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता–स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।**[10] अतएवं यह कहना अधिक सुसंगत एवं प्रासंगिक होगा कि–भोग और भगवान् इनमे से सन्तुलित जीवन के लिये किसी एक का भी सर्वथा परित्याग न किया जाय इसके लिये समन्वयकारी कड़ी के रूप में धर्म की रचनात्मक भूमिका उल्लेखनीय हो जाती है। इस रूपक के द्वारा प्रस्तुत वास्तिवकता को समझा जा सकता है। यदि भोग और भगवान् नदी के दो किनारे हों तो उन्हें जोडने वाली बीच की प्रवाहमान जलधारा को हम धर्म समझ सकते है। इस दृष्टि से धर्म वैदिक जीवन दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व बन जाता है।

अतः वैदिक जीवन दर्शन को स्वरूपतः समझने के लिये धर्म के मूल स्वरूप पर प्रथमतः दृष्टिपात किया जाना आवश्यक है। यद्यपि धर्म अनेक अर्थों का वाचक है यथा–गुण, स्वरूप, सम्प्रदाय–संगठन, मजहब, नैतिक नियम, सदाचरण मूलक सिद्धान्त आदि। तथापि प्रस्तुत सन्दर्भ मे धर्म से आशय नैतिक नियम अथवा सदाचरण मूलक सिद्धान्त से है। जिसे **महर्षि मनु ने दश लक्षण युक्त धर्म माना है यथा–धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय–निग्रह धी, विद्या, सत्य एवं अक्रोध।**[11] महर्षि दयानन्द ने उक्त लक्षणों के साथ अहिंसा को भी सम्मिलित करते हुये एकादश लक्षण युक्त धर्म का वास्तविक स्वरूप माना है उक्त लक्षणों को सार्वभौम, सार्वकालिक/सनातन धर्म का स्वरूप निर्धारित करने के लिये प्रामाणिक कसौटी माना जा सकता है।

महर्षि मनु, व्यास, जैमिनी और कणाद आदि से दयानन्द सरस्वती पर्यन्त सभी ऋषि महर्षियों ने धर्म का मूल स्रोत वेद माना है दयानन्द के शब्दों में **जो पक्षपातरहित न्याय आचरण सत्यभाषण आदि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको धर्म और जो पक्षपात सहित अन्याय आचरण मिथ्या**

भाषण आदि ईश्वराज्ञाभंग वेद विरुद्ध है उसको अधर्म मानता हूँ।[12] इस दृष्टि से धर्म की भूमिका मानव जीवन में निर्देशनकारी है कोई कार्य किया जाना है अथवा नही?–इसका ठीक–ठीक निर्णय धर्मानुशीलन द्वारा ही सम्भव है इसीलिये महर्षि दयानन्द ने अर्थ एवं काम–इन दोनों लौकिक पुरुषार्थो के स्वरूप निर्धारण में धर्म की भूमिका को निर्णायक कसौटी के रूप में माना है। जैसा कि अर्थ एवं काम सम्बन्धी उनके विचारों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है। उनके शब्दों में–**अर्थ वह है जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय और जो अधर्म से सिद्ध होता है उस को अनर्थ कहते है।**[13] पुनः काम नामक पुरुषार्थ के विषय में भी उनका यह कहना है कि–**काम वह है जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय।**[14]

वेद के अतिरिक्त सदाचारी सत्यवक्ता विद्वानों का व्यवहार भी धर्म का एक प्रामाणिक स्त्रोत समझा जाता है।[15] इसे वैदिक दर्शन परम्परा के अन्तर्गत शब्द प्रमाण के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। इनके अतिरिक्त धर्म–अधर्म/कर्तव्य–अकर्तव्य के निर्धारण में तर्क की भी उल्लेखनीय भूमिका है।[16] इसका समुचित ज्ञान द्विधा में फसे व्यक्ति को प्रायः तब होता है जब व्यक्ति चौराहे पर खड़ा हो। उसे सही दिशा/मार्ग का ज्ञान नहीं हो पा रहा हो तब अज्ञानान्धकार की अवस्था में तर्क उसका एक बड़ा सम्बल बन सकता है। परन्तु इनके अलावा अन्तरात्मा की आवाज को भी धर्म का वास्तविक स्वरूप बोध कराने में निर्णायक कसौटी के रूप में विभिन्न विश्व प्रतिष्ठित दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। इनमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों परम्पराओं के चिन्तक मनीषी सम्मिलित हैं। यथा ब्रह्मा, मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास, पतंजलि गौतम, शंकर, रामानुज, दयानन्द, श्री अरविन्द, म.गांधी, जेपी., रामदेव आदि भारतीय परम्परा से[17] और पाश्चात्य परम्परा से सुकरात, प्लेटो, स्पिनोजा, काण्ट, शेफ्टसबरी कडवर्थ, क्लार्क, आदि।[18]

उपर्युक्त विवेचन से यह धारणा तर्कतः एवं व्यवहारतः स्वीकार की जा सकती है कि वैदिक जीवन दर्शन के अन्तर्गत धर्म से तात्पर्य किसी विशेष मत–पन्थ, विश्वास और उसमें उल्लेखीत पूजा–पद्धति अथवा कर्मकाण्ड आदि से नहीं है अपितु ज्ञान, सत्य, न्याय, पवित्रता, धैर्य, संयम, अस्तेय और परोपकार आदि शाश्वत मूल्यों के मानव जीवन में धारण किये जाने से है। इसीलिये वैदिक जीवन दर्शन द्वारा व्यक्ति अथवा समाज को यह अनुमति नहीं देता कि वह अर्थ और काम जैसे लौकिक पुरुषार्थ की संसिद्धि हेतु कोई समाधान तथा कार्य प्रणाली अपना सकता है, जैसा कि हम वर्तमान पश्चिमी उपभोगवादी सभ्यता के अन्तर्गत ऐसा स्पष्टतः देख सकते है।[19] अतः वैदिक दृष्टिकोण से उक्त भोग प्रधान जीवन–दृष्टि सर्वथा एकांगी, खण्डनीय, हेय एवं ताज्य है। इसके लिये आध्यात्मिक विकास एवं मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार किया जाना आवश्यक है। अन्यथा इसके अभाव में मनुष्य आधुनिक भोग केन्द्रित जीवन–शैली में फंस कर रह जायेगा और उससे बाहर निकलने की सम्भावना समाप्त प्रायः रह जायेगी।

परन्तु मुक्ति जैसी पारलौकिक अवधारणा केवल भारतीय दर्शन में दृष्टिगोचर होती है। और भारतीय दर्शन में भी वेद, उपनिषद्,

भगवद्गीता एवं षड्दर्शन परम्परा में मुक्ति के विषय में तात्त्विक तथा आचार मूलक चिन्तन उत्कर्ष की ऊचाइयों को स्पर्श करता हुआ दिखलायी पड़ता है। अतएव मुक्ति क्या है? यह प्रश्न यहाँ विचारणीय हो जाता है। स्वामी दयानन्द ने इस विषय में लिखा है कि–**मुक्ति अर्थात् सर्व दुःखों से छूटकर बन्धनरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उस की सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।**[20] मुक्ति के साधन क्या है? **इस विषय में दयानन्द के मतानुसार–ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति आप्त विद्वानों का संग सत्य विद्या सुविचार और पुरुषार्थ आदि है।**[21]

सांख्य सूत्रकार ने दुखत्रय से आत्यन्तिक छूट जाने को मोक्ष कहा है।[22] **योग दर्शनकार की दृष्टि में मुक्ति का साधन योगाभ्यास है। पुरुष का आत्म स्वरूप में स्थित हो जाना योग है। योग की संसिद्धि के लिये चित्त-वृत्तियों का निरोध आवश्यक है।**[23] जिसके कई साधन सूत्रकार ने बतलाये हैं यथा अष्टांग योग, क्रिया योग अभ्यास वैराग्य, ईश्वर प्रणिधान आदि।[24] न्याय सूत्रकार की दृष्टि में दुःख का अत्यन्त विच्छेद होना मुक्ति है। क्योंकि अविद्या आदि दोष के कारण जन्म होता है उससे प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति से दोष और दोष मे मिथ्या ज्ञान। इस प्रकार उत्तरोत्तर से पूर्ण रूप से छूट जाना मुक्ति या अपवर्ग कहलाता है।[25] मुण्डकोपनिषद्कार ने मुक्ति की अवस्था का हृदय-ग्राही चित्रण करते हुए यह लिखा है कि–**भिद्यतेहृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।**[26] कठोपनिषद्कार की दृष्टि में धन-धान्य, लौकिक पद-प्रतिष्ठा और सांसारिक सुख एवं सम्बन्ध तो नश्वर मात्र हैं। इसलिये केवल प्रेय मार्ग है जो बन्धन का हेतु है। इसके विपरीत दूसरा अनुकरणीय मार्ग श्रेय का है जिसका अन्तिम प्राप्तव्य आत्म-परमात्म साक्षात्कार है।[27] यह मानव शरीर उसकी प्राप्ति का साधन है। इस रूपक के माध्यम से कठोपनिषद्कार ने यह बताया है कि **शरीर रूपी रथ में इन्द्रियां रूपी घोडे जुते हुये हैं जो मन रूपी लगाम से नियन्त्रित हो सकते हैं और वह लगाम बुद्धि रूपी सारथि के हाथों मे है। रथ का स्वामी मानो आत्मा है।**[28] अब प्रश्न यह है कि यदि कोई जीवात्मा उच्च संस्कारवान् एवं आध्यात्मिक विकास के लिये उत्सुक और प्रस्तुत है। वह बुद्धि के माध्यम से इन्द्रियों को सही दिशा में तब तक अग्रसर रक्खेगा जब तक कि वह अपने अभीष्ट गन्तव्य को न पा ले।[29]

यद्यपि वेदों, उपनिषदों आदि मूल ग्रन्थों में अनेक उपमाओं और रूपकों के माध्यम से आध्यात्मिक विकास और मुक्ति को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। फिर भी यह भाषायी अभिव्यक्ति का विषय कदापि नहीं। अनुभूत तत्व को वर्णित करने वाले बड़े-बड़े शब्द भी छोटे पडने लगते हैं। इसे गुंगे के गुड का स्वाद चखने जैसा विषय समझिये। वह खाये तों मगर क्या बतलाये? वास्तव में मुक्ति पराविद्या का केन्द्रिय विषय है। जो कि अपरा/सांसारिक विद्या के बाद का विषय है। अर्थ एवं काम नामक दोनों पुरुषार्थ अपरा विद्या के अन्तर्गत ही विचारणीय हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वैदिक

जीवन दर्शन परा एवं अपरा दोनों विद्याओं पर आधारित हैं।

परन्तु किसी भी जीवन दृष्टि की भाँति वैदिक जीवन दर्शन भी निर्वात/शून्य में नहीं उपजता और न अनुकूल सामाजिक और राष्ट्रिय परिस्थिति के अभाव में उसका विकास सम्भव है। यह जीवन दर्शन का व्यावहारिक पहलू समझा जाता है। वैदिक जीवन दर्शन के इस व्यावहारिक पहलू के सन्दर्भ में हम यहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था और संस्कार प्रणाली का उल्लेख कर सकते हैं। वस्तुतः वर्णाश्रम व्यवस्था के दो प्रधान अंग हैं– 1. वर्णव्यवस्था 2. आश्रमव्यवस्था।

वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत समाज के चार प्रधान वर्ण स्वीकार किये गये हैं– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इस व्यवस्था का गहराई से अनुशीलन करने से पता चलता है कि यह व्यवस्था व्यक्ति के गुण कर्म और स्वभाव पर आधारित है। जिसका जैसा गुण कर्म, योग्यता एवं क्षमता हो उसको समाज में वैसी भूमिका दे दी जाय।[30] ताकि वह स्वरुचि और क्षमता के अनुकूल तथा सामाजिक हित साधन की दृष्टि से सामाजिक व्यवस्था का अनिवार्य अंग बन सके। इस दृष्टि से मध्य युगीन जातिवाद और आधुनिक वर्गवाद जनित दोषों से वर्ण व्यवस्था सर्वथा मुक्त समझी जा सकती है।

संक्षेप में यदि कहें तो जो व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से उन्नत और नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट हो–वह समाज का मस्तिष्क माना जा सकता है। वही भूमिका वैदिक जीवन दर्शन के अन्तर्गत ब्राह्मण की मानी गयी है। किन्तु जो साहस वीरता और शक्ति सम्पन्नता में अपेक्षाकृत श्रेष्ठ हो वह निश्चय ही समाज का रक्षक और शासक क्षत्रिय होता है। क्षत्रिय की तुलना मनुष्य की भुजाओं से की गयी है परन्तु जिस व्यक्ति में उपर्युक्त में भी कोई भी गुण न हो और वह कृषि व्यापार एवं उद्योग–धन्धे में व्यस्त रहता हो धन संग्रह में जिसकी रुचि हो वैदिक शब्दावली में उसे वैश्य की संज्ञा दी गयी है। इनके अलावा चौथा वर्ण जिसे शूद्र कहा जाता है, वह ऐसा व्यक्ति होता है जिसकी आई.क्यू./बौद्धिक क्षमता अपेक्षाकृत निम्न स्तर की होती है इस कारण वह उपर्युक्त तीनों में से किसी भी वर्ण में नहीं आ सकता अतः वह चौथा वर्ण शूद्र माना जाता है और समाज में उसकी भूमिका अन्य वर्णों की सेवा, सहायता, सहयोग आदि तक सीमित रहती है।[31]

इस प्रकार जाति की तुलना में वर्ण निर्धारण का आधार व्यक्ति का जन्म/वंश न होकर उसकी योग्यता एवं क्षमता मात्र होती है। अतः वर्ण जाति की तुलना में अधिक मानवीय, स्वीकार्य और प्रगतिशील व्यवस्था है। इसी तरह वर्ग की तुलना में वर्ण व्यक्तिवादी दर्शन का पोषक न होकर उसका मूलतः विरोधी होता है। वह पूजीवाद की अपेक्षा इस कारण समाजवाद के अधिक निकट होता है क्योकि वर्गवाद के अन्तर्गत प्रायः वर्ग हित टकराते रहते है और वर्ग विरोध पर ही किसी वर्ग विशेष का विकास या ह्रास सम्भव होता है।[32] जबकि वर्णवाद के अन्तर्गत सभी वर्ण आपस में सामञ्जस्य सूत्र में बंधे होते हैं। एक के हित से दूसरे या तीसरे वर्ण का हित साधन हो जाता है। इस दृष्टि के देखने पर ज्ञात होता है कि वर्ण व्यवस्था व्यक्तिवाद की तुलना में समाजवाद के अधिक निकट है इसी कारण इसके लिये कई आधुनिक

शब्दावली प्रचलित हो गयी है। यथा–वैदिक समाजवाद, आर्यसमाजवाद आदि।[33]

परन्तु वेदोक्त समाज व्यवस्था के अन्तर्गत आश्रम प्रणाली की भूमिका मनुष्य के वैयक्तिक विकास तक सीमित है। मनुष्य जन्म से लेकर वृद्धावस्था पर्यन्त विकास के विभिन्न सोपानों से गुजरता है।[34] अलग-अलग सोपानों में मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और सामाजिक विकास कैसे हो पायेगा? कैसे मनुष्य चहुमुखी उन्नति कर पायेगा? ये समाज व्यवस्थापकों के सम्मुख बडी चुनौतियाँ होती हैं। वैदिक समाज व्यवस्था के अन्तर्गत आश्रम प्रणाली को स्वीकार करके उक्त चुनौतियों का समाधान किया गया है आश्रम चार माने गये हैं–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनमें ब्रह्मचर्य विद्यार्जन का आश्रम है जो आयु का प्रथम चौथाई भाग होता है इस आश्रम मे रहकर व्यक्ति शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति के मार्ग का अनुकरण करता है और तपस्वी जीवन व्यतीत करता है। अगला आश्रम गृहस्थ बतलाया जाता है। यह आश्रम साधारणतः मनुष्य की सांसारिक मनोकामनाओं की पूर्ति का साधन समझा जाता है। अर्थ और काम ये दोनों पुरुषार्थ इस आश्रम के मुख्य प्राप्तव्य माने जाते हैं। परन्तु धर्म की मर्यादा का पालन करना अनिवार्य समझा जाता है धर्म की लक्ष्मण रेखा के उल्लंघन की बात कोई गृहस्थ सोच भी नहीं सकता अतः गृहस्थ के अर्थ एवं काम सम्बन्धी सभी कार्य धर्मानुमोदित होते हैं। इसी क्रम में वानप्रस्थ तीसरा आश्रम है। यह आयु का 1/2 से प्रारम्भ होकर 3/4 भाग पर्यन्त चलता है। साधारणतः 50-75 वर्ष के बीच की अवधि वानप्रस्थ के अन्तर्गत आती है। इस आश्रम की अवधारणा सम्भवतः इसलिये अधिक विचारणीय एवं महत्वपूर्ण है। क्योंकि यह अपरा से परा विद्या में प्रवेश का आश्रम समझा जाता है। क्योंकि जब मनुष्य गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत सभी सांसारिक सुख भोग का अनुभव कर लेता है तब सांसारिक आकर्षण की वास्तविकता तत्त्वतः जान लेता है अतः वह स्वभावतः संसार से परे जन्म-मरण चक्र से अलग हटकर तत्त्व चिन्तन की ओर अग्रसर होता है उसके सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण कुछ ये प्रश्न हो सकते हैं–मैं कौन हूँ? यह संसार कैसे क्यों और कब बना? मेरा संसार में आने/होने का क्या प्रयोजन है? वास्तव में ऐसे मूल दार्शनिक प्रश्न वही व्यक्ति उठा सकता है और उनके संतोषप्रद समाधान खोजने के लिये स्वयं को आहूत कर सकता है। जब त्वचा ढीली पड़ने लगे केश पक जायें तब भोग की वजाय भगवान् की शरणागत होना बुद्धिमत्तापूर्ण भी है। वैदिक जीवन दर्शन का सनातनत्व भी इसी में है कि वह मनुष्य की आयु और मानसिक स्थिति के अनुरूप उसके सम्मुख स्पष्टतः जीवन लक्ष्य को पुनः परिभाषित करे यही वानप्रस्थ आश्रम के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गये लक्ष्य एवं दिनचर्या पर दृष्टिपात करने से सहजतया स्पष्ट हो जाता है।[35] वानप्रस्थ के पश्चात् जीवन का अन्तिम पडाव संन्यास आश्रम के रूप में सामने आता है। संन्यास का अर्थ है सर्वथा त्याग,–पारिवारिक मोह, ममता, लोभ, काम, अहंकार तथा इनसे जनित सम्बन्ध भी इस आश्रम में निःशेष हो जाते हैं। प्रतीकात्मक रूप में अग्निहोत्र, शिखा और यज्ञोपवीत का भी संन्यासी के लिये कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसका भाव

यह है कि संन्यासी पर परिवार, समाज, धर्म और राष्ट्र की सामान्य मर्यादा भी लागू नहीं रह जाती। वह सचमुच समष्टि हित आत्म कल्याण और ईश्वरीय आदेश के अनुरूप जीवन यापन करता है। मनु का प्रस्तुत कथन भी यही भाव व्यक्त करता है। यथा–**अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा संगाञ्छनैः शनैः। सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते।**[36]

इसी प्रकार संस्कार की अवधारणा भी वैदिक जीवन दर्शन को समझने का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। क्योंकि संस्कार की संकल्पना के अभाव में न तो मानव जीवन के सम्पूर्ण वैदिक विकास क्रम को समझा जा सकता है और न आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत होने वाले मनुष्य के अनुक्रमिक परिवर्तनों को समझा जा सकता है। संस्कार शारीरिक, मानसिक और आत्मिक परिशोधन की एक सतत प्रक्रिया है जिसमें गुजरकर व्यक्ति स्वयं को नवीनीकृत, ऊर्जावान् और नवप्रवर्तन कर्ता के रूप में अनुभव करने लगता है। इस दृष्टि से वैदिक संस्कार की परिपाटी वर्णाश्रम व्यवस्था के निर्माण, संचालन एवं व्यवस्थापन के लिये धार्मिक प्रणाली के रूप में प्रयुक्त होती है।[37]

इसी प्रसंग में कर्मफल का वेदोक्त सिद्धान्त भी अनुकरणीय प्रतीत होता है। उसके अभाव में वैदिक जीवन दर्शन का समग्र चित्रण सामने नहीं हो पाता। यह इस दर्शन के कर्ममूलक पक्ष को नैतिक एवं आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त के प्रमुख तत्व हैं–1. कर्म का कर्ता एवं फल-भोक्ता अर्थात् जीवात्मा, 2. कर्मफल-व्यास्थापक–परमात्मा, 3. कर्म की परिस्थिति–प्रकृति। वैदिक दर्शन के अनुसार कर्मफल के तीन रूप हैं–संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण। इसी प्रकार इस सिद्धान्त के तीन मार्गदर्शक सूत्र हैं। 1. यथा कर्म तथा फल, 2. जितना कर्म उतना फल, 3. जिसका कर्म उसका फल।[38]

अस्तु, संक्षेप में–यह कहा जा सकता है कि वैदिक जीवन दर्शन व्यापक एवं समग्रतावादी है। इसमे भौतिक-आध्यात्मिक, भोग-त्याग एवं व्यष्टि-समष्टि के मध्य व्याप्त खाई को पाटने का सफलतम प्रयास किया गया है। जिसकी वर्तमान भोग प्रधान दौर में अपनाये जाने की नितान्त आवश्यकता है।

पाद-टिप्पणियां

1. आर्य, सोहनपाल सिंह; कार्ल मार्क्स एवं ऋषि दयानन्द के समाज दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन 2002-03, अम्बिका पुस्तक सदन हरिद्वार पृ.264
2. यो भूतं च भव्यं .....ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।। अर्थ. 10/8/1
3. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:ख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।। न्याय सूत्र-01/1
4. प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः। सांख्य सूत्र-02/05, कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः।। वैशेषिक
5. ऋग्वेद 01/164/20
6. अर्थववेद-19/71/1
7. महर्षि स्वामी दयानन्द : सत्यार्थ प्रकाश 2013, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः घूडमल प्रहलाद कुमार आर्य धर्माथ न्यास हिण्डौन सिटी, पृ.477
8. काम एवैकः पुरुषार्थः-उपाध्याय, आचार्य बलदेव कृत भारतीय दर्शन, 1997 शारदा मन्दिर वाराणसी पृ.78
9. (क) उपाध्याय, आचार्य बलदेव कृत भारतीय दर्शन, 1997 शारदा मन्दिर

वाराणसी पृ.382-84
(ख) वही, 160-161
10. उपाध्याय डॉ. ददन टी.का.: भर्तृहरिशतकत्रयम् प्र.स. 2010 चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी पृ.131
11. मनुस्मृति-06/92-उद्धृत राजर्षि मनु और उनकी मनुस्मृति डॉ. सुरेन्द्र कुमार लेखक, संकलनकर्त्ता-सम्पादक पृ.160
12. स्वामी दयानन्द : सत्यार्थ प्रकाश, 2013 स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः घूडमल प्रहलाद कुमार आर्य धर्मार्थ न्यास हिण्डौन सिटी, पृ.476
13. वही, पृ.477
14. वही, पृ.477
15. वही, पृ. 13 पर विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दे।
16. अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्व-ज्ञानार्थमूहस्तर्क न्यायदर्शनम् 01/01/40
17. उल्लेखनीय है सन्दर्भित भारतीय मनीषियों ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है जो इनकी दृष्टि मे अर्न्तायामी स्वरूप है। प्रो. आर्य, सोहनपाल सिंह
18. जाटव, डॉ. डी.आर. नीतिशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त प्र.सं.-206 : मलिक एण्ड कम्पनी जयपुर दिल्ली, पृ.29-30, 174-194 एवं 221
19. आर्य, सोहनपाल सिंह ; कार्ल मार्क्स एवं ऋषि दयानन्द के समाज दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, 2002-03 अम्बिका पुस्तक सदन हरिद्वार पृ.321
20. महर्षि स्वामी दयानन्द : सत्यार्थ प्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः, घूडमल प्रहलाद कुमार आर्य धर्मार्थ न्यास राज. 2013, पृ. 477
21. वही, पृष्ठ-477
22. सांख्य सूत्र-01/01
23. पातञ्जल योगसूत्र-01/02 एवं 01/03
24. पातञ्जल योगसूत्र-02/29, 02/01, 01/12 एवं 1/23
25. ऋषि, डॉ. उमाशंकर शर्मा (भाष्यकार) माधवाचार्य कृत : सर्वदर्शन संग्रह-2010 पृ. 419
26. उपनिषद् अंक कल्याण-23वें वर्ष का विशेषांक, गीता प्रेस-गोरखपुर पृ.278
27. वही, पृष्ठ-115-16 कठो. 01/02/01-02
28. वही, पृष्ठ-208 कठो. 01/03/03-05
29. (क) उत्तिष्ठत जाग्रतः प्राप्य वरान् निबोधत् (ख) यजु. 26/02
30. वर्णश्रम गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूँ। महर्षि दयानन्द सरस्वती : सत्यार्थ प्रकाश-स्वमन्तव्य० क्रम सं.16
31. (क) मनु. 10/04 एवं 10/65 (ख) आर्य, सोहनपाल सिंह; कार्ल मार्क्स एवं ऋषि दयानन्द के समाज दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, 2002-03 अम्बिका पुस्तक सदन, हरिद्वार पृ. 266-77
32. कार्ल मार्क्स पूंजी खण्ड-1 पृ.173
33. वही, पृ.-189
34. स्वामी दयानन्द : सत्यार्थ प्रकाश समु. 03-05 द्रष्टव्य
35. वही
36. मनुस्मृति 06/16 (स.प्रकाश, घूडमल प्रह्लाद कुमार आर्य धर्मार्थ न्यास, पृ.109 उद्धृत)
37. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते, मनु.-10/04
38. आर्य, सोहनपाल सिंह; कार्ल मार्क्स एवं ऋषि दयानन्द के समाज दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.121-128

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (117-123) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक प्रतीकवाद

डॉ० प्रियंवदा वेदभारती, "आचार्या"
आर्ष कन्या विद्यापीठ,
नजीबाबाद, बिजनौर (उत्तर प्रदेश)

अशक्य तथा अप्रमेय वेदमहोदधि के गुप्त रहस्यों के परिज्ञान कराने हेतु भारतीय मनीषियों ने विविध व्याख्या शैलियों के साथ प्रतीकात्मक शैली का भी समाश्रयण किया है। इस शैली में प्रयुक्त सभी शब्द किसी विशिष्ट गूढ़ार्थ का संकेत करते हैं और वह गूढ़ार्थ अभिधेयार्थ से पृथक् होता है। यद्यपि आचार्य शौनक, आचार्य वेङ्कट माधव और आचार्य यास्क द्वारा विरचित वेदार्थ प्रतिपादिक ग्रन्थों में प्रतीकात्मक शैली का नामतः कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है तथापि ऋग्वेदादि संहिताओं में इसके पर्याप्त संकेत प्राप्त होते हैं और ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्रों में तो यह प्रतीकवाद बहुलता से उपलब्ध होता है। आधुनिक युग में योगिराज अरविन्द, डॉ. फतहसिंह, पं. मोतीलाल शास्त्री, पं. मधुसूदन ओझा, डॉ. मनोहरलाल, स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती प्रभृति वेदज्ञ विद्वान् इस प्रतीकात्मक शैली के पुनरुद्धारक तथा संवाहक माने जाते हैं।

प्रतीक शब्द का अर्थ तथा प्रतीकों की उपयोगिता-

प्रतीक शब्द वैदिक वाङ्मय से लेकर लोक व्यवहार तक प्रचलित तथा प्रसिद्धार्थक है। यद्यपि कोशकारों ने इसके विभिन्न अर्थ किये हैं। परंतु प्रकृत प्रसंग में ''प्रत्येति प्रत्याय्यते वा येन तत् प्रतीकम्'' जिसके द्वारा किसी वस्तु या सूक्ष्म रहस्य का स्पष्टतया बोध हो उस प्रत्यायक चिह्न को प्रतीक कहना अधिक समीचीन होगा। प्रतीक के साथ प्रत्यायनीय का अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रतीक प्रत्यक्ष है, प्रत्यायनीय परोक्ष है, प्रतीक स्थूल है, प्रत्यायनीय सूक्ष्म है। प्रत्यायनीय सूक्ष्म परोक्ष तत्व को किसी प्रसिद्ध प्रत्यक्ष पदार्थ द्वारा व्याख्यान करना ही प्रतीकवाद है। तद्यथा- पुरोडाश को मस्तिष्क का प्रतीक, वसन्तादि ऋतुओं को ब्राह्मणादि वर्णों का प्रतीक, जल को सत्य या पवित्रता का प्रतीक, नारी को वेदि का प्रतीक और यज्ञ को विष्णु का प्रतीक मानकर व्याख्यान किया जाये तो बात सुगमता से हृदयंगम हो जाती है। **'परोक्ष प्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'** इस वैदिक सूक्ति के आधार पर देवता लोग परोक्षप्रिय होते हैं, प्रत्यक्ष प्रिय नहीं। काव्य में भी अभिधा में कही हुई बात का उतना महत्व नहीं होता जितना लक्षण और व्यञ्जना में अभिव्यक्त बात का। सम्भवतः इसीलिए वेद तथा वैदिक वाङ्मय में प्रतीकों का आश्रयण लिया गया।

रूपकालङ्कार तथा उपमालङ्कार की प्रतीक शैली में बहुत कुछ समानता है पुनरपि कुछ भिन्नतायें भी हैं। उपमा में उपमान कभी

उपमेय नहीं बन सकता, उपमान सदा उपमेय से विशिष्ट रहेगा किंतु प्रतीक शैली में दोनों एक दूसरे के स्थान में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। ***यज्ञो वै विष्णुः विष्णुर्वै यज्ञः*** दोनों पद परस्पर उपमान भी हैं उपमेय भी हैं। कुछ ऐसी ही बात रूपकालङ्कार में भी है। उपमेय में उपमान का आरोप करना रूपकालङ्कार कहाता है। उपमालङ्कार के समान रूपकालङ्कार में भी उपमान-उपमेय का अपना-अपना स्थान सुरक्षित रहता है। चरणों को कमल तो कहा जा सकता है पर कमल को चरण कदापि नहीं। पर प्रतीकपद उभयरूप धारण कर लेते हैं। प्रतीकों का यही वैशिष्ट्य उन्हें उपमा तथा रूपक से पृथक्ता प्रदान करता है और वैदिक लौकिक साहित्य में प्रतीकवाद को जन्म देता है।

वेदों में प्रतीकों का अस्तित्व-

यद्यपि वैदिक संहिताओं में 'प्रतीक' शब्द और प्रतीकों का नामतः उल्लेख न्यून ही हुआ है,[1] तथापि प्रतीक शैली बहुत स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र हैं-

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः
सूर्यो अजायत
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च
मुखादग्निरजायत॥ (31/12)

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं
शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा
लोकाँ अकल्पयन्॥ (31/13)

यहाँ ब्रह्माण्ड का पिण्ड में प्रतीकात्मक वर्णन है। ब्रह्माण्ड का आह्लादक चन्द्रमा देहधारियों का मन है, सूर्य चक्षु है, प्राणस्वरूप वायु श्रोत्र का प्रतीक है मुख अग्निस्वरूप है, द्युलोक और पृथिवीलोक के मध्य दृश्यमान अन्तरिक्ष इस शरीर में नाभि है, द्युलोक हमारे सिर के तुल्य है, सर्वाधार पृथिवी पैरों की प्रतिकृति है सकल दिशाओं का सूक्ष्मरूप कर्णशष्कुली का अवकाश है। गुणसाधर्म्य के कारण पिण्ड ब्रह्माण्ड की प्रतिकृति या प्रतीक कहलाया। ***'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' ''पिण्ड ब्रह्माण्डयोरैक्यम्''*** जैसे वचनों का आधार यही गुण सादृश्य है। यजुर्वेद की भाँति अथर्ववेद में भी-

अश्वाः कणा
गावस्तण्डुला मषकास्तुषाः।
श्याममयोऽस्य मांसानि
लोहितमस्य लोहितम्॥ (11/3/5)

धाना धेनुरभवत् वत्सोऽस्यास्ति-
लोऽभवत् (11/3/7)

आदि मन्त्रों में चावल के कण को अश्व, तण्डुल को गौ, तुष (भूसी) को मषक, चावलों के श्यामल भाग को मांस और लाल अंश को रुधिर का प्रतीक बताकर पुनः धाना (लाजाओं) को धेनु और तिलों को उसके छोटे-छोटे बछड़ों के रूप में वर्णित किया है। इस प्रकार संहिता ग्रंथों में प्रतीकों का स्पष्टतया उल्लेख प्राप्त होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतीक-

वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतीकों का प्राचुर्य है। चक्षुर्वै जमदग्निः, प्राणो वै वसिष्ठः, मनो वा भारद्वाज ऋषि, पशवो घृतम्, अन्नं वै गौः, वज्रो वा आज्यं, संवत्सरो हि वज्रः, अग्निर्वै देवानां मुखम्, सत्यं वै देवाः अनृतं मनुष्याः, यजमानो वै यूपः आदि सहस्रशः प्रतीक वचन उपलब्ध होते हैं इन सभी प्रतीकों के आधार वेदमंत्र ही हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ प्रतीकों को उपस्थित करके

प्रत्यायनीय तक भी पहुँचाते हैं। अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास से लेकर अश्वमेध यागपर्यन्त समस्त यागों का ब्राह्मण ग्रंथों के प्रतीकों के आधार पर विवेचन किया जाये तो स्पष्ट प्रतीत होता है इनका प्रत्यायनीय पिण्ड तथा ब्रह्माण्डगत रहस्यों का अन्वाख्यान ही है। दूसरे शब्दों में ये सभी प्रतीक नाटक हैं। श्रौत कर्मकाण्ड तीन अग्नियों में निष्पन्न किये जाते हैं। उन अग्नियों के नाम हैं (1) आह्वनीयाग्नि (2) गार्हपत्याग्नि (3) दक्षिणाग्नि। आह्वनीयाग्नि सौर अग्नि का गार्हपत्याग्नि पार्थिव अग्नि का और दक्षिणाग्नि अन्तरिक्षस्थ अग्नि का प्रतीक माना जाता है। ब्रह्माण्ड की भाँति इस शरीर में भी तीन अग्नियां स्थापित हैं। शरीर में गार्हपत्य अग्नि वीर्य है। आह्वनीय अग्नि ओज और दक्षिणाग्नि जठराग्नि है। सभी यागों में जौ या चावल के आटे से पुरोडाश बनाने का विधान है। ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरोडाश के अनेक प्रतीकात्मक अर्थ बताये गये हैं। तद्यथा- संस्कारों में सम्पादित पाक विशेष[2], यज्ञ का अर्ध-भाग[3], पशु[4], पशुओं का मेघ[5] आदि। यहाँ विशेष उल्लेखनीय है- ''शिरो वा एतद् यज्ञस्य यत् पुरोडाशः'' (श. ब्रा. 1/2/1/2) ''यथा मस्तिष्क एवं पुरोडाशः'' (मै. सं. 4/1/9)। समाज व राष्ट्र के लिये उत्तम मस्तिष्क वाले बालक कैसे तैयार किये जायें यह बात पुरोडाश के प्रतीक से बताई गई है। जिस प्रकार यज्ञीय कपालों में पुरोडाश रखा जाता है उसी प्रकार शिर के कपालों के मध्य सुकोमल मस्तिष्क सुरक्षित होता है। बालक के मस्तिष्क के निर्माण हेतु माता-पिता के संकल्प के अनुसार ही पुरोडाश के कपालों की संख्या का यज्ञ में विचार किया गया है। ब्राह्मणत्व की साधना करने वाले छात्र को अष्टाकपाल पुरोडाश अपेक्षित है, क्योंकि ब्रह्मवर्चस् को प्रदान करने वाली गायत्री में आठ अक्षर हैं। त्रिष्टुप् छन्द, क्षात्र धर्म का प्रतीक है इसके ग्यारह अक्षर एकादशकपाल वाले पुरोडाश का बोध करा रहे हैं, इसी प्रकार जगती छन्द वैश्य वर्ण का सूचक है इसके बारह अक्षर द्वादशकपाल वाले पुरोडाश का बोध कराते हैं। तात्पर्य यह है कि आठ वर्ष की आयु तक ब्राह्मण बालक ग्यारह वर्ष की आयु तक क्षत्रिय बालक और बारह वर्ष की आयु तक वैश्य बालक के वर्णसंकल्प का निर्णय हो जाना चाहिए। भारतीय ऋषि-मुनियों ने सन्तति के सर्वांगीण विकास हेतु कितना अद्भुत चिन्तन किया यह दर्शयाग और पौर्णमास याग की विधियों से ज्ञात होता है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि दर्शपौर्णमास याग अन्य सभी यागों की प्रकृति है अर्थात् अन्य यागों में भी दर्शपौर्णमास की पुरोडाशनिर्माणादि क्रियायें यथा विधि होती हैं अतः सन्तान निर्माण के चिन्तन को अन्य यागों में भी अनुस्यूत मानना चाहिए। अस्तु।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रार्थों को खोलने के लिए प्रतीकों के साथ-साथ प्रतीकात्मक आख्यान भी रचे गये। ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानं संयुक्ता। वृत्र-वृत्रासुर कथा, मनु-ऋषभ कथा, त्रिशीर्षा- विश्वरूप कथा, पुरोडाश कथा, देवासुर संग्राम कथा, देवासुर-पृथिवी-विभाजन कथा आदि अनेक ऐसी कथाएं हैं जो ऐतिहासिक न होते हुए मात्र प्रतीकात्मक हैं, मन्त्र गत रहस्यों को सरस शैली से प्रकट करने वाली हैं।

गृह्य सूत्रों में प्रतीकात्मक विधियाँ-

उपनयन-चूडाकर्म- विवाहादि वैदिक संस्कारों में अनेक ऐसे वैदिक विधान हैं जो प्रतीक ज्ञान के बिना निरर्थक से लगते हैं,

उदाहरणार्थ कुछ विधियाँ प्रस्तुत हैं-

(1) उपनयन संस्कार में आचार्य द्वारा अपनी अञ्जलि में 'आपो हिष्ठा'०- आदि तीन मंत्रों से जल भरकर बालक की अञ्जलि में डालना, पश्चात् अंगुष्ठ सहित जल को विस्तृत पात्र में गिराने का तीन बार विधान है। यह क्रिया क्रीडा-सी प्रतीत होती है यदि इसके प्रतीक पर ध्यान न दिया जाये। जल यहाँ ज्ञान का प्रतीक है आचार्य उस ज्ञान को पहले स्वयं सञ्चित करके शिष्य को देता है पुनश्च अञ्जलि से जल गिराते हुये यह निर्देश देता है- इस ज्ञान को अन्यों को भी वितरित करना अपने तक सीमित न रखना। इसी प्रकार- 'सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व' कहकर शिष्य द्वारा आचार्य की प्रदक्षिणा का विधान भी तब तक उचित प्रतीत नहीं होता, जब तक आचार्य को सूर्य का प्रतीक न मान लिया जाये, अस्तु।

(2) मधुपर्क में मधु माधुर्य का दधि शीतलता का तथा घृत स्नेह का प्रतीक है। विवाह में वर महोदय को मधुपर्क समर्पित कर कन्या मानो पति के दीर्घायुष्य हेतु शीतल-मधुर-स्नेहमयी वाणी के प्रयोग का संकल्प लेती है।

(3) विवाह संस्कार में लाजाहोम एक अवान्तर होम है जो कि पौराणिक तथा वैदिक दोनों विधियों में अनिवार्य है। यहाँ लाजायें प्रतीक हैं कन्या के त्यागपूर्ण जीवन की। कन्या अपने मातृकुल का मोह तथा सुख-सुविधाओं का परित्याग कर पतिकुल के सौभाग्य-समृद्धि हेतु अपने जीवन को समर्पित कर देती है।

(4) शिलारोहण विधि में शिला प्रतीक है दृढ़ता की। वधू का पैर शिला पर रखवाना पारिवारिक जीवन में आने वाली विविध कठिनाईयों में पाषाण के सदृश रहने का सदुपदेश देता है।

(5) सप्तपदी विधि- इषे एकपदी भव०- आदि सात मन्त्रों द्वारा रखे हुए सात कदम वर वधू को अन्न, शक्ति, सुख, प्रजा, ऋतुचर्या तथा मैत्रीभाव को प्राप्त करने का सारगर्भित सन्देश देते हैं।

ये उदाहरण तो निदर्शन मात्र हैं। इसी प्रकार अन्य संस्कारों में भी प्रतीकात्मक विधियों द्वारा अनेक जीवनोपयोगी सन्देश दिये गये हैं। अस्तु!

प्रतीक विवेचन-

वैदिक प्रतीकवाद की यह चर्चा अपूर्ण ही मानी जायेगी यदि इसमें ख्यातनामा वेदभाष्यकार आचार्य सायण, सदियों से उपेक्षित और विस्मृत वेदार्थ के प्रस्तोता वेदभाष्यकार स्वामी दयानन्द सरस्वती, वेद रहस्य के लेखक श्रीमद् अरविन्द, गुरुकुल काँगड़ी के यशस्वी स्नातक, शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती तथा वैदिक प्रतीक शैली के अद्वितीय मर्मज्ञ 'वेद विद्या का पुनरुद्धार', जैसे गम्भीर ग्रन्थों के लेखक डॉ. फतह सिंह प्रभृति तपस्वी वेदज्ञों के महनीय कृतित्व का स्वल्प विवेचन न किया जाये। प्रस्तुत है विवेचन-

(क) वेदभाष्यकार सायण विशेष रूप से याज्ञिक प्रक्रिया परक ही वेदमंत्रों का अर्थ करते हैं पुनरपि ब्राह्मण ग्रंथों के प्रतीकों को उद्धृत करते हुऐ कहीं-कहीं उन्हें स्पष्ट करने का श्लाघनीय प्रयास भी करते हैं।

(ख) महर्षि दयानन्द सरस्वती यद्यपि नैरुक्त प्रक्रिया के वेदभाष्यकार हैं, प्रतीकों की व्याख्या करना उनका लक्ष्य नहीं है पुनरपि वे अपने वेद भाष्य तथा ऋग्वेदादिभाष्य

भूमिका में प्रतीक ग्रंथ शतपथ ब्राह्मण के प्रचुर उदाहरणों के साथ प्रतीक शैली को भी यत्र-तत्र आश्रित करते हुये दिखाई देते हैं- तद्यथा यजुर्वेद के देवस्य त्वा सवितु ० (1/10) आदि प्रथमाध्यायस्थ मन्त्रों में 'बाहुभ्याम्' का अर्थ बल, वीर्य, दृढ़ता 'हस्ताभ्याम्' का अर्थ ग्रहण और त्याग या प्राण और अपान 'बाहु:' का अर्थ किरण समूह 'दक्षिण:' का अर्थ दाहिना हाथ न करके अर्जन का प्रतीक मानना प्रतीक शैली को स्पष्ट संकेतित करता है। इसी प्रकार **'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका'** में ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य आदि प्रकरणों में रूपकालङ्कार तथा प्रतीक शैली के आधार पर ऋषि ने अनेक पौराणिक मिथ्या कथाओं का सत्य स्वरूप समुद्घाटित किया है।

स्वामी दयानन्द के पश्चात् आधुनिक युग में वैदिक तत्वज्ञान के आविष्कर्ताओं में योगिराज अरविन्द को प्रमुख रूप से लिया जाताहै। श्री अरविन्द स्वामी दयानन्द की वेदभाष्य शैली के पूर्ण प्रशंसक हैं। वे कहते हैं- ''युगों-युगों की मिथ्या धारणा के बीच दयानन्द की ही वह प्रत्यक्ष दृष्टि थी जिसने सारे अंधकार को चीरते हुए उसको पकड़ लिया जो सार था, उन्होंने उस-उस द्वार की कुंजी ढूँढ ली जिसे काल ने बंद कर दिया था और उन्होंने उसके भीतर ज्ञान-विज्ञान के जो उत्स बंद थे उनकी सील बन्दी को तोड़ दिया''

अरविन्द का मानना है कि सम्पूर्ण वेद गूढ़ आन्तरिक प्रतीकों का ग्रंथ है जो कर्मकाण्डमय कविताओं के संग्रह का छद्मवेष धारण किये हुए हैं। उनके अनुसार अग्नि का अर्थ-शक्ति, बल, संकल्प, ज्वाला है। हमारी मर्त्यसत्ता के अंदर अमर्त्य अतिथि है, पुरोहित हैं। पृथिवी और द्यौ के बीच मध्यस्थता करने वाला है। जो कुछ हम छवि प्रदान करते हैं उसे यह उच्चतर शक्तियों तक ले जाता है और बदले में उनकी शक्ति प्रकाश और आनन्द हमारे अन्दर ले आता है। इसका कार्य अपनी धारा को पृथिवी से द्यौ तक ले जाना है। दूसरा ध्रुव है, इन्द्र, जो कि शक्ति से आविष्ट प्रकाश का प्रतीक है। वह द्यौ से पृथिवी पर उतरता है और अपनी विद्युतों व वज्रों के द्वारा अंधकार का नाश करता है, जीवनदायक दिव्य जलों की वर्षा करता है शुनी= अन्तर्ज्ञान की खोज के द्वारा ज्योतियों को ढूँढ निकालता है। वेदों में आया 'गो' शब्द सात्विक शक्तियों का प्रतीक है, और 'अश्व' शब्द क्षात्र शक्ति का। आनन्द का प्रतिनिधि देवता है 'सोम'। इस प्रकार योगिराज अरविंद के मत में अग्नि, इन्द्र, सोम, सरमा, ऋभु आदि पुरुष के अन्दर विद्यमान दिव्य शक्तियाँ हैं। इन्हीं के विकास की चर्चा वेदों में है।

श्री अरविन्द के प्राय: इन्हीं सिद्धान्तों का चरमोत्कर्ष प्राप्त होता है, वैदिक तत्वज्ञान की प्रतीक लिपि के अद्वितीय गवेषक डॉ. फतहसिंह जी के विवेचन में। जो कि पूर्वापेक्षया अधिक गंभीर है और शास्त्रीय धरातल पर अवस्थित है। डॉ० साहब का मानना है- कि वेद शब्द वस्तुत: देव के वर्ण विपर्यय से बना है और उसका अर्थ है देव का आलोक अथवा शक्ति, और वेदों में अतिमानसिक ज्ञान की ही चर्चा है। वेद ज्ञान के अतिमानसिक होने से उसे मानसिक स्तर पर बोधगम्य बनाने के लिए एक सुसमृद्ध अर्थवाद और प्रतीकवाद का प्रयोग वेदों में किया गया है। आचार्यवर ऋग्वेद के दसों मण्डलों की सुंदर संगति प्रस्तुत करते हैं, यजुर्वेद को ज्ञान और कर्म, विद्या और अविद्या, संभूति और असंभूति के

बीच सामञ्जस्य पैदा करने वाला वेद बताते हैं, सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक को मानव जीवन का पूर्वभाग और अपरभाग के रूप में वर्णित करते हैं और अथर्ववेद को मानसिक-अतिमानसिक स्तरों का वर्णयिता बताते हैं। आनन्दमय कोश ही वेदों का हिरण्यय कोश है। वह सर्वाधिक रहस्यमय है। गायत्री मन्त्र में सविता देव के जिस भर्ग का ध्यान किया जाता है, वह यही आनन्दमय कोश है। ''व्रीहि यवौ'' अन्न वाचक द्वन्द्व की अद्भुत व्याख्या करते हुए वे कहते हैं- व्रीहि का अर्थ है शुद्ध चावल जिसमें भूसी नहीं हैं। यव हिन्दी का जौ है जिसको भूसी से अलग करना पड़ता है। यव ऊपर से एक लगता है पर भूसी उतरने पर द्वैतपरक इकाई प्रकट होती है, अर्थात् गेहूँ के दाने की तरह एक होता हुआ भी द्वैत की रेखा से युक्त। मानव व्यक्तित्व अन्नमय से मनोमय तक अपने अंग-अंग में यवत्व भूसी में छिपाये हुये हैं, पर विज्ञानमय में वह भूसी छोड़ देता है और हिरण्यय कोश में शुद्ध व्रीहि में परिणत होकर स्वच्छ अद्वैत मात्र रह जाता है। इस प्रतीक को समझे बिना व्रीहियव का अलग-अलग अथवा समस्त पद के रूप में होने वाला वैदिक प्रयोग अच्छी प्रकार हृदयंगम नहीं हो सकता। जैमिनीय ब्राह्मण को स्पष्ट कहना भी पड़ा कि व्रीहियवौ कोई अन्न नहीं अपितु प्रजापति द्वारा आत्मा में निहित तत्व हैं- व्रीहियवौ ह वाव स (प्रजापतिः) तद् आत्मन् दधे (जै. ब्रा. 2/228)

इसी प्रकार एक और विवेचन देखिए --------- गायत्री-सामान्यतः एक छन्द का नाम है, पर जो गायत्री वेदमाता कही जाती है और जो छन्द ही नहीं कभी-कभी किसी मंत्र की देवता भी बन जाती है, वह श्येन बनकर स्वर्ग से सोम लाती है, संगीत की सृष्टि करती है और गय नामक प्राणों का विस्तार करती है क्या यह अक्षरपरिमाणात्मक छन्द के द्वारा संभव है? वेदाध्येता की इस जिज्ञासा का सुंदर समाधान आचार्यप्रवर इस प्रकार करते हैं-

वेदों में गायत्री एक छन्द का नाम ही नहीं अपितु वह आत्मा की एक ऐसी शक्ति है जो आनन्दमय कोशरूप द्यौ से लेकर सूक्ष्मदेह रूप अन्तरिक्ष और स्थूलदेह रूप पृथिवी तक रहती है। स्थूल-सूक्ष्म और कारण देह को पार करने के कारण वह त्रिगमना है। गायत्री छन्द के तीन पाद भी इस त्रिविधतामय क्षेत्र की ओर संकेत करते हैं। आनन्दमय कोश से वापिस लौटती हुई वह 'विपरीता' कहलाती है। निरुक्तकार यास्क भी गायत्री की व्युत्पत्ति में इस बात का संकेत करते हैं-

गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः
त्रिगमना वा विपरीता (7/12)

गायत्री की इस उभयगति को जब 'अग्निष्टोम युगल' की संज्ञा दी गई तो वे दोनों गतियाँ उस गायत्री रूप श्येन की दो पक्ष हो गईं। गायत्री की ऊर्ध्वगति को प्रस्तुति और अधोगति को स्तुति कहते हैं। प्रस्तुत होने पर गायत्री का प्राण के द्वारा वायु के साथ संधान होता है, इसके फलस्वरूप शुद्ध चित्त आनन्दमयकोश का सोम प्राप्त करता है। गायत्री की यह गति उसे, सोम के लिए आनन्दमय कोश की यात्रा करने वाला श्येन बना देती है। ऊर्ध्वगता गायत्री जिस सोम को आनन्दमय कोश से लाती है वही ब्रह्म का वीर्य है। गायत्री के अवरोह से मानव तन में 'गय' नामक प्राणों का विस्तार और विकास होता है। इस प्रकार गय प्राणों के प्रसंग से भी उसका नाम गायत्री होता है।

पुरुष और पुमान् का वैदिक वाङ्मय के आधार पर विश्लेषण करते हुये आचार्य जी कहते हैं- पुत्र के निर्वचन में पुमान् शब्द के मूल पुम् को नरक का वाचक बताना और उसके रक्षक को पुत्र कहना कोरे अंधविश्वास पर आश्रित नहीं है, वेद में पूः और पुम् शब्द से क्रमशः पुरुष और पुमान् शब्द बनते हैं। पुरुष ऊर्ध्वगति का प्रतीक है तो पुमान् अधोगति का। ऊर्ध्वगति में मन, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, हाथ, पैर, गुदा, शिश्न दस स्वर्ग बन जाते हैं तो अधोगति में ये ही नरक बन जाते हैं।[6] अधोगति से पुरुष को ऊपर उठाने वाला कोई हाड़ माँस का पुत्र नहीं प्रत्युत इन्द्र है, परमात्मा है। जिसको स्मरण करते ही पाप मूल वृत्र का वध होता है, और सूर्य उषा आदि की ज्योति द्वारा मानव जीवन में वह स्वर्ग उतर आता है जिसे ज्योतिर्मण्डित हिरण्ययकोश कहा गया है-

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो
ज्योतिषा वृतः। (अथर्व. 10.2.31)

इस स्वल्प विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक भाषा लौकिक भाषा से सर्वथा भिन्न है, रहस्यमयी है। यहाँ शब्दालङ्कार हैं अर्थालङ्कार हैं आख्यान संवादादि शैलियाँ हैं। विशेष रूप से रूपक हैं प्रतीक हैं। प्रतीकात्मक शैली चमत्कारपूर्ण अवश्य है किन्तु अत्यंत जटिल है और संकेत संकुल भी है। उसका शाब्दिक अनुवाद करना असंभव है। दुर्भाग्यवश वेदार्थ करने की जो पद्धति ब्राह्मण ग्रन्थों से आरंभ हुई और जिसे किसी सीमा तक आचार्य यास्क ने सुरक्षित रखा उसे समझने के सूत्र चिरकाल से लुप्त हो चुके थे। सायणाचार्य ने प्रशंसनीय प्रयत्न किया, वेदार्थ की सारी सामग्री एकत्र भी कर ली पर उसका यथार्थ उपयोग नहीं हो पाया। महर्षि-दयानन्द के वेदभाष्य में, श्री अरविन्द के वेद रहस्य में, डॉ. फतहसिंह जी आदि के ग्रन्थों में इनका बहुत कुछ उपयोग हुआ है, पुनरपि अभी इस क्षेत्र में बहुत परिश्रम की आवश्यकता है वस्तुतः अभी तक हम वेद के सम्बन्ध में जितना जान पाये हैं तुरीयांश ही है 'त्रिपादस्यामृतं दिवि'' तीन भाग रहस्यमय ही बने हुये हैं। वेङ्कटमाधव की यह उक्ति सर्वथा यथार्थ है-

संहितायास्तुरीयां शं
विजानन्त्यधुनातनाः।
तस्मान्नाल्प श्रुतैर्मन्दैः
कार्यो वेदार्थ निर्णयः॥

पाद-टिप्पणियां

1. द्रष्टव्य - ऋ. 6.50.8, ऋ. 6-75-1, ऋ. 7.36.1 ऋ. 10.118.3-4 आदि।
2. तै. सं. 7/1/9/1
3. श. ब्रा. 2/2/1/4
4. तां. 21/10/10
5. कौ. ब्रा. 10/5
6. मनो नरको वाङ् नरकः प्राणो नरकः चक्षुर्नरकः श्रोत्रं नरको हस्तौ नरको गुदं नरकः शिश्नं नरकः पादौ नरकः। (जै. उ. 4.11.5.1.)

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (124-128) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक देवता - 'मरुत्'

कु० नूपुर
शोधच्छात्रा संस्कृत,
राज० स्नातकोत्तर महाविद्यालय रामनगर।

संक्षेपिका- *ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में मरुत्सूक्त (37, 38 व 39) में वायुपदार्थविद्या का उपदेश है। इन सूक्तों में वायु के गुण, कर्म, स्वभाव और मार्ग की चर्चा है और गति, बल, चेष्टा आदि सभी व्यवहारों की सिद्धि वायु से बताई गई है। मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे विद्वानों से वायु के रहस्य को जानकर उसे अपने व्यवहार में लायें। साथ ही, वायु के गुणादि के साम्य से राजव्यवस्था के समुचित संचालन हेतु सभाध्यक्षादि के व्यवहार का भी उपदेश हुआ है।*

वेदों में 'देवता' से अभिप्राय वर्ण्यविषय है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सैंतीसवें, अड़तीसवें व उनचालीसवें मरुत् सूक्त का मुख्य विषय वायुपदार्थविद्या है। निरुक्त में मरुत् का निर्वचन तीन धातुओं से हुआ है- 'रु शब्दे', रुच दीप्तावभिप्रेतौ', द्रु गतौ'।[1] इन अर्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि जिससे संसार के सभी पदार्थों में गति, बल, चेष्टा होती है, वह मरुत् है। जिसके कारण वाक्–व्यवहार संभव होता है, जिससे पदार्थों का प्रकाश होता है वह मरुत् है। स्वामी दयानन्द ने 'मृङ्प्राणत्यागे,[2]' से मरुत् शब्द की सिद्धि की है। जिसके बिना जीवन संभव नहीं, जो शरीर को धारण किये हैं, जो जीवनी शक्ति के रूप में सारे संसार में व्याप्त है, वही मरुत् है। मरुत् शब्द के समान 'वात' और 'वायु' का निर्वचन भी गत्यर्थक धातुओं से हुआ है, अर्थात् वायु गतिशील है। 'गति' वायु का प्रमुख गुण है। संसार के सभी पदार्थों में गति का कारण वायु ही है। संसार के सभी जड़-चेतन पदार्थों के सभी कार्य वायु से ही सिद्ध हो रहे हैं। संसार के सभी पदार्थों में गति का कारण वायु ही है। संसार के सभी जड़-चेतन पदार्थों के सभी कार्य वायु से ही सिद्ध हो रहे हैं।

वायु आकाश में उत्पन्न होते हैं।'[3] इसीलिए वायु को 'पृश्निमातर:' (पृश्निराकाशो माता येषां वायूनां)[4] कहकर भी सम्बोधित किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आकाश से वायु की उत्पत्ति वर्णित है।[5] प्राणियों के सभी प्रकार के कर्म-उठना, बैठना, चलना, दौड़ना, कूदना, बोलना, सुनना यहाँ तक कि जन्म, वृद्धि और नाश का हेतु वायु ही है। वायु ही प्राणरूप में शरीर में प्रविष्ट होता है। अथर्ववेद में वर्णन है कि वायु का नाम ही प्राण है।[6] प्राण ही स्वयं को पाँच भागों (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान) में विभक्त कर शरीर को धारण करता है (आत्मानं पंचधा विभज्य धारयतीति प्राण: अथवा प्रजां धारयतीति

प्राण:)। प्रश्नोपनिषद् में समस्त महाभूत, इन्द्रियों और अन्त:करण रूप देवताओं के परस्पर श्रेष्ठता के संघर्ष में प्राण निर्विवाद रूप से तब सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो जाता है, जब प्राण के शरीर से उत्क्रमण का प्रयास करते ही अन्य इन्द्रियादि देवता विचलित हो जाते हैं और प्राण के ठहर जाने पर अन्य भी प्रतिष्ठित हो जाते हैं।[7] **तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते**[8] इससे भी वह वायु प्राण कहलाता है।

वायु के सकाश से पदार्थों को सींचना, पदार्थों को प्रकट करना और वाणी के व्यवहार सिद्ध होते हैं।[9] वायु ऑक्सीजन रूप में सभी प्राणियों का पोषण करता है। वृक्षादि भोजन निर्माण की प्रक्रिया (प्रकाश संश्लेषण) में कार्बनडाईऑक्साइड (CO_2) का ही उपयोग करते हैं। वायु पदार्थों को प्रकट भी करता है। वायु के बल से ही बीजांकुर धरती की सतह को फोड़ कर प्रकट होता है। वायु अपान रूप में गर्भ को प्रकट करता है। **'प्रजापति-श्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।'**[10] समान रूप में भोजन के रस को सभी अङ्गों-प्रत्यङ्गों में समभाव से पहुँचाता है। वाक्-व्यवहार भी वायु से ही सिद्ध हो रहा है। जब चेतन-तत्व का ज्ञान-तत्व से सम्पर्क होता है, तब वह अपने अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति की इच्छा से मन को प्रेरित करता है, मन शारीरिक शक्ति (जठराग्नि) को प्रेरित करता है और जठराग्नि प्राणवायु को प्रेरित करता है, प्राणवायु फेफड़े में संचरित होता हुआ उच्चारण अवयवों के विभिन्न स्थानों पर आघात करता है, जिससे ध्वनि की उत्पत्ति होती है।'[11] ध्वनियों का सुनना भी वायु से ही संभव होता है। मुख से उच्चारित ध्वनियाँ बाहर की वायु के कणों को आन्दोलित कर लहरें पैदा करती हैं। ये लहरें ही श्रवणेन्द्रिय में पहुँचकर कान के पर्दे पर कम्पन उत्पन्न करती हैं, जिससे पुन: लहरें उठती हैं जिनकी सूचना संवेदी तन्तुओं के द्वारा मस्तिष्क में पहुँचाई जाती है और हम सुन पाते हैं। ''मनुष्य आदि प्राणी जितने कर्म करते हैं, उन सभी के हेतु पवन हैं, जो वायु न हों तो कोई मनुष्य कुछ भी कर्म करने को समर्थ न हो सके और दूरस्थित मनुष्य के उच्चारण किये हुए शब्द निकट के उच्चारण के समान वायु की चेष्टा के बिना कोई कह या सुन न सके और मनुष्य मार्ग में चलने आदि जितने बल या पराक्रम युक्त कर्म करते हैं वे सब वायु के योग से होते हैं इससे यह सिद्ध है कि वायु के बिना कोई नेत्र के चलाने को भी समर्थ नहीं हो सकता।[12]

शरीर में जितना रसादि प्रतीत होता है वह सब वायु के संयोग से ही होता है।[13] रुधिर में विद्यमान हीमोग्लोबिन ऑक्सीजन से संयुक्त होकर ऑक्सीहीमोग्लोबिन बनाता है। यह ऑक्सीहीमोग्लोबिन रक्त परिसंचरण द्वारा शरीर की विभिन्न कोशिकाओं में पहुँचता है। कोशिकाओं में ऑक्सीजन का दाब कम रहने से ऑक्सीहीमोग्लोबिन का विखण्डन हो जाता है और ऑक्सीजन मुक्त होकर ऊतकों में प्रवेश कर उन्हें जीवन्त बनाती है।

प्राणविद्या और वायु के विकारों को ठीक-ठीक जानने वाले आनन्दपूर्वक सब आयु भोगते हैं।[14] प्राण वायु की विद्या को जानने वाला मनुष्य युक्ति के साथ आहार-विहार कर वायु के मार्ग को अर्थात् मृत्यु को प्राप्त नहीं होता और सम्पूर्ण अवस्था को भोग के सुख से शरीर को छोड़ता है।[15] प्राण रूप वायु से ही जीवन होता है। जब यह वायु शरीर छोड़ता है, तब मृत्यु होती है। दूषित

वायु का सेवन रोगों का कारण है, इसीलिए अथर्ववेद में कहा गया है–

''प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।''[16]

यह प्राण प्राणियों के सोये रहने पर भी सोता नहीं है, शरीर की पाचन, श्वसन, रुधिर-संचरण आदि अनेक क्रियायें व्यक्ति के सोते रहते हुए भी चलती रहती हैं।[16क] प्राणशक्ति को निरंतर क्रियाशील और ऊर्जावान् बनाये रखने के लिए महर्षि पतंजलि ने अष्टांग-योग का उपदेश किया। इस योग साधन से आहार-विहार में आई हुई विकृतियों को दूर कर शरीर को पूर्ण स्वस्थ रखते हुए धर्म साधना में लगाया जा सकता है।

वायु के संयोग का परिणाम ही जल है। हाइड्रोजन के दो परमाणु और ऑक्सीजन का एक परमाणु मिलने से जल (H_2O) बनता है। वायु ही मेघ रूप धारण करते हैं। अथर्ववेद में कहा गया है कि अन्न की कामना से मरुत् बारम्बार गर्भत्व को प्राप्त होते हैं।[17] वैदिक मंत्र का वचन है कि पवन जलों के अवयवों को कठिन कर सघनाकार मेघ से उत्पन्न बिजली से उन मेघों के अवयवों को छिन्न-भिन्न कर और पृथिवी में गिराकर जलों से स्निग्ध करके अनेक ओषधी आदि समूहों को उत्पन्न करते हैं।[18] वायु के घटक जैसे नाइट्रोजन, हाइड्रोजन आदि पौधों के लिए पोषक तत्व का कार्य करते हैं। अथर्ववेद में वर्णित है कि मेघों के माध्यम से औषधियाँ पोषक तत्व प्राप्त कर तेजस्वी हो जाती हैं, और विविध प्रकार से विस्तार प्राप्त करती हैं।[19]

ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्यों! तुमको चाहिए कि अनेक प्रकार के कलाचक्रयुक्त विमान आदि यानों को रचकर उनमें जल्दी चलने वाले अग्नि, जल के सम्प्रयोग वा पवनों के योग से सुखपूर्वक जाने-आने और शत्रुओं को जीतने आदि सब व्यवहार सिद्ध करो।[20] विभिन्न प्रकार के वायुयानों की मूल संरचना में वायुगति की (aerodynamics) का सिद्धांत ही कार्य करता है।

सूक्त में वायु के गुणों के साम्य से समूह, समाज या राष्ट्र के नेता से लेकर सामान्य जन तक के सद्कार्यों का प्रवचन हुआ है। जिस प्रकार वायु मेघों को इधर-उधर घुमाकर समान रूप से बरसाते हैं, कहीं न्यूनता या अधिक्य नहीं रहने पाता, उसी प्रकार समूह के नेता का कर्तव्य है कि वह समाज में आर्थिक व सामाजिक लाभों के समान विभाजन को सुनिश्चित करे।[21] नेता का कर्तव्य है कि वह समूह की शत्रुओं से रक्षा करे और इसके लिए उत्तम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित प्रशिक्षित सेना का निर्माण करे।[22] राजव्यवस्था के समुचित संचालन हेतु उचित दण्ड व्यवस्था होनी आवश्यक है। राजा की दण्ड व्यवस्था शत्रुओं के लिए भयोत्पादक होनी चाहिए। सभाध्यक्ष राजा वायु के समान शीघ्र दण्ड देता है जिसके भय से वायु से मेघों के समान शत्रुजन पलायमान होते हैं।[23] यह मंत्र हमारा ध्यान न्याय व दण्ड व्यवस्था में आ चुके विलम्ब दोष की ओर ले जाता है। इस दिशा में त्वरित न्यायालयों की स्थापना हुई है, किंतु अभी इस दिशा में बहुत कार्य किया जाना शेष है। राजपुरुषों को चाहिए कि जैसे पवन न गिरने योग्य तथा न गीला करने वाले और बड़े आकार वाले मेघ को

भूमि में गिराते हैं वैसे ही धर्म विरोधी सब व्यवहारों को छोड़ें और छुड़ावें।[24] राजा और प्रजा के लिए उपदेश है कि वे सभी आलस्य छोड़कर अपने-अपने कामों में नियुक्त हों।[25] राज्य में न्याय व दण्ड की समुचित व्यवस्था के लिए ऋषि का आदेश है कि जैसे वेगयुक्त वायु वृक्षादि को उखाड़, तोड़, झंझोड़ देते और पृथिव्यादि को धरते हैं, वैसे धार्मिक न्यायाधीश अधर्माचरों को रोक के धर्मयुक्त न्याय से प्रजा को धारण करें और सेनापति दृढ़ बलयुक्त हो, उत्तम सेना का धारण कर शत्रुओं को मार पृथिवी पर चक्रवर्ती राज्य का सेवन कर सब दिशाओं में अपनी उत्तम कीर्ति का प्रचार करें।[26]

अन्त में, वैदिक ऋषि इच्छा व्यक्त करते हैं कि सब मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे वेद, विद्वानों और ईश्वर के विरोधियों को अपने विद्या पराक्रम से जीत कर वेद-विद्या विद्वान् युक्त राज्य का संपादन करें।[27] साथ ही, ऋषि की कामना है कि जैसे पवन, सूर्य, बिजली आदि वर्षा करके सब प्राणियों के सुख के लिए अनेक प्रकार के फल, पत्र, पुष्प, अन्न आदि को उत्पन्न करते हैं, वैसे विद्वान् लोग भी सब प्राणिमात्र को वेद-विद्या देकर उत्तम सुखों का निरंतर संपादन करें।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के तीन मरुत् सूक्त वायु पदार्थ विद्या का उपदेश करते हैं। वायु का गुण, कर्म और स्वभाव क्या है तथा इनसे किन-किन व्यवहारों की सिद्धि हो रही है, इनका ज्ञान विद्वानों से प्राप्त करना और उस ज्ञान को समाज-कल्याण के लिए प्रयोग करना, साथ ही वायु के गुणों से प्रेरित होकर सभाध्यक्षादि का वायु के गुणों को अपने व्यवहार में लाते हुए एक कल्याणमय राज्य की स्थापना का संदेश इन सूक्तों से प्राप्त होता है।

पाद-टिप्पणियां

1. निरुक्त - (11/2) मरुतोभितराविणो वा, मितरोचिनो वा, महद् द्रवन्तीति वा।
2. ऋग्वेद - 1/37/1, स्वामीदयानन्दभाष्य
3. वही - 1/37
4. वही - 1/38/4
5. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, प्रथम अनुवाक
6. अथर्ववेद - (11/6/15) प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
7. प्रश्नोपनिषद् द्वितीय प्रश्न
8. वही
9. ऋग्वेद - (1/37/2) ये पृषतीभिर्ऋष्टिभिः साकं वाशीभिरञ्जिभिः। अजायन्त स्वभानवः।।
10. प्रश्नोपनिषद् द्वितीय प्रश्न
11. पाणिनीय शिक्षा श्लोक 6 व 7
12. ऋग्वेद - (1/37/3), स्वामीदयानन्दभाष्य
13. ऋग्वेद - (1/37/5) जम्भे रसस्य वावृधे।
14. वही - 1/37/15) अस्ति हि ष्मा मदाय वः स्मसि ष्मा वयमेषाम्। विश्वं चिदायुर्जीवसे।।
15. वही - (1/38/5) मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः। पथा यमस्य गादुप।।
16. अथर्ववेद - (11/6/11)

16[क] वही - (11/6/25) ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् निपद्यते। न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन।।

17. वही - (20/40/3)आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्।।
18. ऋग्वेद - (1/38/9) दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन। यत्पृथिवीं व्युन्दन्ति।।

19. अथर्ववेद - (11/6/3) यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः। प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते।
20. ऋग्वेद - (1/38/12) स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम्। सुसंस्कृता अभीशवः।।
21. वही - (1/37/12) मरुतो यद्ध वो बलं जनाँ अचुच्यवीतन। गिरीरँचुच्यवीतन।।
22. वही - (1/39/2) स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीलू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः।।
23. वही - (1/37/7) नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्राय मन्यवे। जिहीत पर्वतो गिरिः।।
24. वही- (1/37/11) त्यं चिद् घा दीर्घं पृथुं मिहो नपातममृध्रम्। प्र च्यावयन्ति यामभिः।।
25. वही - (1/38/4) यद्यूयं पृश्निमातरो मर्त्तासः स्यातन। स्तोता वो अमृतः स्यात्।।
26. वही - (1/39/3) परा ह यत् स्थिरं हथ नरो वर्त्तयथा गुरु। वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम्।।
27. वही - (1/39/10) असाम्योजो बिभृथा सुदानवोऽसाभि धूतयः शवः। ऋषिद्विषे मरुतः परिमन्यव इषुं न सृजत द्विषम्।।
28. वही - (1/39/9) असामि हि प्रयज्यवः कण्वं दद प्रचेतसः। असामिभिर्मरुत आ न ऊतिभिर्गन्ता वृष्टिं न विद्युतः।।

✦✦✦

अनृणो भवामि। -अथर्व. 6.117.1
मैं किसी का ऋणी नहीं रहता।

अपमित्य धान्यं यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि -अथर्व. 6.117.2
जो मैंने उधार का ऋण खाया है उसे चुका कर ऋण-मुक्त हो जाता हूँ।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। -अथर्व. 6.117.3
इस आश्रम में, द्वितीय आश्रम में, तृतीय आश्रम में सदा ही हम ऋण-मुक्त रहें।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (129-136) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेद-विदुषी डॉ० शशि तिवारी का साहित्यिक योगदान

डॉ० रेणु बाला
असिस्टेंट प्रोफेसर संस्कृत विभाग
कालिन्दी कॉलेज दिल्ली

किसी भी भाषा के साहित्य की समृद्धि के दो पक्ष होते हैं- उस पर किया जा रहा रचनात्मक सर्जन और उससे सम्बद्ध समालोचनात्मक अध्ययन। दोनों ही पक्ष अपने विभिन्न अङ्गों के द्वारा पृथक्-पृथक् दृष्टियों से साहित्य को समृद्ध करते हैं। संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत भी इन दोनों ही धाराओं में निरंतर लेखन हुआ है। जिस प्रकार संस्कृत भाषा की मौलिक कृतियों की विविध विधाओं से उसका साहित्य निरंतर विकसित होता रहा है, उसी प्रकार उस साहित्य के कलापक्ष और भावपक्ष के गवेषणाओं को करने वाले आलोचनात्मक अध्ययन और शोधकार्य के द्वारा भी उसको अधिकाधिक परिपुष्ट किया गया है। विशेषकर वैदिक साहित्य और प्राचीन भारतीय दर्शन से जुड़े हुए आलोचनाग्रन्थ न केवल उन ग्रन्थों की दुरूह विचारों को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं अपितु उस प्राचीन 'वैदिक' युग के समाज, संस्कृति और दर्शन के अनबूझे प्रश्नों का भी समाधान प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए वेद, उपनिषद् और दर्शन के आलोचनात्मक लेखन को करने वाले विद्वान् और विदुषियाँ संस्कृत साहित्य की गरिमा और महिमा को अपनी शोधपरक दृष्टि के साथ प्रस्तुत करने के कारण स्तुत्य हैं। वर्तमान काल में भारत में विद्यमान वैदिक विदुषियों में डॉ. शशि तिवारी ऐसा ही एक नाम है जिन्होंने पिछले लगभग 45 वर्षों से अनवरत वैदिक साहित्य और संस्कृत साहित्य को भी अपने आलोचनात्मक लेखन और प्रकाशन से समृद्ध किया है।

लखनऊ विश्वविद्यालय से बी.ए. और एम.ए. उपाधियों में सर्वोत्तम स्थान प्राप्त करने के साथ, नेशनल स्कोलरशिप, यू.जी.सी. स्कोलरशिप तथा सात स्वर्णपदकों से सम्मानित, डॉ. शशि तिवारी ने 23 वर्ष की अवस्था में संस्कृत में पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त करने के उपरांत, विश्वविद्यालयीय प्राध्यापन प्रारंभ किया। 1972 से दिल्ली विश्वविद्यालय के मैत्रयी कॉलेज के संस्कृत विभाग में और कुछ वर्षों बाद से ही दक्षिण और उत्तर परिसर में उन्होंने वेद की कक्षाएं लेनी प्रारंभ की। पर साथ ही भारतीय दर्शन, संस्कृति, देवशास्त्र, वेदविद्या और संस्कृत साहित्य में अगाध रुचि के कारण वे शोधपरक लेखन में संलग्न रहीं। औरलेण्डो, अमेरिका में स्थित हिन्दू यूनीवर्सिटी ऑफ अमेरिका में चार माह

(मार्च 2002 से जून 2002 तक) विजिटिंग प्रोफेसर के पद पर कार्य किया और अभी भी एडजेंट फैकल्टी सदस्य हैं। 2010 में आप दिल्ली विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त हुई पर लेखन संलग्न परिणामस्वरूप आज तक उनके हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत माध्यम से लगभग 145 शोध-पत्र सम्पादित-पुस्तकों, राष्ट्रीय पत्रिकाओं और संगोष्ठी-प्रकाशनों में और अभिनन्दन ग्रन्थों में प्रकाशित हो चुके हैं। वेद, उपनिषद्, संस्कृत साहित्य, भारतीय संस्कृति से जुड़े हुए उनके 27 सुप्रसिद्ध प्रकाशन देशभर के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। जिनमें से कई ग्रन्थ राजस्थान संस्कृत अकादमी, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान और दिल्ली संस्कृत अकादमी से पुरस्कृत हैं।

डॉ० शशि तिवारी को अब तक अपनी रचनाओं पर 19 सम्मान और पुरस्कार मिल चुके हैं जो विशेष रूप से देश की पाँच प्रमुख संस्कृत अकादमियों एवं अन्य जानी मानी संस्थाओं से हैं। आठ पुरस्कार पुस्तकों पर और शेष समग्रयोगदान पर हैं जिनमें दिल्ली संस्कृत अकादमी का वर्ष 1995 का 'संस्कृत शिक्षक पुरस्कार' और 2006 का 'संस्कृत साहित्य सेवा सम्मान' उल्लेखनीय है। इसी प्रकार विशेष सम्मान के रूप में पूर्वांचल संस्कृत प्रचार परिषद् कलकत्ता से वर्ष 2007 में प्रदत्त 'विद्यालंकार उपाधि' और उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान से वर्ष 2007 में प्रदान किया गया 'विशिष्ट पुरस्कार' उल्लेख के योग्य हैं। लेखन, प्रकाशन, शोध सम्मेलन आदि के द्वारा सतत् सारस्वत-साधना में रत डॉ० तिवारी ने विश्व के वैदिक विद्वानों में अपना एक विशेष स्थान बनाया है। विश्व वेदसंघ (World Association for Vedic Studies) अमेरिका से आपको वर्ष 2014 में मैरीलेण्ड यूनीवर्सिटी, अमेरिका से विशेष सम्मान प्रदान किया गया। पुनः वैदिक ज्ञान विज्ञान में अभूतपूर्व योगदान के लिए आपको वर्ष 2006 में 'होस्टन यूनीवर्सिटी' अमेरिका में विशेष अलंकरण प्रदान किया गया। विश्व मित्र परिवार की ओर से पर्यावरण सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा मार्च 2014 में आपको 'महिला रत्न पुरस्कार' से भी सम्मानित किया गया।

संस्कृत साहित्य में डॉ० तिवारी के योगदान के संदर्भ में मैं यहाँ पर विशेष रूप से उनके ग्रंथों की चर्चा करना चाहूँगी। अब तक आपके 27 सत्ताईस ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और सात से अधिक ग्रंथ प्रकाशनाधीन हैं। यदि प्रकाशित ग्रंथों के स्वरूप और विद्या का विश्लेषण किया जाए तो उनको छह भागों में बाँट सकते हैं-

(1) वैदिक अध्ययनपरक ग्रन्थ-8

(2) संस्कृत अध्ययनपरक ग्रन्थ-6

(3) प्राचीन भारतीय ज्ञानपरक ग्रन्थ-4

(4) अनूदित ग्रन्थ-1

(5) कोष ग्रन्थ-3

(6) सम्पादित ग्रन्थ-5

वैदिक अध्ययन परक ग्रन्थों में भी दो प्रकार है- (1) वेद और (2) उपनिषद्।

विशुद्धतया वैदिक विषयों पर आपके चार ग्रंथ है जिनमें **'ऋग्वेदीय आप्रीसूक्त'** ऋग्वेद के दस आप्रीसूक्तों की प्रामाणिक अर्थ प्रतिपादक व्याख्या करने के साथ-साथ आप्रीसूक्तों के प्रयोजन, स्वरूप, प्रणयन क्रम,

वर्गीकरण, देवता, ऋषि, छन्द और कर्मकाण्ड पर मौलिक दृष्टि से किए गए चिन्तन को व्यक्त करने वाला एक वृहत् ग्रन्थ है, जो वैदिक सूक्तों को समग्र दृष्टि से समझने की दिशा दिखाता है। इस ग्रन्थ का प्रणयन वर्ष 1981 में हुआ। प्रो० रसिक बिहारी जोशी ने इसका प्राक्कथन लिखा है। यह पुस्तक राजस्थान संस्कृत अकादमी से वर्ष 1989 में अखिल भारतीय पुरस्कार से पुरस्कृत हुई थी। 'सूर्य देवता' वैदिक और वेदोत्तर संस्कृत सूर्यस्तुतियों में डॉ० शशि तिवारी का एक महनीय कार्य है जो माननीय डॉ० कर्णसिंह के प्राक्कथन से अलंकृत है। 300 से अधिक पृष्ठों में लिखा गया यह ग्रन्थ वर्ष 1994 में दिल्ली के मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास से प्रकाशित हुआ था। इसमें ऋग्वेद से प्रारंभ कर समस्त वैदिक वाङ्मय, रामायण, महाभारत, अष्टादश पुराण, संस्कृत महाकाव्य, गद्यकाव्य, नाट्यसाहित्य आदि समग्र वैदिक और लौकिक साहित्य में सूर्यदेवता के स्तुतिपरक मंत्रों, सूक्तों, प्रसङ्गों आदि का विश्लेषण किया गया है। इसके द्वारा सूर्यदेवता के उद्भव और विकास के अनेक आयाम प्रकाश में आते हैं कि किस प्रकार ऋग्वेद के द्युस्थानीय प्रधान देवता 'सूर्य' अन्य विष्णु आदि देवताओं के साथ पौराणिक द्वादश आदित्य में विकसित होते हैं। साथ ही उत्तरवर्ती सौर-सम्प्रदाय के परम इष्ट सूर्य अपने देवीकरण के अन्तर्गत बृहत् से बृहत्तर होते जाते हैं। सूर्य देवता का ब्रह्मस्वरूप में स्तवन इसका प्रतिफल है। परंतु निस्सन्देह इसका मूलाधार वैदिक सूक्त ही हैं। 'सूर्य देवता' ग्रन्थ को दिल्ली संस्कृत अकादमी, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान और उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से पुरस्कृत किया गया था।

वैदिक समालोचना के क्रम में ही डॉ० तिवारी का विशाल ग्रन्थ 'ऋग्वैदिक अध्ययन' उल्लेखनीय है। वर्ष 1999 में दिल्ली के वेंकटेश प्रकाशन द्वारा प्रकाशित यह ग्रन्थ आचार्य बलदेव उपाध्याय की शुभाशंसा से महिमामण्डित है। इस ग्रन्थ में ऋग्वेदपरक विविध विषयों पर शोधपूर्ण सत्ताईस निबन्ध है जिनमें ऋग्वेद में नारी पत्नी, पुत्री, कृषि, पशु, पक्षी, निरामिष भोजन, आभूषण, समाज, आवास व्यवस्था, नीति, काल, मरणोत्तर जीवन आदि का सविस्तार आंकलन किया गया है। इस ग्रन्थ को दिल्ली संस्कृत अकादमी के प्रथम पुरस्कार से वर्ष 2001 में और उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान से वर्ष 2000 में पुरस्कृत किया गया था। डॉ० तिवारी की समालोचनात्मक शैली पर इस ग्रंथ की अनुशंसा में पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है 'यह पुस्तक डॉ० शशि तिवारी की ऋग्वैदिक अध्ययन में गहरी रुचि और तलस्पर्शी गवेषणात्मक सूक्ष्म शैली की परिचायक है। संकलनात्मक कलेवर में उपनिबद्ध यह कृति ऋग्वेद से सम्बद्ध महनीय विषयों के समग्रबोध में उपादेय है'।

'वैदिक अध्ययन' नामक ग्रन्थ हिन्दी और इंग्लिश में लिखा हुआ है जो वर्ष 2004 में न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ है। वेदशिरोमणि डॉ० किरीट जोशी ने इसका प्राक्कथन लिखकर इसकी प्रशंसा की है। यह ग्रन्थ वैदिक संहिताओं अथवा केवल अथर्ववेद संहिता के विविध पक्षों के विश्लेषण को समर्पित है। भाषा वैज्ञानिक चिन्तन, अर्थवैज्ञानिक चिन्तन, वैदिक नीति, वैदिक दर्शन, कृषि विज्ञान, राष्ट्रीय भावना, नक्षत्रविज्ञान, स्वराज्य, युद्ध और आयुध,

धनविषयक दृष्टि, वास्तुविषयक दृष्टि, पराशक्ति, वैदिक प्रजातन्त्रात्मक संस्थाएं, समाजवाद आदि सत्ताईस विषय समाहित किए गए हैं। डॉ० किरीट जोशी के शब्दों में ''डॉ० शशि तिवारी के शोध की विशेषता है कि वे आन्तरिक प्रमाणों को अधिक महत्त्व देती हैं और साथ ही व्याख्या के दूसरे पक्षों की सम्भावनाओं की अवहेलना नहीं करतीं'।

'वेदव्याख्यापद्धतयः' वर्ष 2014 में प्रतिभा प्रकाशन से प्रकाशित संस्कृत भाषा में निबद्ध डॉ. तिवारी का विशेष कार्य है जिसमें 24 अध्याय हैं। इसमें वैदिक वेदव्याख्या के सन्दर्भ में वैदिक वाङ्मय, वेदार्थ का महत्त्व, मन्त्रों का विभाजन एवं प्रकार, यास्कीय व्याख्यापद्धति, वैदिक देवता, वैदिक ऋषि, वैदिक छन्द, वैदिक यज्ञ, आदि का विश्लेषण वेदव्याख्या के आवश्यक आयामों के रूप में विस्तार से किया गया है। अनन्तर ऋग्वेद के भाष्यकार, स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, सायण आदि, यजुर्वेद के भाष्यकार उवट, महीधर आदि, सामवेद के भाष्यकार भट्ट भास्कर आदि, अथर्ववेद के भाष्यकार सायण आदि पाश्चात्य विद्वान् गेल्डसर, ग्रासमान, ब्लूमफील्ड, ग्रिफिथ, रॉथ, बेबर, विल्सन आदि, आधुनिक भारतीय विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती, सातवलेकर, योगी श्री अरविन्द, मधुसूदन ओझा आदि पर विस्तार से अध्याय लिखे गए हैं। इस प्रकार यास्क से लेकर वर्तमान काल तक लगभग 5000 वर्षों का वैदिक व्याख्या का इतिहास प्रामाणिक और मौलिक रूप से प्रस्तुत करने के कारण यह ग्रन्थ वेद जिज्ञासुओं के लिए अतीव उपयोगी है। इसका प्राक्कथन प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी द्वारा लिखित है।

इस प्रकार वैदिक विदुषी के रूप में डॉ० तिवारी ने इन पाँच बृहत् कार्यों के द्वारा वैदिक अध्ययन को मौलिक समालोचना से सुसम्पन्न किया है।

डॉ० शशि तिवारी की विश्लेषण और व्याख्यापद्धति के निदर्शन तीन उपनिषद् ग्रन्थ हैं- (1) ईशावास्योपनिषद् (2) मुण्डकोपनिषद् और (3) केनोपनिषद्। केनोपनिषद् में मुझे (डॉ० रेणु बाला) सहायकलेखिका बनने का मौका मिला। विस्तृत भूमिका, पूर्ववर्ती अधिकाधिक भाष्यकारों के विचारों और अर्थों का समावेश, सुलझी व्याख्या और तलस्पर्शी शब्दार्थ-चिन्तन- इन व्याख्याग्रन्थों की उल्लेखनीय विशेषताएं हैं। ये ग्रन्थ क्रमशः भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली से वर्ष 1986 में, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, नयी दिल्ली से वर्ष 1981 में और विद्यानिधि प्रकाशन दिल्ली से वर्ष 2006 में प्रकाशित हुए हैं। आज देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में ये स्नातक एवं स्नातकोत्तर छात्रों में अत्यंत लोकप्रिय और पठनीय पाठ्यग्रन्थ हैं।

डॉ० तिवारी ने अपनी लेखनी से संस्कृत अध्ययनपरक ग्रन्थों को भी समृद्ध किया है। 'संस्कृत साहित्य का इतिहास- एक विहंगमालोचन' नामक ग्रन्थ में ऋग्वेद से लेकर आधुनिक संस्कृत साहित्य तक सभी प्रकार के ग्रन्थों का मौलिक और संक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ से वर्ष 2000 में सर्जना पुरस्कार से पुरस्कृत हुआ था। इसका प्राक्कथन पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० अवनीन्द्र कुमार के द्वारा लिखा गया है। **संस्कृत-पाठ्यसंकलन** (विद्यानिधि प्रकाशन वर्ष 2005), **राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य** (विद्यानिधि प्रकाशन, वर्ष 2006),

गीताविमर्श, दूसरे अध्याय का अध्ययन और भूमिका (विद्यानिधि प्रकाशन, वर्ष 2010), **संस्कृतनाट्यसंकलन** (विद्यानिधि प्रकाशन, वर्ष 2013), **संस्कृत साहित्य में राष्ट्रवाद और भारतीय राजशास्त्र** (विद्यानिधि प्रकाशन, वर्ष 2013) आदि संस्कृत साहित्य में आपके द्वारा लिखे गए ग्रन्थ हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय और देश के अन्य विश्वविद्यालयों में स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में लोकप्रिय हैं।

प्राचीन भारतीय ज्ञानपरक आपके चार ग्रन्थ हैं जिनमें 'भारतीय धर्म और संस्कृति' संस्कृत के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करने वाला उल्लेखनीय ग्रन्थ है। यह मैत्रेयी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय से वर्ष 1986 में प्रकाशित हुआ। इसका प्राक्कथन माननीय डॉ० लोकेशचन्द्र द्वारा लिखा गया है। 'उपनिषदों की बोधकथाएं' नामक आपकी एक अतिलोकप्रिय लघु पुस्तक भारतीय दर्शन में रुचि रखने वालों के लिए बहुत उपयोगी है। यह मेहरचन्द लक्ष्मणदास, नयी दिल्ली से वर्ष 1997 में प्रकाशित हुई। यह आदरणीय डॉ० रामकरण शर्मा के प्राक्कथन से अलंकृत है। 'होमेज टू द सन' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक डॉ० तिवारी ने वर्ष 2001 में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व के बारह धर्मों की एकता दिखाने के लिए डॉ० कर्णसिंह के सौजन्य से Tempal of Understanding के लिए अंग्रेजी में लिखी। यह अद्भुत और सुन्दर कार्य अत्यधिक प्रशंसनीय माना गया है। **'गिल्मसज ऑफ वैदिक एण्ड एनशियन्ट इण्डियन सिविलाइजेशन** नामक ग्रन्थ 232 पृष्ठों में न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन दिल्ली से वर्ष 2006 में अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ। यह वैदिक और प्राचीन ज्ञान के बाईस शोधनिबन्धों का संग्रह है। इसका प्राक्कथन परम माननीय प्रो० गयाप्रसाद त्रिपाठी के आशीर्वचनों से अलंकृत है।

डॉ० तिवारी का 'वैदिक वाङ्मयः एक झलक' हिन्दी में अनूदित ग्रन्थ है। डॉ० किरीट जोशी की अंग्रेजी में लिखी गयी पुस्तक 'गिल्मसस् ऑफ वैदिक लिटरेचर' का हिन्दी अनुवाद है। स्टन्डर्ड पब्लिकेशन, दिल्ली से वर्ष 2002 में प्रकाशित यह पुस्तक वेद को लोकप्रिय और सर्वसुलभ बनाने के लिए एक स्तुत्य प्रयास है।

कोष ग्रन्थों में आपके तीन ग्रन्थ हैं जिनमें **'संस्कृत लोकोक्ति कोष'** 700 के लगभग लोकप्रिय संस्कृत लोकोक्तियों का संग्रह है, जो हिन्दी अनुवाद के साथ है। यह कोषग्रन्थ भारत सरकार के सूचना मंत्रालय के प्रकाशन विभाग दिल्ली से वर्ष 1996 में प्रकाशित पहला संस्कृत ग्रन्थ है जिसे प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. कर्णसिंह ने अपने प्राक्कथन में 'लोकोक्तियों को संकलित करने की दिशा में एक सत् प्रयास' कहा है। यह ग्रन्थ उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ द्वारा वर्ष 1997 में संस्कृत साहित्य पुरस्कार से पुरस्कृत हुआ है। 'उपनिषद् खण्ड, संस्कृत-सूक्ति-समुच्चय', नामक ग्रन्थ में शीर्षक सहित तेरह प्रमुख उपनिषदों के सुभाषित है। यह ग्रंथ हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद के साथ अपने ज्ञान से लोगों को आकर्षित करता है। यह दिल्ली संस्कृत अकादमी से वर्ष 1998 में प्रकाशित हुआ है। दिल्ली संस्कृत अकादमी से ही वर्ष 2008 में प्रकाशित मुक्तकखण्ड, संस्कृतसूक्तिसमुच्चय, 75 संस्कृत खण्डकाव्यों की सूक्तियों का संग्रह है जो हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद के साथ है।

सम्पादित ग्रन्थों में डॉ० तिवारी के पाँच ग्रन्थ हैं। **'वैदिक ऋषि दीर्घतमा'** विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली से वर्ष 2005 में प्रकाशित है। आदरणीय डॉ० वाचस्पति उपाध्याय ने इसका प्राक्कथन लिखा है। Contemporary World order: A Vedic perspective (edited in English), Harappan Civilization and Vedic Culture (edited in English, Hindi and Sanskrit creation and Existance in Indian Tradition (edited in English and Sanskrit) और **भारतीय परंपरा में सृष्टि एवं स्थिति** (हिन्दी में सम्पादित), प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली से वर्ष 2009, 2010, 2011, 2012 में प्रकाशित हुए हैं। ये ग्रंथ उच्चस्तरीय शोधनिबन्धों का संग्रह है जिन्हें 'वाईडर एसोसिएशन फार वैदिक स्टडीज' (वेव्ज) के भारतीय सम्मेलनों में ख्यातिप्राप्त विद्वानों ने प्रस्तुत किया है। सम्पादित ग्रंथ की विशेषता उसकी शोधप्रविधि में होती है और ये ग्रंथ अपने कलेवर और प्रस्तुतिविधान से शोध कार्य हेतु शोधार्थियों के लिए मानकग्रंथ प्रतीत होते हैं।

संस्कृत आलोचना की विद्या को अपनी शोध संवलित दृष्टि से सतत समृद्ध करती हुई डॉ० तिवारी के अन्य प्रकाशन इस प्रकार है। आपके हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत में लिखे शोधपत्र समय-समय पर सम्पादित पुस्तकों, राष्ट्रीय पत्रिकाओं और संगोष्ठी प्रकाशनों में प्रकाशित हुए हैं। वैदिक देवता, वैदिक धर्म, वैदिक राजनीति पर 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दुज्म, साउथ कोरोलिना, कोलम्बिया अमेरिका में आपकी लिखी उन्नीस एन्ट्रीज है। आपने उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ से वर्ष 1996 में प्रकाशित 'संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास' के प्रथम खण्ड में 'उपनिषद् अध्याय' 70 पृष्ठों में; तथा दिल्ली के वेद संस्थान के लिए 200 पृष्ठों में 'वैदिक साहित्य का इतिहास' लिखा है। 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' विषय पर आपने हल्द्वानी विश्व-विद्यालय तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के मुक्तविद्यालय के लिए वर्ष 2008 में पाठ्यपुस्तक का लेखन किया। इन्दिरागाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली के लिए भी आपने वर्ष 2003 में दो पाठ्यक्रमों की रचना की। ग्रीस के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् प्रो० निकोलस कजानस के द्वारा स्थापित और निर्देशित Vedic Venues नामक अन्तर्राष्ट्रीय 'वैदिक रिसर्च जर्नल' की आप एक सम्पादिका हैं; जिसके अब तक दो खण्ड वर्ष 2012, 2013 में प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरा हाल ही में प्रकाशित होने वाला है।

वेद विद्या और संस्कृत ज्ञान के प्रचार प्रसार में आजीवन संलग्न डॉ. शशि तिवारी ने एतदर्थ जो कार्य किए उसे दो भागों में बाँट सकते हैं पहला, स्वयं भागीदारी करना। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में आपने पैंतालीस वर्षों से सक्रिय योगदान दिया, कभी पत्र प्रस्तुत करके और कभी सत्राध्यक्षा के रूप में। विशेष उल्लेखनीय है कि लगभग पच्चीस वर्षों से आपने कनाडा, इटली और अमेरिका में लगभग अट्ठारह सम्मेलनों में भाग लिया। आपने वेद विषयों पर ही अधिकतर पत्र प्रस्तुत किए, सत्रों की अध्यक्षता की। वर्ष 2014 में महर्षि यूनिवर्सिटी ऑफ मैनेजमेंट फेयरफील्ड, अमेरिका में आयोजित ग्यारहवें अन्तर्राष्ट्रीय वेद सम्मेलनों की वे सहाध्यक्षा थी, जहाँ आपने वैदिक जीवन पद्धति पर अपना 'आधार-वक्तव्य' प्रस्तुत किया था

जिसकी भूरिशः प्रशंसा हुई थी। देश और विदेश (इटली, बैंगलोर, दिल्ली) में आयोजित वर्ल्ड संस्कृत कॉन्फ्रेंस में भी आपने तीन बार भाग लिया। दूसरा-आपने दूसरे छात्रों को और अन्य विद्वानों को संस्कृत विद्या और वेद-ज्ञान के प्रति प्रेरित करने के लिए पिछले लगभग बीस वर्षों से स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर व्याख्यान परिचर्चा, संगोष्ठी, आदि का समायोजन किया जिसमें प्रख्यात विद्वानों से संवाद वार्तालाप कर एक वातावरण उत्पन्न करने का प्रयास किया। निस्सन्देह इससे लोगों की प्राचीन भारतीय ज्ञान के प्रति रुचि और जिज्ञासा बढ़ी है। आज युवावर्ग इन कार्यक्रमों में उत्साहपूर्वक भाग लेता है।

डॉ० तिवारी अनेक संस्थाओं और समितियों से भी जुड़ी हुई हैं। अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, देववाणी परिषद् दिल्ली, प्रह्लाद कुमार स्मारक समिति दिल्ली, उत्तर प्रदेश समाज दिल्ली, आल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फ्रेंस, वाईडर एसोसिएशन फार वैदिक स्टडीज आदि अनेक संस्थाओं की आप आजीवन सदस्य हैं। Waves की महासचिव के रूप में देश के विभिन्न भागों में वेद और भारतीय विद्या विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय भागीदारी के साथ राष्ट्रीय स्तर के अट्ठारह भारत सम्मेलनों का सफलतापूर्वक आयोजन आपके द्वारा किया गया है। भारत सम्मेलन डॉ० तिवारी के निर्देशन में एक विश्वस्तरीय पहचान बना चुके हैं। विभिन्न स्तरों पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भागीदारी के साथ देश के विभिन्न भागों जैसे भोपाल, सीकर, लखनऊ, अमेरिका, श्रीशेलम, वृंदावन, जयपुर, दिल्ली आदि में आपने विशेष व्याख्यान दिये हैं।

आकाशवाणी रेडियो पर आपके अनेक नाटक और वार्ताएं प्रसारित हो चुके हैं। भारतीय संस्कृति, दर्शन, त्यौहार, शिक्षा, नारी और कुछ सामान्य विषयों पर आकाशवाणी रेडियो, दिल्ली से वर्ष 1980 से अब तक आपकी लगभग डेढ़ सौ (150) वार्ताएं प्रसारित की जा चुकी हैं। भारतीय संस्कृति और पर्वों से सम्बद्ध कई रेडियो नाटकों का लेखन कार्य भी आपके द्वारा किया गया है। आकाशवाणी दिल्ली से बाल कार्यक्रम में आपके द्वारा अनेक बार सीधा प्रसारण भी किया गया है।

इसके अतिरिक्त शैक्षणिक संस्थाओं और समितियों में भी आपका सतत सहयोग रहा है। उज्जैन के कालिदास समारोह में तथा महाविद्यालय स्तर पर अनेक संस्कृत नाटकों का आपने निर्देशन किया है। संस्कृत वाद-विवाद, श्लोक पाठ, नाटक आदि प्रतियोगिताओं में आपने निर्णायक की भूमिका निभाई है। वर्ष 1991-1993 तक आपने दिल्ली के वेद संस्थान के वेद सम्मेलनों का का संयोजन किया। वर्ष 1988, 1987 और 2005 में एन. सी. ई. आर. टी. की कार्यशाला में तथा 2003 में इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की पाठ्यक्रम योजनाओं में आपकी सक्रिय भागीदारी रही है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉ० तिवारी ने अपने मौलिक चिन्तन को अनेक बार राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रस्तुत करके तथा विश्व के विद्वानों के साथ विचार विनिमय करके अपने विचारों को समय-समय पर नवीनतम अनुसंधानों से जोड़ा है। मूल प्रामाणिक विचार और आधुनिक खोजों के संतुलन से उनकी दृष्टि परिष्कृत हुई, जो हमें उनके लेखन में दृष्टिगत होती है। किसी भी

पूर्वाग्रह से मुक्त होकर प्रामाणिक आधारों पर प्राचीन विद्या को समझना और आधुनिक परिवेश में उनसे लाभ उठा सकना यही दिशा-निर्देश हमें डॉ० तिवारी के लेखन से प्राप्त होता है।

इस प्रसङ्ग में मैं यह उल्लेख करना चाहूँगी कि स्विटजरलैण्ड में अगस्त 2015 में होने वाली 'अलाइन्स कॉन्फ्रेंस की आयोजिका डॉ० सिमी समर ने आपका जीवन परिचय पढ़कर हाल ही में ये उद्गार व्यक्त किए कि 'आपका जीवन परिचय आश्चर्य में डालता है। जीवन में इतनी सफलताएं और कार्य हर किसी के लिए प्रेरणाप्रद है'। कार्यकुशलता, बौद्धिक तीक्ष्णता के साथ उपयुक्त समय-प्रबंधन के सामञ्जस्य से ही जीवन में इतने कार्य समीचीन रूप से किये जा सकते हैं। डॉ० शशि तिवारी के साहित्यिक योगदानपरक इस संक्षिप्त विवरण से यह तथ्य सुस्पष्ट होता है।

✦✦✦

गृभाय जिह्वया मधु। -अथर्व. 20.4.2
जिह्वा में माधुर्य ला।

घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत। -अथर्व. 20.65.2
घृत और मधु से भी मीठा वचन बोलो।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्। -अथर्व. 3.30.2
पत्नी पति से मीठी और शान्त वाणी बोले।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (137-142) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में संकेतित वास्तुकला

डॉ० सविता भट्ट

वास्तु या स्थापत्य कला जीवन के शुद्ध शाश्वत तत्वों का मूर्तिकरण है। वास्तु शब्द वस् धातु से बना है जिसका अर्थ है– निवास स्थान। यह आकार विशालता तथा भव्यता के कारण उदात्तता का आभास देता है। यह शुद्ध आकार प्रधान कला है– (Pourfomal Art) वास्तु का अर्थ है– **''भवन, भूखण्ड अथवा घर बनाने की जगह''**[1]

वास्तु का अर्थ है– बसने के लिए उपयुक्त स्थान, वह स्थान जिस पर रहने के लिए मकान बनाया जाय, घर या मकान, इमारत।

वेदों का सम्यक् अध्ययन करने पर वास्तु कला से सम्बन्धित तथ्य संक्षेप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं–

वैदिक वाङ्मय में तत्कालीन ललित कलाओं से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। **त्वष्ट्रा** और **ऋभु** उस युग के कुशल कारीगर थे। वेदों में **तक्षन्** शब्द का प्रयोग हुआ है जो सम्भवतः लकड़ी नक्काशी आदि करने वाला **तक्षक** ही था। ऋग्वेद में वास्तोष्पति नामक देवता का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में ही उसे एक स्थान पर इन्द्र से अभिन्न और दूसरे स्थान पर त्वष्टा से अभिन्न बताया गया–

वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांऽसत्रं
सोम्यानाम्।
द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो
मुनीनां सखा।।[2]

अर्थात् हे वास्तोष्पते! हे निवास स्थानीय समस्त जगत् के प्रभो! आपकी कृपा से (स्थूणा), इस जगद् रूप गृह का स्तम्भ (ध्रुवा), स्थिर होवे। (सोम्यानाम्) परमदर्शनीय सकल प्राणियों का (अंसत्रम्) बल बढ़े। स्वयं इन्द्र (द्रप्सः) इसके ऊपर दयावान होवे। दुष्टों की अतिशय पुरानी (पुराम्) पुरियों का भी (भेत्ता) विनाशक होवें और (मुनीनाम्) मुनियों का (सखा) मित्र होवे।

और भी–

अभि वो अर्चे पोष्यावतो
नृन्वास्तोष्पतिं त्वष्टारं रराणः।[3]

यहाँ मंत्र में प्रयुक्त **वास्तोष्पति** शब्द (निवास स्थान के पति) तथा **त्वष्टारं** (तेजस्वी) शब्द वास्तुकला इंगित कर रहे हैं। ऋग्वेद कालीन गान्धार नरेश नग्नजित वास्तु विद्या का आचार्य था। ''शतपथ ब्राह्मण में इसके वास्तु संबंधी विचारों का खण्डन किया गया है।''[4]

अथर्ववेद वास्तुविद्या पर सम्यक प्रकाश डालता है। वास्तुकर्म, वास्तु मंगल, वास्तुयाग; वास्तुपरीक्षा; भूमि चयन, काष्ठआहरण और पद विन्यास आदि विषयों का सुन्दर विवेचन गृह्यसूत्रों में हुआ है। **लौकिक** और **धार्मिक**

दृष्टि से स्थापत्य के दो अलग-अलग भेद दिखाई पड़ते थे। गृह निर्माण, ग्राम सन्निवेश, पुरकल्पना, दुर्ग निर्माण आदि का वर्णन **लौकिक स्थापत्य** के अन्तर्गत था और यूप, वेदी आदि **धार्मिक स्थापत्य** के विषय थे।

गृह निर्माण की कला में भी आर्य पूर्णतः दक्ष थे। अथर्ववेद का **शालासूक्त** इस दृष्टि से विवेचन करने योग्य हैं। अनेक मंजिलों वाले भवनों का वर्णन किया गया है- सबसे पहले शाला की कुछ मुख्य विशेषताओं को इंगित करते हुए कहा गया- भवन निर्माण करते समय उसमें चारों ओर द्वार होने चाहिए। देखने में सराहनीय होना चाहिए- प्रतिमान युक्त भी हो अर्थात् दीवार, द्वार, खिड़की आदि एक माप के हो। मनुष्य को योग्य है कि वे विचारपूर्वक प्रतिकृति अर्थात् चित्र बनाकर घरों को उत्तम सामग्री से भले प्रकार सुथरे, सुडौल, सुदृश्य और चित्त विनोदक बनाए-

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालाया विश्ववाराया
नद्धानि वि चृतामसि।।[5]

जिस प्रकार वैद्य टूटे अवयवों को जोड़कर दृढ़ बनाता है उसी प्रकार शिल्पी लोग सब आवश्यक सामग्री एकत्र करके घरों को दृढ़ बनाये-

आ ययाम सं बबर्ह
ग्रन्थीश्चकार ते दृढान्।
परूंषि विद्वांछस्ते-
वेन्द्रेण वि चृतामसि।।[6]

यहाँ कुशल वैद्य (शस्ता इव) के समान मनुष्य घर बनाने में सब अंगों को यथावत् जोड़े और दृढ़ करे।

भवन निर्माण के निमित्त प्रयुक्त किये जाने वाले औजारों का भी वर्णन किया गया यथा-**संदंशानाम्** (संडासियों), **पलदानाम्** तोल या माप देने वाले यन्त्र आदि।[7] एक ऐसे उत्तम घर की कल्पना की गई जो सुख समृद्धि से युक्त हो। गृहस्वामी आदि उसमें सुख से जीवन-यापन करें। उसे सुसज्जित भी किया जाना चाहिए। वह घर धन-धान्य आदि से भरा हुआ होना चाहिए। उस घर में यज्ञ आदि की पूर्ति के लिए पशु धन भी होना चाहिए। घर में प्रकाश आदि की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिए तथा कोष आदि रखने के लिए गुप्त घर, तलघर आदि होना चाहिए-

यदन्तरिक्षं रजसो
विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं
शेवधिभ्यः तेनशालां
प्रति गृह्णामि तस्मै।[8]

भवन निर्माण हेतु उचित भूमि का निर्माण किया जाना चाहिए। घर के द्वारों में शृंखला, चटकनी आदि ऐसी लगाई जानी चाहिए जिससे अंधकार के समय बन्द करने और प्रकाश के समय खोलने में सुविधा हो।[9]

अथर्ववेद में **द्विपक्षा, चतुष्पक्षा, षट्पक्षा, अष्टापक्षा, दशपक्षा,** शाला कहकर द्विमंजिले, चौमंजिले, षट्मंजिले, अष्टमंजिले और दशमंजिले भवनों की ओर संकेत किया गया है-

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा,
षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां
मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये।[10]

अर्थात् जैसे जाठराग्नि शरीर में और गर्भस्थ बालक गर्भाशय में सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार मनुष्य अस्त्र, शस्त्र, शिल्प,

कला, कौशल आदि के योग्य छोटे-बड़े स्थानों को अनेक मान परिणाम युक्त बनाकर सुरक्षित रहे।

भवनों में यज्ञशाला अवश्य होनी चाहिए। शिल्पी से यह आशा की गई कि वह ऐसे साधन प्रयोग में लाये जिससे एक सुदृढ़ घर का निर्माण हो सके।

त्रिधातु एवं **तृस्तरीय** आवासों का उल्लेख ऋग्वेद में भी किया गया है। वरुण और मित्र के महलों में हजारों स्तम्भ और प्रवेश द्वार थे-

बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः
सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते।[11]

तैतिरीय आरण्यक (10/67) में **धनधानी** (अन्नागार) या कोषागार का उल्लेख किया गया। **हविर्धान** (भण्डारगृह), **अग्निशाला** (यज्ञशाला), **सदस्त्र** (बैठक) आदि की व्यवस्था भी वैदिक घरों में होती थी। पशुओं के लिए शाला गोत्र या गोष्ठ बनाये जाते थे। भीतर भी कमरे बनाये जाते थे- **''कुलाये ऽधिकुलायम्।''**[12]

घर का पूर्वार्द्ध सदस और उत्तरार्द्ध **पत्नीसदन** कहलाता था।

वैदिक काल में घरों का निर्माण करते समय मिट्टी, बाँस, घास-फूँस और कभी-कभी पत्थर भी काम में लाया जाता था।

''घर बनाने के लिए लकड़ी के खम्भ गाड़े जाते थे, जिन पर सीधी या आड़ी धरने (प्रतिमित और परिमित) रखी जाती थी। इन धरनों के ऊपर बाँस के बड़े-बड़े लट्ठे रखे जाते थे और इन बाँसों के ऊपर अक्षु रखा जाता था। बाँस के टुकड़े काटकर छाजन बनाने का काम लिया जाता था। इन टुकड़ों से ऊपर की छत का पाट तैयार किया जाता था। इन्हीं को अक्षु कहा जाता था। अक्षु को (सहस्रचक्षु) हजार आँखों वाला कहने का अभिप्राय-यही जान पड़ता है कि उसमें बहुत से छेद धूप आदि के निकलने के लिए हुआ करते थे। आजकल की भाषा में अक्षु को पाटन कह सकते हैं। इसके ऊपर छाजन छदि के लिये पलद् तथा तृष (घास-फूँस) रखे जाते थे। इसके अनन्तर पूरे ठाट को तरह-तरह की रस्सियों से बाँध दिया जाता था, जिसे नहन, प्रणाह, सदेश, परिष्वञ्जल्य नामों से पुकारते थे। इस प्रकार के घरों में बाँस और घास-फूँस का ही प्रयोग किया जाता था। दूसरे प्रकार के घरों में लकड़ी का विशेष उपयोग किया जाता था।''

''लकड़ी के मकानों में खम्भों (स्तम्भ, स्थाणु, स्थूणा) की बहुलता एक विशिष्ट चीज थी। वैदिक काल में राजमहलों में हजार खम्भों तक होते थे, तथा इतने विशाल प्रसाद में आने जाने के हजार दरवाजे तक बनाये जाते थे। मिट्टी के गृह (मृण्मयं गृहम्) भी बनाये जाते थे, तथा पत्थरों और ईंटों का भी उपयोग कर वैदिक आर्य लोग विविध आकार के लम्बे चौड़े मकान बनाने में कभी नहीं चूकते थे।''

इस प्रक्रिया के संदर्भ में कह सकते हैं कि ग्राम पहले महाग्राम बने, फिर लघुकाय नगर और तदन्तर महानगर। **''आर्य ग्राम, आर्यपुर या नगर में कोई बड़ा अन्तर नहीं था। जहाँ बड़े जंगल से घिर कर दो कोस तक दस-बीस छोटे-बड़े ग्राम आ जाते थे, वही 'पुर' हो जाता था और छोटे-छोटे ग्राम ही उसके मौहल्ले हो जाते थे।''**

उत्तर वैदिक साहित्य में इस संदर्भ के अनेक उल्लेख मिलते हैं जो नगर एवं उसकी व्यवस्था की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं यथा–

नैतमृर्षि विदित्वा नगरं प्रविशेत्– तै० सं० 1, 2, 18, 31, 4

महापुरं जयन्तीति– गो.ब्रा. 2,2,7,2

तेनेमां मानुषीं पुरं जयन्ति– शत, ब्रा० 3, 4, 4, 3

नवद्वारे पुरे– श्वेताश्व.– 3,18

पुरमेकादशद्वारम् जस्यावक्र चेतसः– कठोपनिषद् 1, 5, 1

यहाँ संकेतिक **नगर, पुर, नवद्वारपुर, एकादशद्वार** आदि पद स्थापत्य की ओर निश्चित रूप से संकेत करते हैं।

आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत है कि पुर बहुत विशाल हुआ करते थे, क्योंकि एक मंत्र में इसे पृथ्वी (विस्तृत) तथा उर्वी (विशाल) बताया गया है–

अग्ने त्वं पारया नत्यो
अस्मान्त्स्वास्तिभिरति दुर्गाणि
विश्वा।
पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा
तोकाय तनताय शं योः।।[13]

किले पत्थर से बनाये जाते हैं।[14]

वेद में भी शिल्पकार के लिए **कारूः** शब्द का प्रयोग किया गया है– जैसे शिल्पी जन, शिल्प विद्या से सिद्ध की हुई वस्तुओं का सेवन करते हैं वैसे ही वेदार्थ और वेदज्ञान सब को सेवन करना चाहिए–

आ यद्दुवस्याद्दुवसे न
कारुरस्मान्चक्रे मान्यस्य मेधा।
ओ षु वर्त्त मरुतो विप्रमच्छेमा
ब्रह्माणि जरिता वो अर्चत्।।[15]

वेद में प्रयुक्त **'शतभुज'** शब्द सौ दीवाल वाले किलों की ओर संकेत करता है।

(ऋग्वेद– 1/166/4)

यजुर्वेद यज्ञ की वेदी बनाने के लिए ईंटों के प्रयोग की बात करता है–

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्तु।[16]

अर्थात् ये मेरी ईंटें यज्ञ में गौ के तुल्य लाभदायक है।

ऋग्वेद में राजा वरुण के बृहदाकार प्रसादों का वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया गया है। वैदिक राजाओं के महल भी इसी प्रकार लम्बे चौड़े हुआ करते थे। ऋग्वेद में महल की अटारी पर खड़े होने वाले हर्म्येष्ठा राजा का उल्लेख किया है–

ते हर्म्येष्ठा शिशवो .....
पयोधाः।[17]

एक स्थल पर इंद्र द्वारा आयसी (लौह के बने) तथा दास जातीय शम्बर के सौ किले ध्वस्त किए जाने का वर्णन मिलता है–

शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।
दिवोदासाय दाशुषे।[18]

जिन आर्यों ने सुन्दर गहनों का निर्माण किया हो, वे अनलंकृत भवनों और पुरों से कैसे संतुष्ट रह सकते थे। **वास्तोष्पति**[19] **मन्त्रों** से जिन गृह देवता की स्तुति की गई है। बहुत संभव है कि उन्हें घर के किसी पूजा प्रकोष्ठ में ही स्थापित किया जाता होगा और वह प्रकोष्ठ सौन्दर्य प्रधान होते होंगे।

ऋग्वेद में **गृह, सदम्, प्रसदम** और **दीर्घ प्रसदम** शब्द छोटे और बड़े अनेक प्रकार के घरों की ओर संकेत करते हैं।[20]

इसके अतिरिक्त वेद में वास्तुकला सम्बन्धी अनेक और भी संकेत स्थान-स्थान पर मिलते हैं यथा-

1. काष्ठ निर्मित प्रसाद- ऋ०- 7/5/3

2. अनेक दरवाजे- ऋ० 10/99/3

3. **राजानावनभिद्द्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्र स्थूण आसाते सहस्र स्थूणं बिभृथः सहदौ।।** अगणित द्रव्यों से भरा सहस्र खम्भों वाला मित्र व वरुण का महल- ऋ० 2/41/5, 5/62/6

4. लौह दुर्ग या नगर-ऋ०- 1/189/2

5. नदियों की बाढ़ और आक्रमणों से बचने के लिए शारदी किले- (वैदिक इन्डेक्स- पृ० 1,538।

6. सौ दीवालों से युक्त किले- ऋ० 1/166/8, 7/15/14।

वेद में आर्यों की कामना अच्छे-अच्छे भवनों का निर्माण करने की प्रतीत होती है-

मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।[21]

अर्थात् हे परमात्मा मिट्टी के घर आप हमें प्रदान न करे। कहने का आशय है कि तुम सदैव अपने लक्ष्य को ऊँचा रखो और यह प्रार्थना किया करो कि हम मिट्टी के घरों में न रहे किंतु हमारे रहने के स्थान अति मनोहर स्वर्ण जटिल सुन्दर हों तथा उनमें परमात्मा हम सबको ऐश्वर्य दे। **पतस्या** व **हर्म्य** जैसे विशाल भवनों से लगे पशुओं के बाड़े तथा अन्य भवन उपभवन होते थे।[22]

अथर्ववेद भवनों के निर्माण पर भी प्रकाश डालता है। वहाँ **चार खम्भे** उन पर **म्यालें** बांस की छते, **हविर्धान, अग्निशाला, पत्नीनां सदनं सदः** आदि बोधित होते हैं।[23]

ऋग्वेद में आभूषणों का भी उल्लेख है। मोतियों का भी प्रयोग किया जाता था। सिर पर उष्णीष, हाथों पैरों में वलय, भुजाओं में भुजबन्द और गले में निष्कहार पहने जाते थे। प्रकट है कि धातुकर्त्य में एक सीमा तक ऋग्वैदिक आर्यों को कौशल प्राप्त था।[24]

वैदिक युग में **निष्क**[25] **रुक्म,**[26] **रुक्म पाश,**[27] **रुक्मवक्षस,**[28] **स्रज,**[29] **खादि,**[30] **कर्णशोभन,**[31] आदि स्वर्णाभूषणों के साथ मोती[32] और मणि[33] का उल्लेख भी मिलता है।

यजुर्वेद में आया निम्न प्रसंग तत्कालीन शिल्पकला को ही उजागर करता है-

तपसे कौलालं, मायायै कर्मारं,
रूपाय मणिकारं,

शुभे-वपं, शरव्याया इषुकारं,
हेत्यै धनुष्कारं,

कर्मणे ज्याकारं, दिष्टाय
रज्जुसर्जं, मृत्यवे

मृगयुम् अन्तकाय श्वनिनम्।

(यजुर्वेद 30/7)

अर्थात्, **कुम्हार, कर्मार, मणिकार, हिरण्यकार, इषुकार, धनुष्कार** और **ज्याकार** आदि सभी यहाँ अपने-अपने क्षेत्र के कुशल कारीगर है। शिल्प एवं शिल्पकारों की विविधता के यहाँ दर्शन होते हैं।

ऋग्वेद युग में शिल्प का सर्वोत्तम उदाहरण है **रथ शिल्प** जो अनेक विशेषताओं से सम्पन्न है-

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं
हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।

आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥[34]

अर्थात् पुष्पों से सजे साफ स्वच्छ नाना रूप वाले, स्वर्ण आदि से मंडित; उत्तम गति वाले और सुन्दर पहिये वाले रथ पर हे वधु! तू चढ़। अपने पति के लिए अपने विवाह को सुखकर अमृत का स्थान बना। अर्थात् पति के घर को स्वर्ग सम बना। यहाँ **सुकिंशुकं शल्मलिं** (उत्तम काष्ठ) **नानारूप** (विश्वरूप) **स्वर्णिमनक्काशी** (हिरण्य वर्ण) **सुन्दर आवरण** (सुवृत) सुगठित चक्र (सुचक्रं) आदि पद एक सुन्दर रथ का परिचय करा रहे हैं जो कि वास्तुकला का सुन्दर नमूना है।

साहित्य यदि लोक का दर्पण है तो लोक भी साहित्य से अनुप्राणित होता है। वर्तमान युग में कितनी ही शिल्प कलाएं ऐसी हैं जो प्राचीन अलंकरण, डिजाइन और प्रविधि का अनुसरण कर रही हैं।

वस्तुतः ललित कलाएं एक दूसरे की उपकारक भी हैं और प्रसाधक भी। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से इस बात का प्रयास किया गया है जनमानस के अन्तःकरण में इस विषय के साथ-साथ अन्य ललित कलाओं के प्रति भी अभिरुचि पैदा होगी।

पाद-टिप्पणियां

1. संस्कृत हिन्दी कोष- वामन शिवराम आप्टे पृष्ठ- 923 अमर कोश- 2-3-19
2. ऋग्वेद- 8/17/14
3. ऋग्वेद- 5/41/8
4. शतपथ ब्राह्मण- 8/1/4/10
5. अथर्ववेद- 9/3/1
6. अथर्ववेद- 9/3/3
7. अथर्ववेद- 9/3/5
8. अथर्ववेद- 9/3/15
9. अथर्ववेद- 9/3/18
10. अथर्ववेद- 9/3/21
11. ऋग्वेद- 7/88/5
12. अथर्ववेद- 7/3/20
13. ऋग्वेद- 1/189/2
14. ऋग्वेद- 4/30/20
15. ऋग्वेद- 1/165/14
16. यजुर्वेद- 17-2
17. ऋग्वेद-7/56/16
18. ऋग्वेद- 4/30/20
19. ऋग्वेद- 7/54/1,3, 7 /55/1
20. ऋग्वेद- 8/22,3, 8/26/17, 6/2/8, 1/121/1, 10/146/3, 1/1/8, 1/61/9, 7/18/22, 8/10/1
21. ऋग्वेद- 7/89/1
22. ऋग्वेद-7/56/6, 10/106/5, 7/85/6
23. मेक्डानल एवं कीथ- वैदिक इण्डेक्स- 1, 230, 231
24. विमेन इन ऋग्वेद- पृ० 171, 172
25. ऋग्वेद-2/33/10, 8/47/15, 5/19/3
26. ऋग्वेद-1/166/10, 4/10/5, 5/33/4, 8/20/11
27. शतपथ ब्राह्मण-6/7/1, 7, 27
28. ऋग्वेद- 2/34/2, 8, 5/55/1, 5/57/5
29. ऋग्वेद- 4/38/6, 5/34/4, 8/47/15
30. ऋग्वेद- 5/54/11, 1/166/9, 7/56/13, 5/58/2
31. ऋग्वेद- 8/78/3
32. ऋग्वेद- 1/35/4, 10/68/1, 1/126/4
33. ऋग्वेद- 1/33/8, 1/122/14
34. ऋग्वेद- 10/85/20

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (143-146) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक आचार मीमांसा

डॉ० इन्दु शर्मा
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, भाषा विभाग,
संस्कृत केन्द्र, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वेद सृष्टि के आदि संविधान हैं। इसलिए वेदों की भाषा, संस्कृति, धर्म, दर्शन एवं समस्त ज्ञान-विज्ञान स्वतः प्राचीनतम सिद्ध हो जाते हैं। विश्व की कोई भी भाषा संस्कृत जितनी समृद्ध नहीं है। महर्षि मनु कहते हैं **''भूतं भव्यं भविष्यंच सर्वं वेदात् प्रसिध्यति[1], सर्वज्ञानमयो हि सः।**[2] वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान के स्रोत हैं। मानव जीवन के उदात्तीकरण हेतु वेदों में अनेक आचरणीय तथ्य निहित हैं जिनमें आस्तिकता, सत्य, अहिंसा, पुरुषार्थ, सौमनस्य प्रमुख हैं। वैदिक आचार मीमांसा के इन प्रमुख आधारों का क्रमशः वर्णन निम्नवत् किया जा सकता है-

(क) आस्तिकता

अस्ति ईश्वरः इति सः आस्तिकः[3] अर्थात् जो ईश्वर को स्वीकार करने से युक्त विचार धारा है, वह 'आस्तिकता' है। ऋग्वेद में सहस्त्रों मन्त्र ईश्वर विषयक है। **'एक इद् राजा जगतो बभूव**[4] अर्थात् वह एक ईश्वर ही संसार का एकमात्र राजा है। उसी सत्यरूप ईश्वर का विद्वान् नाना रूपों में वर्णन करते हैं **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'।**[5] वह केवल एक ही भुवन का ईश है **'एको विश्वस्य भुवनस्य राजा।'**[6] उसी को विद्वान् अग्नि, यम और वायु आदि विभिन्न नामों से जानते हैं **'अग्निं यमं मातरिश्वान माहुः।**[7] वही विश्व का कर्ता, धर्ता, हर्ता, अज्ञेय और स्वयं प्रकट होने वाला है।[8] वह ही पापमोचक व शत्रुनाशक है।[9] संसार में जो कुछ भी जड़ चेतन आदि हैं वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादित है।[10] सम्पूर्ण वैदिक साहित्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है और ईश्वर को ही विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं लय का कारण मानता है। संसार के विविध धर्मों एवं सम्प्रदायों की दृष्टि से भी ईष्वर का वैदिक स्वरूप सभी को स्वीकृत है। राष्ट्रहित एवं लोककल्याण के परिप्रेक्ष्य से भी प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर का चिन्तन तथा आस्तिक होना आवश्यक है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में कहा गया है कि **''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्व- भूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।''**[11] यहीं पर यह कहा गया है कि उस आत्मस्थ ईश्वर का जो जन चिन्तन करते हैं, उनका सुख शाश्वत है, दूसरों का नहीं।[12] इस प्रकार मानव में आस्तिकता वैदिक आचार मीमांसा का महत्वपूर्ण अंग है।

(ख) सत्य

वैदिक साहित्य में सत्य की महिमा अनन्त बताई गई है **''अवोचाम महते सौभगाय सत्यम्''** अर्थात् महान् सौभाग्य के लिए सत्य बोलें।[13] यजुर्वेद में कहा गया है कि **''श्रद्धया सत्यमाप्यते''** अर्थात् सत्य को श्रद्धा से ही प्राप्त किया जा सकता है।[14] ऋग्वेद के अनुसार– ''जिस मानव की सत्य वाणी तथा परार्थ पराक्रम है वह सर्वत्र प्रशंसनीय एवं पूजनीय होता है। सत्य–असत्य का विवेक रखने वाले मानव का सभी सम्मान करते हैं।

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं
मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।

त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो
विदथे देव भाजयुः॥[15]

सत्य रूपी सोम की नौकाएँ अर्थात् यज्ञपात्र सत्यकर्म करने वाले यजमान की रक्षा करती हैं **''सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्।**[16] सत्य के द्वारा पृथ्वीलोक पवित्र होता है **''उभे पुनामि रोदसी ऋतेन।''**[17] सत्य बहुत बड़े शत्रुओं को भी जीत लेता है। **''ऋतं सासाह महिचित्।''**[18] सत्य ही बोलना चाहिए **''ऋतं वोचे, ऋतमिद् वदेम।''**[19] सत्य के रक्षक एवं सत्यकर्मी को कोई नहीं दबा सकता है **''ऋतस्य गोप्ता न दभाय सुक्रतुः॥**[20] सत्य से ही मधुरता एवं प्रेम उत्पन्न होता है **''ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियम्''**[21] सत्य का तन्तु सभी के हृदय में फैल जाता है **ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ।**[22] सत्यनिष्ठ बुद्धि पाप के विचारों को नष्ट कर देती है **ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।**[23] सत्य का केन्द्र अमृत होता है। **''ऋतस्य नाभिरमृतं विजायते।''**[24] सत्याचरण से ही बुद्धि ने ज्ञान को पाया **''ऋतस्य पथा सरमा विद्दगाः।''**[25] विशाल द्युलोक सत्य का ही विस्तार है **''ऋतस्य हि प्रसितिर्द्यौरुरु व्यचः।''**[26] अथर्ववेद में कहा गया है कि सत्य का उच्चारण करने वाला मानव ही मोक्ष को प्राप्त करता है **''प्राणो ह सत्यवादिन मुक्तये लोक आदधत्।''**[27] इसलिए मानव को इस संसार में रहते हुए सदैव सत्य की ही कामना करनी चाहिए, क्योंकि सत्य ही समस्त इच्छाओं की पूर्ति करने वाला है **''श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक्।''**[28] यही कारण है कि मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है– ''सत्यमेव जयते''[29]

(ग) अहिंसा

वेदों में समस्त प्राणियों के लिए अहिंसा, करुणा की भावना एवं द्वेष, ईर्ष्या के परित्याग का संदेश निहित है। ऋग्वेद कहता है कि गाय और मनुष्य की हिंसा करने वालों से दूर रहना चाहिए **''आरे ते गोघ्नमुतपूरुषघ्नम्''**[30] ऐसी अनेक प्रार्थनाएं प्राप्त होती हैं, जैसे ''हे रुद्र! तुम हमारे युवकों एवं वयस्कों की हिंसा मत करो **''मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः''**[31] मानव का व्यवहार आन्तरिक और बाह्य रूप से समान होना चाहिए **''यदन्तरं तद्बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्''**[32] ऋग्वेद में कहा गया है कि जो कभी किसी पर हिंसा नहीं करता, उस पर भी कभी कोई आक्रमण नहीं करता तथा वह मधुर फलों को आहार के रूप में ग्रहण कर सुख प्राप्त करता है।''[33] तात्पर्य यह है कि अहिंसाप्रिय मानव को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुख एवं समृद्धि सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना मानव का सर्वस्व नाश कर देती है। यह वह

अग्नि है जो मानव को क्षण में भस्म कर देती है।[34] यजुर्वेद के अनुसार ''इन्द्र से ऐसी प्रार्थना की गई है कि हम हिंसा न करने वाले बनें अर्थात् हमारी प्रवृत्ति हिंसात्मक न हो **''नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसी।''**[35] इस प्रकार अनेक अहिंसात्मक विचार वेदों में प्राप्त होते हैं।

(घ) पुरुषार्थ

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय जिनके द्वारा जाने जा सकते हैं, वे वेद ही हैं। धर्म को जानने के लिए वेदों का सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है **''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।''**[36] वेदों में यज्ञ कर्म को सबसे प्राचीन धर्म माना गया है **''तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।''**[37] अग्नि यज्ञकर्ता की रक्षा करके उसे पापों से बचाता है।[38] वैदिक यज्ञ एक ऐसा यज्ञ है जिसके द्वारा सम्पूर्ण लोक का कल्याण होता है। चरैवेति चरैवेति का उद्घोष सर्वथा सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों में स्वीकारा गया है। यजुर्वेद में कहा गया है कि मानव को कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए।[39] कर्म ही मनुष्य की गति का निर्धारण करते हैं, यही आर्थिक विकास के मूल हैं, भाग्य भी कर्मों से ही बनता है। अर्थ हेतु भी वेदों में अनेक प्रार्थनाएं प्राप्त होती हैं।[40] काम पुरुषार्थ चतुष्ट्य में तीसरे क्रम पर है। काम का अर्थ है इष्टवस्तु, अभिलाषा, अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति।[41] सर्वप्रथम धर्मानुकूल अर्थोपार्जन कर काम की धर्मानुसार प्राप्ति करनी चाहिए। अतः धन का सदुपयोग ही काम है। अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष है। यजुर्वेद के अनुसार ''जो अन्धकार से परे सूर्य के समान तेजस्वी और महान् पुरुष है उसको जानने से ही मानव मृत्यु के पार हो सकता है, मृत्यु दूर करने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।''[42] ऐसे ही मोक्ष सम्बन्धी अनेक विचार वेदों में प्राप्त होते हैं।[43]

(ङ) सौमनस्य

विश्व के किसी भी साहित्य में सौमनस्य जैसे इतने उदात्त विचार नहीं प्राप्त होते, जो वेदों में निहित है यथा ''मिलकर चलो, मिलकर बालो, तुम्हारे मन एक प्रकार के विचार करें। सभी की मन्त्रणा एक प्रकार की हो, मन, चित्त एवं चिन्तन समान हो।''[44] सभी के संकल्प समान हों, हृदय समान हों।[45] मुख से मधुर वचन बोलें।[46] जिह्वा मधुर और ज्ञानयुक्त हो।[47] चारों दिशाएं हमारे लिए शुभ हों।[48]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि वेद ज्ञान का वह विश्वकोश है जहाँ की आचार मीमांसा किसी एक सम्प्रदाय अथवा धर्म तक ही परिसीमित नहीं है अपितु ये सार्वभौमिक हैं। जिसका अनुसरण करने में ही मानव मात्र का कल्याण निहित है। अतः मानवः को वेदों में प्रतिपादित आचार का आचरण अनिवार्य रूप से करना चाहिए।

पाद-टिप्पणियां

1. मनुस्मृति-12/97
2. मनुस्मृति-2/7
3. शब्दकल्पद्रुम-पृ०198
4. ऋ०वे०-10/121/3
5. ऋ०वे०-1/164/46
6. ऋ०वे०-6/36/4
7. ऋ०वे०-1/164/46
8. ऋ०वे०-8/79/1

9. ऋ० वे० - 8/99/5
10. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यांजगत्। यजु० वे० 40/1
11. श्वेताश्वतरोपनिषद्- 6/11
12. श्वेताश्वतरोपनिषद्- 6/12
13. ऋ०वे०-8/59/5
14. यजु०वे०-19/30
15. ऋ०वे०-2/1/4
16. ऋ०वे०-9/73/1
17. ऋ०वे०-1/133/1
18. ऋ०वे०-8/86/5
19. ऋ०वे०-4/5/11, 3/55/3
20. ऋ०वे०-9/75/2
21. यथोपरि
22. ऋ०वे०-9/73/9
23. ऋ०वे०-4/23/8
24. ऋ०वे०-9/74/4
25. ऋ०वे०-5/45/8
26. ऋ०वे०-10/92/4
27. अथर्व०-11/6/17
28. ऋ०वे०-9/73/1
29. मु०उ०-3/1/6
30. ऋ०वे०-1/114/10
31. ऋ०वे०-1/114/7
32. अथर्व०-2/30/4
33. ऋ०वे०-10/146/5
34. अथर्व०-6/18/1
35. यजु०वे०-18/53
36. मनु० स्मृ०-2/6, अमरकोष 1/5/3 (विद्यन्ते धर्मः वेदः)
37. ऋ०वे०-1/164/50
38. यथोपरि 7/1/15
39. यजुर्वेद 40/2
40. ऋ०वे०-10/121/10, 9/75/5, 1/47/1, 3/13/7 यजुर्वेद 5/19, 34/38, 7/43, 39/4, अथर्व० 12/1/45
41. पं० तारिणीश झा, शब्दार्थकौस्तुभ पृ० 319
42. यजु०वे० 31/18
43. ऋ०वे०-1/64/30, 10/16/3, 1/164/23, 8/6/28, 8/13/20, अथर्व० 11/5/19
44. ऋ०वे०-10/191/2, 3
45. ऋ०वे०-10/191/4
46. ऋ०वे०-2/39/6
47. वही 3/57/5
48. वही 7/35/8

✦✦✦

अमृता वयम्। -अथर्व. 3.31.11
हम अमर हो जाएँ।

नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम। -अथर्व. 7.80.1
हम मुक्तिधाम में पहुँच कर आनन्द-रस का आस्वादन करें।

अनागसो अदितये स्याम। -अथर्व. 7.83.3
निष्पाप होकर हम अमरता के अधिकारी हों।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (147-151) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में राष्ट्रियता और मानवाधिकार

- डॉ० चित्तरञ्जन दयाल सिंह कौशल

संस्कृत विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय महाविद्यालय,
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

वेद आर्यजाति के सर्वमान्य ग्रन्थ हैं, वेदों में राष्ट्रियता और मानवाधिकार की भावना का मन्त्रों में समावेश मिलता है। ऋग्वेद में परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है कि हे परमेश्वर! हमें ऐसी बुद्धि दें कि हम सब परस्पर हिलमिल कर एक साथ चलें, एक समान मीठी बाणी बोलें। एक समान हृदय वाले होकर स्वराष्ट्र में उत्पन्न धन-धान्य और सम्पत्ति को परस्पर समान रूप से बाँट कर भोंगे। हमारी हर प्रवृत्ति राग-द्वेष रहित परस्पर प्रीति बढ़ाने वाली हो।[1]

यजुर्वेद की एक ऋचा में स्पष्ट रूप से अपने राष्ट्र में सजग होकर नेतृत्व करने की उद्घोषणा की गई है।[2] अथर्ववेद के अनुसार वह भूमि, यह स्वदेश ही मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।[3]

अपनी मातृभूमि की रक्षा हेतु आत्मबलिदान की प्रेरणा प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी के हृदय को आन्दोलित कर देती है। वह मातृभूमि से ही प्रार्थना करता है कि हे मातृभूमि! तेरी सेवा करने वाले हम नीरोग और आरोग्य पूर्ण हों वैदिक ऋषि भी अपने मन्त्र से मातृभूमि के प्रति समर्पण के भाव अभिव्यक्त करते हुए कह उठता है कि हमें उस मातृभूमि से उत्पन्न हुए समस्त भोग प्राप्त हों, हम ज्ञानी बनें, दीर्घायु हों। हम तेरी सुरक्षा हेतु अपना आत्मोत्सर्ग करने के लिए भी सदा सन्नद्ध रहें।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।।[4]

वैदिक साहित्य में मानवाधिकार का अनेक प्रसंगों में उल्लेख किया गया है। ये अधिकार धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, आर्थिक, शैक्षिक सभी प्रकार के गिनाए गए हैं। साथ ही नारी के अधिकारों की समानता और विश्वबन्धुत्व की भावना का भी मंत्रों में समावेश हुआ है। विश्व के सभी मानवों को वेद पढ़ने का अधिकार प्रदान किया गया है, वेद पढ़ना और पढ़ाना सभी प्रबुद्धजनों का कर्त्तव्य भी बताया गया है। यजुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि यह वेदवाणी ब्राह्मण (शिक्षक), क्षत्रिय (योद्धा रक्षक), वैश्य (व्यापार विस्तारक) और शूद्र (सर्वसेवक) सबके लिए है।[5]

वेदों में जहाँ-जहाँ तेजस्विता, अभ्युदय और श्रीवृद्धि की कामना की गई है वहाँ बिना किसी भेदभाव के चारों वर्णों के लिए समान अधिकार स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक

मानव का इन सबमें समान अधिकार ही तो मानवाधिकारों में अभीष्ट है।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु,
रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु,
मयि धेहि रुचा रुचम्।।[6]

वेदों में सद्भावना, मैत्री भाव व समानता का संदेश सर्वत्र परिलक्षित होता है। हम सब समाज में सबके साथ समानता का व्यवहार करते हुए मित्रवत् आचरण करें। हम सबको मित्रवत् देखें और सब हमें भी मित्रवत् देखें।

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि
भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।[7]

मानवाधिकारों में तो केवल मानव को ही जीवन का अधिकार प्रदान किया जाता है। वेदों में तो लोककल्याण के लिए मानवों के समान पशुओं को भी जीने का अधिकार दिया गया है। जीवन का अभयदान मानवों के साथ-साथ पशुओं के लिए भी आवश्यक है। पशुओं की हिंसा से सब दूर रहें।[8] वैदिक यज्ञ में तो हिंसा का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। इसीलिए तो यह अध्वर कहा जाता है।

वेदों में स्त्रियों को वेदमंत्रों के पाठ-प्रवचन आदि का अधिकार प्रदान किया गया है। लगभग 29 मंत्रद्रष्टा ऋषिकाओं का ऋग्वेद और अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है। वैदिक ऋषिका देवसम्राज्ञी शची, वाचक्नवी गार्गी, ब्रह्मवादिनी ममता, ब्रह्मवादिनी विश्ववारा, ब्रह्मवादिनी अपाला, ब्रह्मवादिनी घोषा, ब्रह्मवादिनी सूर्या, ब्रह्मवादिनी वाक् आम्भृणी, यमी, श्रद्धा, कामायनी, आत्रेयी तो सुप्रसिद्ध हैं ही। ये शिक्षा के क्षेत्र में आचार्या और यज्ञादि में ब्रह्मा का भी स्थान प्राप्त करती थीं।[9]

वेदों में प्रत्येक मानव को स्वाधीनता का अधिकारी बताया गया है। ऋग्वेद में स्वराज्य की स्तुति व प्रशंसा युक्त अनेक मंत्र मिलते हैं।[10] 'अर्चन् अनुस्वराज्यम्'[11] स्वराज्य की महत्ता का सूचक है। राष्ट्र की स्वतंत्रता से ही राष्ट्र में रहने वाले मानवों को अपने अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। जो स्वाधीन होते हैं, वे ही औरों को स्वाधीन देख सकते हैं। मनुष्यों को कैसा होकर किस-किस के लिए क्या-क्या प्रदान करना चाहिए? यजुर्वेद के दशम मण्डल में यह विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

स्वराज स्थ राष्ट्रदा
राष्ट्रममुष्मै दत्त।[12]

हमारा स्वराज्य जनकल्याण और विश्वकल्याण के लिए ही होना चाहिए। मानवाधिकारों की रक्षा से ही यह सब संभव है। राष्ट्र में जनतांत्रिक अर्थात् जनता के राज्य की स्थापना होनी चाहिए, तभी जनता को अपने अधिकार प्राप्त हो सकते हैं।

स्वराज स्थ, जनभृत स्थ,
विश्वभृत स्थ
राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त।[13]

महते क्षत्राय, महते जानराज्याय।[14]

अथर्ववेद के अनुसार प्रजा को ही अपना राजा अथवा नेता चुनने का अधिकार है।

त्वां विशो वृणतां राज्याय।[15]

वेदों में प्रत्येक मानव को धनार्जन का

अधिकार प्रदान किया गया है। हम धन के स्वामी हों। हमें योगक्षेम की उपलब्धि हो। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष- इन चार पुरुषार्थों में 'अर्थ' का विशेष महत्त्व है। अर्थ के बिना सब निरर्थक हो जाता है। सार्थक अर्थव्यवस्था के लिए धनार्जन, धनसंग्रह और धन का वितरण व आदान-प्रदान बहुत आवश्यक है। इस सबका अधिकार अत्यावश्यक मानवाधिकार है। समाज से हम ग्रहण करते हैं तो समाज को हम दें भी। लेन-देन के सन्तुलन से स्वस्थ समाज का निर्माण होता है।

यजुर्वेद के अनेक मंत्र इस ओर स्पष्ट संकेत करते हैं व प्रत्येक व्यक्ति को धनार्जन व धनसंग्रह का अधिकार प्रदान करते हैं।

वयं स्याम पतयो रयीणाम्।।[16]
योगक्षेमो न कल्पताम्।।[17]
देहि मे ददामि ते नि
मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे
निहारं नि हराणि ते।।[18]

वेदों में मानव को अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करने, दानशीलता अपनाने का निर्देश दिया गया है। हम अपनी सम्पत्ति का अकेले उपभोग न करें। मिल-बाँट कर त्यागपूर्वक उपभोग करें। अकेला खाने वाला तो केवल पाप को ही खाता है।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी।।[19]

अर्थात् जिनके हृदय उदारतारहित हैं, उनका अन्न-धन पाना निरर्थक ही है। उनका अन्न मृत्यु के समान ही विषैला है, यही सत्य है। जो न तो देवों को हविष्यान्न समर्पित करते हैं, न बन्धु-बान्धवों को देते हैं, जो मात्र स्वयमेव खाते हैं, वे केवल पापान्न को ही ग्रहण करते हैं।

वेदों में भ्रष्टाचार के विरोध में स्पष्ट कहा गया है कि अनुचित साधनों से एकत्रित किया गया धन मनुष्य को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे आकाश बेल पेड़ को लिपट कर उसे सुखा देती है। परिश्रम से न्यायपूर्वक किया गया ही धनार्जन कल्याणकारी व सुखकारी होता है।

या मा लक्ष्मीः पतयालू-
रजुष्टाऽभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा।
हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः।।[20]

अर्थात् जो गिरने वाली सेवन करने के अयोग्य लक्ष्मी मेरे ऊपर आ गई है, जैसे बेल वृक्ष पर चढ़ती है, हे सविता देव! उसको यहाँ से हमसे दूर दूसरे स्थान पर रख। हमें शुद्ध सुवर्ण के आभूषण धारण कराने वाला तू पवित्र धन दे।

कुमति सुमति सबके उर रहहीं।
वेद पुराण-निगम अस कहहीं।।
जहाँ कुमति वहाँ विपद् निधाना।
जहाँ सुमति तहाँ सम्पत्ति नाना।।

आज के मातृशक्ति के प्रति बढ़ते अपराध का कारण भी यही कुबुद्धि है। गीता के अनुसार विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न हो जाती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अत्यंत मूढ़ भाव पैदा हो जाता है। मूढ़ता से स्मृति में भ्रम होता है।

स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिरकर पतन व भ्रष्टाचार-कदाचार के मार्ग पर चल पड़ता है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः
संगस्तेषूपजायते।

संगात्संजायते कामः कामात्
क्रोधोऽभिजायते॥

क्रोधाद् भवति सम्मोहः
सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो
बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥[21]

वेद तो यही चाहते हैं कि व्यक्ति के चित्तवृत्ति रूप राज्य में प्रत्येक क्षण श्रेष्ठ चिन्तन चलता रहे और उसके फलस्वरूप परोपकार युक्त उत्तम आचरण भी हो। यदि बुद्धि ठीक रहेगी तो सब कुछ ठीक होगा। हमारी वैदिक प्रार्थना भी सद्बुद्धि की याचना करती है।

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥[22]

हे सच्चिदानन्द परमात्मन्! हम आपके प्रेरणादायी विशुद्ध तेजस्वरूप भूत दिव्य रूप का अपने हृदय में नित्य ध्यान करते हैं। उससे हमारी बुद्धि नित्य निरंतर प्रेरित होती रहे। आप हमारी बुद्धि को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग की ओर लगा देवें। उस श्रेयमार्ग का अनुसरण कर हम आपकी उपासना करें व आपको ही प्राप्त हों।

वेदों की जो उदात्त भावना है वही रामायण और गीता में भी प्राप्त होती है। तुलसी कृत रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास स्पष्ट उल्लेख करते हैं- मानव मन को मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद और लोभ की वृत्तियाँ सदैव घेरे रहती हैं। इन छः मानसिक शत्रुओं के निवारण के लिए वैदिक मंत्रों में पशु-पक्षियों की उपमा से इनका शमन व दमन करने की सम्मति दी गयी है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं
जहि श्वयातुमुतकोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं
दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र॥[23]

उल्लू की संशयी वृत्ति, भेड़िये की आक्रामक वृत्ति, कुत्ते की चाटुकारवृत्ति, चकवा की असामाजिक वृत्ति, गरुड़ की अभिमानी वृत्ति, गिद्ध की लोलुपवृत्ति को साहसी मानव तू मार भगा। हे मानव! तू प्रभु से बल माँगकर इन छः प्रकार की राक्षसीय भावनाओं को पत्थर के सदृश कठोर साधनों से मसल दे।

वैदिक ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे सारे जगत् के उत्पादक प्रेरक देव! तू हमारे सारे दुराचरणों को दूर कर दे और सभी कल्याणकारी गुण हम में भर दे।

विश्वानि देव
सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ यजु. 30.3

पाद-टिप्पणियां

1. संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
   देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
   - ऋग्वेद, 10.191.2
2. वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।
   -यजुर्वेद, 9.23

3. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
   –अथर्ववेद, 12.1.12
4. अथर्ववेद, 12.1.62
5. यथेमां वाचं कल्याणीम् आ वदानिजनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।। –यजुर्वेद, 26.2
6. यजुर्वेद, 18.48
7. यजुर्वेद, 36.18
8. यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।।
   – यजुर्वेद, 36.22
9. (1) स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ। – ऋग्वेद, 8.33.19
   (2) या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। – ऋग्वेद, 8.31.5
   (3) यतस्रचा मिथुना या समर्यतः।
   – ऋग्वेद, 1.83.3
10. ऋग्वेद, 1.80.1–16
11. यजर्वेद, 10.4
12. यजुर्वेद, 10.4
13. यजुर्वेद, 9.40
14. अथर्ववेद, 3.4.2
15. यजुर्वेद, 10.20
16. यजुर्वेद, 22.22
17. यजुर्वेद, 3.50
18. ऋग्वेद, 10.117.6
19. अथर्ववेद, 7.115.2
20. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 2, श्लोक 62–63
21. ऋग्वेद, 3.62.10
22. ऋग्वेद, 7.104.22 और अथर्ववेद 8.4.22
23. ऋग्वेद, 5.82.5

✦✦✦

शं नो भवन्तूषसो विभातीः
प्रकाशवती उषायें हमें सुख–शान्ति देने वाली हों।

शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः।
बादल हम प्रजाओं पर सुख–शान्ति बरसाये।

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु। –अथर्व. 19.11.1
सत्यपति जन हमें सुख–शान्ति दें।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (152-158) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में पर्यावरण-चिन्तन

डॉ० उमा रानी
असिस्टैंट प्रोफेसर, संस्कृत
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ऊना (हि. प्र.)

विशुद्ध पर्यावरण के सान्निध्य से ही मानव जाति ने निरंतर सफलताएं अर्जित की हैं ऐसा स्वस्थ परिवेश ही पर्यावरण कहा गया है। पर्यावरण का शाब्दिक अर्थ है- चारों ओर से घेरने वाला। इस घेरे में सजीव व निर्जीव (पृथ्वी, सूर्य, वायु, आकाश, जल, अग्नि, वनस्पति, मिट्टी, पशु, पक्षी और मानव) सभी तत्त्व विद्यमान हैं। सुन्दर व समृद्ध वनों ने वैदिक आर्यों का पोषण व रक्षण किया। स्वच्छ आकाश के नीचे सम्पन्न पृथिवी पर कलकल करती नदियों के संगीत पर पक्षियों का कूजन एवं वन्य पशुओं की मित्रता का आनन्द लेने वाले ऋषियों का मन इन्हीं विशेषताओं को बनाए रखने में लगा रहता क्योंकि उनका यही पर्यावरण था। उन्होंने पर्यावरण-रक्षण व वर्धनार्थ अपनी बुद्धि द्वारा समस्त विज्ञान का वैदिक मंत्रों में संयोजन करके विनाश के डर से आध्यात्मिक विषयों का वैज्ञानिकों प्रयोगों की अपेक्षा मनन किया इस प्रकार वे पर्यावरण संरक्षणार्थ अपना सर्वस्व अर्पण करने में तत्पर रहे। इसके प्रमाणार्थ अथर्ववेद के मंत्र 5/9/7 में कहा गया है-

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्ष-
मात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं
नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय।।[1]

अर्थात् मेरे नेत्र सूर्य समान प्रकाशमान, प्राणवायु के समान गतिमान, आत्मा अन्तरिक्ष के समान मध्यवर्ती तथा शरीर पृथिवीवत् सहनशील है। ऐसा मैं बिना आवरण के प्रसिद्ध हूँ। सब जानते हैं। मैं अपनी आत्मा सूर्य और पृथिवी की रक्षार्थ अर्पित करता हूँ।

वेद प्राकृतिक तत्त्वों के प्रति अन्तरंग आत्मीयता को प्रकट करते हुए उसके संरक्षण व संवर्धन हेतु मनुष्य का ध्यान आकृष्ट करते हैं। पर्यावरण स्तुति, रक्षा, शुद्धता, और वर्धनार्थ प्रकृति-संग ऋषियों द्वारा विवेकपूर्ण व्यवहारों, सामंजस्य और संवदनशीलता के संदर्भ प्रदत्त उपदेशों का वर्णन पंचतत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में अधोलिखित है।

1. पृथिवीः- जैव विविधता की पोषक व रक्षक पृथ्वी रूपी माता की रक्षा के अन्तर्भाव को ऋषियों का निम्नलिखित उद्गार प्रकट करता है- माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।[2] अथर्ववेद का सम्पूर्ण पृथ्वीसूक्त भूमि के साथ मानवीय सम्बन्ध, आत्मीयता, संवेदना, समृद्धि, कर्त्तव्य और रक्षा के संदेश से परिपूर्ण है। पृथिवी की सुरक्षा व संवेदना का उदाहरण

इस प्रकार है–

यत्ते भूमे विखनामि
क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि
मा ते हृदयमर्पिपम्।।[3]

अर्थात् हे भूमि! तेरा जो भी भाग मैं खोदूँ, वह पुनः शीघ्र उग आवे। हे खोजने योग्य! मैं न तो तेरे मर्मस्थल पर चोट करूँ और न तेरे हृदय को पीड़ित करूँ।

पृथिवी के प्रति यह संवेदना पृथ्वी-संरक्षण का मार्ग प्रशस्त करती है।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं
तुभ्यं बलिहृताः स्याम।।[4]

हे पृथ्वी! तेरी गोद हमारे लिए नीरोग और राजरोगरहित हो। अपनी आयु को दीर्घकाल तक जाग्रत करते हुए हम तेरे लिए बलिदान करने वाले बने रहें। भूमि-संरक्षणार्थ सर्वस्व समर्पण भावना का यह उदाहरण अनुकरणीय है। अथर्ववेद में आत्मोत्सर्ग का यह सन्देश पृथ्वी रक्षार्थ समस्त विश्व का मार्गदर्शक है।

जलः – इस धरती पर प्रकृति-प्रदत्त जल सुखदायक, जीवनाधार और रक्षक है। ऋग्वेद में सबको शक्ति देने वाले जल को मातावत् पूजनीय माना गया है– **आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।**[5] ऋग्वेद में ही ऋषि मेधातिथि कण्व का कथन है–

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत
प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः।[6]

अर्थात् हे मनुष्यों! अमृततुल्य और गुणकारी जल का सदुपयोग करने वाले बनो। जल की प्रशंसा और स्तुति करने के लिए सदा तैयार रहो।

मानव स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाली नदियों को ऋषियों ने माता के समान पूजा है–

ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः
शिवादेवीरशिपदा भवन्तु सर्वा
नद्यो अशिमिदा भवन्तु।[7]

सब नदियां हमारे लिए जल से सींचती हुई, सबको तृप्त करती हुईं, भोजनादि व्यवहार में प्राप्त हुई, आनन्द व सुखदायिका हों तथा अन्नादि वनस्पति से स्नेह करने वाली हों। जल-संरक्षणार्थ वर्षा व बहते जल का महत्त्व भी वेदों में प्रकट है– अथर्ववेद के अनुसार वार्षिकी जलों में पोषक तत्त्व पाए जाते हैं–

अपामह दिव्यानामपां स्त्रोतस्यानाम्।
अपामह प्रणेजनेऽश्वा भवथ वाजिनः।।[8]

अर्थात् हे मानवों! आकाश में बरसने वाले, स्रोतों से निकलने वाले, फैले हुए जलों में पोषण सामर्थ्य होता है। यह तुम निश्चितरूप से जानो तथा इनसे वेगवान् व बलवान् पुरुष बन जाओ।

अतः जल को प्रदूषित न करके उसके प्रति सम्मान और कृतज्ञता की भावना रखनी चाहिए। वैदिक आर्य सदैव शुद्ध वर्षा की कामना करते थे–

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभिस्रवन्तु नः।।[9]

दिव्य गुण वाले जल हमारी अभीष्ट सिद्धि, पीने व रक्षा के लिए सुखदायक हों। हमारे रोग की शान्ति के लिए व अभय हेतु सब ओर से बरसें। अथर्ववेद में कहा गया है–

शिवाः नः सन्तु वार्षिकीः।[10]

वर्षा के जल हमारे लिए कल्याणकारक हों। मा आपो हिंसीः[11] यजुर्वेद के इस कथन से जल को शुद्ध रखने के साथ उसको समाप्त न करने की बात स्पष्टतः झलकती है। ऋग्वेद में जलाशयों के किनारे खड़े वृक्षों को काटने से मना किया गया है-**यदर्णसं मोषथावृक्षं।**[12]

ऋग्वेद में वायु द्वारा जल के शुद्धीकरण को दर्शाया गया है-

यदेषां पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहितः।
यान्ति शुभ्रा रिणन्नपः।।[13]

अर्थात् जब तीव्रगामी सारथी रथ पर चढ़कर जलयुक्त स्थानों की ओर वायु को ले जाता है तब वह वायु जल को स्वच्छ करते हुए जाता है।

उपरोक्त वर्णन से व्यक्त है कि वैदिक काल में जल-संरक्षण की प्रथा प्रचलित थी।

वायुः- पर्यावरण से सम्बन्धित ऑक्सीजन वेदों में प्राणवायु कही गई है। वेद के अनुसार वायु को शुद्ध बनाए रखना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। इसे प्रदूषित करने वाले अपराधी व अक्षम्य है। अथर्ववेद पवनदेवता से कहता है कि वायु प्रदूषण फैलाने वाले कार्यों और प्रवृत्तियों को नष्ट किया जाए-

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रतितप।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।।[14]

हे पवन! जो तेरा प्रताप है उससे उस पर प्रतापी हो जो हमसे अनिष्ट करवाता है या जिससे हम अप्रिय करते हैं। अथर्ववेद में वायु से वायु की रक्षा की प्रार्थना है-

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।[15]

अन्तरिक्ष के विकारों से वायु हमारी रक्षा करती है इसलिए ऋग्वेद में वायु से प्रार्थना की गई है- **पातु वातो अन्तरिक्षात्।**[16]

सभी प्रकार के पवनों से कहा गया है- हे वायुगण! हमारी रक्षा करें। **त्रायतां मरुतां गणः।**[17]

मरुत्गणों के अत्यधिक वेग से प्रभावित होने पर ऋषि उनके खेतों के संरक्षणार्थ कहते हैं- **यत्सीमन्तं न धूनुथ।**[18] हे वायु! तुम तृण, वृक्षादि खेतों को मत उजाड़ो। ऐसी प्रार्थना पर्यावरण संरक्षण की चेतना को जागृत करती है जो वेदों का पर्यावरण विषयक महान् चिन्तन है।

अग्निः- वेदों में अग्नि तत्त्व की पर्यावरण निर्माण एवं सुरक्षा की आधारभूत शक्ति के रूप में स्तुति की गई है। मधुच्छन्दा ऋषि द्वारा कथित ऋग्वेद का प्रथमपद '**अग्निमीडे**'[19] अग्नि संरक्षण के सभी पक्षों की व्याख्या में समर्थ है। वेदों में एक शक्ति के रूप में अग्नि के पार्थिव, अन्तरिक्ष स्थानीय (विद्युत्) तथा द्यौ स्थानीय (सूर्य) में त्रिविध रूप हैं। वेदों में सौर-ऊर्जा को पर्यावरण रक्षार्थ-सर्वश्रेष्ठ माना गया है तथा सूर्य को इस जगत् की आत्मा कहा है। सूर्य-ऊर्जा और द्युति विकास व वृद्धि की द्योतक होने से सर्वार्थ अपेक्षित है- **सूर्यः यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च।**[20]

सूर्य-रश्मिपान वैदिक विचारधारा की औषधिविज्ञान को महती देन है ऋग्वेद में रोग-निवारणार्थ वर्णन है कि सूर्य की प्रातःकालीन किरणें रोगों को दूर करती हैं-

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं ममसूर्य हरिमाणं च नाशय।।[21]

अर्थात् मित्रों द्वारा सत्कार योग्य, सब औषध व रोग निवारण विद्याओं के ज्ञाता विद्वान् सूर्य उदित होकर आप उन्नत आकाश में चढ़कर हमारा मानस, हृदय, पीत, शरीर, चर्म एवं नेत्ररोग नष्ट करें।

ऐसे रोगनिवारक, रक्षक सूर्य का हमें संरक्षण करना चाहिए। अथर्ववेद में अग्नि को क्षति पहुँचाने वाले को दण्डविधान का वर्णन भी मिलता है- **अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रतितप।**[22] अग्नि देव से उसको दूषित करने वाले कारणों को हटाने हेतु प्रार्थना भी की गई है-

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।।[23]

यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में सूर्य की ऊर्जा का यशोगान किया है- **इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण।**[24] वेदों में ऋषियों ने प्राकृतिक ऊर्जा को काम में लाने हेतु आग्रह किया है क्योंकि सौर ऊर्जा प्राकृतिक व गैर परम्परागत ऊर्जा का ऐसा बड़ा स्रोत है जो पर्यावरण की शुद्धता की रक्षार्थ शत-प्रतिशत सक्षम है।[25] आधुनिक पर्यावरण संकट में ऊर्जा संकट के समाधान के लिए सौर-ऊर्जा के विविध नये प्रयोग किए जा रहे हैं इस संदर्भ में वैदिक सौर-ऊर्जा के महत्त्व और उपयोग निश्चित रूप से ग्रहणीय हैं जो ऊर्जा-समस्या के दूरीकरण हेतु सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

वनस्पतिः- ऋषियों की इस भारतभूमि में गुणकारी औषधियां सदेव उपलब्ध होती रही हैं समस्त वनस्पतियों से मानव आकांक्षाओं को जोड़ते हुए वैदिक ऋषियों ने इनका संरक्षण किया है। प्राचीनकाल से भारतीय संस्कृति में पेड़-पौधों, खेतों आदि को पूजनीय माना गया है तथा इनके प्रति आदरभाव भी परिलक्षित होता है, यही कारण है कि आधुनिक काल में भी भारतीय स्त्रियों द्वारा व्रत त्यौहारों पर पीपल, सिम्बल, तुलसी, वट, आम्र, नील, आंवला, केला तथा जामुनादि की पूजा करना वृक्षों के प्रति उनकी आत्मीयता, सम्मान व सुरक्षा की भावना को प्रकट करता है। वृक्षादि को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण वन सम्पदा, वनस्पति जगत्, वृक्षों और उनके सरंक्षकों तथा पालकों को भी वेदों में वन्दनीय व पूजनीय कहा गया है। यजुर्वेद में वन-संरक्षकों को नमस्कार करते हुए कुत्स ऋषि का कथन है कि-

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो
वनानां पतये नमः

वृक्षाणां पतये नमः
औषधीनां पतये नमः

वृक्षाणां पतये नमः
अरण्यानां पतये नमः।[26]

अथर्ववेद में ऋषि वनसम्पदा के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हुए कहता है-

तिस्त्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः
षट्चेमा प्रदिशः पृथक्
त्वयाहं सर्वाभूतानि
पश्यानि देव्योषधे।[27]

वैदिक ऋषियों ने कहा है कि विविध औषधियों के महत्त्व, गुणों और उनकी पोषणता की जानकारी सभी को होनी चाहिए ताकि मानव उनके गुणों से लाभान्वित होते हुए उनकी सुरक्षा व संवर्धन करें। ये वनौषधियां अपना संवर्धन स्वयं करती हैं, इसी परिप्रेक्ष्य

में एरम्मद ऋषि अरण्यानी सूक्त में कहता है-अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।[28]

अरण्यानी सूक्त पर्यावरण-रक्षा, वानस्पतिक समुन्नत चेतना का ही नहीं अपितु मानव के कल्याण हेतु उनके उपयोग व नियोजन की व्यापक जानकारी का अभूतपूर्व उदाहरण है, अतः पृथ्वी, तालाब, समुद्र, पर्वतों पर उत्पन्न वृक्षादि वनस्पति नितान्त रक्षणीय व संवर्धनीय है, क्योंकि इनसे वायु की गुणवत्ता बढ़ती है, पर्यावरण शुद्ध होता है और वनौषधियों को स्पर्श करके बहता हुआ वायु गुणकारी बन जाता है। वेदों में ऋषियों ने पक्षियों के आश्रयस्थल वृक्षों को काटने से मना किया है-**मा काकम्बीरमुद्वृहो वनस्पतिम्।**[29] ऋग्वेद के ऋषि के अनुसार वन और वृक्षादि से उपलब्ध संसाधनों की प्राप्ति तभी संभव है जब हम सब के मन में इसकी सुरक्षार्थ समर्पण भावना हो। वनस्पतियों के संरक्षणार्थ स्व सर्वस्व अर्पित करना एवं स्वयं का समर्पण यही दर्शाता है कि मनुष्य के जीवन हेतु वन व वृक्षों की अनिवार्यता है-

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे
सनेयमश्वं गां वास आत्मनं तव पूरुष।[30]

वृक्षों की सुरक्षा एवं सतत प्राप्ति हेतु ऋषियों का यह अर्पण ग्रहणीय है, ऐसे समर्पण की भावना तभी विकसित होगी जब हम सभी वनस्पतियों के गुणों से परिचित होंगे, तथा इनके प्रति कृतज्ञ हों। वृक्षों के प्रति बलिदान की भावना ने ही वेदकालीन समाज में पर्यावरण को संरक्षित रखकर सुरम्य बनाए रखा। वैदिक काल में ऋषियों का वनस्पति के प्रति आत्मीयता और मानवीयतापूर्ण व्यवहार होने के कारण उनकी परम चेतना का विकास होता रहा। जनहित की भावना से प्रेरित ऋषियों की यह परम्परा आधुनिक समय में यदि प्रचलित रहती तो आज पर्यावरण प्रदूषित न होता क्योंकि ऋषियों का यह भारतवर्ष गुणकारी औषधियों से युक्त रहा है इसीलिए उन्होंने वनस्पतियों की सुरक्षा और संवृद्धि पर बल दिया है।

यज्ञः- यजुर्वेद पूर्णतः यज्ञपरक है। पर्यावरण-सुरक्षा यज्ञ में और यज्ञ-संरक्षण उसके अनवरत क्रियान्वयन में विद्यमान है। यज्ञ से उत्पन्न सुगन्धित द्रव्यों का धुआँ अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर वहाँ स्थित प्रदूषण को समाप्त करने में समर्थ है, जिससे शुद्धता होती है, इसलिए शुद्ध तत्त्वों की रक्षा के लिए यज्ञ किये जाने चाहिए।[31] छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार-**पुरुषो वाव यज्ञः।**[32] मानव जीवन को श्रेष्ठ भावनाओं से प्रेरित करता है और बाह्यरूप से वातावरण को पवित्र करता है। वेद पर्यावरण-सन्तुलनार्थ ग्यारह तत्त्वों को संयुक्त रूप से यज्ञ द्वारा हविषा देने का निर्देश करता है-

ये देवाः पृथिव्यामेकादशस्थ
ते देवासो, हविरिदं जुषध्वम्।[30]

इस मंत्र में यज्ञ द्वारा बाह्य व आन्तरिक तत्त्वों का सन्तुलन दर्शाया गया है। इसके पोषण हेतु यज्ञ एक व्यावहारिक प्रक्रिया है। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक दृष्टि से श्रेष्ठ भावनाओं और सम्बन्धों को स्थापित करने वाले यज्ञ वैज्ञानिक दृष्टि से वायु को शुद्ध करते हैं और वृक्षों का कार्बन से पोषण करते हैं।[33] वर्षा करते हैं क्योंकि बिना जल खेती नहीं की जा सकती, अतः वेद कहता

है- **कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पताम्।**[34] यज्ञ की सहायता से खेती करो। **वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पताम्**[35]- वर्षा के लिए यज्ञ करो। **निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु**[36] - जब तक हम चाहें तब तक वर्षा हो, इच्छित स्थान पर हो। इस प्रकार कृषि, वायु, वृक्ष- इनके संरक्षणार्थ व शुद्धीकरणार्थ यज्ञकार्य लाभदायक है। वैदिक काल में पर्यावरण में व्याप्त अनावश्यक जीवाणुओं और अन्य विकारों की समाप्ति करने के लिए वर्ष पर्यन्त ऋतु अनुसार यज्ञ किए जाते थे ताकि शुद्ध पर्यावरण प्राणियों के अनुकूल रहे। सामाजिक प्रक्रिया के रूप में व्यवहृत यज्ञ भी पर्यावरणीय शक्तियों को सदैव शुद्ध पोषित और संरक्षित रखता है।

निष्कर्षः- निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पर्यावरण की सुरक्षा को मध्यनजर रखते हुए वेदों में मनुष्य को पर्यावरण के प्रति सचेत (सजग) रहने एवं उसके ज्ञानार्जन हेतु पुनः-पुनः सन्देश दिया गया है-

पूषा विष्णुर्हवनं मे
सरस्वत्यवन्तु सप्तसिन्धवः।
आपो वातः पर्वतासो वनस्पतिः
शृणोतु पृथिवीहवम्।[37]

इस प्रकार वेदों में प्राकृतिक देवताओं का आह्वान करके उनसे प्रार्थना करते हुए अनुकूल बने रहने हेतु निवेदन करने में ऋषियों द्वारा सजगता दिखाई गई है। वेदों में पर्यावरण-सुरक्षार्थ इस बात पर बल दिया गया है कि नियमानुसार स्वकार्य करती प्रकृति के समान यदि मनुष्य भी नियमित शासन में निज कार्य करे अर्थात् पर्यावरण के नैसर्गिक चक्र को न तोड़ते हुए उसके अनुकूल रहते काम करे तब प्रकृति संरक्षण के साथ प्राकृतिक नियमानुसार कृत-कार्य भी कल्याणकारी व शान्तिप्रद होंगे। अतः हमें पर्यावरण-संरक्षणार्थ प्रकृति से प्रेरणा लेने हेतु ऋषियों द्वारा प्रदत्त संकेतों को ग्रहण करते हुए इनके गुणों को भी अपनाना चाहिए क्योंकि यदि मनुष्य तीक्ष्णबुद्धि और क्षमाभाव जैसे गुणों को स्वीकारते हुए निःस्वार्थभाव से पर्यावरण पर उपकार करता है तो उस उपकार में ही पर्यावरण-संरक्षण निहित है यही वेदों में वर्णित पर्यावरण-चिन्तन है। इस युग के मानव ने अपनी प्रगतिशील सभ्यता और संस्कृति से प्राकृतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करके पर्यावरण की अनेक समस्याओं को आमन्त्रित किया है परिणामस्वरूप पर्यावरण चिन्तन का विषय सम्पूर्ण विश्व के लिए एक गम्भीर प्रश्न बन चुका है। वर्तमान समय में विश्वस्तरीय समस्या बने पर्यावरण संकट के समाधानार्थ आज के बुद्धिजीवी मनुष्य को निज भौतिक सुख के लिए संरक्षक प्रकृति का भक्षक न होकर रक्षक के रूप में प्राकृतिक संसाधनों को दोहन न करके वेद वर्णित पर्यावरण-संरक्षण विषयक सुझावों को अपनाते हुए पर्यावरण-सुरक्षा के प्रति जागरुक होना चाहिए। तभी पर्यावरण-संरक्षण के साथ-साथ मानव, राष्ट्र व विश्वकल्याण सम्भव है। क्योंकि पर्यावरण की रक्षा में ही प्राणिमात्र की सुरक्षा है, अतः अथर्ववेद में ऋषि कहता है-

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः
त्रायन्तां विश्वाभूतानि यथायमरपा असत्।[38]

अर्थात् इन्द्रियां इस प्राणी की रक्षा करें, पवनों के प्रवाह रक्षा करें और सब भूत, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश रक्षा करें जिससे यह प्राणी दोषरहित होकर स्वस्थ रूप में जीवन व्यतीत कर सके।

पाद-टिप्पणियां

1. अथर्ववेद, 5.9.7
2. वही, 12.1.12
3. वही, 12.1.35
4. वही, 12.1.62
5. ऋग्वेद, 10.17.10
6. वही, 1.23.19
7. वही, 7.50.4
8. अथर्ववेद, 19.2.4
9. वही, 1.6.1
10. वही, 1.6.4,
11. यजुर्वेद, 6.22
12. ऋग्वेद, 5.54.6
13. वही, 8.7.28
14. अथर्ववेद, 2.20.1
15. वही, 2.20.5
16. ऋग्वेद, 10.158.1
17. वही, 10,137.5
18. वही, 1.37.6
19. वही, 1.11
20. अथर्ववेद, 2.21.3
21. ऋग्वेद, 1.50.11
22. अथर्ववेद, 2.19.1
23. वही, 2.19.5
24. यजुर्वेद, 1.1
25. वेदों में पर्यावरण शिक्षा, पृ. 94
26. यजुर्वेद, 16.17-20
27. अथर्ववेद, 4.20.2
28. ऋग्वेद, 10.146.1
29. वही, 6.48.17
30. वही, 10.97.4
31. वेदों में पर्यावरण शिक्षा, पृ. 104
32. छान्दोग्योपनिषद 3.14
33. वेदों में पर्यावरण शिक्षा, पृ. 108
34. यजुर्वेद, 18.9
35. वही, 18.9
36. वही, 22.22
37. ऋग्वेद, 8.54.4
38. अथर्ववेद, 4.13.4

✦✦✦

मा नो द्विक्षत कश्चन। -अथर्व. 12.1.18
कोई भी हमसे द्वेष न करे।

मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम्। -अथर्व. 12.2.33
वह हमसे द्वेष न करे, हम उससे द्वेष न करें।

प्रियं प्रियाणां कृणवाम। -अथर्व. 12.3.49
प्रिय जनों का हम प्रिय ही करें।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (159-164) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

निरुक्त पर आधारित ध्वनिविज्ञान वैशिष्ट्य और तद्विषयक प्राकृत प्रभाव

प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

हरिद्वार

महर्षि यास्क विरचित निघण्टु और निरुक्त भाषा विज्ञान के क्षेत्र में प्रकाश स्तम्भ की तरह हैं। निघण्टु नामक ग्रन्थ में पर्याय शब्दों का प्राचीनतम संग्रथन एकत्र उपलब्ध होता है। निरुक्त में इन सभी शब्दों का वर्गीकरण है इसके साथ ही वेदों के विविध प्रमाण पूर्वक निर्वचन भी प्राप्त होता हैं। देवराज यज्वा ने निघण्टु का भाष्य किया है इसका सबसे अधिक महत्त्व है क्योंकि इस भाष्यकार ने निघण्टु में पठित सभी शब्दों का क्रमबद्ध निर्वचन करने के साथ-साथ सम्बन्धित वेद मन्त्रों को भी उद्धरित किया है।

आचार्य यास्क अनेक शास्त्रों के तल स्पर्शी विद्वान् थे उन्होंने शब्द निर्वचन के प्रसंग में चारों वेदों, पदपाठों, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक आदि शाखाओं, ऐतरेय, गोपथ, कौषीतकी, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों, प्रातिशाख्यों और उपनिषदों के उद्धरण भी दिये हैं। उन्होंने नैरुक्तसम्प्रदाय, वैयाकरण-सम्प्रदाय, याज्ञिकसम्प्रदाय, ऐतिहासिक सम्प्रदाय, नैदान सम्प्रदाय आदि आचार्यों का नाम ग्रहण भी किया है। इससे आचार्य यास्क के महावैदुष्य का पता चलता है।

उपर्युक्त ग्रन्थों और सम्प्रदायों के आलोक में महर्षि यास्क ने शब्द निर्वचन के सिद्धान्तों को जहां विस्तार पूर्वक प्रतिपादित किया है वही अनेक प्रश्नों का समाधान भी किया है। शब्द निर्वचन क्रम में उन सिद्धान्तों को यथाविधि नियोजित भी किया है जिन सिद्धान्तों को महर्षि यास्क ने प्रत्यक्ष रूप से निर्दिष्ट नहीं किया है ऐसा परिज्ञात होता है उनको भी वे अच्छी प्रकार जानते थे। यहां ये विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है इस निरुक्त शास्त्र में बहुत से ऐसे स्थल हैं जिनका विशिष्ट नामकरण और परिभाषा-नामकरण परवर्ती विद्वानों ने एवं आधुनिक भाषा विज्ञान वेत्तओं ने किया है।

भाषा की लघुतम इकाई, जो एक समय में, एक स्थान प्रयत्न के समाहार से उच्चरित होती है, वह ध्वनि अथवा वर्ण कही जाती है। भाषा के विभिन्न शब्द काल-क्रमानुसार ध्वनि परिवर्तन को प्राप्त होते है। वैयाकरण और आधुनिक भाषा वैज्ञानिक जिन ध्वनि परिवर्तन प्रकारों को जानते हैं उन सबको आचार्य यास्क ने नाम भेद से वर्णित किया है।

ध्वनि परिवर्तन के उपभेद

ध्वनि परिवर्तन के निम्नलिखित 5 उपभेद प्राप्त होते हैं–

1. **लोप** – याचामि - यामि।

2. **वर्णोपजन (आगम)** – अस्-आस्थत्, वृ-द्वारः।

3. **आदिविपर्यय** – हन्-घनः, भिद्-बिन्दुः।

4. **अन्तव्यापत्ति** – वह्-ओघः, मिह्-मेघः।

5. **आद्यन्तविपर्यय (वर्णविपर्यय)** – डॉ. लक्ष्मण स्वरूप का यह मत है कि आचार्य यास्क समीकरण को भी यथायथ रूप में जानते थे। यद्यपि उन्होंने कोई भी उदाहरण इस प्रसंग में नहीं दिया है। इस विषय में डॉ. सुद्युम्न आचार्य का यह मत है कि आद्यन्त विपर्यय प्रसंग में **रज्जु** इसका उदाहरण हो सकता है[1]। निरुक्तकार ने इस शब्द को सृज् धातु से वर्णविपर्यय द्वारा व्याख्यात किया है ऐसा होने पर **सृज्, सर्ज्, रस्ज्** आदि रूप बनते हैं। इस समय **रस्ज् रज्ज्** ऐसे रूप के लिए समीकरण आवश्यक है। इस प्रकार **सृज्** धातु से **रज्जु** शब्द की सिद्धि होती है – ऐसा जानते हुए और समीकरण को न बताते हुए भी आचार्य यास्क समीकरण को स्वीकार करते हैं, हम ऐसा अनुमान कर सकते हैं।

ध्वनि परिवर्तन के प्रसंग में प्राकृत का प्रभाव

डॉ. लक्ष्मण स्वरूप का यह भी मत है कि आचार्य यास्क प्राकृत के प्रभाव को भी यथायथ रूप में जानते हैं। यह बात निरुक्त 5.24 में **कुटस्य** शब्द की **कृतस्य** इस व्याख्या से ध्वनित होता है।

अन्यत्र भी यह प्रभाव देखा जा सकता है जैसे **विकट** शब्द की **विक्रान्तगति** यह व्याख्या निरुक्त 6.30 में आई है। यह व्याख्या तर्क संगत है। महर्षि पाणिनि तो इस शब्द को वि उपसर्ग पूर्वक कटच् प्रत्यय से सिद्ध करते है। परन्तु प्रायः उपसर्ग से प्रत्यय नहीं होते हैं। अतः यह अपूर्व सिद्धि है। कटच् प्रत्यय ही अन्यत्र नहीं देखा जाता है। इच्छित अर्थसाधन में भी द्रविड प्राणायाम करना होता है। इस प्रकार निरुक्तप्रोक्त व्याख्यान समीचीन प्रतीत होता है।

निघण्टु 2.14 में गतिकर्मों में **कण्टति** क्रिया में यह प्रभाव व्याप्त है। महर्षि यास्क इसका समर्थन करते हुए लगते है। क्योंकि निरुक्त 9.32 में महर्षि यास्क **कण्टक** शब्द को **कण्टति** धातु के साथ **कृन्तति** धातु से भी सिद्ध करते हैं। इस प्रकार **कृन्त** धातु से प्राकृत प्रभावयुक्त **कण्टति** धातु पश्चवर्ती है। ऐसा प्रतीत होता है।

इन उपर्युक्त उदाहरणों के आलोक में **केवट** शब्द भी यथोचित रूप में व्याख्यात किया जा सकता है। महर्षि यास्क निघण्टु 3. 23 में कूपनामों के मध्य इस शब्द को रखते हैं। यह शब्द **क** उपपद पूर्वक **वृत्** धातु से **के+वर्त** इस रूप में सिद्ध किया जा सकता है। ऐसा होने पर **जल में वर्तमान आवर्त** यह मौलिक अर्थ होगा। बाद में तो यह शब्द लक्षणा से कूप के अर्थ में आ गया है। इसी तरह रकार और लकार का विपर्यास भी प्राकृत भाषा में बहुत देखा जाता है। संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ सामान्य जन और असुर जन इस विपर्यास को करते हैं। इस विषय में महाभाष्यकार पतंजलि ने लिखा है कि **तेऽसुरा हेऽलयो हेऽलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः।** यह विपर्यास क्रम मागधि प्राकृत में बहुत

देखा जाता है।

संस्कृत में तो यह विपर्यास नहीं देखा जाता है। परन्तु यदि कहीं प्राकृत का प्रभाव आ गया है वहां देखा जाता है। बाद में वार्तिक सूत्र अ. 8.2.18 में जहां कहीं इस बात की स्वीकृति भी मिलती है। वह स्वीकृति शब्द के स्वाभाविक विकास और स्वाभाविक अर्थ की पुष्टि करती है। परन्तु देवराज यज्वा प्राकृत प्रभाव की उपेक्षा करते है। जैसे निघण्टु 3.2 के अन्तर्गत ह्रस्व नामों में **क्षुल्लक** शब्द परिगणित है। आचार्य देवराज **क्षुधं लाति** इस विग्रह से **क्षुध्+ला** इस पदच्छेद से निर्दिष्ट शब्द को सिद्ध करते हैं। परन्तु इस विषय में यह कहना आवश्यक है कि ह्रस्व वस्तु का क्षुधा के साथ क्या सम्बन्ध है? क्या दीर्घ से विपरीत ह्रस्व जड़ समूह मात्र क्षुधा से पीड़ित होता है? यह स्थिति **क्षुल्लकश्च-वैश्वदेवे** (अ. 6.2.39) सूत्र पर काशिकाकार ने भी उक्त विग्रह को करते हुए प्रदर्शित की है।

परन्तु प्राकृत के प्रभाव को आधार बनाकर यह शब्द सरलता से सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि **क्षुद्र** शब्द के रेफ स्थान पर लकार आदेश करने से और पहली समीकरण से यह शब्द सिद्ध होता है। इस प्रक्रिया से प्राकृत भाषा में **क्षुल्ल** शब्द खूब प्रयुक्त होता है। यह वैसा ही है जैसे **भद्र** शब्द से प्राकृत में सम्पन्न **भल्ल** शब्द और हिन्दी भाषा में **भला** शब्द भी खूब प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से शब्द के अर्थ का विकास ज्ञात होता है।

महावैयाकरण पाणिनि भी **क्षुल्लकश्च वैश्वदेवे** (अ. 6.2.39) सूत्र पर महद् से विपरीत क्षुल्लक शब्द को परिगणित करते हुए ह्रस्व के अर्थ में बताते हैं और **क्षुद्रक** शब्द से क्षुल्लक शब्द की व्युत्पत्ति ध्वनित होती है। **क्षुल्लक वैश्वदेवम्** इस शब्द से सोमपान के लिए क्षुद्रक पात्र अथवा क्षुद्रक ग्रह कहा जाता है। इसी प्रकार **अल्प** शब्द **अर्भ** शब्द से विकास को प्राप्त हुआ है, ऐसी सम्भावना हैं। अर्भ शब्द लघु अर्थ में प्रयुक्त होता है। निघण्टु 3.2 में **अर्भक** और **अल्प** ये दोनों शब्द भी ह्रस्व के अर्थ में परिगणित हैं। रौथ भी इस शब्द विकास यात्रा को ठीक मानते हैं।

नीर और **नील** शब्द का भी रोचक इतिहास है। **नीर** शब्द निघण्टु 1.12.72 में उदक नामों में भी पठित होने पर भी वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता है। देवराज यज्वा भी इसका उदाहरण अन्वेषणीय है ऐसा लिखते हैं। परन्तु निघण्टु में परिगणित होने से यह ज्ञात होता है कि वाङ्मय में न होने पर भी व्यवहार में यह शब्द सुतरां प्रयुक्त होता था। इस व्यवहार का अनुसरण करके लौकिक संस्कृत में भी इसका प्रयोग प्रचलित हुआ है। जैसे **नि+ईर इति** इस व्युत्पत्ति से मूलतः ईरणशील=गतिशील जल के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता था। यह प्रमुख रूप से गतिशील कालमेघ को अथवा यमुना के श्याम जल को निर्दिष्ट करता था। इसीलिए प्राकृत प्रभाव से अन्वित **नीर** शब्द से निःसृत **नील** शब्द कृष्ण अथवा श्याम वर्ण को इंगित करता है। र्-ल् इत्यादि के विपर्यय होने पर कुछ अर्थ भी परिवर्तित हो ही जाता है। जैसे – **ज्वरः - ज्वलः, नाडी - नाली।** इस प्रकार मूल रूप से यह संज्ञा शब्द भी **नील मेघ** इत्यादि में कृष्ण अर्थ

वाला विशेषण शब्द बन गया है। संस्कृत साहित्य में नील शब्द कृष्णार्थक ही है। अतएव न्याय दर्शन में रूप भेद गणना के प्रसंग में **नील** कहा जाता है, न कि तद्भिन्न कृष्ण वर्ण। इस प्रकार यहां प्राकृत का प्रभाव स्वीकार करने से शब्द और अर्थ का मौलिक स्वरूप और पश्चवर्ती विकास सर्वथा परिज्ञात होता है।

इसी प्रकार प्राकृत प्रभाव को लेकर संस्कृत में डकार और लकार का विपर्यास भी देखा जाता है। इसीलिए संस्कृत में **डलयोरभेदः** यह प्रवाद भी सुना जाता है। निघण्टु में भी इसके कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसे निघण्टु 1.2.99 के अन्तर्गत उदकनामों में जल शब्द परिगणित है। वर्तमान समय में वेदों में इसका प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है। फिर भी निघण्टु पाठ से और ऋग्वेद में **जलाषभेषजम्** इत्यादि के प्रयोग से वैदिक युग में इसके प्रयोग का अनुमान किया जा सकता है।

महावैयाकरण देवराज यज्वा इस शब्द को **जल घातने** धातु से सिद्ध करते हैं। परन्तु सुखदायक अत्यन्त प्रिय, जीवनदायक जल घातक कैसे हो सकता है? यहां किन्हीं का मत है कि **पिपासा का विघातक होने से** जल को घातक कहा जाता है। परन्तु यह इसकी मौलिक प्रवृत्त का कारण नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार तो समस्त विश्व में सारी वस्तुएं स्थान, काल अथवा विषय भेद से सब प्रकार की होती ही हैं, तो भी इसका प्रमुख कार्य उसी नामकरण में कारण होता है। जल का प्रमुख कार्य जीवन देना है। यह किस प्रकार जीवन देता है इस बात को किसी पिपासु से पूछा जा सकता है। पिपासित के लिए तो जल की धारा उसकी बूंदे स्वादु और महकदार होती हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि घातकता इसके नामकरण में मौलिक कारण नहीं है। इति

अन्यत्र यह शब्द शीतल अर्थ वाली **जल** धातु से सिद्ध होता है। **जलति शीतं भवति।** इति। परन्तु इस अर्थ में **जल्** धातु का प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि केवल जल शब्द की सिद्धि के लिए इस धातु का **धातुपाठ** में पाठ है। व्याख्याकारों के द्वारा **जलयति** रूप सर्वथा नामधातु वाला रूप है। इस तरह जलधातु और उसका धातु अर्थ उचित नहीं है।

इस स्थिति में यह शब्द **जड़** शब्द से प्राकृत वर्ण विपर्यय के प्रभाव से सिद्ध किया जा सकता है। और इसलिए तालाब आदि में स्थित उदक मूल रूप से जल है। नदी के प्रवाह में बहने वाला उदक नीरपदवाच्य है। इसीलिए जल को जड़ और जलधि को जडधि मानते हुए अनेक कवियों ने मनोहारि और अत्यन्त चमत्कृत करने वाली रचनाओं को किया है। जैसे महाकवि विजयवर्धन द्वारा रचित निम्न श्लोक दर्शनीय है–

लावण्यकान्ति परिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्,
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि!
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये,
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥

(यहां **पयोधिः** जडधि रूप में प्रयुक्त है।)

प्राकृत प्रभाव के अन्य उदाहरण

द्योतते – **ज्योतते** ये दो क्रियाएसं निघण्टु 1.16 में ज्वलति कर्मों में पठित हैं। प्राकृत में प्रायः सर्वत्र दकार के बाद पठित यकार के

स्थान में जकार आदेश होता है। जैसे **अद्य-अज्ज-आज** आदि बहुत से उदाहरण हैं। इस प्रकार यहां भी जकार आदेश से **ज्योतते** रूप निष्पन्न हुआ कह सकते हैं।

आचार्य देवराज तो **जुतृ भासने** धातु से इस रूप को सिद्ध करते हैं। परन्तु इसके रूप साहित्य में कहीं भी नहीं मिलते हैं। अतः यह धातु काल्पनिक है ऐसा बुद्धि में आता है। जुतृ धातु को स्वीकार करने पर भी मार्ग कण्टक रहित नहीं होता है। क्योंकि यहां यकार का आगम भी होना है, और फिर **ज्योतिः, ज्योत्स्ना** इत्यादि शब्दों के लिए यह वाचनिक नियम होना चाहिए। अतः यह समूचित है कि लोक से प्राकृत प्रभाव से इसकी सिद्धि हो। यदि यह लोक से भिन्नता रखता है तो यत्न करना चाहिए।

सघोष महाप्राण हकार का विपर्यय

प्राकृत भाषाओं में सघोष महाप्राण अक्षरों का और हकार का बहुधा विपर्यय देखा जाता है। **मेघः-मेह, वधूः-बहू** इत्यादि बहुत से उदाहरण हैं। शब्दों की तुलनाओं से ज्ञात होता है कि यह प्रवृत्ति प्राचीनतम है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने संस्कृत शब्दों की ग्रीक आदि भाषाओं के शब्दों से तुलना द्वारा यह जाना है कि सघोषमहाप्राण शब्द प्राचीनतम है। हकार वाले वर्ण उनकी अपेक्षा से पश्चाद्वर्ती हैं। इसी तरह **गाध्** और **ग्रभ्** धातु **गभीर, गम्भीर** और **गभस्ति** शब्दों के सदृश प्राचीनतम हैं। परन्तु **गाह्** और **ग्रह्** धातु और **बाध्, बाहू** आदि शब्द सापेक्ष दृष्टि से नवीन हैं।

आचार्य पाणिनि इस परिस्थिति का अनुपालन करते हुए **गाध्** और **बाध्** धातु को प्राचीनतम बताते हैं। परन्तु उस समय में उपलब्ध साक्ष्य को आगे रखकर ग्रह धातु को मौलिक कहते हैं। वार्तिककार कात्यायन पाणिनि का अनुपालन करते हुए वैदिक **ग्रभाय** आदि शब्दों को सिद्ध करने के लिए हकार के स्थान पर भकार आदेश करते हैं। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों के मतानुसार तो यह वस्तुतः विपरीत और कृत्रिम विकास है। **ग्रभाय** पद प्राचीनतम पद है इसलिए बाद में भकार के स्थान पर हकार आया है, यह विपरीत नहीं है। आचार्य यास्क ने तो इस मार्ग का हजारों साल पहले आलम्बन लेकर **बाहु** शब्द के निर्वचन प्रसंग में **बाध्** धातु को मौलिक और हकार आदेश को समुचित माना है[2]। और **गर्भ** शब्द की सिद्धि के लिए **गृभ्**[3] इस मौलिक धातु की परिकल्पना की है। वे प्रचलित **ग्रह्** धातु को देखकर उसके स्थान पर भकार आदेश नहीं करते। इस बात से ऐसा सिद्ध होता है कि महर्षि यहां सघोष महाप्राण अक्षर को प्राचीनतम मानते हैं। परन्तु अन्य कतिपय उदाहरणों में आचार्य यास्क भी उपलब्ध साक्ष्य का विलोडन करते हुए हकार वाले रूप को मौलिक बताते हैं। जैसे अन्त व्यापत्ति निरूपण के अवसर पर **ओघः, मेघः, नाधः, गाधः, वधूः, मधु** आदि उदाहरण उन्होंने प्रदर्शित किये हैं। यहां प्रायः सब जगह हकार के स्थान पर सघोषमहाप्राण अक्षर का आदेश किया गया है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भाषा में स्थान्यादेश भाव तो होता ही है। किसी भी भाषा का ध्वनि परिवर्तन करते समय व्याख्या करने वाले विद्वान् पंडित को पहले उसकी स्थान्यादेश भाव प्रकृति का निरीक्षण करना आवश्यक है। वह भाषा क्या इस प्रकार के आदेश को सहन करती है, यह विचारणीय है

उसके उदाहरणों को संगृहीत करना चाहिए। उन उदाहरणों के आलोक में कोई भी आदेश करना उचित है। और आदेश होने पर स्थान्यर्थ के साथ आदिष्ट शब्द का अर्थ संगत होता है अथवा नहीं यह बात भी सब प्रकार से विचारणीय है। तभी ध्वनि विज्ञान सुसंगत होगा।

(इस लेख को लिखने में डॉ. सुद्युम्नाचार्यः के ग्रन्थ 'निघण्टु-निर्वचनम्' से विशेष सहायता ली गयी है। अतः हम इनके आभारी हैं। -लेखक)

पादटिप्पणियां

1. निघण्टु-निवर्चनम्, डॉ. सुद्युम्नाचार्यः, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत (हरियाणा), 1998 ई. पृ. 9
2. बाहू कस्मात् प्रबाधत आभ्यां कर्माणि - नि. 3.8
3. गर्भो गृभेः - नि. 10.23

✦✦✦

उच्च तिष्ठ महते सौभगाय। -अथर्व. 2.6.2
महान् सौभाग्य के लिये उच्च बन।

स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्। -अथर्व. 2.6.3
अपने घर में बिना प्रमाद के जागरूक रह।

दूष्या दूषिरसि। -अथर्व. 2.11.1
हे नर! तू दूषकों का दूषक है।

हेत्या हेतिरसि। -अथर्व. 2.11.11
हे नर! तू शस्त्र का शस्त्र है।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (165-169) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में 'अर्थ' की अवधारणा

डा. चन्द्रकान्त गर्जे
पुणे (महा.)

'अर्थ' शब्द व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं। 'अर्थ' 'ऋ' धातु से बना है, जो गति अर्थान्वय है, प्राप्तव्य स्थान (Destination) है। यास्क प्रणीत निरुक्त तथा निघण्टु में 'अर' धातु से 'अर्थ' की व्युत्पत्ति बतायी गयी है। 'अर्थ' के अर्थ को जानना अत्यावश्यक है, अन्यथा 'अर्थ' अनर्थ में परिवर्तित होगा। व्याकरण, निरुक्त, मीमांसा के अनुसार 'अर्थ' का अर्थ है-अभिधेय, न्यायशास्त्र में प्रयोजन, चरक संहता में अर्थ विधा (धन) कामसूत्र में विद्या, भूमि, सुवर्ण, पशु, धान्य, मित्रादि की प्राप्ति, वैशेषिक के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म के अर्थ के रूप में, ऋग्वेद के 'अर्थिनो यान्ति चेदर्थम्', 'अर्थमिद्धा उउर्थिम' इन दो मन्त्रों में धन के अर्थ में 'अर्थ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। भिन्न-भिन्न शब्द कोशों में 'अर्थ' का अर्थ है- आशय, प्रयोजन, लक्ष्य, उद्देश्य, अभिलाष, इच्छा आदि। 'अर्थ' शब्द समास के उत्तर पद के रूप में, क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने से इसके भिन्न भिन्न अर्थ व्यक्त होते हैं। यहाँ विषय के अनुसार 'अर्थ' का अर्थ है- दौलत, धन, सम्पत्ति, रुपया, ऐश्वर्य प्राप्ति, अभिष्ट साधन, जीवन के चार पुरुषार्थ में से एक। भौतिक सम्पत्ति के अर्थ में रुढ़ हुआ यह शब्द है-'अर्थ'।

अर्थ प्राप्ति सम्पूर्ण मानवमात्र की अन्तः प्रेरणा रही है। मानवीय जीवन में अर्थ की प्राप्ति उसकी अपरिहार्यता के कारण अत्यधिक महत्त्व की है। बुद्धि, मन, शरीर की दृष्टि से मनुष्य में सन्तुलन स्थापित करने में 'अर्थ' ही कारणीभूत तत्त्व रहा है। पिण्ड पोषण के लिए अर्थ की चाह होना, अर्थ की ओर प्रवृत्त होना यह मानवीय जीवन की सहज प्रवृत्ति है। अध्यात्मिक संस्कृति समाज की भौतिक प्रगति पर ही निर्भर है-यदि ऐसा कोई कहे तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

मानवीय जीवन अनेक घटनाओं का अम्बार है। घटनाओं की अनुभूति निरीक्षण शक्ति से होती है। अतः जो ज्ञान निरीक्षण शक्ति से प्राप्त होता है, उस विषय के अध्ययन को 'विज्ञान' कहा जाता है। घटित और घटती हुई मानवीय घटनाओं का अध्ययन-यह मानव्य विज्ञान का विषय रहा है। मानव्य विज्ञान में मानवीय जीवन के विभिन्न आयामों से जुड़े हुए ज्ञान निहित हैं। समाज विज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान, अर्थ विज्ञान आदि। मानवीय व्यवहार (अर्थ, व्यापार, कारोबार) का अध्ययन यह अर्थ विज्ञान का विषय रहा है। मनुष्य की जीविका अर्थ उद्घाटित करनेवाला अर्थ विज्ञान है। आधुनिक अर्थ विज्ञान में-उपयोग,

उत्पादन, विनिमय, वितरण और राजस्व ये पंचसिद्धान्त समाविष्ट हैं। 'अर्थ विज्ञान' की परिभाषा–"Ecnomics studies human behaviour with changes and growth in means in relation to ends".

अन्य विद्वानों की तरह 'अर्थ विज्ञान' भी आधुनिक युग की देन है ऐसा वर्तमान के कतिपय चिन्तकों का मन्तव्य है। इन मन्तव्यों में सचाई नहीं है। सच तो यह है कि प्राचीन वैदिक ऋषि मुनियों ने मानवीय जीवन की सर्वांगीण उन्नति, राष्ट्रीय जीवन का भौतिक सुधार, उसका विशुद्ध और स्थायी स्वरूप के सम्बन्ध में, अपनी कुशाग्र बुद्धि से चिन्तनकर, उसे विश्व के सम्मुख रखा था। उनके चिन्तन के फलस्वरूप ही मानव को विशाल समाज का अंग समझकर, समाज का सुदृढ़–भवन खड़ा है। ऋषियों के इस प्रयत्न में वेदों की विद्या, ज्ञान, विज्ञान निहित रहा है। वेदों में मानव मात्र के लिए नैतिक, आत्मिक तथा भौतिक अभ्युदय के लिए ज्ञान निहित है–'वेदयति विश्वपदार्थान् अवगमय प्रीति वेदः। कौटिल्य प्रणीत 'अर्थशास्त्र' का मूल भी वेद ही रहा है। एक पाश्चात्य चिन्तक अनकिन का 'अर्थ विज्ञान' सम्बन्धित मनाव्य है–विश्व के प्रथम अर्थज्ञ वेद ही हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

वैदिक काल में निम्न तत्त्वों पर समाज आधारित था। 1. विकेन्द्रीकृत समाज सत्ता 2. राज्याधिकार 3. कोष उत्पादन और जीवन निर्वाह के साधन (Means of Substance) 4. श्रमशक्ति (Labour Power)। तीसरा और चौथा तत्व मानवीय अर्थ व्यवहार से सम्बन्धित है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति कर्तव्य, श्रमनिष्ठ हो और आवश्यकता के अनुसार उसे साधन (Means) प्राप्त हो। समाज के लिए सर्वविध धन का न्यायोचित उत्पादन हो, उसका संग्रह हो और संवर्धन भी हो। सभी अपने कर्तव्य, श्रम पर दृढ़ रहेंगे तो समाज में संघर्ष ही नहीं होंगे। अतः यथार्थ पारिश्रमिक (Real Wages), कर्तव्य परायणता (Honest Duty) और कार्य विभाजन (Division of Work) ये वैदिक समाज जीवन के अर्थ तत्व रहे हैं। इन तत्वों के पालन से समाज में प्रवाहमान धन (Circulation of Money) बढ़ता ही जाता है। 'ये नदीनां संस्त्रवन्ती उत्सासः सदमक्षिताः। तेभिर्ये सर्वः संसावेःधन संस्त्रावयामसि।। (अथर्व–1/15/3) नदी के बढ़ते प्रवाह की तरह धन को सतत प्रवाहित रहना चाहिए।

अर्थनीति को अध्यात्म की भित्ती पर प्रतिष्ठित करना यह वेदों का सन्देश रहा है। धन का उपार्जन न्यायपूर्वक एवम् धर्म–द्वारा ही होना चाहिए। धनार्जन में स्वयं का भला हो और अन्यों का भी भला हो। चोरी, डकैती, छल–कपट, हिंसा, अन्याय आदि से प्राप्तधन वर्जित धन है। ऐसा धर्मवर्जित धन विनाश का कारण है (ऋग्वेद 5.39.2) क्लेश का कारण है। वेद यह भी कहते हैं–केवल धन मनुष्य के उत्थान और पतन का कारण नहीं है। पतन, विनाश और वरेण्य धन की संकल्पना प्रस्तुत करते हुए ऋग्वेद कहता हैं–पतन, विनाश धन की अपेक्षा वरेण्यधन, तेजस्वी धन की प्राप्ति हो (ऋग्वेद 5.39.5)। वेद कहते हैं–सत्य मार्ग से ही द्रव्य प्राप्ति की इच्छा करें और शालीनता से द्रव्य का विनियोग कर, सांस्कृतिक वृद्धि के साथ श्रेयस की प्राप्ति करें–'परि चिन्मर्तो द्रविणं

ममन्यादृतस्यपथा नमसाऽऽविवासेत्। उतस्वेन क्रतुना सं वदेत श्रेयांसंदक्षं मनसा जगृभ्यात्।। (ऋग्वेद 10.31.2) अग्निदेवता से प्रार्थना की गयी है कि-हे अग्निदेवता-हमें सन्मार्ग से ही सम्पदा की ओर अग्रसर कर, जिससे हमसे कुटिलता, पाप दूर ही रहें-'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मत्, जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्ति विधेम' (ऋग्वेद 1.81.1)। यह सुपथ मार्ग है, सत्यधर्म से धन का अर्जन यह वैदिक शिक्षा है।

मनुष्य की सहज इच्छा होती है कि उसे सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति हो। सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्ति का साधन है-पुरुषार्थ। वैदिक संस्कृति के चार पुरुषार्थ हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये चार पुरुषार्थ चार आश्रमों-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास की संजीवनी हैं। शरीर पोषण के लिए अर्थ की, मन संतुष्टि के लिए काम की, बुद्धि के लिए धर्म की और आत्मा की शान्ति के लिए मोक्ष की आवश्यकता होती है। पुरुषार्थ पूर्वक धन का अर्जन करें और धन की वृद्धि करते रहें। वेद का यह आदेश है-'येन धनेन प्रपणं चरामि, धनेन देवाधनमिच्छमानः। (अथर्ववेद-3. 15.6)। पुरुषार्थ से कमाया धन अपना समझें, अन्याय से जो धन मिले, उसे ग्रहण न करें। पाखण्ड, धोखेबाजी से धन की प्राप्ति न करें (ऋग्वेद-7.4.7)। वेद की दृष्टि में धर्म का प्रथम स्थान है-अन्तिम स्थान है मोक्ष का। धर्म और मोक्ष के बीच का स्थान है-अर्थ और काम का। धर्म के अनुसार अर्थार्जन करें, फिर काम की पूर्ति करें-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह वैदिक पुरुषार्थ है। नीति मूल्यों के संस्कारों से मनुष्य सद्गुण मार्ग की और अग्रसर होता है। मनुष्य की सद्गुण प्रवृत्ति समाज के विकास में बल प्रदान करती है, साथ ही वह मोक्ष प्राप्ति का साधन भी सिद्ध होती है। नीति मूल्यों से प्राप्त अर्थ 'श्री' और लक्ष्मी कहलाता है। 'श्री' और 'लक्ष्मी' (अर्थात् अर्थ) मनुष्य का मोक्ष द्वार ही है। आचार्य चाणक्य ने जहाँ एक ओर अर्थ को धर्म का मूल माना है दूसरी ओर सभी सांसारिक कामनाओं की पूर्ति में अर्थ की वांछनीयता पर भी बल दिया है।

दरिद्रता भगाने का साधन है-द्रव्य। उसे प्राप्त करना-यह वेदों का सन्देश रहा है। ऋग्वेद का श्री सूक्त कहता है-'अलक्ष्मीर्मे नश्यतां' मेरी दरिद्रता दूर हो। 'क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्। अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात्-क्षुधा (भूख) और तृष्णा (प्यास) से त्रस्त मेरे दरिद्र भरे जीवन मैं समाप्त करता हूँ। हे लक्ष्मी-मेरी दरिद्रता को मेरे गृह से बाहर कर दे। 'मयि श्रीः श्रयतां यशः'-लक्ष्मी और यश की प्राप्ति हो, 'श्रियं वासय मे कुले' मेरे कुल में लक्ष्मी का निवास हो। अग्नि देवता से प्रार्थना की गयी है-'तां म आ वह जात वेदो लक्ष्मी मनपगामिनीम् यस्यां हिरण्यं विन्दये गामश्वं पुरुषानहम्'। मुझ से लक्ष्मी दूर न जाये। मुझे सुवर्ण, पशुधन की प्राप्ति हो। तैत्तिरिय के रुद्र सूक्त में विभिन्न सम्पदा प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गयी है-'वाजश्च मे प्रसवश्च' (तैत्तिरीय सं. 4.7.1)।

'श्रम' का अर्थाजन में महत्व का स्थान रहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है-'आलस्य दरिद्रता का एक कारण है (7.15.5)। जो सोया सो खोया। चलते हुए मनुष्य का भाग्य भी चलता है। जो बैठ गया-उसका भाग्य भी

बैठ गया। ब्रह्माण्ड, सृष्टि गतिशील हैं, कभी रुकने, थमने का नाम नहीं लेती यह अहर्निश परिश्रम है। जो परिश्रमी है, उसी के मित्र इन्द्र (ईश्वर) हैं-'न ऋते श्रान्तस्य सख्या देवा' (ऋग्वेद-4.33.11)। अन्यों पर निर्भर व्यक्ति की नौका किनारे लगने के बजाय डूब जाती है (ऋग्वेद-5.41.8)। मनुष्य धन-ऐश्वर्य के स्वामी बने-वयं स्याम पतयो रयिणाम् (ऋग्वेद-10.121.10)। वेद श्रम की महत्ता दर्शाते हुए कहते हैं-'अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित् कृषस्व विते रमस्व बहुमन्यमानः (ऋग्वेद 10.144.13)। मनुष्य तू द्यूत (जुआ) मत खेल, खेत में फाल चला, श्रम कर, द्रव्य कमा और सन्मार्ग का पात्र बन। आचार्य चाणक्य का मन्तव्य है-'श्रम धन के द्वारा मनुष्य शान्तिपूर्वक जीता है, विद्या द्वारा सुख प्राप्त करता है, कला-कौशल द्वारा निर्वाह करता है, परन्तु कर्म (परिश्रम) किए बिना जीना असम्भव है। धन कमाना-चुराना, लूटकर लाना, उसे दुर्व्यसन, भोग में लगाना, स्वयं को नष्ट करना है-ऐसे व्यक्ति को वेद -अकर्मा दस्यु' कहते हैं (ऋग्वेद. 10.22.8)। वेद कहते हैं-"सौ सौ हाथों से धन कमाओं, सत् कार्य से कमाये धन को हज़ार हज़ार हाथों से बाँटें। शतहस्त समाहर, सहस्त्रहस्त सं किर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फार्तिं समावह" (अथर्व 3.24.21)। इससे यह परिलक्षित होता है कि सत् कार्य एवम् योग्य साधनों से ही विपुल धन साध्य करें-यह वैदिक अर्थनीति रही है। प्राप्त किया हुआ धन समाज में ही वितरित (दान) करें-यह वेद का अर्थाशय रहा है। दूसरा आर्थिक आशय यह है कि 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम् (तैत्तिरीय. सं. 4.7.10) सारा जीवन यज्ञमय है, 'इदन्न मम' जो कुछ है तेरा है, तेरा ही तुझे अर्पित है। त्याग एक आत्मनियंत्रण है, आत्मशुद्धि है। इसके बिना समाज का कल्याण असम्भव है। केवल भोगों में क्षय है, विकार है। याज्ञवल्क्य कहते हैं-'अमृतत्वस्य तू नाशास्ति वितेन' (बृ. 3.2.4.2, 4.5.3)। अमृत प्राप्ति के लिए त्रयी ऐषणाओं- पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा का त्याग जीवन का चरमोत्कर्ष क्षण बिन्दू है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् (यजु, 40.1) त्यागपूर्वक भोग द्वारा इस लोक में अभ्युदय और परलोक में निश्रेयस स्वरूप आनन्द के अधिकारी बनें यह वेद की शिक्षा है। इस मंत्र में त्याग की महत्ता दर्शायी गयी है। त्याग धर्म का प्रमुख अंग है। न भोगने का नाम त्याग नहीं है, भोग से न चिपटने का नाम त्याग है-अर्थात् अर्थ ऐश्वर्य का भोग करो पर उससे चिपटो नहीं।

अर्थ का उपयोग चार प्रकार से हो-1) धन को न्यायपूर्वक बाँटकार उपयोग (उपभोग) करो। 2) निरालस हो, सहनशील एवम् स्वावलम्बी बनकर धन की वृद्धि कर, उपभोग करें 3) धन का स्वामी, पतन से बचकर, ऊँचा स्थान प्राप्त करें 4) सतर्क विजेता बनकर धन का उपयोग करें।

'यज्ञ' जीवन का एक महद् कर्म है। प्रथमानि धर्माणि (ऋग्वेद-1.164.50)। इसी यज्ञ धर्म के माध्यम से त्यागकर, शेष सम्पत्ति का भोग करें। यज्ञ और दान की वैदिक संकल्पना अर्थ के विकेन्द्रीकरण को दर्शाती है। 'उत्तोरभि पृण तो नोपद् स्थाति' दाता का दान सम्पत्ति को घटाने वाला न होकर, सम्पत्ति को बढ़ाने वाला है। स इद् भोजो यो गृहवे ददाति' जो वंचितो को अर्थ देता है-वह दाता है, उदार है (ऋग्वेद-1.117.3)। केवलाघो

भवति केवलादी' अपनी सम्पत्ति का केवल स्वयं भोग करने वाला महापापी है। भगवद्गीता भी यही कहती है-'भुञ्जन्ते त्वघं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात् (3.13)। यज्ञ के पश्चात् जो शेष है, उसे अमृत कहा गया है। सज्जनों को चाहिए कि यज्ञ संपन्न करने के पश्चात् अमृत का दान करें। यह यज्ञ उदात्त वैदिक संकल्पना है।

वैदिक अर्थ व्यवस्था में उद्योग को वाणिज्य (Commerce) के अन्तर्गत रखा गया है। धन की वृद्धि वाणिज्य द्वारा ही सम्भव है। समाज की उन्नति के लिए समाज उद्योगी हो। ऐसा उद्योग व्यापार हो, जो धन की वृद्धि कर सके। ऐसे ही उद्योग व्यापार में मन लगाने का उपदेश वेद करते हैं (अथर्व. 3.15.6)।

वर्तमान युग 'अर्थ प्रधान' है। समाज का हर वर्ग धन के संचय के पीछे पड़ा है। धनार्जन, धन संचय में अनुचित कुछ नहीं है। अनुचित का प्रश्न उस समय उपस्थित होता है, जिसमें शुचिता, ऋजुता न हो, त्याग (दान), और धर्म का आदर्श न हो। धर्म से ही अर्थ का अर्जन हो, जिससे सुख-शान्ति मिले यह वेदों की अर्थ सम्बन्धी अवधारणा है।

✦✦✦

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम। -अथर्व. 2.11.1
श्रेष्ठों तक पहुँच, बराबर वालों से आगे बढ़।

त्वमेकवृषो भव -अथर्व. 6.86.1
तू सर्वश्रेष्ठ बन।

अग्ने शर्ध महते सौभगाय। -अथर्व. 7.73.10
हे वीर! उत्साह धारण कर, ऐश्वर्य तेरे पैर चूमेगा।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (170-176) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में वर्णित वनस्पति सम्पदा की बहुआयामी उपादेयता

डॉ. अपर्णा धीर

सारांश

वेदों में चारों भेदों वाली वनस्पति-सम्पदा प्राणी-जगत् के लिए नितान्त आवश्यक कही गई है। अनेक प्रकार की ओषधियों एवं वनस्पतियों का मानव-कल्याण के लिए उल्लेख वेदों में किया गया है। प्रदूषण-नाशक, तापमान नियन्त्रक, भूसंरक्षक, जल-वर्षक, भरण-पोषणकर्त्ता, वन्य जीवों के आश्रयक, रोगनाशक, आयुष्य-वर्धक, सद्गुण-वर्धक, शान्तिदायक इत्यादि गुण वनस्पतियों की बहुआयामी उपादेयता एवं उनके उपकारक स्वरूप को दर्शाता है। वैदिक मन्त्रों में वनस्पति-संरक्षण, सम्पोषण एवं संवर्धन की चर्चा की गई है।

भूमिका

प्रकृति को वैदिक ऋषियों ने अपने जीवन का अभिन्न-अङ्ग माना है। सब ओर फैला हुआ यह वनस्पति-जगत् प्रकृति का महत्त्वपूर्ण भाग है। जहाँ वनस्पति-जगत् की चर्चा प्रायः वनस्पति-विज्ञान के अन्तर्गत मिलती है वहीं भारत में वनस्पति-विज्ञान के इतिहास की परम्परा वेदों से आरम्भ होती है। वेदों में वनस्पतियों के विषय में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। हम सभी जानते हैं कि वनस्पति के अन्तर्गत वन, वृक्ष, ओषधि, आरण्य, लताएँ ये सभी सम्मिलित हैं। वैदिक वाङ्मय में भी इन सबका उल्लेख एक साथ कई मन्त्रों में पाया जाता है।[1] अथर्ववेद के मन्त्रानुसार वनस्पति-जगत् के चार भेद कहे गये हैं- '*वनस्पतीन् वानस्पत्यानौषधीरुत वीरुधः*' (8.8.14)। विद्वानों ने उपरोक्त इन चारों भेदों की विस्तृत चर्चा की है।[2]मुख्यतः सम्पूर्ण वनस्पति-सम्पदा का प्रतिनिधित्व ओषधि- वनस्पति युग्म करता है। इसी कारण प्रस्तुत शोधालेख में इन दोनों शब्दों की चर्चा परस्पर पर्याय के रूप में की गई है।

वनस्पतियों की उत्पत्ति

वनस्पतियों की उत्पत्ति के विषय में वैदिक ऋषियों ने प्रायः सभी वैदिक ग्रन्थों में एक से मत ही प्रस्तुत किये हैं। जैसे शतपथ ब्राह्मण में ऋषि कहते हैं कि पृथिवी पर पहले न ओषधि थी न ही वनस्पति, उस समय प्रजापति ने ओषधि की उत्पत्ति की।[3] ऋग्वैदिक ऋषि का मत है कि ओषधियों के सैकड़ों जन्म स्थान और सहस्त्र अंकुर हैं।[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसी प्रकार अनन्त ओषधियों की रचना का कथन किया गया है- '*ओषधिर्न जनयाम इति। ते दिवोवृष्टि-मसृजन्त*' (2.1.1.1)। वर्णित है कि प्रजापति

ने आकाश में वृष्टि को रचा, उस वृष्टि के जितने छोटे-छोटे कण हुए उतनी ही ओषधियाँ उत्पन्न हुई। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में वनस्पतियों अथवा ओषधियों की अनेक प्रकार की सत्ता को स्वीकार किया गया है। वास्तव में एक ही वनस्पति के अनेक अंकुरों से अनेकानेक नये वनस्पति जन्म लेते हैं। अतः पृथिवी पर उपलब्ध वनस्पतियों की गणना करना असम्भव है।

ओषधि-वनस्पति की परिभाषा

इस प्रकार असंख्य ओषधियों एवं वनस्पतियों की सत्ता को स्वीकार करते हुए वैदिक ऋषियों ने वैदिक संहिताओं में पेड़-पौधों के आन्तरिक स्वरूप की चर्चा भी की है। ऋषियों ने पेड़-पौधों के उपभागों यथा- मूल (root), तूल (shoot), काण्ड (stem), वल्श (twig), शाखा अथवा स्कन्ध (branch), पर्ण (leaf), पुष्प (flower), फल (fruit) पर विचार किया है।[5]

वैदिक ग्रन्थों में ओषधि अथवा वनस्पति दोनों को वन में उपजा हुआ कहा गया है।[6] सामान्यतः 'ओषधि' शब्द का प्रयोग उन पोधौं के लिए किया जाता है, जिनमें मानवोपयोगी गुण हों और 'वनस्पति' शब्द का अर्थ वनों का स्वामी के रूप में जाना गया है। ओषधि का लक्षण शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट दिया गया है कि ओषधि वह है, जिनके बीच से जब प्राण निकल जाते हैं तो वह गिर जाते हैं।[7] ओषधि की यही परिभाषा प्रायः मिलती भी है- 'फलों के पकने के बाद जो समूल सूख जाते हैं, उन्हें ओषधि कहते हैं, जैसे गेहूँ, चना आदि'[8]।

वनस्पतियों की बहुआयामी उपादेयता

वनस्पति-सम्पदा प्राणी-जगत् के लिए नितान्त आवश्यक कही गई है। वनस्पति-सम्पदा से अभिप्राय अनेक प्रकार की ओषधियों एवं वनस्पतियों से है। मानव-कल्याण के लिए ओषधियों एवं वनस्पतियों का उल्लेख वेदों में यत्र-तत्र किया गया है। यथा- अपामार्ग, दूर्वा, मुञ्ज, खदिर, उदुम्बर, शमी इत्यादि। वनस्पतियों की बहुआयामी उपादेयता वस्तुतः उनके उपकारक स्वरूप को दर्शाता है। ओषधियों के इन्हीं हितकारी गुणों एवं उपकारक स्वरूप के कारण उन्हें वैदिक ऋषियों ने 'अम्ब' एवं 'माता' कहकर पुकारा है।[9] मातृरूपा ये वनस्पतियाँ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आजीवन पृथिवी पर रहने वाले सभी प्राणियों की सस्नेह सेवा एवं पालन-पोषण करती है। वनस्पतियों के बिना प्राणियों के जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत शोध-पत्र में वनस्पति-सम्पदा की मुख्यतः पर्यावरण के सन्दर्भ में, स्वास्थ्यकारक के रूप में तथा खाद्य-सामग्री के सन्दर्भ में योगदान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

पर्यावरण के सन्दर्भ में

पर्यावरण संरक्षण हेतु सजग रहना मानवमात्र का सर्वोच्च दायित्व है। वेद पर्यावरण चेतना एवं चिन्तन के प्रणेता हैं। वैदिक ग्रन्थों में अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिन में वृक्ष-संरक्षण, जल-संरक्षण, वायु-संरक्षण, भूमि-संरक्षण इत्यादि चिन्तन के विषय रहे हैं। वनस्पति-सम्पदा हमारे पर्यावरण के लिए अत्यन्त आवश्यक मानी गई हैं। प्रदूषण एवं तापमान को नियन्त्रित

करने में, भूमि को उपजाऊ बनाने में, प्राकृतिक सौन्दर्य की वृद्धि में, पशु-पक्षियों के गृह के रूप में एवं वर्षा करने में सहायता देने के रूप में वनस्पतियों की भूमिका द्रष्टव्यः है -

प्रदूषण-नाशक

ऋग्वेदसंहिता में उल्लेख है कि जल में उगने वाले पौधे, वन तथा वृक्षों से आच्छादित पर्वत प्रदूषण को कम करते हैं।[10] शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि ओषधियाँ पशुपति हैं अर्थात् पशुओं की स्वामी हैं (पशुओं की आश्रयदाता एवं अन्नदाता)। यह तथ्य इस प्रकार भी ग्राह्य है- भगवान् शिव ही पशुपति कहलाते हैं। आचार्य कपिल देव द्विवेदी[11] ने यजुर्वेद के रुद्राध्याय के आधार पर शिव को वृक्ष, वनस्पति, ओषधि, वन इत्यादि का स्वामी बताया है। उनके अनुसार भगवान् शिव जिस प्रकार विष का पान करते हैं और अमृत प्रदान करने वाले हैं, उसी प्रकार ओषधियाँ का शिवत्व यही है कि वे कार्बन डाईआक्साइड रूपी विषैली वायु को पीते हैं और ऑक्सीजन रूपी अमृत को प्रदान करते हैं। इस प्रकार वनस्पतियाँ वास्तव में पशुपति हैं, जो प्राणियों के लिए प्राण-वायु अर्थात् ऑक्सीजन की उत्पत्ति कर वायु में मिश्रित विषैली एवं दूषित वायु को कम करते हैं। सर्वविदित है कि अश्वत्थ वृक्ष (पीपल) सदैव प्राण-वायु का उत्सर्जन करता है।

भूसंरक्षक

पर्यावरण संरक्षण के अन्तर्गत भूसंरक्षण भी आता है। वस्तुतः भूमि का सम्पोषण एवं संवर्धन में वनस्पतियों का अत्याधिक सहयोग माना गया है। भूमि के जिस स्थान पर अधिक पेड़-पौधे होते हैं, उस स्थान की भूमि सदैव सुदृढ़ रहती है। उस भूमि के मिट्टी, पत्थर आदि वृक्षों की सहायता से जकड़े रहते हैं। वर्तमान समय में औद्योगीकरण के कारण वृक्ष तेज़ी से काटें जा रहे हैं, जिसके परिमाण स्वरूप पर्वतों की मिट्टी फिसल रही है और भू-स्खलन आदि घातक प्राकृतिक आपदायें हमारे समक्ष प्रकट हो रही हैं। इसी महत्ता को समझाने के लिए अथर्ववेदसंहिता (12.1.7) में ओषधियों वाली भूमि को '*ध्रुवां भूमिम्*' कहकर सम्बोधित किया गया है। इसके अतिरिक्त ज़मीन में नमी बनाये रखने और नदियों के स्वच्छन्द प्रवाह को रोकने में भी वनस्पतियों का योगदान रहता है। ऋग्वेदसंहिता में कूलस्थ वृक्षों को उखाड़ने का निषेध मिलता है।[12]

वर्षाकारक एवं तापमान नियन्त्रक

वस्तुतः ऋतु-चक्र में वनस्पति-सम्पदा का सहयोग सर्वविदित है परन्तु वर्षा ऋतु में वनस्पतियों के विशेष योगदान का उल्लेख वेदों में किया गया है। तैत्तिरीयसंहिता में ऋषि ने वनस्पतियों की वृष्टि अर्थात् वर्षा-क्रिया में भूमिका की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[13] तैत्तिरीय ब्राह्मण के सन्दर्भों में ओषधियों के लिए 'वर्षवृद्धा' शब्द का कथन किया गया है।[14] जिसका अभिप्राय है कि ओषधियाँ, वर्षा को बढ़ाने वाली अथवा वर्षा से बढ़ने वाली होती हैं। वाजसनेयीसंहिता (1.21) में भी '*समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन*' इस तथ्य की ओर इङ्गित किया गया है। ये सभी वैदिक वचन वर्तमान विज्ञान की ओर सङ्केत करते हैं, जहाँ यह सिद्ध किया चुका है कि वनस्पति-जगत् ही वर्षा का कारक है। वर्षा

के अतिरिक्त वृक्ष सभी प्राणियों को शीतलता एवं छाया प्रदान करते हैं। जिससे न केवल तापमान नियन्त्रित होता है अपितु सूर्य के ताप से होने वाले चर्मरोग आदि से भी बचाव सम्भव है।

प्राकृतिक सौन्दर्यवर्धक

वनस्पतियों से हमारे पर्यावरण की सुन्दरता को द्विगुणित हो जाती है। ऋषि ने शतपथ ब्राह्मण में पीतुदारु वृक्ष का उल्लेख किया है। जहाँ बताया गया है कि पीतुदारु वृक्ष सुगन्ध से युक्त होता है।[15] इस प्रकार पीतुदारु वृक्ष को वायु में सुगन्ध को बढ़ाने वाला जानना चाहिए। जहाँ सुगन्ध होती है, वह स्थान निश्चित अत्यन्त शोभनीय हो जाता है।

पशु-पक्षियों के आश्रय स्थल

सभी जानते हैं कि वन पशुओं के और वृक्ष पक्षियों के आश्रयस्थल होते हैं। यदि वन तथा वृक्ष अल्प हो जायेगें, तो परमात्मा की इस सृष्टि में रहने वाले पशु-पक्षी बेघर हो जाऐंगे। इस चिन्ता से ऋग्वेदीय ऋषि भी अपरिचित नहीं थे।[16] कभी-कभी शहरों में अत्यन्त गर्मी व ताप के कारण गाय, बैल आदि पशु वृक्षों अथवा झाड़ियों में आश्रय लेते हैं। इसका वर्णन अथर्ववेदसंहिता के एक मन्त्र में आया है।[17]

स्वास्थ्यकारक के रूप में

रोगनाशक

स्वास्थ्य ही व्यक्ति के पुरुषार्थ चतुष्ट्य की साधना का परम साधन है। वनस्पतियाँ प्राणियों के लिए प्राण स्वरूप हैं इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण में वनस्पतियों को प्राण कहा गया है।[18] वाजसनेयीसंहिता में बताया गया है कि ओषधि उपयोग करने वाले के दुख व रोग दूर करती है।[19] तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णन है कि हम सब ओषधियों के रसों पर जीवित हैं।[20] इस प्रकार वैदिक मन्त्रों में वनस्पतियों को रोगों को दूर करने वाली माना गया है। उदाहरणतः अपामार्ग ओषधि से प्रार्थना है कि हे अपामार्ग! तू हमे पाप, दोष, बुरे कर्म, दुर्बलता तथा बुरे स्वप्न से दूर कर।[21] अन्यत्र भी 'पिप्पली' नामक ओषधि को वात रोगों में, पागलपन, अङ्गों की अधिक पीड़ा आदि रोगों की चिकित्सा में लाभदायक कहा है। 'गूलर' नामक ओषधि तथा 'रोहणी' नामक ओषधि को तलवार से कटी हुई हड्डियों व मांसपेशियों को जोड़ने में लाभकारी बताया गया है।[22]

आयुष्य-वर्धक

वैदिक संस्कृति आशावादी संस्कृति है। उस समय व्यक्ति जीवन की आशा रखते हुए पूर्ण आयु अर्थात् सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करता चाहते थे।[23] यह विचारधारा वैदिक स्तुतियों में अधिकांश देखी जाती है। अतएव इन्द्रियों और चेतना सहित पूर्ण आयु प्राप्त करने के लिए व्यक्ति का स्वस्थ रहना परमावश्यक है। स्वस्थ जीवन की कामना तभी की जा सकती है, जब हमारा आहार दूषित न हो अर्थात् जो फल, अन्न आदि खाद्य पदार्थ हम ग्रहण करते हैं, वे सब दोष मुक्त हों। अतः वैदिक ऋषि ने खेती से उत्पन्न अन्न, वनों-उपवनों में उत्पन्न हुई जड़ी-बुटियाँ इत्यादि वनस्पति-सम्पदा की चर्चा यत्र-तत्र वैदिक मन्त्रों में की है।

सद्गुण-वर्धक तथा शान्तिप्रदायक

'*ओषधीः शिवाः*' अर्थात् ओषधियाँ कल्याणकारी हैं, इस प्रकार अथर्ववेदसंहिता (6.23.3) में ओषधियों के गुणों एवं रोगनिवारक सामर्थ्य की सूचना दी गई है। प्रायः मनोवैज्ञानिकों के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि जहाँ प्राणी-जन प्रकृति तथा उसके विभिन्न अङ्गों के जितने निकट होगें, वे उतने ही प्रसन्नचित होगें। वनस्पति-जगत् प्रकृति का अभिन्न अङ्ग है, अतः मानव अथवा अन्य प्राणियों की जीवनशैली वृक्षों द्वारा अवश्य प्रभावित होती है। वृक्षहीन स्थानों पर रहने वाले प्राणी चूँकि दूषित पर्यावरण में रहते हैं इसीलिए वे (प्राणी) हिंसात्मक एवं क्रूर प्रवृत्ति के होते हैं। इसी कारण ऋषि ने ओषधियों को शान्ति प्रदान करने वाला बताया है।[24] वनस्पति करीर के फल को भी प्रजाओं को सुख देने वाला कहा गया है।[25] शतपथ ब्राह्मण में दूर्वा ओषधि से कामना है कि वह दूर्वा काण्ड से काण्ड तक और पौरे से पौरे तक तथा सैकड़ों और सहस्र गुणा हमें बढ़ा दें।[26] चित की शान्ति ही सभी कार्यों को सम्पादित करती है। यदि मन अशान्त है, तो एकाग्रता के अभाव में किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं किया जा सकता। जिसके कारण व्यक्ति का वैभव अथवा कीर्ति शिथिल पड़ जाती है। शतपथ ब्राह्मण के इस वाक्य में यही भाव प्रकट है। समस्त प्राणियों को आनन्द और उल्लास से भर देने के कारण वैदिक ऋषि ने ओषधियों को 'मुद' कहा है।[27]

खाद्य-सामग्री के सन्दर्भ में

ओषधि-वनस्पति सम्पदा समस्त प्राणी-जगत् का सृष्टि के आदिकाल से ही पालन-पोषण करती आ रही है। चाहे जीव-जन्तु हों, या वन्य-पशु, या पक्षी-समुदाय या मनुष्य सभी अपने-अपने अन्न के लिए वनस्पतियों पर आश्रित हैं। इसी दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण में ओषधियों को अन्न कहा गया है।[28] वनस्पतियों के पोषण सामर्थ्य को अथर्ववेदसंहिता के भूमि सूक्त में भी स्वीकार किया गया है।[29]

वनस्पतियों के प्रति प्रार्थनाएँ एवं उनका संरक्षण

वैदिक ऋषियों ने उपरोक्त मन्त्रों में मानव-जीवन हेतु वनस्पतियों के महत्त्व को चित्रित किया है। वर्तमान समय में भी प्रत्येक व्यक्ति पुत्र-पौत्रों सहित भयरहित-रोगरहित दीर्घायु, अन्न, लकड़ी, ईंधन, शुद्ध वायु आदि की प्राप्ति की इच्छा वनस्पतियों से रखता है। वाजसनेयीसंहिता में कामना की गई है कि वनस्पति हमारे लिए मधुमान हो अर्थात् लाभदायक हो।[30] ऐसी कामना रही है ओषधियाँ एवं वनस्पतियाँ प्रचुर मात्रा में होकर भी सदा शान्तिदायक हों।[31]

अथर्ववेदसंहिता के भूमि सूक्त में प्रार्थना है कि 'हे भूमि! तेरे वृक्षों को (हम) इस तरह से काटें कि वे शीघ्र ही अंकुरित हो जाये। (हम) कभी भी तेरे मर्मस्थल को पीड़ा न दें'।[32] यजुर्वेदीय ग्रन्थों में यही निर्दिष्ट है कि ओषधियों के मूल को (हम) नष्ट न करें।[33] वनस्पतियों के मूलों को नष्ट करने वाले की दशा की ओर वैदिक ऋषि ने अपनी संवेदना को अथर्ववेदसंहिता में कठोर वचनों में प्रकट किया है- 'जो ओषधियों, वनस्पतियों को मारकर पृथिवी को सताता है, उन्हें पृथिवी

हिला देती है, पीड़ित करती है, तथा नष्ट कर देती है'।[34]

अत: सुखमय जीवन एवं प्राकृतिक संतुलन की कामना से प्राय: वेद मन्त्रों में वनस्पति-संरक्षण एवं संवर्धन की चर्चा की गई है। हमें सदा वृक्षों की वृद्धि हेतु उन्हें जल से सींचना चाहिए। इसी कारण शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि वनस्पतियों का जो भाग गीला है, वही जीवित और स्वस्थ है।[35]

हमें वनस्पतियों को सजीव चेतन प्राणी जानकर उनका संरक्षण करना चाहिए। वनस्पतियों की बहुआयामी उपादेयता के प्रति वैदिक ऋषि ने '*नम: औषधीभ्य:*' (अथर्ववेद 6.20.2) कहकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है।

निष्कर्ष

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि वनस्पति-विज्ञान के प्रारम्भिक दर्शन वेद में मिलते हैं। सुखी जीवन जीने के लिए वेद में जो अनेक उपाय सूत्र रूप में निबद्ध हैं, वही वास्तविक ज्ञान-विज्ञान है। वनस्पति-सम्पदा की बहुआयामी उपादेयता जो वेदों में दृष्टिगोचर होती है, वह न केवल मानवमात्र के लिए अपितु अन्य प्राणियों के लिए भी शान्तिप्रदायक मानी गई है। आज भी सामान्यत: सब मानते हैं कि तुलसी वायु को शुद्ध करती है, कड़ी पत्ता भोजन में स्वाद के साथ मुधमेह को भी नियन्त्रित करता है, नीम दाँतों एवं मुधमेह के लिए लाभकारी है। इस प्रकार वेदों में कही गई वनस्पति उपयोगी चर्चा का हम आज के युग में भी प्रयोग करते हैं। जीवन को सुखमय एवं रोगमुक्त बनाने के लिए वैदिक ग्रन्थों में वर्णित वनस्पति विषयक चर्चा अपरिहार्य है। कह सकते हैं कि वनस्पति-सम्पदा समृद्धि की कामधेनु है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. वेदों में पर्यावरण संरक्षण, प्रवेश सक्सेना, जे.पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2004
2. वैदिक इण्डेक्स, (अनु.) रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, दो भाग, 1962
3. वेद-पर्यावरण-नवनीतम्, (सं.) भास्कर शर्मा, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2014
4. वैदिक संहिताओं में विविध विद्यायें, (सं.) कृष्ण लाल, जे. पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1996
5. वेद तथा पर्यावरण, उर्मिला रुस्तगी, जे.पी. पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1996
6. संस्कृतपाठ्यसंकलन, शशि तिवारी, विद्यानिधि प्रकाशन, 2009
7. वेदों में पर्यावरण चेतना (अथर्ववेद के विशेष सन्दर्भ में), नन्दिता सिंघवी, सोनाली पब्लिकेशन, जयपुर, 2004
8. वेदों में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिक्षाशास्त्र, कपिलदेव द्विवेदी, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर, 2002

सन्दर्भ

1. वनानां पतये नम:। वृक्षाणां पतये नम:।
   औषधीनां पतये नम:।
   वाज.सं. (वाजसनेयीसंहिता) 16.18-19
2. (सं.) कृष्ण लाल, वैदिक संहिताओं में विविध विद्यायें, पृ. 344; नन्दिता सिंघवी वेदों में पर्यावरण चेतना, पृ. 214

3. श.ब्रा. (शतपथ ब्राह्मण) 2.2.4.3-5
4. सहस्त्रमुत वो रुहः। ऋ.सं. (ऋग्वेदसंहिता) 10.97.2
5. ओषधिभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा तूलेभ्यः स्वाहा काण्डेभ्यः स्वाहा वल्शेभ्यः स्वाहा पुष्पेभ्यः स्वाहा फलेभ्यः स्वाहा। वाज.सं. 22.28; तैत्तिरीयसंहिता 7.3.19-20; काठकसंहिता अश्वमेधीयानुवचनानि 3. 9-10; मैत्रायणीसंहिता 3.12.7.9
6. स वाऽआरण्यमेवाश्नीयात्। या वारण्या ओषधयो यद्वा वृक्ष्यं। श.ब्रा. 1.1.1.10; गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्। काठकसंहिता 16.10.118
7. श.ब्रा. 7.4.2.11
8. नन्दिता सिंघवी, वेदों में पर्यावरण चेतना, पृ. 211
9. शतं वो अम्ब धामानि। ऋ.सं. 10.97.2; ओषधीरिति मातरः। ऋ.सं. 10.97.4, वाज. सं. 12.78
10. आपः औषधीरुत नोऽवन्तु द्यौर्वना गिरयो वृक्षकेशाः। ऋ.सं. 5.41.11
11. कपिलदेव द्विवेदी, वेदों में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिक्षाशास्त्र, पृ. 148
12. वही 5.54.6
13. अद्भ्य एवौषधीभ्यो वर्षत्यथो अद्भ्य एवौषधीभ्यो वृष्टि निनयति। तैत्तिरीयसंहिता 2.4.9.3
14. वर्षवृद्धा वा ओषधयः। तै.ब्रा. (तैत्तिरीय ब्राह्मण) 3.2.2.5, 3.2.5.10
15. स एष वनस्पतिरभवत् पीतुदारुः। तस्मात्स सुरभिः। गन्धादि समभवत्। श.ब्रा. 13.4. 4.7
16. ऋ.सं. 2.31.1, 10.29.1
17. वृक्षं यद्गावः परिषस्वजनाः। अथर्व.सं. (अथर्ववेदसंहिता) 1.2.3
18. प्राणों वै वनस्पतयः। ऐतरेयब्राह्मण 2.4, 5. 23, 7.32
19. वाज.सं. 12.96
20. तस्मादपां चौषधीनां च रसमुपजीवामः। तै. ब्रा. 3.2.3.10
21. अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्य सुव। श.ब्रा. 13.8.4.4
22. (सं.) भास्कर शर्मा, वेद-पर्यावरण-नवनीतम्, पृ. 145 में उद्धृत।
23. जीवेम शरदः शतम्। वाज.सं. 36.24; शतं जीवेम शरदः। तै.ब्रा. 3.1.2.1 शतायुः पुरुषः। तै.ब्रा. 1.3.7.7
24. शान्ता नः सन्त्वौषधीः। अथर्व.सं. 19.9. 11
25. श.ब्रा. 2.5.2.11
26. एवा नो दूर्वे प्र तनु सहस्त्रेण शतेन च। श. ब्रा. 7.4.2.14
27. ओषधयो वै मुद। श.ब्रा. 9.4.1.7, वाज.सं. 18.38
28. सर्वमेव तदन्नं यत्सर्वौषधम्। श.ब्रा. 7.2.4. 14
29. अथर्व.सं. 12.1.27
30. वाज.सं. 13.29
31. पृथिवी शान्तिराप: शान्तिरोषधयः शान्तिर्व-नस्पतयः। अथर्व.सं. 19.6.14, वाज.सं. 36.17
32. यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु। अथर्व.सं. 12.1.35
33. ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्। वाज.सं. 1. 25; ओषधीनामहिं सायै। तै.ब्रा. 3.2.2.2
34. वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया पृथिवी चिद् रेजते पर्वतश्चित्। अथर्व.सं. 5.60.2
35. एतद्वै वनस्पतीनामनार्त जीवम् यदार्द्रम्। श. ब्रा. 9.2.2.3

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (177-183) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक वाङ्मय में मनोविज्ञान

–डॉ. हरिप्रकाश शर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
गुरु नानक खालसा कालेज, यमुनानगर (हरियाणा)

मनोविज्ञान का अर्थ है मन का विज्ञान, मन को अनुशासित रखने वाला शास्त्र। मन–रूपी मध्यस्थ ज्ञान जब विशिष्ट ज्ञान में व्यवहृत होता है तो वह मनोविज्ञान कहलाता है। मन के सभी क्रिया–कलापों का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है। वेदों में सभी विद्याओं के सूत्र उपलब्ध हैं। समस्त जीवन दर्शन वेदों में विद्यमान है। भारतीय दृष्टि में मनोविज्ञान को वेद के व्यावहारिक पक्ष के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मनोविज्ञान अन्तस् चेतना को परिष्कृत एवं संवर्द्धित करने का साधन है। प्रारम्भ में मनोविज्ञान को मन का विज्ञान, उसके पश्चात् आत्मा का विज्ञान कहा गया है। मन और आत्मा वेद के विषय हैं। वर्तमान काल में मन की जिस एकाग्रता के लिए साइकोलॉजिकल थेरेपी के महत्त्व का अनुभव किया जा रहा है उस मन का दर्शन हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों के द्वारा वेदों में प्रस्तुत किया जा चुका है। भारतीय मनोविज्ञान का बीजारोपण वेदों में निहित है। आधुनिक मनोविज्ञान मन, स्वः, आत्मा और चेतना आदि तत्त्वों को साधकर उन्हें नियन्त्रित कर शरीर को पुष्टता प्रदान कर, निर्विकार रूप से दीर्घायु होने की बात करता है, वेद में इसी के अनुसरण की बात कही गई है। आधुनिक मनोविज्ञान वैदिक धारणाओं से परिपूर्ण है। आध्यात्मिक, भावनात्मक, संवेगात्मक, संवेदनात्मक आदि तत्त्वों से यह समाविष्ट है। मानव कल्याण के लिए परमेश्वर के द्वारा वेद के माध्यम से ज्ञान प्रकट किया गया है। मनीषियों के द्वारा जो भी मनस्तत्त्व का चिन्तन किया गया है वह सब वेद में उपलब्ध है। आज मनोवैज्ञानिक जिस मनोविज्ञान के माध्यम से स्नायुमण्डल, संवेदना, ध्यान, स्मरण, कल्पना, चिन्तन, अनुभूति, प्रेरणा, संवेग, चेतना, योग्यता, सफलता, विफलता, व्यक्तित्व आदि पर विचार करते हैं, यह सब चिन्तन वेद में अनेक स्थानों पर दिखाई देता है।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में यज्ञकर्त्ता के द्वारा कहा गया है कि मैं यज्ञाग्नि में हवि डालते हुए मन के द्वारा मनन शक्ति को, चेतना के द्वारा चेतनाशक्ति को, बुद्धि के द्वारा ध्यान को, चित्त के द्वारा चिन्तनशक्ति को, मति के द्वारा बुद्धिव्यापार को, श्रवण के द्वारा श्रवणशक्ति को, चक्षु के द्वारा दर्शन शक्ति को ग्रहण करता हूँ।[1] इस मन्त्र में मन की अनेक शक्तियों का दर्शन होता है। मन में उत्पन्न सङ्कल्प से मनुष्य शुभ अथवा अशुभ कर्म में प्रवृत्त होता है। सत्सङ्कल्प से व्यक्ति सत्कर्म करते हुए सुख को तथा असत्सङ्कल्प

से असत्कर्म को करते हुए दुःख को उत्पन्न करता है। शुभ सङ्कल्प वाला मानव देवों को प्राप्त करके दिव्यता का तथा अशुभ सङ्कल्पी व्यक्ति राक्षसों को प्राप्त करके अदिव्यता का प्रसार करता है जैसा कि मन्त्र में निर्दिष्ट है।[2]

वेद में मन को अनश्वर बतलाया गया है। सारी दिव्य शक्तियाँ मन में स्थित हैं। जिस प्रकार दिव्य रूप को प्राप्त करने के लिए देव अन्य देवों को हवि से प्रसन्न करते हैं उसी प्रकार मनुष्य मन के द्वारा मनुष्यों को प्रसन्न करते हैं। जिस शक्ति के द्वारा व्यक्ति द्युलोक को जानता है, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी को देखता है, जिस मनोबल के द्वारा पुरुष दूर स्थित हुआ भी निकट स्थित के समान और निकट स्थित हुआ भी दूर स्थित के समान होता है–ये सब मन की दिव्य शक्तियाँ ही हैं।[3] यज्ञ अनेक प्रकार के हैं, उनमें सबसे श्रेष्ठ मानस यज्ञ है। मन का समर्पण करने से मानस यज्ञ होता है। मन्त्र में बतलाया गया है कि मानसोपासनारूपी यज्ञ पहले प्रकट हुआ, यह सर्वत्र फैला, उसको सबने जाना और फिर बहुत विस्तृत हो गया। वह सम्पूर्ण उपासकों का मानो स्वामी बन गया। वह यज्ञ हमें धन समर्पण करे।[4] वैदिक मन्त्रों के अध्ययन के पश्चात् कह सकते हैं कि सभी शक्तियों का मूल स्रोत मन ही है। मन की गति वायु से भी तीव्र है। मन के समान गति वाला अन्य कोई तत्त्व नहीं है। विचारों से युक्त मन और मन से युक्त विचार क्षणभर में दूर से दूर स्थान पर पहुँच जाते हैं। वायु आदि की गति को किसी यन्त्र से मापा जा सकता है किन्तु मन की गति को मापने वाला यन्त्र कोई नहीं है। किसी अन्य की गति एक समय में एक ही दिशा में होती है जबकि मन की गति काल के एक अंश में भी अनेक दिशाओं में हो सकती है। इस विषय में वेद-मन्त्रों में स्थान-स्थान पर वर्णन उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में बतलाया गया है कि जो तुम्हारा मन विवस्वान् के पुत्र यम के पास चला गया है, तुम्हारे उस मन को लौटा लाते हैं क्योंकि तुम इस संसार में निवास करने के लिए जीते हो। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर गए हुए मन को वापस लौटाने की बात कही गई है।[5] मन की विश्वव्याप्ति से सम्बन्धित अन्य मन्त्र में कहा गया है कि हे उग्र इन्द्र! जब उत्साहयुक्त सेना युद्ध करती है तब मानवों का हित करने वाले ऐसे तेरे बड़े बाहुओं में रहा शस्त्र हमारी सुरक्षा करने के लिए शत्रु पर गिरे। तेरा सर्वतोगामी मन इधर-उधर न जाए, वह हमारे हित के कार्यों में ही लग जाए।[6] अथर्ववेद में मन के शीघ्रगामी होने की बात आई।[7]

मनोविज्ञान का स्पष्ट एवं विकसित रूप ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों में मिलता है। आधुनिक समय में मनोविज्ञान का जितना विस्तृत और व्यापक अध्ययन हो रहा है यद्यपि उतना अध्ययन प्राचीन काल में नहीं हुआ तथापि ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में मन के गुण, धर्म, स्वरूप और कार्यों का विवेचन उपलब्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मन को ब्रह्म बतलाया गया है। मन सर्वशक्तिमान् है और परमात्मा का स्वरूप है, इसलिए यह ब्रह्म है। सृष्टि का रचयिता होने के कारण इसे ब्रह्मा तथा प्रजापति कहा गया है।[8] मन में प्रेरणा शक्ति है, अतः उसे अग्नि कहा गया है।[9] जिस प्रकार अग्नि सब जगह जाकर सभी में प्राणों का संचार करती है उसी प्रकार मानव भी मनोबल से दुर्भाव को नष्ट करता है, आत्मसत्ता का विस्तार करता है और यज्ञ

को मन की सूक्ष्मशक्ति से देखता है। देवों का पालक और बुद्धियों का उत्पादक उग्र स्वरूप वाला अग्नि आठ प्रकार से युक्त होकर चलता है। विश्व को धारण करने वाले जो यज्ञ के शाश्वत तन्तु हैं उनको मनुष्य मन के द्वारा मापता है और इस प्रकार अन्तरिक्ष में निवास करने वाला अग्नि सब दिशाओं में गति करता है। यहां अग्नि के साथ मन की सत्ता का वर्णन किया गया है।[10] सत्त्वगुणी मनस्वी मन में विद्यमान चिन्तनशक्ति से भूतकालिक, वर्तमानकालिक और भविष्य-त्कालिक घटनाओं को जानने में समर्थ होता है। दिव्य शक्तियों से युक्त होने के कारण मन को देव कहा गया है।[11] मन की गति प्रत्येक स्थान पर हो सकती है, वह सर्वव्यापक है, उसकी शक्ति अनन्त है, अतः उसे अनन्त और अपरिमित बताया गया है।[12] मन जैसा चाहता है वैसा होता है, मन की कल्पना से ही सारा संसार चल रहा है, अतः मन को 'सर्वम्' कहा गया है।[13] असीम शक्तियों और कल्पनाओं का भण्डार होने के कारण मन को समुद्र बताया गया है।[14] ब्राह्मण ग्रन्थों में मन को प्रजापति के विशिष्ट शरीर के रूप में प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि यह विभिन्न प्रकार की सृष्टि का रचयिता है।[15] विचारों का अथाह भण्डार होने के कारण मन महानदी के समान है। मन और वाणी का विशेष सम्बन्ध है, अतः वाणी को मनरूपी महानदी की नहर बताया गया है।[16]

मन में निर्देश करने की शक्ति है। मन जैसा मनुष्य को निर्देश करता है, मनुष्य वैसा ही करता है। मन के निर्देश के बिना व्यक्ति कुछ भी करने में असमर्थ है। व्यक्ति के मन में सङ्कल्प और विकल्प पैदा होते हैं। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य में व्यक्ति कई बार निश्चय नहीं कर पाता, तब मन ही व्यक्ति को निर्देश देता है। यहाँ तक कि प्राण भी मन के आदेशानुसार ही चलते हैं।[17] मन के आदेश से ही स्नायु-मण्डल और रक्त- प्रवाह का संचालन होता है। मन ही देखता है, मन ही सुनता है, अतः प्रत्यक्षीकरण का कार्य भी मन ही करता है।[18] काम (इच्छा), सङ्कल्प, विचिकित्सा (सन्देह), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, भी (भय) आदि मन के अनेक रूपों का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है।[19] प्रसन्नता, अप्रसन्नता, मोह, विषाद आदि विषयों में मन ही निर्देशक के रूप में कार्य करता है। हृदय में स्थित दुःख, द्रोह, शत्रुता, क्षीणता, दीनता आदि को मन ही क्रमशः सुख, प्रेम, मित्रता, पूर्णता, साहस आदि में परिवर्तित करता है। जब कभी मनुष्य हताश होकर स्वयं को नष्ट करना चाहता है तब मनोबल से ही उसमें जिजीविषा उत्पन्न होती है। किसी समय व्यक्ति निराश होकर सोचता है कि मैं तो नष्ट हो गया तो कभी मन की सकारात्मक सोच के कारण सोचता है कि मैं हृष्ट, पुष्ट और पूर्ण हो गया। मन्त्र में वर्णन मिलता है कि जब स्तुतियाँ पूज्य यज्ञ के अन्दर अकेले बैठे मुझ इन्द्र की होने लगी तब मेरे मन ने मेरे हृदय के लिए कहा कि ये बच्चों वाले मित्र मुझे बुला रहे हैं।[20] इस मन्त्र में मन के द्वारा हृदय को दिए गए निर्देश का वर्णन है। अन्य मन्त्र में मन की वेगशीलता का वर्णन इस प्रकार किया गया है—उत्तम पंखों वाला सुपर्ण मन के वेग से जाते हुए लोहे के नगर को पार कर गया और द्युलोक को जाकर वह वज्रधारी इन्द्र के लिए सोम ले आया।[21] वेदमन्त्रों से ज्ञात होता है कि मन कभी नष्ट

न होने वाले ज्ञान को धारण करता है। ऋग्वेद में वर्णन किया गया है कि उपाधिरहित परमेश्वर की माया से व्याप्त सूर्य को विद्वान् लोग हृदयस्थ मन से जानते हैं। क्रान्तदर्शी ज्ञानी सूर्यमण्डल के बीच में उसे विशेष रूप से देखते हैं, उसमें स्थित परम ब्रह्म को जानते हैं और विधाता के उपासक वे सूर्यमण्डल की (परमधाम पाने की) इच्छा करते हैं।[22] सूर्य (अग्नि) वेदरूपी वाणी को ज्ञानयुक्त मन से धारण करता है, उसको ही शरीर में स्थित प्राणवायु उच्चारित करता है। तेजस्वी, स्वर्गीय, सुखदायक और बुद्धि की अधीश्वरी वाणी को यज्ञ के स्थान में बुद्धिमान् विद्वान् उत्तम प्रकार से सुरक्षित करते हैं।[23]

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद रूप में वेदत्रयी प्रसिद्ध है। यह वेदत्रयी मन में उसी प्रकार से प्रतिष्ठित है जिस प्रकार रथनाभि में अर प्रतिष्ठित होते हैं। वेदों के मन्त्र मन में इस प्रकार से गुंथे हुए हैं जैसे अर रथ की धुरी में गुंथे हुए होते हैं। सम्पूर्ण प्रजाओं का चित्त जिसमें ओत-प्रोत है, वह मेरा मन शिव संकल्प वाला हो – साधक तपस्वी के द्वारा परमात्मा से इस प्रकार प्रार्थना की गई है।[24] जागते हुए पुरुष का मन जिस प्रकार दूर तक चला जाता है उसी प्रकार सोये हुए पुरुष का भी दिव्य मन दूर तक चला जाता है, यह दूर गया हुआ भी सभी इन्द्रियों का एकमात्र नियन्ता है।[25] मन के द्वारा व्यक्ति को सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है अतः मन ही ज्ञान रूप में है। ज्ञात वस्तु का स्मरण भी मन से ही होता है। अतः मन स्मृति – रूप में है। मन के बिना कोई काम नहीं किया जा सकता।[26]

मनुष्य के मन में स्थित चञ्चलता उसको पतन की ओर ले जाती है। अतः मन को स्थिर करना अत्यावश्यक है। वेद में शरीर को रथ के रूप में तथा मन को लगाम के रूप में बताया गया है। रथ को स्थिर करने के लिए जिस प्रकार युग (दोनों जुओं) को चमड़े की रस्सी से बाँधा जाता है उसी प्रकार शरीर रूपी रथ को श्रेष्ठ मार्ग पर ले जाने के लिए मन रूपी लगाम को नियन्त्रित करना आवश्यक है।[27] उपनिषद् के अनुसार जीवात्मा रथ का स्वामी है, शरीर रथ – रूप में है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं तथा विषय उनके विचरने का मार्ग हैं।[28] जीवन को सफल बनाने के लिए, मृत्यु के निवारण के लिए तथा अनिष्ट के विनाश के लिए मन को निगृहीत करना मानव के लिए अनिवार्य है। जिस विवेकहीन व्यक्ति का मन वश में नहीं होता उसकी इन्द्रियाँ भी दुष्ट घोड़ों के समान उसके नियन्त्रण से बाहर हो जाती हैं और जिस विवेकी पुरुष का मन वश में होता है उसकी इन्द्रियाँ अच्छे घोड़ों के समान उसके नियन्त्रण में रहती हैं।[29] निश्चल मन वाले व्यक्ति के लिए संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। चञ्चल चित्त वाला व्यक्ति नकारात्मक भाव के साथ जीवन व्यतीत करता है और पग-पग पर दुःखों का सामना करता है। निग्रहवान् पुरुष मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। वेद में कहा भी गया है–जैसे यह विशाल पृथिवी इन वनस्पतियों को धारण करती है उसी प्रकार तेरा मन जीवन के लिए तथा विनाशरहित होने के लिए धारण करता हूँ। मृत्यु या विनाश के लिए नहीं।[30] मनुष्य को बल प्राप्त करने के लिए और दीर्घायु होने के लिए मन को सत्कर्मों में लगाना चाहिए।[31]

व्यक्ति के मन में पाप और पुण्य वाली

दो धाराएं बहती हैं, किन्तु एक समय में इनमें से एक ही धारा बहती है। जब वह पापयुक्त चिन्तन वाला होता है तो उसकी प्राणों की गति विषम हो जाती है जिसके कारण उसका शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है और परिणामस्वरूप आयु भी क्षीण हो जाती है। इसके विपरीत पुण्यधारा वाला मन होने से व्यक्ति के प्राणों की गति सम होती है जिससे वह रोगरहित रहता है तथा दीर्घायु को प्राप्त होता है। जब कभी सत्कर्मयुक्त पुरुष पर पापाचरण अपना प्रभाव दिखाने का प्रयास करता है तो सत्कर्म में लगा हुआ व्यक्ति पाप को लक्ष्य करके कहता है—हे मन के पाप! दूर हट जा। क्या तू बुरी बातें कहता है? दूर जा। तुझको मैं नहीं चाहता। वृक्षों और वनों में संचार कर। मेरा मन मेरे घरों और गौओं में है।[32] जिन मनुष्यों का मनोबल क्षीण हो गया है वे नैराश्यभाव को प्राप्त होते हैं। नैराश्यभाव को समाप्त करने के लिए उन्हें वेदमन्त्रों का आश्रय लेना चाहिए, जिससे उनका नैराश्यभाव समाप्त होगा और मन में अद्भुत शक्ति का संचार होगा। इसी सन्दर्भ में वेद में वर्णन मिलता है—हे स्तोताओ! तुम परस्पर एक विचार से मिलकर रहो, परस्पर मिलकर प्रेम से वार्तालाप करो। तुम लोगों का मन समान होकर ज्ञान प्राप्त करे। जिस प्रकार पूर्व के लोग एक मत होकर ज्ञान सम्पादन करते हुए सेवनीय ईश्वर की उत्तम प्रकार से उपासना करते हैं, उसी प्रकार तुम भी एकमत होकर अपना कार्य करो।[33] अन्य मन्त्र में कहा गया है—हम सब की प्रार्थना एक समान हो, परस्पर मिलन भी भेदभाव से रहित एकसा हो। अपना मन (मनन करने का साधन अन्त:करण) और चित्त (विचारजन्य ज्ञान) एकविध हों। मैं तुम्हें एक ही उत्कृष्ट रहस्यपूर्ण वचन कहता हूँ और तुम्हें एक समान हवि प्रदान करके सुसंस्कृत करता हूँ।[34] तुम्हारा संकल्प एक समान रहे और हृदय एक समान हो। तुम्हारे मन एक समान हों जिससे तुम्हारा परस्पर कार्य पूर्ण रूप से संगठित हो।[35]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मन ही ब्रह्म है, मन ही प्रजापति है, मन ही अग्नि है, मन ही देव है। यह मन तेजस्वी इन्द्रियों का प्रवर्तक, यज्ञों में आदरणीय भाव से सुशोभित, अविनाशी, सर्वव्यापक, त्रिकालदर्शी, वैदिक ऋचाओं से प्रतिष्ठित, अजर, अतिवेगवान् कल्याणकारी शुभ सङ्कल्पों से युक्त, ज्ञानस्वरूप तथा शक्तिस्वरूप है। अत: हमें आत्मा—कल्याण के लिए शिवसङ्कल्प मन वाला होना चाहिए।

सन्दर्भ

1. अथर्व., 6.41.1 :
   मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
   मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्;
2. वही, 12.4.31 :
   मनसा सङ्कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति।
   तत् ह ब्रह्माणो वशाम् उप प्रयन्ति याचितुम्;
3. वही, 7.5.3 :
   यद् देवा देवान् हविषायजन्त अमर्त्यान् मनसाऽमर्त्येन।
   मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य।।
4. वही, 7.5.2 :
   यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुन:।
   स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु।।
5. ऋग्वेद, 10.58.1-12 :

यत् ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत् त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।
यत् ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्।
तत् त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।

6. वही, 7.25.1 :
आ ते मह इन्द्रोत्युग्र समन्यवो यत् समरन्त सेनाः।
पताति दिद्युन्नर्यस्य बाह्वोर्मा ते मनो विश्वद्यक् विचारीत्।।
7. अथर्व., 6.105.1 :
यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्रपत मनसोऽनुप्रवाय्यम्।।
8. गोपथा ब्रा., 1.2.11
9. शतपथ ब्रा., 10.1.2.3
10. अथर्व., 13.3.19 :
अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम्।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा।।
11. गोपथ ब्रा., 1.2.11
12. शतपथ ब्रा., 14.6.1.11
13. गोपथ ब्रा., 1.2.15
14. शतपथ ब्रा., 7.5.2.52
15. ऐत. ब्रा., 5.25
16. जैमिनीय उप. ब्रा., 1.58.3
17. शतपथ ब्रा., 14.3.2.3
18. वही, 14.4.3.8
19. वही, 14.4.3.9
20. ऋग्वेद, 8.100.5 :
आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ, एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचद् अचिक्रन्दन शिशुमन्तः सखायः।।
21. वही, 8.100.8 :
मनोजवा अयमान आयसीमतरत् पुरम्।
दिवं सुपर्णो गत्वाय सोमं वज्रिण आभरत्।।
22. वही, 10.177.1 :
पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः।।
23. वही, 10.177.2 :
पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भेऽन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति।।
24. यजुर्वेद, 34.5 :
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।
25. वही, 34.1 :
यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।
26. वही, 34.3 :
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते कि चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्मपस्तु।।
27. ऋग्वेद, 10.60.8 :
यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम्।
एवा दधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवे अथो अरिष्ट तातये।।
28. कठोप., 1.3.3-4 :
आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।
29. वही, 1.3.5-6 :
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा

सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।

30. ऋग्वेद, 10.60.9 :
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन्।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये।।

31. यजुर्वेद, 3.54 :
आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
ज्योक् च सूर्यं दृशे।।

32. अथर्ववेद, 6.45.1 :
परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर
गृहेषु गोषु मे मनः।।

33. ऋग्वेद, 10.191.2 :
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।

34. वही, 10.191.3 :
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।

35. वही, 10.191.4 :
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

✦✦✦

मेन्या मेनिरसि। –अथर्व. 2.11.1
हे नर! तू वज्र का वज्र है।

सूरिरसि वर्चोधा असि। –अथर्व. 2.11.4
हे नर! तू विद्वान् है, वर्चस्वी है।

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि। –अथर्व. 2.11.5
तू शुद्ध है, भ्राजमान है।

स्वरसि ज्योतिरसि।
तू आनन्दमय है, ज्योतिर्मय है।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (184-188) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

पर्यावरणप्रदूषण एवं सङ्क्रामक रोगों की समस्या का वैदिक समाधान

प्रो. टी. केशवनारायण वेदालङ्कार
आचार्य, संस्कृत विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

इस धरातल पर मानव का जब आविर्भाव हुआ, तब वह प्रथमदशा में प्रकृति पर निर्भर होकर जीवन यापन करता था किन्तु जैसे-जैसे मानवसमाज का विकास होता गया और ज्यों-ज्यों उनकी आवश्यकताएं बढ़ती गईं, वह केवल प्रकृति पर निर्भर होकर जीवन बिता नहीं सकता था, उसकी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अन्नोत्पादन के मार्गों का अन्वेषण करना पड़ा। इसी क्रम में उसने कृषिकार्य का आरंभ किया। यहीं पर पहली बार मानव के द्वारा प्रकृति की सहज गति में हस्तक्षेप हुआ। मानव के प्राकृतिक जीवनविधान से च्युत होने का क्रम एवं पर्यावरणप्रदूषण का बीजारोपण का प्रारंभ वहीं से हुआ।

वस्तुतः मनुष्य एवं प्रकृति का सम्बन्ध अनितरसाधारणसम्बन्ध है। मानव भी साक्षात् प्रकृति का अंग है। असल में इस प्रकृति पर ही समूचे मानवसमाज का अस्तित्व टिका है। उसकी रक्षा, परस्पर सहजीवन और परस्पर सम्पोषण पर ही मानव अवलम्बित है। अतः प्रकृति का प्रदूषण एवं ह्रास मानवसमाज का ह्रास है। न केवल मानव अपितु समस्त प्राणिकोटि, समुद्र, नदियां वृक्ष, वनस्पति, अरण्य, पर्वत की शृंखलाएं, सूर्य, चन्द्र, ग्रह-उपग्रह और तारे ये सब प्रकृति के अंग हैं। इसलिए अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में कहा है-

त्वज्जाताः त्वयि चरन्ति मर्त्याः
त्वं बिभर्षि द्विपदः चतुष्पदः।
यस्यां वृक्षाः वानस्पत्याः
ध्रुवाः तिष्ठन्ति विश्वहा।

अथर्ववेद-12/1/27

यस्यामापः परिसराः समानीः
अहोरात्रे अप्रमादं भवन्ति।
सानो भूमिः भूरिधारा
पयोदुहामथो भवन्तु वर्चसा॥

जब तक ये सभी अपनी अपनी सहज गति से प्रवृत्त होते हैं तब तक प्रकृति निरुपद्रव रहती है। वस्तुतः मानव के अतिरिक्त प्रकृति का कोई भी अङ्ग जड़ या चेतन अपनी सहज प्रवृत्ति का उल्लङ्घन नहीं कर सकता है किन्तु केवल मानव को ही विधि ने सोचकर करने की स्वेच्छा दी है। फलस्वरूप मनुष्य ही अपनी विकृतचेष्टाओं द्वारा प्रकृति को दूषित कर न केवल प्रकृति के अपितु अपने ह्रास

का भी कारण स्वयं बन रहा है। पर्यावरण के प्रदूषण को स्थूल रूप से चार भागों में विभक्त कर सकते हैं- 1. स्थलप्रदूषण, 2. जलप्रदूषण, 3. वायुप्रदूषण, 4. शब्दप्रदूषण।

स्थलप्रदूषण-

पृथिवी के बारे में अथर्ववेद में कहा है 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' (अथर्ववेद-12.1.12)। यह पृथिवी मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ। माता ही नहीं कहा गया है अपितु उससे अमृततुल्य दूध की भी अपेक्षा की गई है। अथर्ववेद में ही कहा गया है-

सा नो भूमिर्विसृजतां माता
पुत्राय मे पयः। अथर्ववेद, 12.1.23

अर्थात् वह भूमि मुझे अपने पुत्र को बहुत दूध दें। यहाँ पृथिवी को माता कहने का अभिप्राय यह है कि वह जननी है। वह प्राणियों को उत्पन्न करती है। पृथिवी से ही अन्न उत्पन्न होता है। अन्न से रेतस् एवं रेतस् से पुरुष की उत्पत्ति तो सर्वतन्त्रसिद्धांत है। इतना ही नहीं, पृथिवीसूक्त में यह भी कहा गया है कि इन औषधियों में जो गंध है, वह पृथिवी से ही प्राप्त है-

यस्ते गन्धः पृथिवि सम्बभूव
यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।
यं गन्धर्वाः अप्सरसश्च भेजिरे
तेन मा सुरभिं कृणु मानो द्विक्षत
कश्चन॥ अथर्ववेद, 12.1.23

समस्त प्राणिजगत् की जननी पृथिवी को आधुनिक मानव औद्योगिक विकास के नाम पर निर्वीर्य कर रहा है। पृथिवी प्रदूषण के प्रमुख रूप से तीन कारण हैं- 1. औद्योगिकीकरण, 2. कृत्रिम उर्वरक, 3. आणविक अवशेष। इन तीन कारणों में से औद्योगिकीकरण के पीछे कृत्रिम सुख साधनों को प्राप्त करने की इच्छा मुख्य है। व्यापार की दृष्टि भी एक और कारण हो सकता है। कृत्रिम उर्वरकों के उपयोग के पीछे अधिक अन्नोत्पादन मुख्य कारण है। अधिक अन्नोत्पादन का कारण जनसंख्याविस्फोट एवं जनसंख्या-विस्फोट भोगलालसा एवं विशृंखल कामवासना के कारण कह सकते हैं। आणविक अवशेष जो स्थलप्रदूषण का तृतीय कारण है। उसमें भी मानव के द्वारा आधुनिकता के नाम पर कृत्रिम सुखसाधनों का उपभोग करना ही मुख्य हेतु है। जैसे कि खाना बनाने के उपकरण से लेकर एयरकण्डीशन तक के घरेलू साधनों के उपयोग में एवं सभी प्रकार के उद्योगों में बिजली का विनियोग बहुत बढ़ गया है। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिये अणुविद्युत् केन्द्रों की स्थापना की आवश्यकता है। अणुविद्युत् केन्द्रों की स्थापना से उनके अवशेषों से पृथिवी का प्रदूषण बढ़ जाता है। इस प्रकार स्थूल रूप से जो स्थल प्रदूषण के जो तीन मुख्य कारण बताये हैं, उनके निरोध के लिये वेदनिर्दिष्ट उपाय क्या हैं यह देखना आवश्यक हैं।

वैदिक समाधान

इस प्रदूषण से पृथिवी को बचाने के उपाय भी उसी पृथिवी सूक्त में वेद ने बताया है-

यस्यां पूर्वे भूतकृत
ऋषयो गा उदाबृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो
यज्ञेन तपसा सह॥ अथर्ववेद-

अर्थात् अद्भुत काम करने वाले ऋषि

तथा सात वेधाओं ने सत्र, यज्ञ तथा तप के द्वारा मंत्रों का पाठ किया। भाव यह है कि ऋषियों ने तप के साथ लम्बे सत्रों वाले यज्ञों को किया। अन्यत्र भी कहा है-

कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पताम्।

यजुर्वेद-18.9

यज्ञात् भवति पर्जन्यः की उक्ति को आधार मानकर उपर्युक्त प्रमाणों की व्याख्या करने से प्रतीत होता है कि वेद स्थल प्रदूषण के लिये तीन उपाय बताना चाहता है। सर्वप्रथम उपाय ऋत है, द्वितीय तप एवं तृतीय यज्ञ है। ऋत से अभिप्राय यह है कि सृष्टि के शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय सहज नियमों का पालन करना, अधिक उत्पादन के लिए कृत्रिम उर्वरकों का उपयोग न करना, गोबर-घास-वृक्षों के पत्तों से तैयार अकृत्रिम प्राकृतिक खादों का उपयोग करना पृथिवी को प्रदूषण से बचाते हुए उपजाऊ बनाना यह पहला उपाय है। पृथिवी को प्रदूषण से बचाने में निरंतर जागरुकता एवं कठोर श्रम द्वितीय उपाय है। तृतीय उपाय यज्ञ है। यज्ञ से पर्जन्य, पर्जन्य से वृष्टि, वृष्टि से पृथिवी का ओषधि-वनस्पतियों से परिपूर्ण एवं सारवती हो जाना, यह एक सहज प्राकृतिक चक्र है। यज्ञों से ही यह चक्र सदा ही निर्बाध गति से चलता रहता है। फलस्वरूप पृथिवी प्रदूषित न होते हुए भी सदा सारवती होकर बलवर्धक एवं पर्याप्त अन्न का उत्पादन कर सकती है।

जल, वायु एवं शब्द प्रदूषण-

मानव के तथाकथित विकास की गति जितनी तेजी से आगे बढ़ रही है, उतनी ही तीव्रता से जल के सारे स्रोत प्रदूषित होते जा रहे हैं। जलप्रदूषण के कारणों में भी अत्यंत प्रमुख कारण औद्योगिकीकरण ही है। उद्योगों से निकलने वाला रसायनों से कलुषित विनाशकारक जल को अमृतधारा को बहाने वाली नदियों में छोड़ा जाता है। मानवविसर्जितों से भरे हुए शहर के गंदे नालों के पानी को भी नदियों में ही मिलाया जाता है। उदाहरण के लिये गङ्गा, यमुना एवं देश में बहने वाली सभी नदियों को लिया जा सकता है। जलप्रदूषण की यह समस्या इतना भयंकर रूप धारण कर चुकी है कि इससे माताओं का दूध भी जहरीला बन गया है। जनसंख्या की वृद्धि एवं खेतों पर कीटनाशक दवाओं का प्रयोग भी प्रमुख कारणों में से है। वायुप्रदूषण के कारणों में प्रमुख रूप से मोटरवाहनों का धुआं, वातानुकूल यंत्रों का उपयोग तथा रेफ्रिजिरेटरों का विनियोग, विविध कारखानों से निकलने वाला धुआं भी वायुप्रदूषण का कारण बन रहा है।

जल एवं वायुप्रदूषण के निवारण के लिये भी वैदिक वाङ्मय द्वारा सूचित उपाय तो वे ही हैं, जो स्थलप्रदूषण के लिये बताये गये हैं। वस्तुतः मानवसमाज भोगलालसा की भावना को त्यागकर यम-नियमादि का पालन करते हुए अभ्युदयसिद्धि को निःश्रेयस का केवल उपकारक मानकर चलता हो तो जनसंख्या का न विस्फोट होता है ना ही स्वार्थ की भावना विराट् रूप धारण करती है। वैज्ञानिक विकास के नाम पर प्रकृति का जो अंधाधुन्ध शोषण किया जा रहा है, उसकी भी सम्भावना नहीं रहती। फलस्वरूप मानव के हृदय में प्रकृति के प्रति प्रेम उत्पन्न होने से जल-स्थल एवं वायु प्रदूषण की सम्भावना भी मिट जाती है। तब यजुर्वेद के इस मंत्र में की गई कामना साकार हो सकती है। मन्त्र

है–

ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।

वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। यजुर्वेद– 36/17

सङ्क्रामक रोगों की समस्या–

चरकसंहिता में कहा गया है– वाटवादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः तन्मूलञ्चा–सत्कर्मपूर्वकृतम्– चरकसंहिता– 8/23। यहाँ धर्म से तात्पर्य कर्तव्य अर्थ लेना होगा। अपने शरीर को रोगमुक्त करने के लिये जिन कर्तव्यों का पालन करना है, वे ही यहाँ धर्म शब्द से सूचित हैं।

आज न केवल भारत में अपितु सारे विश्व में सभी देश नये नये जिनके नाम पहले कभी सुनने में नहीं आये ऐसे सङ्क्रामक रोगों से भयभीत हैं। उनका निवारण भी सभी सरकारों के लिये शिरोवेदना का कारण बना हुआ है। वे रोग प्रायः तीन प्रकार के हैं–

1.अनैतिक व्यवहार जन्य हैं– एड्स इत्यादि रोग।

2. ऋतुओं के सन्धिकाल में वातावरण–परिवर्तन से उत्पन्न सूक्ष्म जीवाणु (Bacteria) सङ्क्रमणजन्य रोग।

3. मच्छर, मक्खी के काटने से आने वाले चिकेन गुनिया, डेन्ग्यू, एबोला, स्वैनफ्लू इत्यादि रोग हैं।

इस प्रकार के रोगों में प्रथम कोटि के रोग जो हैं उनकी तो औषधि ही नहीं है। जिस रोग की चिकित्सा ही नहीं है उस रोग का निवारणोपाय उस व्याधि के सङ्क्रमण के कारणों से दूर रहना ही एकमात्र मार्ग है। वही नैतिकता का मार्ग है। यम नियमादि निःश्रेयस सिद्धि को लक्ष्य बनाकर योगसाधना करने वाले योगियों के लिये जितना प्रासङ्गिक हैं, ऐहिक अभ्युदय सिद्धि के लिये भी इतना ही प्रासङ्गिक हैं। चरक के अनुसार जब रोग का मूल ही अधर्म है तो धर्म मार्ग का अनुसरण करना ही एकमात्र उपाय है। रोगों के उपशमन मात्र का प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। किन्तु रोगों का निरोध एवं उन्मूलन तो केवल यम नियमों का पालन करने से ही होगा। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय और कोई मार्ग ही नहीं है। वैदिक वाङ्मय में इसके लिए जो मार्ग दर्शाये गये हैं, उन्हीं को महाकवि कालिदास ने अपने शब्दों में यह कहा है–

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां
यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते
तनुत्यजाम्॥ रघुवंश, प्रथम सर्ग

विद्यार्थी दशा में कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करने का आदेश वेद में मिलता है। अथर्ववेद में कहा है–

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा
मृत्युमुपाघ्नत॥ अथर्ववेद– 11/5/19

अर्थात् ब्रह्मचर्य के बल से विद्वान् मौत को भी मार भगाते हैं। साथ ही विवाह के उपरान्त धर्मपूर्वक दाम्पत्य प्रेम की भावना का भी उपदेश वेद करता है। यथा वेद में कहा गया है–

इहेमाविन्द्र सं नुद
चक्रवाकेव दम्पती॥

चक्रवाक पक्षियों के जोड़े की तरह दम्पत्ती परस्पर एक दूसरे में अनुरक्त होकर सांसारिक आनन्द का अनुभव करें। जब वेद की इस भावना का पालन करें तो एड्स रोग की व्याप्ति की सम्भावना ही नहीं रहती।

सङ्क्रामक रोगों के लिए वातावरण प्रदूषण को रोकना, दैनिक अग्निहोत्र करने के साथ-साथ ऋतुओं के अनुरूप हव्यपदार्थों की आहुति देते हुए चातुर्मास्यादि यज्ञों को करना, मांसभक्षण के नाम पर जन्तुओं की अन्धाधुंध हिंसा को रोकना परिणामस्वरूप बहुत प्रकार के जीवों की नस्लों को लुप्त होने से रोकना इत्यादि कार्यों को करने की आवश्यकता है। जीवों की नस्लों के लुप्त होने पर भी सङ्क्रामक रोगों की व्याप्ति होती है। यथा मण्डूक को ही लिया जाये। आजकल मण्डूकमांस के निर्यात के नाम पर मण्डूकों की अन्धाधुन्ध हिंसा के कारण की व्याप्ति बढ़ रही है। यदि मण्डूकों की हिंसा न की जाती तो मण्डूक मच्छरों मच्छरों के लावा को खाकर मच्छरों की उत्पत्ति को ही रोक सकते थे।

इस प्रकार पर्यावरण का सन्तुलन बनाये रखने के लिये अहिंसा का पालन करना एवं पर्यावरणप्रदूषण को रोकने के लिये यज्ञ यागादि करना ये दो मार्ग वेद निर्दिष्ट हैं।

✦✦✦

अग्नेर्होत्रेण प्रणुदे सपत्नान्। –अथर्व. 9.2.6
अग्निहोत्र से मैं रोगादि शत्रुओं को दूर करता हूँ।

समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति। –अथर्व. 12.2.11
प्रज्वलित यज्ञाग्नि अपनी पावकता से पर्यावरण को पवित्र करती है।

एष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा। –अथर्व. 14.2.24
यह अग्निदेव सब रोग-राक्षसों को मार देता है।

अद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि। –अथर्व. 18.3.42
हे अग्निदेव! तू पवित्र हवियों का भक्षण कर।

वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम्। –अथर्व. 19.55.3
हम तुझे प्रज्वलित करके अपने शरीरों को पुष्ट करते रहें।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (189-197) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में प्रतिपादित समाजः एक समीक्षा

- डॉ० भारतेन्दु द्विवेदी
विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
का.न.रा. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर (भदोही)

वेद मानव-मात्र के सर्वस्व, प्रकाश-स्तम्भ और शक्ति के स्रोत हैं। वेद मानव जीवन के मार्गदर्शक हैं। वेद वह ईश्वरीय ज्ञान है जो सृष्टि के प्रारंभ में मानव के कल्याण के लिए ऋषियों के माध्यम से प्रदान किया। वेदों में समाज को समुन्नत बनाने के लिए कर्तव्य कर्मों का सूत्ररूप में उल्लेख है। विश्व को संस्कृत का ज्ञान देने का श्रेय वेदों को है। वेद ही विश्वशान्ति, विश्वबन्धुत्व और विश्वकल्याण के प्रथम उद्घोषक हैं। वेदों से ही उदात्त आदर्शों का ज्ञान होता है। वेदों के अनुसार ही व्यक्ति को अपने कर्तव्यों को समझना चाहिए तथा अपने धर्म का पालन करना चाहिए।

व्यक्ति और समाज एक दूसरे के अंग हैं। व्यक्ति व्यष्टि है तो समाज समष्टि है। समाज का अभ्युदय व्यक्ति के अभ्युदय में निहित है। वेदों के प्रति निष्ठा चतुर्दिक् समुन्नति का मार्ग प्रशस्त करती है। आज व्यक्ति में स्वार्थ की भावना प्रबल होने के साथ ही किसी भी तरह धनार्जन ने उसे आधुनिक युग की एक मशीन बना दिया है। उसके अन्दर संवेदनाओं के ह्रास ने उसे परिवार और समाज से दूर कर दिया है। इस विकृति से समाज में विभिन्न प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं। परिवार और समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो रही है। व्यक्ति में मानसिक शान्ति नहीं है। विशेषरूप से पाश्चात्य देशों में यह समस्या प्रबल है। स्वच्छन्दता से विश्व में राष्ट्रों की एकता और शान्ति भी प्रभावित हो रही है। इन समस्याओं का समाधान वेदों में निहित है। वेदों की ज्योति विश्वबन्धुत्व, विश्वकल्याण और विश्वसमृद्धि की प्रेरक है।

सामाजिक जीवन के चार स्तम्भ माने गए हैं- आचार, धर्म, नैतिकता और व्यवहार। धर्म आध्यात्मिक शुद्धि का आधार है तथा मानवधर्म की शिक्षा देता है। नैतिकता नैतिक जीवन के विकास की शिक्षा देती है। व्यवहार में लोक जीवन के लिए अपनाने योग्य गुणों का समावेश है। वेदों में इनका विस्तृत विवेचन है। मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य का मार्गदर्शन है। वेद अंधकार से प्रकाश की ओर, अवनति से उन्नति की ओर तथा संकोच से विकास की ओर ले जाने का मार्गदर्शन करने में समर्थ है। समुन्नत समाज बनाने के लिए आवश्यक है कि वेदों में प्रतिपादित उन मार्गदर्शक सिद्धान्तों और मूल्यों को पुनः अपनाया जाए।

समाज की संरचना व्यक्तियों से होती है। व्यक्तियों से समाज का निर्माण होता है। समाज को समुन्नत बनाने, प्रगतिशील बनाने और उत्कर्ष की ओर ले जाने के सम्बन्ध में वेदों से पर्याप्त मार्गदर्शन प्राप्त होता है। समाज को संगठित बनाने के लिए व्यक्तियों में संगठन की भावना को जागृत करने का निर्देश वेदों में प्राप्त होता है। इस संबंध में ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त के चार मंत्र महत्त्वपूर्ण निर्देश देते हैं।

संसमिद् युवसे वृषन्नग्ने
विश्वान्यर्य आ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं,
सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे,
संजानाना उपासते॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी,
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥

समानी व आकूतिः,
समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो,
यथा वः सुसहासति॥

ऋग्० 10.191.1-4

अर्थात् हे सुखों के वर्षक अग्निरूप परमात्मन्! तुम संसार के स्वामी हो। तुम सारे जीवों को अच्छे ढंग से मिलाते हो। तुम यज्ञवेदी में हृदय में प्रदीप्त किए जाते हो। हे मनुष्यों! मिलकर चलो, मिलकर बोलो। तुम्हारे मन एक प्रकार का विचार करे। जिस प्रकार प्राचीन विद्वान् एकमत होकर अपना अपना भाग ग्रहण करते थे, उसी प्रकार तुम भी एकमत होकर अपना अपना भाग ग्रहण करो। इन सबकी मंत्रणा एक प्रकार की हो। समिति एक प्रकार की हो। इनका मन समान हो और चित्त भी समान हो। तुम्हें मंत्र देता हूँ और तुम्हें समान सामग्री से युक्त करता हूँ। तुम्हारे संकल्प समान हो। तुम्हारे हृदय समान हो। तुम्हारे मन समान हों जिससे तुम्हारा संगठन संगठित हो। अर्थात् अथर्ववेद में समाज की एकता के लिए आवश्यक 3 तत्त्वों का वर्णन है- समान विचार, समान कर्म और समान लक्ष्य।

सं वो मनांसि सं व्रता
समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन,
तान् वः सं नमयामसि॥

अथर्व० 3.8.5; 6.94.1

हम तुम्हारे मन को तुम्हारे कर्मों को और तुम्हारे विचारों को एक प्रकार के भाव वाला बनाते हैं। जो विपरीत कर्मों वाले व्यक्ति हैं, उनको एक प्रकार के कर्म वाला बनाते हैं।

समाज को संगठित रखने के लिए आवश्यक है कि समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव न हो। समाज में भ्रातृभाव हो जिससे समाज संगठित होकर उन्नति कर सके।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते,
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।

ऋ० 5.60.5

अर्थात् ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा के भाव से रहित प्राणवायु (मरुत्) भाई के तुल्य रहते हुए सौभाग्य के लिए अग्रसर हों।

ऋग्वेद में कहा गया है कि समाज में

सभी बराबर हैं। समाज में सभी का महत्व है। अतः भेदभाव नहीं होना चाहिए। समाज में सभी को समान सम्मान प्राप्त होना चाहिए।

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो,
नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः।

यजाम देवान् यदि शक्नवाम मा
ज्यायसः शंसमा वृक्षि देवाः॥

ऋग्० 1.27.13

अर्थात् बड़ों को नमस्कार, छोटों को नमस्कार, युवकों को नमस्कार और वृद्धों को नमस्कार। अपने सामर्थ्य के अनुसार देवों के लिए यज्ञ करेंगे। हे देवो! हम बड़ों की स्तुति का क्रम न तोड़ें।

अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि समाज में व्यक्तियों के मध्य परस्पर सहयोग और सम्वेदना होनी आवश्यक है। जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है, उसी प्रकार परस्पर प्रेम होना चाहिए। यह मंत्र शासक वर्ग के लिए भी निर्देश करता है कि वह प्रजा के साथ वात्सल्य प्रेम का व्यवहार करे।

सहृदयं सांमनस्यम्
अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत,
वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ अ० 3.30.1

अर्थात् हे मनुष्यों! मैं सहृदयता, सांमनस्य और द्वेषहीनता तुम्हारे लिए उत्पन्न करता हूँ। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से प्रेम करती है, उसी प्रकार तुम सब प्रेम व्यवहार रखो।

परस्पर सहयोग से ही संगठन सुदृढ़ होता है। अतः ऋग्वेद में कहा गया है कि मनुष्यों को सदा अपने सहयोगी की रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए।

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः॥

ऋग्० 6.75.14

उन्नत समाज के लिए आवश्यक है कि समाज में कोई भूखा प्यासा न रहे। सभी निर्भय होकर रहें।

सूनृतावन्तः सुभगा
इरावन्तो हसामुदाः।
अतृष्या अक्षुध्या स्त
गृहा मास्मद् बिभीतन॥

अथर्व० 7.60.6

अर्थात् प्रिय सत्य वचन वाले, बड़े ऐश्वर्य वाले, उत्तम भोजनवाले हंस हंसकर प्रसन्न करने वाले हे गृह के लोगों तुम प्यासे भूखे मत रहो । हमसे भय मत करो।

अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि समाज में कोई भूखा-प्यासा न रहे। यह राज्य और समाज का उत्तरदायित्व है।

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो,
मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे,
मा क्षुधन्मा तृषत्॥ अथर्व० 2.29.4

अर्थात् इस मानव को इन्द्र (परमात्मा) ने दिया है, वरुण (जल) ने संस्तुत किया है और मरुतों (प्राण-वायुओं) ने भेजा है। तेजस्वी यह जीव हमारे पास आया है, हे द्युलोक और पृथिवी! यह जीव तुम दोनों की गोद में न भूखा रहे और न प्यासा रहे।

कोई भी समाज भेदभाव की भावना से उन्नति नहीं कर सकता। अतः अथर्ववेद में स्पष्ट दिशा निर्देश है कि पृथिवी पर विभिन्न

भाषा-भाषी और विभिन्न धर्मों के लोग निवास करते हैं। पृथिवी पर रहने वाले पृथिवी के एक परिवार के समान हैं। अतः भाषा या धर्म का भेदभाव नहीं होना चाहिए।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

अथर्व० 12.1.45

अर्थात् अनेक प्रकार से विभिन्न भाषा बोलने वाले और विविध धर्मों को मानने वाले लोगों को एक परिवार के तुल्य धारण करने वाली पृथिवी, निश्चल एवं न बिदकने वाली गाय की तरह, मुझे ऐश्वर्य की सहस्रों धाराएं प्रदान करे।

समाज को संगठित कर उन्नति और विकास की ओर अग्रसर करने के लिए आवश्यक है कि एक तेजस्वी नेता का चयन कर उसके नेतृत्व में कार्य करें।

एहयातु वरुणः सोमो
अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व
उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः॥

अथर्व० 6.73.1

अर्थात् सूर्य समान प्रतापी और चन्द्रमा के समान शान्त स्वभाव पुरुष यहाँ पर आवे और अग्निसमान तेजस्वी वेदवाणी के रक्षक पुरुष उत्तम गुण और धन के साथ यहाँ आवें। हे समान जन्मवाले बान्धवों! तुम सब एकमन होकर इस तेजस्वी ज्ञानवान् पुरुष की सम्पदा को प्राप्त करो।

अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि समाज का एक नेता होना चाहिए जिसके नियंत्रण में समाज के व्यक्ति रहें। यह नेता अपने गुणों से व्यक्तियों को आकृष्ट कर सके तथा समाज की समस्याओं का हल करने में सक्षम हो।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि,
मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि,
मम यातमनुवर्त्मान एत॥

अथर्व० 3.8.6

अर्थात् मैं अपने मन से तुम्हारे मन को ग्रहण करता हूँ। अनुकूल बनाता हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल अपने चित्त को बनाकर मेरा अनुसरण करो। मैं तुम्हारे हृदयों को अपने वश में करता हूँ। मेरे व्यवहार का अनुसरण करते हुए तुम मेरे साथ आवो।

ऋग्वेद के एक मंत्र में कामना की गई है कि समाज के सभी व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट और निरोग हों। मनुष्य के साथ ही पशु भी निरोग और स्वस्थ हों।

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने,
क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे,
विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥

ऋग० 1.114.1

मा वो रिषत् खनिता,
यस्मै चाहं खनामि वः।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं,
सर्वमस्त्वनातुरम्॥ ऋग० 10.97.20

अर्थात् हम बलवान्, जटाधारी, वीरों के शासक, रुद्र के लिए ये स्तुतियाँ अर्पित करते हैं। जिससे हमारे मनुष्यों और पशुओं के लिए सुख हो। इस ग्राम में सभी हृष्ट-पुष्ट और नीरोग हों।

हे ओषधियों! तुम्हारी जड़ निकालने वाला नष्ट न हो और जिसके लिए मैं तुम्हें खोदता हूँ, वह रोगी भी नष्ट न हो। हमारे सभी मनुष्य और पशु नीरोग हों।

समाज सेवा की अनिवार्य आवश्यकता का वर्णन करते हुए अथर्ववेद में कहा गया है कि समाजसेवी समाज की रक्षा करते हैं और समाज के लिए अपना जीवन अर्पित करते हैं। समाजसेवी सर्वदा सम्माननीय और पूज्य हैं।

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः
पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे,
ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥

अथर्व० 18.3.25

अर्थात् मरुत् देवों से युक्त इन्द्र पूर्व दिशा से होने वाले संकटों से हमारी रक्षा करे, जैसे सूर्य से निकली हुई पृथिवी ऊपर विद्यमान द्युलोक की रक्षा करती है। समाज को बनाने वाले एवं मार्ग-प्रवर्तकों की हम पूजा करते हैं, जो इस संसार में देवों के हव्य-अंश के अधिकारी हैं, अर्थात् जो देवों के तुल्य पूज्य हैं।

समाज को समुन्नत बनाने के लिए आवश्यक है कि समाज में शिक्षा का प्रसार हो। ऋग्वेद में अशिक्षितों को शिक्षा और ज्ञान प्रदान करना शिक्षितों के लिए आवश्यक कर्तव्य कहा गया है।

केतुं कृण्वन्नकेतवे, पेशो मर्या अपेशसे।
समुषद्भिरजायथाः॥ ऋग्० 1.6.3

समाज कल्याण की भावना को उद्बुद्ध करने के लिए यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है कि जिस सद्बुद्धि की प्राप्ति से विश्व और समाज का कल्याण हो तथा सभी व्यक्तियों के सुख में वृद्धि हो ऐसी सुमति प्राप्त हो।

ताᳬसवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाऽहं
वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।

यजु० 17.74

अर्थात् श्रेष्ठ ईश्वर की विचित्र गुणयुक्त लोककल्याणकारी उस बुद्धि को मैं अपनाता हूँ।

ऋग्वेद के एक मंत्र में सुमति की प्रार्थना करते हुए सर्वलोकहितकारी और निर्दोष सुमति की कामना की गई है।

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्याम्
अप्रयुतोमेवयावो मतिं दाः।
पर्चो यथा नः सुवितस्य
भूरेरश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः॥

ऋग्० 7.100.2

अर्थात् हे सर्वव्यापक परमात्मन्! तुम हमें विश्वहितकारी सुमति दो। हे कामनाओं के पूरक! तुम हमें निर्दोष बुद्धि दो। जिससे सुखद, प्रचुर अश्वादि से युक्त, धन का हमसे सम्पर्क हो।

अथर्ववेद के एक मंत्र में पृथिवी माता से प्रार्थना की गयी है कि समाज के सभी व्यक्ति सुखी और समृद्ध हों। कोई भी पृथिवी का पुत्र निर्धन और असहाय न हो।

भूमे मातर्नि धेहि मा,
भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे,
श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥

अथर्व० 12.1.63

अर्थात् हे मातृभूमि! तुम मुझे शुभ लक्ष्मी से सुप्रतिष्ठित करो। हे क्रान्तदर्शी पृथिवी तुम

द्युलोक से सम्बद्ध रहती हुई मुझे श्री और वैभव से युक्त करो।

यजुर्वेद के एक मंत्र में शासक वर्ग के लिए दिशा निर्देश है कि वे धर्मयुक्त पुरुषार्थ से कार्य करें जिससे दुष्टों से प्रजा की रक्षा हो। सबको अरोग्य प्राप्त हो तथा सब स्वतंत्रता के साथ उन्नति करते हुए सुखी रहें।

परि नो रुदस्य हेतिर्वृणक्तु
परि त्वेषस्य दुर्मतिरधायोः।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व
मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड॥

यजु० 16.50

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में पृथिवी के धारक तत्वों का विवेचन किया गया है। इसमें कहा गया है कि पृथिवी छः तत्त्वों पर रुकी हुई है। जब इन तत्त्वों में विकार उत्पन्न होते हैं तो पृथिवी पर अनर्थ होता है। ये तत्त्व सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए अनिवार्य है। ये तत्त्व हैं- सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ। ये तत्त्व पृथिवी के धारक तत्त्व हैं। ये मनुष्य मात्र के लिए ही नहीं अपितु पृथिवी पर निवास करने वाले समस्त प्राणियों के लिए आवश्यक हैं। सत्य से अभिप्राय है कि समाज या राष्ट्र में सत्य का अनुपालन। ऋत से अभिप्राय है कि प्राकृतिक नियमों को समझना तथा प्राकृतिक नियमों का पालन करना। दीक्षा से अभिप्राय है कि किसी व्रत को लेकर उस पर अडिग रहना और अनुशासनपूर्वक उसका पालन करना। तप से अभिप्राय है नियमित संयमित जीवन व्यतीत करना। ब्रह्म से अभिप्राय ज्ञान और आस्तिकता है। ज्ञान और आस्तिकता मनुष्य को मनुष्यत्व की शिक्षा देता है। यज्ञ से अभिप्राय है यह सृष्टि यज्ञरूप है। यह सृष्टि-चक्र का नियामक तत्त्व है। उपरोक्त छः तत्त्व समाज के सभी वर्गों द्वारा अपनाए जाने से समाज में सौहार्द स्थापित होगा तथा समाज उन्नति करेगा।

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो,
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी,
उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

अथर्व० 12.1.1

परिवार समाज की इकाई है। यदि व्यक्ति या व्यष्टि सुखी सम्पन्न है तो समाज या समष्टि भी सुखी सम्पन्न होगा। वेदों में एक आदर्श परिवार की परिकल्पना की गई है। माता-पिता के लिए ऋग्वेद में उपदेश है कि वे संतान का अमृत तुल्य संरक्षण करें जिससे सन्तान योग्यतम बन सके।

सुरेतसा पितरा भूम चक्रतुरुरु
प्रजाया अमृतं वरीमभिः।

ऋग० 1.159.2

ऋग्वेद में माता-पिता के लिए निर्देश है कि माता-पिता सन्तान से मधुर व्यवहार करें और उनका हित चिन्तन करें।

भवा नो अग्ने सुमना उपेतौ
सखेव सख्ये पितरेव साधुः।

ऋ० 3.18.1

ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में माता-पिता के लिए निर्देश है कि माता-पिता अपनी सम्पत्ति का यथायोग्य विभाजन पुत्रों में कर दें।

प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते,
रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्त मायते।

असिन्वन् दंष्ट्रैः पितुरत्ति भोजनं,
यस्ताकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः॥

ऋग्० 2.13.4

अर्थात् हे परमात्मन्! अपनी सन्तानों को यथायोग्य धन का विभाजन करने वाले गृहस्थ सुखपूर्वक अपने घरों में रहते हैं, जैसे अतिथि को पोषक और धारक धन देकर प्रसन्न रहते हैं। अपने आपको पारिपारिक सम्पत्ति में बद्ध न रखने वाला व्यक्ति पितृरूप द्युलोक से प्राप्त भोजन को दांतों से खाता है। जिसने सर्वप्रथम ये नियम बनाए हैं, वह इन्द्र स्तुत्य है।

पिता के कर्तव्यों का निर्देश है कि वह पुत्र को अच्छी शिक्षा दे और दुर्गुणों से बचावे।

प्र व एको मिमय भूर्यागो
यन्मा पितेव कितवं शशास।

ऋग्० 2.29.5

यजुर्वेद के एक मंत्र में प्रार्थना की गई है कि परमात्मा की कृपा से योग्य और वीर सन्तान प्राप्त हो तथा ऐश्वर्य मिले। वह परमात्मा सन्तान, पशु और अन्न की रक्षा करे।

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः
स्याथ्ंसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शथ्ंस्य पशून्
मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि॥

यजु० 3.37

अर्थात् हे सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मन्! मैं सन्तानों से सु-सन्तान वाला, वीर-पुत्रों से वीर-पुत्र वाला और ऐश्वर्य से ऐश्वर्य-संपन्न होऊँ। हे मानव के हितकारी! तुम मेरी संतानों की रक्षा करो। हे प्रशंसनीय! तुम मेरे पशुओं की रक्षा करो। हे सतत गतिशील! तुम मेरे अन्नादि की रक्षा करो।

परिवार में सौमनस्यता होगी तभी समाज में भी सौमनस्यता की परिकल्पना की जा सकती है। अथर्ववेद के एक मंत्र में उपदेश दिया गया है कि भाई बहन में परस्पर द्वेष या कलह न हो। सबके मन और विचार समान हों।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्-
मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा,
वाचं वदत भद्रया॥ अथर्व० 3.30.3

अर्थात् भाई-भाई से द्वेष न करे और बहिन बहिन से द्वेष न करे। एक विचार वाले और एक प्रकार से काम करने वाले होकर शिष्टतापूर्वक वार्तालाप करें।

परिवार में योगक्षेम हो तथा सदा कल्याण हो यह कामना अग्नि की स्तुति करते हुए की गई है।

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते,
सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

ऋग्० 7.54.3

अर्थात् हे गृहपति यज्ञिय अग्नि! हम तुम्हारी शक्तिशाली, मनोरम और प्रगतिशील संगति से युक्त हों। तुम हमारी योग और क्षेम में रक्षा करो तुम सब हमें सदा कल्याण प्रदान करके सुरक्षित रखो।

वेदों में जहाँ एक ओर माता-पिता के लिए सन्तान के प्रति कर्तव्यों का निर्देश है वहीं पुत्रों के लिए माता-पिता के संरक्षण का भी उपदेश है। वर्तमान युग में वृद्ध माता-पिता

उपेक्षित हैं। उनके प्रति पुत्र-पुत्रियों में सम्मान की भावना में ह्रास हुआ है। पाश्चात्य देशों में यह समस्या और भी प्रबल है। ऐसी स्थिति में वेद के सन्देश कण्ठस्थ करने और अपने जीवन में अपनाने योग्य हैं। अथर्ववेद के मंत्र में पुत्र के लिए उपदेश है कि वह पिता के अनुकूल कर्म करने वाला हो और माता के साथ समान मनवाला हो। पत्नी पति से मधुर और सुखदवाणी बोले।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो
मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं
वदतु शन्तिवाम्।। अ० 3.30.2

माता-पिता के पुत्र और उसकी पत्नी के मध्य मधुर सामंजस्य स्थापित करने का मार्गदर्शक यह मंत्र है।

अथर्ववेद के एक मंत्र में वधू के लिए निर्देश है कि वह वृद्ध सास-श्वसुर को सुख दे।

सुमंगली प्रतरणी गृहाणां
सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान्।।
अथर्व० 14.2.26

वधू मान्यजनों का अभिवादन प्रतिदिन करे। यह निर्देश अथर्ववेद के एक मंत्र में दिया गया है।

अधा सरस्वत्यै नारि
पितृभ्यश्च नमस्कुरु।
अथर्व० 14.2.20

अर्थात्-वधू वाग्देवी और मान्य जनों को नमस्कार करे।

अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि हमारे माता और पिता का कल्याण हो। गायों, समस्त संसार और सभी पुरुषों का कल्याण हो। हमार लिए सभी ऐश्वर्य और उत्तम ज्ञान हों। हम चिरकाल तक सूर्य को देखें।

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु,
स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु,
ज्योगेव दृशेम सूर्यम्।।
अथर्व० 1.31.4

यह मंत्र माता-पिता के कल्याण के साथ ही विश्वकल्याण और विश्वबन्धुत्व के भाव का संदेश और उपदेश देता है।

उन्नत समाज तभी माना जाएगा जब समाज में नारी का गौरव और सम्मान हो। भौतिकता की भाग दौड़ में आज व्यक्ति नारी के महत्व को भूलकर उसे भी अन्य उपभोग की वस्तु के समान समझने लगा है। उपभोग किया और त्याग दिया। पाश्चात्य देशों की यह समस्या भारत में भी अपने पांव पसार रही है। विवाह जैसे पवित्र संस्कार और बंधन की मूलभावना का अभाव हो रहा है। नारी के सम्मान और रक्षा के भाव से व्यक्ति दूर होता जा रहा है। वेदों में नारी को उचित सम्मान अति आवश्यक बताया गया है। पुरुष और स्त्री को जीवन रूपी रथ के दो पहिए माना गया है। जिसमें बिना दोनों के जीवनरूपी रथ का चलना संभव नहीं है। वेदों ने नारी को उच्च सम्मान का उपदेश देते हुए कहा है कि गृहणी ही घर है।

जायेदस्तं मघवन् त्सेदु योनिः।।
ऋग्वेद 3.53.4

ऋग्वेद में नारी का समाज में स्थान

अग्रगण्य है। इसका वर्णन शची के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है। मैं ज्ञान में अग्रगण्य हूँ। मैं स्त्रियों में मूर्धन्य हूँ। मैं उच्चकोटि की वक्ता हूँ। मुझ विजयिनी की इच्छा के अनुसार ही मेरा पति आचरण करे।

अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः,
सेहानाया उपाचरेत्॥ ऋ० 10.159.2

ऋग्वेद में नारी के शील की रक्षा को राष्ट्रीय उत्तरदायित्व बताया गया है। जहाँ नारी के चरित्र की पूर्ण सुरक्षा होती है, वही राष्ट्र सुरक्षित कहा जाता है।

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या,
ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा,
तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य॥
ऋग्० 10.109.3; अथर्व० 5.17.3

इसी प्रकार एक अन्य मंत्र में स्त्री के अपहरण को राष्ट्र के लिए कलंक बताया गया है। स्त्री अपहरण परलोक में भी अपहरणकर्ता को दुःख देता है–

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे,
सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता,
दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥
अथर्व० 5.17.6; ऋग्० 10.109.4

वेदों में नारी की रक्षा और सम्मान का दायित्व राष्ट्र का परम दायित्व माना गया है। ऐसे उच्चकोटि के आदर्शों से च्युत होने के कारण ही हमारे समक्ष यह समस्या उत्पन्न हुई।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेदों में एक उत्कृष्ट समुन्नत समाज की स्थापना के लिए वैदिक ऋषियों ने दिशा-निर्देश किया था। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था उन्नत थी। यदि आज भी इन मार्गदर्शक मूल्यों और सिद्धान्तों को अपनाया जाए तो एक कल्याणकारी समुन्नत आदर्श समाज की स्थापना सम्भव है।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (198-202) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

भारतीय वास्तुशिल्प व उसकी प्राचीनता

कीर्ति शर्मा

शोधच्छात्रा, ललित कला विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

''**शिल्प**'' मनुष्य की सृजनात्मक उपलब्धि है, जिसमें वह अपने अन्तस् में स्थित विचारों, आदर्शों और भावों के अनुरूप किसी माध्यम को आकार प्रदान करता है। जिसकी पुष्टि एतरेयब्राह्मण की इस उक्ति से भी होती है–

आत्मकृतिरेव शिल्पम्

शिल्पात्मक रचना एक प्रकार से मनुष्य की अपनी प्रतिकृति होती है। वास्तव में एक को अनेक रूप देना ही शिल्प है, अर्थात् विभिन्न कलाएं जो मुख्य रूप से हाथों से रूपांकित होती हैं ''हस्तशिल्प'' कही जाती है। स्ट्रेला क्रेमरीश के अनुसार–

''वह कोई भी दस्तकारी और कला जिसमें निपुणता, दक्षता, संस्कार, अथवा अनुष्ठानिक योग्यता का समावेश है, वह शिल्प है।''

कला को ही वैदिककाल में ''शिल्प'' की संज्ञा दी गयी है। शिल्प के उद्भव और विकास का संकेत ऐतरेयब्राह्मण में इस प्रकार किया गया है कि सर्वप्रथम देवों ने शिल्पकला का विकास किया था तदन्तर मनुष्य ने भी देवों का अनुकरण करते हुए इस कला को अपना लिया।[2] ऋग्वेद में शिल्पकारों के नाम उपलब्ध होते हैं, यथा– **कारु**[3], **तष्टा**[4], **त्वष्टा**[5], **तक्षा**[6], **भिषक्**[7], **कार्मार**[8], **कर्मार**[9] इत्यादि। सामवेद में शिल्प शब्द का उल्लेख नहीं मिलता।

शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनसंहिता[10] तथा अन्य समस्त परवर्ती वैदिक साहित्य में शिल्प शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। लौकिक संस्कृत साहित्य के महाकवि कुलगुरु कालिदास ने भी अपनी सुप्रसिद्ध रचना ''मेघदूत'' में ललितकलाओं का अत्यन्त मनोहर वर्णन किया है।[11] हलायुद्धकोश में शिल्प की व्युत्पत्ति की गयी है–

''शिल्प क्रियाकोशलमस्यास्तीति''[12]

शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि–

शिल्प संसार का प्रतिरूप ही होता है।[13]

वस्तुतः कला की बृहत् श्रेणियों (शास्त्रीयकला, लोककला, ललितकला तथा वास्तुशिल्प आदि) का विभाजन यूरोपीय कला की देन है। भारत में कला को सदैव से ''शिल्प'' शब्द से अभिहित किया गया है जिसमें मूर्तिशिल्प, चित्रशिल्प, वास्तुशिल्प, संगीत, बढईगिरी आदि के साथ-साथ पाक आदि सभी प्रकार के शिल्पों का समावेश था।[14] प्रारम्भ में इनका विभाजन मूल व अंतर

कला के रूप में हुआ जो कालान्तर में कारु व चारु कलाओं के रूप में जानी गयी। वस्तुतः सभी प्रकार के शिल्प व कलाओं की जन्मदात्री लोककला व परम्पराएं ही हैं। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार-

''कला किसी विचार या कल्पना को दृश्य रूप देती है। कला का यही रहस्य है कि उसमें लोक की सांस्कृतिक परम्परा की व्याख्या होती है।''[15]

शिल्पकला के अन्तर्गत मुख्यतः सभी प्रकार के कौशल का समावेश होता है। विभिन्न शिल्पों व उद्योग व्यवसायों में लगे परिवार वंशानुगत रूप से कार्य करते रहे। फलस्वरूप उनकी विशिष्ट जातियों का विस्तार भी होता गया यथा- कुम्हार, लोहार, बढई, सुनार आदि। इस बात की पुष्टि मनुस्मृति में भी होती है कि मनुष्य सदैव अपने कर्मों से जाना जाता है। कला के द्वारा देश के समाज दर्शन तथा विज्ञान में यथोचित छवि प्रतिबिम्बित हो जाती है। दर्शन यदि मन की क्रिया है तो विज्ञान शरीर की क्रिया है, जिसमें मन तथा शरीर दोनों की अनुभूति निहित होती है, वह कला है। इसलिए डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल भी कला का जन्म मनोरंजन से नहीं अपितु धर्म और दर्शन से ही मानते हैं।[16] मुख्यतः भारत के सभी शिल्प इस कथन को सत्यता प्रदान करते हैं।

वास्तुशिल्प व इसकी प्राचीनताः-

वास्तु शब्द की व्युत्पत्ति वस् धातु से हुई है। इस धातु का अर्थ किसी एक स्थान पर निवास करना है परंतु आचार्य चाणक्य ने अपने ग्रंथ अर्थशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग अत्यंत विस्तृत रूप में किया है। उनके मतानुसार गृह, क्षेत्र, वाटिका, बन्ध, सेतु प्रत्येक प्रकार की इमारत, तडाग तथा पुष्करिणी आदि सभी वास्तु हैं।[17] अतः वास्तु का अर्थ गृह आदि निर्माण कला है। तदनुसार वास्तुशास्त्र का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय मानव गृहों, देव मन्दिरों, बाँधों, सेतुओं एवं तडागों अर्थात् प्रत्येक प्रकार की भवन क्षेत्र वाटिका आदि की रचना के उपाय तथा साधनों की व्याख्या से लिया गया है। जिसके अवशेष रूप में विश्व की पाँच प्राचीन सभ्यताओं के स्वरूप आज भी जीवन्त हैं। जिसमें से एक सभ्यता के प्रमाण भारत में भी विभिन्न स्थानों से प्राप्त होते हैं। वास्तुशिल्प का उल्लेख भारत के प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है, क्योंकि यह शिल्प भारत के प्राचीन शिल्पों में से एक है। ऋग्वेद[18] में विभिन्न प्रकार की वास्तु कृतियों का उल्लेख मिलता है जैसे-पत्थर व अन्य कठोर वस्तुओं से रचे गये दुर्ग, लकड़ी के बने सुंदर प्रसाद, अलंकृत स्तम्भों से युक्त छत, असंख्य वातायनों से सुसज्जित राज प्रसाद आदि। यजुर्वेद में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है।[19] वास्तु रचना सम्बन्धी सर्वाधिक ज्ञान अथर्ववेद से प्राप्त होता है।[20] इसमें स्तम्भ रचना विधि उन पर आश्रित परस्पर प्रतिनिविष्ट शहतिरों से उनको संबंधित कर छत बनाने का उल्लेख है। भवनों की गोष्ठीशाला, भण्डारशाला, अन्तःपुर यज्ञशाला व अतिथिशाला जैसे भागों का वर्णन है। इस प्रकार से अथर्ववेद वह सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें वास्तुकला संबंधी रचना का उल्लेख प्राप्त होता है। शुक्रनीति[21] एवं कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र वास्तुशिल्प संबंधी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनके अनुसार 322 ई० पू० में चन्द्रगुप्त ने नंदवंश को पराजित किया था, जिसमें वहाँ

के वास्तु का उल्लेख मिलता है।[22]

वास्तुकला के संबंध में आवश्यक ज्ञान की सामग्री समग्र संस्कृत साहित्य में प्राप्त होती है क्योंकि साहित्य मानव जीवन व उनके मूल्यों का चित्रण करता है और वास्तु निर्माण मानव जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वस्तुतः वास्तुकृतियों के जिन विविध रूपों का उल्लेख भारतीय साहित्य व ग्रंन्थों में किया गया है, उनके भग्नावशेष आज भी वर्तमान में हैं। महाभारत में अनेक ऐसे प्रमाण प्राप्त हैं,[23] जिनसे नगरों की रूपरेखा व स्वरूप का स्पष्ट बोध हो जाता है। रामायण में भी अयोध्या नगरी का अत्यंत विशद् वर्णन है,[24] जिसमें उसके प्रसाद, दुर्ग रचना एवं सुरक्षा स्थानों, राजमार्गों, वीथिका, मनोरंजन तथा क्रीडा स्थलों आदि का उल्लेख किया गया है।

परवर्ती साहित्यों के निम्नलिखित अंशों में भारतीय वास्तु कृतियों का पर्याप्त रूप में स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है- महाकवि कालिदास के मेघदूत में विशाल अलका नगरी का वर्णन,[25] उत्तररामचरितम् नाटक में लोकोत्तर वास्तु रचनाकार विश्वकर्मा के पुत्र नल रचित भारत को लंका से जोड़ने वाले सेतु का वर्णन,[26] माघकृत शिशुपालवधम् में द्वारावती नगरी, युधिष्ठिर और कृष्ण के भव्य तथा विशाल राजप्रसाद और सभाभवनों का वर्णन,[27] बाणभट्ट रचित हर्षचरित में अनेक प्रकोष्ठों, पुष्पों, क्यारियों एवं फल वृक्षों से युक्त अनेक प्रसादों, प्रवेश भवनों, अट्टालिकाओं तथा पशिकशालाओं का वर्णन,[28] कादम्बरी में दर्शक भवन, तपस्वीकुटीर, सुतिकागृहों तथा प्रसादों का रोचक वर्णन[29] आदि। यह साहित्य भारतवर्ष के प्राचीन वैभव व गौरव को प्रकट करता है। भारतीय पौराणिक ग्रन्थों जैसे- मत्स्यपुराण, गरुडपुराण व अग्निपुराण में वास्तुशिल्प संबंधी अनेक उल्लेख मिलते हैं। अतः वास्तुशिल्प प्राचीनतम शिल्पों में से एक है, जिसके उत्तम उदाहरण वर्तमान में भी मन्दिरों, देवालयों, महलों व स्तूपों के रूप में देखे जा सकते हैं।

भारत के मन्दिर वास्तुशिल्प सम्बन्धी प्राचीन गौरव व रचना की निपुणता को प्रदर्शित करते हैं। इन देवालयों के स्थापत्य में निराकार ब्रह्म को साकार रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। भारत में मन्दिरों का प्रारूप बौद्ध स्तूपों व चैत्यों से मिलता है। गुप्तकाल में इन्हीं से प्रभावित होकर हिन्दू मन्दिरों का विकास हुआ। मानव ने अपनी धार्मिक आस्थाओं को अभिव्यक्त करने के लिए जिन प्रतीक चिह्नों का निर्माण किया, उनसे मूर्ति पूजा प्रारम्भ हुई। ईश्वर के विविध रूपों की कल्पना की गयी। यदि सरल शब्दों में कहा जाए तो ''देवी-देवताओं के मूर्त रूपों की पूजा हेतु स्थापना के लिए जो सुन्दर भवन निर्मित हुए, वह भवन ''मन्दिर'' कहलाए''।[30] हिन्दू मन्दिरों की संकल्पना भवन के रूप में न होकर वास्तु-पुरुष के रूप में की गयी है।[31] प्रचीन भारत में मन्दिर वास्तु निर्माण की तीन शैलियाँ थीं-

1. नागर शैली (उत्तरी भारत)
2. द्राविड शैली (दक्षिणी भारत)
3. बेसर शैली (मिश्रित रूप)[32]

The temples of northern India generally belong to the category called '*Nagara*', These of south India are called '*Dravida*'. Those belong to the middle re-

gion and of mixed types (Nagara and dravida) are called *Besara.*[33]

इन मन्दिरों के प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान में भी द्रष्टव्य हैं।

वेदों में सहस्त्र द्वार और सहस्त्र स्तम्भों वाले भवनों का उल्लेख मिलता है, जिससे प्रतीत होता है कि वैदिक कालीन समाज के लोग उच्चकोटि के वास्तुशिल्पी रहे होंगे। वैदिक काल में मकान के लिए सइन व दमन दो शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। इस समय मकान प्रायः कच्ची ईंटों तथा लकड़ी के बनाए जाते थे। यजुर्वेद में 10,800 ईंटों से चिडिया के आकार की वेदी बनाने का उल्लेख मिलता है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि वैदिककालीन वास्तुशिल्प का बहुत विकास हो चुका था।

अतः निष्कर्ष रूप से यदि कहा जाए तो वास्तुशिल्प भारत के प्राचीनतम शिल्पों में से एक है। जो वैदिक काल से लेकर वर्तमान में भी अपनी शैली व तकनीकी अलंकरणों से समस्त विश्व को आश्चर्य चकित किए है। यहाँ के मन्दिर, दुर्ग, महल, प्रसाद, भवन आदि की शैली वर्तमान में भी शोध का विषय बनी हुई है।

सन्दर्भ-सूची

1. स्ट्रेला क्रेमरीश, ट्रेडीशन ऑफ इण्डियन क्राफ्ट्समेन, पृ० सं०-59-60
2. ''देवशिल्पान्येतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पाधिगम्यते'' ऐ० ब्रा०- 6/27
3. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। ऋ०वे०-9/112/3
4. रथं न तष्टेव तत्सिनाय। ऋ०वे०-1/61/4
5. त्वष्टा रूपेव तक्ष्या। ऋ० वे०-8/102/8
6. ऋ० वे०- 9/112/1
7. ऋ० वे०-9/112/3
8. कार्मारो अश्मभिर्द्युभिः, ऋ० वे०-9/112/2
9. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्- ऋ० वेऋ-10/72/2
10. माध्यन्दिन संहिता- 24/5, 29/59, 4/9
11. (क) मेघदूत उत्तरमेघ, श्लो० 5, 10, 20, 28, 30, 38, 45 इत्यादि।
    (ख) मेघदूत पूर्वमेघ, श्लो० 1, 7, 36, 67 इत्यादि।
12. जोशी, जयशंकर. हलायुधकोश, पृ० सं०-622
13. यो ह प्रतिरूपं तच्छिल्पम्। श० ब्रा०-3/2/1/5
14. Jain Jyotindra, Craft Art of India, page-303
15. श्रोत्रिय, शंकरदेव. कला बोध एवं सौन्दर्य, पृ. सं०- 12
16. शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ. समरांगण सूत्रधार, प्रथम भाग हिन्दी अनुवाद, पृ० सं०-22
17. अर्थशास्त्र, अध्याय-61
18. यजुर्वेद 23/18
19. ऋग्वेद- 2/12/4, 1/179/6, 10/22/8, 10/90/12, 2/20/8, 2/20/8, 4/30/20,
20. अथर्ववेद-3/12, 6/106/1-2, 9/3/8, 6/106/1, 6/106/2, 7/83/1
21. शुक्रनीति-4/4/38
22. चाणक्य के युग में वास्तु शिल्प अत्यंत प्रसिद्ध था। वास्तु के कुशल शिल्पकारों का उल्लेख उन्होंने अपने ग्रन्थ के 21वें अध्याय में किया है। उन्होंने बताया कि एक गाँव में कितने भवनों की रचना होनी चाहिए व एक गाँव कितनी दूरी पर हो, विभिन्न प्रकार के आकार व नगर सुरक्षा हेतु बनाए सीमा दुर्ग, राज्यमार्ग, नालियाँ, नहरें आदि का वर्णन इनमें मिलता है।
23. महाभारत शल्य पर्व-39/36-37, आदिपर्व-

अध्याय-199/76
24. रामायण बालकाण्ड-5/30
25. मेघदूत, उत्तरमेघ
26. उत्तररामचरितम प्रथम अंक (चित्रविधि)
27. शिशुपालवधम् प्रथमसर्ग
28. हर्षचरित चतुर्थ, पंचमोच्छवास
29. कादम्बरी महाश्वेतावर्णनम्
30. प्रताप, रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, पृ०-115
31. Gupta, S.P, Asthana shashi prabha. The Element of Indian Art, pg-16
32. गुप्त, परमेश्वरीलाल. भारतीय वास्तुकला, पृ०-96-127
33. Gupta, S.P., Shashi Prabha Asthana, Elements of Indian Art, pg-13

✦✦✦

त्वमगदश्चर। -अथर्व. 4.17.8
तू नीरोग होकर विचर।

बद्धान्मुञ्चासि बद्धकम्। -अथर्व. 6.121.4
बद्ध को बन्धन से मुक्त कर।

मा गतानामादीधीथाः। -अथर्व. 8.1.8
जो चले गये हैं उनके लिए शोक मत कर।

मा विदीध्यः। -अथर्व. 8.1.9
व्यर्थ की चिन्ता मत कर।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (203-207) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेद एवं संगीत

डॉ० निधि शर्मा
असिसटेन्ट प्रोफेसर, संगीत विभाग
एच.एन.बी. गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर

भारतीय परम्परा में वेदों को सभी प्रकार के ज्ञान का मूल माना जाता है।[1] वैदिक चिन्तन का विस्तार परवर्ती ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदाङ्ग साहित्य में हुआ है। इस समस्त साहित्य का तात्त्विक चिन्तन परमानन्द को प्राप्त कराता है। भौतिक जगत् का समस्त मानवीय व्यवहार इसी उद्देश्य के चारों ओर घूम रहा है। जब मानव आवश्यकता के अनुरूप कल्पनाओं के रथ पर आरूढ़ होकर पुरुषार्थ करता है, तब यह भौतिक जगत् सत्य, शिव व सुंदर हो जाता है। वेद आर्य जाति के मूल ग्रंथ हैं, जिसमें विश्व का समस्त ज्ञान भण्डार भरा है। भारतीय संगीत का उद्गम भी वेदों से हुआ है। वेदों के अंतर्गत मंत्र भेद के कारण ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद का पृथक् संहिता के रूप में निर्माण हुआ है। सामवेद को संगीत का वेद कहा गया है। इसी कारण साम का अर्थ गीत हो गया– ''**गीतिषु सामाख्या**''।[2] वैसे तो सामवेद पूर्णतः संगीतमय है परंतु विश्व के सर्वप्रथम ग्रंथ ऋग्वेद में भी संगीत के पुष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का पर्याप्त प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक परिवार में संगीत का उच्च स्थान था तथा इसका आयोजन गृहलक्ष्मी करती थी। गीत के लिए गीर, गातु, गाथा, गायत्र, गीति व साम शब्दों का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद की रचनाएं स्वरावलियों में बद्ध होने के कारण 'स्तोत्र' कहलाती थीं। गीत प्रबन्धों को गाथा कहा जाता था, जो एक विशिष्ट व परंपरागत गीत का प्रकार है और इन गाथाओं का गायन धार्मिक तथा लौकिक समारोह पर किया जाता था, इनको गायत्रिन्, कहा जाता था। गाथा के लिए साम नाम भी आता है, इन सामों का गायन कुछ विशिष्ट छन्दों के साथ किया जाता था। वैदिक आर्यों की यह मान्यता थी कि यह गान मृत व्यक्तियों को यम धाम तक सुलभता से पहुँचा सकता है। इस वेद की ऋचाएँ स्वरलिपि में निबद्ध होने के कारण स्तोम गुणगान कही जाती थी जो तीन ऋचाओं के समूह पर आधारित होती हैं। आधुनिक समय में जिस प्रकार विविधता के लिए गीत की पंक्ति व दोहों का ज्ञान अनेक बार विविध स्वरों के स्थान पर किया जाता है उसी प्रकार का गीत वैदिक काल में स्तोम नाम से प्रसिद्ध था। वेदों में सामवेद को संगीत का वेद माना गया है तथा संगीतकला के विकास की दृष्टि से सामवेद का विशिष्ट स्थान है। केवल यही एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें भारतीय संगीत के

आदि स्वरूप को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है, गन्धर्ववेद को सामवेद का ही उपवेद माना जाता है। संगीत का मूलस्रोत सामवेद है। सामवेद एक ऐसा वेद है, जिसमें मंत्रों में याज्ञिक देवताओं की स्तुति की गई है, ऋचाओं के संगीतमय पारायण से सामवेद, ऋग्वेद की ऋचाओं का गेय रूप में परिवर्तित संग्रह है। ऋग्वेद की ऋचाओं का शास्त्रीय एवं परंपरा अनुसार गायन हेतु उनको सामवेद नामक ग्रंथ में एक स्थान पर संकलित किया गया। सामवेद के दो भाग हैं- आर्चिक एवं गान। आर्चिक में ऋग्वेद की केवल ऋचाओं का संग्रह है आर्चिक के दो भाग हैं पूर्वार्चिक व उत्तरार्चिक। सामवेद का दूसरा भाग गान ग्रन्थ है। ऋषियों ने ऋग्वेद के आधार पर पहले गान बजाए फिर उन गानों का संग्रह करके अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन गान ग्रन्थों में सामवेद का स्वरमय रूप विद्यमान है। इन ग्रंथों के लिए ग्रामगेय गान, आरण्यक गान, ऊहगान एवं ऊह्यगान की संज्ञा प्राप्त है। सामवेद की 13 शाखाएं मानी गयी हैं। जिनमें से मात्र तीन ही शाखाएँ उपलब्ध हैं। सर्वप्रथम सामगान के लिए तीन ही स्वर उदात्त, अनुदात्त व स्वरित प्रयोग होते थे परंतु आगे चलकर एक-एक अन्य स्वरों की स्थापना होती गयी और वैदिक काल में ही सामगान सातों स्वरों में होने लगा। यज्ञों में सामवेद के मंत्रों के गान के लिए उद्गाता नामक ऋत्विक् की नियुक्ति की जाती थी। यह वीणा नामक वाद्य यंत्र के साथ सामगान करता था। वीणा के साथ मृदंग आदि वाद्य बजाए जाते थे। वैदिककाल में ही षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नामक स्वरों का विकास हो गया था।[3] जिसका उपयोग सामगानों में किया जाता था। इस विषय में पं० रघुनन्दन शर्मा का कथन है कि **''इन सात स्वरों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से तीन ग्रामों के साथ श्रुति, मूर्च्छना और तानों को सामन मंत्रों के द्वारा प्रकट किया जाता है, जिससे अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। संगीत के आदि प्रचारक वैदिक याज्ञिक ही हैं। उनके निकले हुए सात स्वरों के अतिरिक्त आज तक किसी ने आठवां स्वर नहीं ढूँढा है। वीणा से उत्तम वाद्य पृथ्वी मण्डल में कोई नहीं बना पाया। वीणा का वर्णन वेदों में है, जिससे ज्ञात होता है कि संगीत के मूल सात स्वरों के आदि प्रचारक याज्ञिक ही हैं।**[4]

उपर्युक्त सात स्वरों को ही सा, रे, गा, मा, पा, धा और नि के रूप में संगीत शास्त्र में जाना जाता है। इन सात स्वरों के विषय में 'वेबर' के विचार को पं० रघुनन्दन शर्मा ने अपनी पुस्तक 'वैदिक सम्पत्ति' में इस प्रकार उद्धृत किया है-

The Hindu scale Sa, Re, Ga, Ma, Pa, Dha, Ni has been borrowed also by the Persians, where we find it in the form Do, Re, Me, Fa, So, La, Ci. Ti come to the west and also introduced by Guido of Arezzo in Europe in the from Do, Re, Mi, Fa, So, La, Ci.

I have moreover, hazarded the Conjecture that even the gamma of Guido (French Gramma English Grammut) goes back on the Sanskrit gramma and Prakrita gamma and it thus a direct testimony of the Indian origion of the European scale of

seven notes.

अर्थात् हिन्दुओं के सात स्वर सा, रे, गा, का, पा, धा, नि, का अनुसरण ईरानियों ने किया और दो, रे, मि, फा, सो, ला, सि के रूप में परिवर्तित भी किया। फारस वालों से लेकर 'गिडो' नामक अंग्रेज ने इसको दो, रे, मि, फा, सोला, लो, टी कर दिया। इस प्रकार फ्राँसिसयों का 'ग्राम' और अंग्रेजों का गेमट शब्द भी संस्कृत के ग्राम और प्राकृत के 'गम' का ही रूपान्तर है।[5]

वैदिककाल में साम के अतिरिक्त गाथा, नाराशंसी और रैभी के गायन का उल्लेख मिलता है। लोक प्रसिद्ध आख्यानों का छन्दोबद्ध पद्यों में गायन की विद्या गाथा कहलाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार की छन्दोबद्ध अनेक गाथाएं हैं, जिसको अवसर विशेष पर गाकर सुनाया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार दैवी रचना को ऋचा और मनुष्य की रचना को गाथा कहा जाता है।[6] इसी प्रसंग में 'शतगाथा' नाम से शुन:शेप आख्यान का उल्लेख है। गाथा गाने वाले को गाथिन् अथवा गाथी कहा जाता है।[7] सायण के अनुसार चारों दिशाओं में गायी जाने वाली यज्ञविषयक गीति गाथा है।[8] गाथा का उपभेद **नाराशंसी** होता है। तैत्तिरीयब्राह्मण के अनुसार नाराशंसी गाथा की अपेक्षा हीन होती है।[9] अथर्ववेद में नाराशंसी को गाथा से पृथक् बताया गया है।[10] **रैभी** नाराशंसी का भेद है। डा० कपिल देव द्विवेदी के अनुसार रैभी का अर्थ गायन है। उससे सम्बद्ध गाये पद्य रैभी है। अथर्ववेद के 20/127//4-6 ये तीन पद्य रैभी कहे जाते हैं। ये पद राजस्तुति या विवाहादि के समय गाने योग्य गीत थे।[11]

संगीतकला के तीन तत्त्व का उल्लेख शांखायन ब्राह्मण में किया गया है- **त्रिविधं शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति।**[12] कौटिल्य अर्थशास्त्र में इन तीनों के साथ-साथ 'अभिनय' को भी संगीत का अंग माना गया है।[13] संहितेतर वैदिकसाहित्य में इसकी चर्चा उत्तरोतर वृद्धि को प्राप्त करती हुई परिलक्षित होती है। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के छठे मंत्र में निम्नलिखित अभिनयकर्त्ताओं का उल्लेख मिलता है- **शैलूष (नट), काटि (विदूषक), स्त्रीषखम (माण्ड), नर्म (मजाकिया), इसके अतिरिक्त पुंश्चली (दुश्चरित स्त्री)** को भी अभिनय के लिए उपयोगी बताया गया है। यही नहीं वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार के वाद्य-यंत्रों का भी उल्लेख मिलता है। वीणा शुभ अवसरों पर बजाए जाने वाला यंत्र था। यजुर्वेद के अनुसार आनन्दोत्सवों में वीणा वादन किया जाता था।[14] शतपथब्राह्मण में उल्लेख है कि जब व्यक्ति को श्री प्राप्त होती हैं तब उसके लिए वीणा बजाई जाती हैं।[15] इसी कारण वीणा को श्री का रूप बताया गया है।[16] ऋग्वेद व अथर्ववेद में कर्करि तथा गाधा शब्द वीणा के लिए प्रयुक्त हुआ है।[17] ऐतरेयब्राह्मण में भी वीणा का उल्लेख मिलता है।[18] यजुर्वेद में वीणा वादक को 'वीणावाद' और तैत्तिरीयब्राह्मण' में 'वीणागाथिन्' बताया गया है।[19] महाभाष्य के अनुसार वीणावादक के लिए परिवादक शब्द का प्रयोग किया गया है।[20] तैत्तिरीयब्राह्मण में उल्लेख है कि अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मण दिन में और क्षत्रिय रात्रि में वीणा बजाकर गाने गाते थे।[21] ऋग्वेद में उल्लेख है कि मरुत् सोमपान करके 'वीणा' नामक वाद्य बजाते थे।[22] निघण्टु में वीणा शब्द वाक् नामों में पठित है। महर्षि

दयानन्द सरस्वती ने **ऋग्वेद 4/24/9** का भाष्य करते हुए वीणा का अर्थ 'वाणीम्' किया है। तैत्तिरीयसंहिता एवं ताण्ड्यमहाब्राह्मण में शततन्त्री 'वीणा' का उल्लेख है।[23] **ऋग्वेद 10/135/7** में 'नाली' नामक वाद्य का उल्लेख है- **इयमस्य धम्यते नालीरयं गीर्भिः परिष्कृतः** डॉ० प्रभुदयाल अग्निहात्री ने नाली को वेणुवाद्य बताया है।[24] यजुर्वेद एवं तैत्तिरीयब्राह्मण में शंख बजाने का उल्लेख है।[25] यजुर्वेद में तुणव वाद्ययंत्र का उल्लेख हैं।[26] डॉ० कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार तुणव शहनाई जैसा वाद्य था जिसे फूंक मारकर बजाया जाता था।[27] ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर दुन्दुभि का उल्लेख है। युद्ध इत्यादि के अवसरों पर दुन्दुभि की गम्भीर गर्जना सुनकर वीरों में उत्साह का संचार होता था।[28] तैत्तिरीय ब्राह्मण में दुन्दुभि की ध्वनि को वाद्य का उत्कृष्ट रूप माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में सत्रह दुन्दुभियों को एक साथ बजाने का उल्लेख है। इस प्रकार वेदांग साहित्य में अनेक प्रकार के वाद्य यंत्रों का उल्लेख हुआ है यथा कांस्य वाद्य, तन्तु वाद्य व प्रतिधात वाद्य आदि। इसी शृंखला में वैदिक साहित्य में नृत्य का भी विशद् वर्णन प्राप्त होता है। नृत्य के 'नृत्त' एवं 'नृत्य' दो भेद होते हैं- केवल आंगिक अभिनय जो भावों से शून्य हो 'नृत्त' कहलाता है। जबकि भावपूर्ण आंगिक अभिनय 'नृत्य' कहलाता है।[29] अथर्ववेद के भूमिसूक्त में उल्लेख है कि- पृथिवी पर मनुष्य खुशियों से नाचते गाते हैं। एक अन्य स्थान पर नाचने गाने की उपमा किन्नरों से ली गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि किन्नरों में नाचने गाने की परंपरा प्राचीनकाल से है। धार्मिक कर्मकाण्ड के अवसरों पर विशेष रूप से जन समुदाय एकत्रित होता था। उनके मनोरंजन के लिए नृत्य और संगीत को धार्मिक कर्मकाण्ड का अंग बना दिया गया था। ऐसी मान्यता थी कि नृत्य करने से राक्षस व पाप नष्ट हो जाते हैं। अतः यज्ञों के अवसरों पर व निवास स्थलों पर नृत्य का आयोजन किया जाता था।

मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं को भी नृत्यकला का अभ्यास कराया जाता था। अवसर विशेष पर अश्वों के नृत्य का उल्लेख है।[30]

निष्कर्षतः प्राचीन काल से ही स्वर लय युक्त मंत्रों द्वारा ईश्वर की उपासना या आराधना की जाती थी। वैदिककाल में 'साम' मार्ग संगीत था। यज्ञों में साम गान किया जाता था इस काल में उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वरों के उल्लेख के साथ-साथ सप्त स्वरों का वर्णन भी प्राप्त होता हैं। सामगान देवताओं की स्तुति के लिए किया जाता था। जिसमें ऋषियों द्वारा ऋचाओं का गान होता था, इसलिए वैदिक शास्त्रीय संगीत को साम की संज्ञा दी गयी। जिसका मुख्य उद्देश्य ईश्वर आराधना करना था। वैदिककाल से ही संगीत की दो धाराएं सामानन्तर रूप से चलती रही। जिसमें प्रथम धारा मार्ग एवं दूसरी देशी कहलायी। इस प्रकार वैदिक काल में 'साम' नामक शास्त्रीय संगीत के कलात्मक तथा शास्त्रात्मक दोनों पक्षों का प्रयोग होता था। जिसके द्वारा यह विद्या विकसित व प्रसारित हुई। अतः संक्षेपतः वैदिक साहित्य में संगीत की तीनों विद्याओं- गीत, वाद्य एवं नृत्य का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख प्राप्त है। जिससे ज्ञात होता है कि वैदिककाल में संगीतकला तथा संगीत शास्त्र दोनों ही विकास के सर्वोच्च धरातल पर प्रतिष्ठित थे।

सन्दर्भ-सूची

1. (क) यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञान-मयो हि सः।। मनु 2.7
2. जैमिनी सूत्र-2/1/36
3. सप्तधा वै वाक्। ऐत० ब्रा० सायण-भाष्य-7/7
4. वैदिक सम्पत्ति, पृ०- 348
5. तदेव
6. ऐत० ब्रा० 25.5-6;32/8
7. ओमित्पुचः प्रतिगर एवं तथेति गाथा ओमिति वै दैवं तथेति मानुषम्, 7/18
8. अथर्ववेद- 20/38/4
9. तै० ब्रा०, 3/2/6
10. तै० ब्रा० सा० भा० 39/7
11. अथर्ववेद 15/6/11-12
12. कौ० ब्रा० 29/5
13. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 2/27
14. यजुर्वेद 30/20
15. शत० ब्रा० 13/1/5/1
16. (क) श्रिया वा एतदरूयं यद् वीणा। तै० ब्रा० 3.3.14.1
    (ख) श्रिया वा एतद्रूपं यद्वीणा 1-13.1.4.1
17. (क) ऋग्वेद-2/43/3
    (ख) अथर्ववेद- 20/132/8
18. ऐत० आ० 5/1/5
19. (क) यजु० 30/20
    (ख) तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/9/14/1
20. महाभाष्य, 1/1/57
21. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1/1/57
22. ऋग्वेद 1/85/10
23. तैत्तिरीय संहिता, 7/5/9/2
    (ख) ता० ब्रा० 5/6/13
24. पतञ्जलिकालीन भारत, पृ० 493
25. शंखाध्मम्। यजु० 30/9, तैति० ब्रा०-3/4/14
26. यजुर्वेद- 30/19
27. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० 113
28. प्रामूंजया ..... दुन्दुभिर्वावदीतु। ..... नरोऽस्मा-कमिन्द्र रथिनो जयन्तु। अथर्ववेद-6/126/3
29. (क) अथर्ववेद-11/3/24, 12/1/41
    (ख) यर्जुर्वेद- 30/6,
30. (क) कौ० ब्रा० 17/8
    (ख) ऐत० ब्रा० 24/1

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (208-214) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक चिकित्सा विज्ञान

शिवनारायण उपाध्याय

कोटा (राजस्थान)

स्वामी दयानन्द सरस्वती की मान्यता है कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। सब सत्य विद्याओं में निःसन्देह चिकित्सा विज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। चिकित्सा विज्ञान मनुष्यों को स्वस्थ रख कर अपनी आयु बढ़ाने के साथ-साथ अस्वस्थ होने पर उसे ओषध द्वारा पुनः स्वस्थ करके जीवन जीने का अवसर प्रदान करता है। यही कारण है कि समाज में चिकित्सक का स्थान बड़ा सम्मानीय माना जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसीलिए चिकित्सा विज्ञान पर गहन चिन्तन हुआ। तीनों वेदों में इस विषय पर एक हजार से भी अधिक मंत्र उपलब्ध हैं।

इस लेख में हम इन तीनों वेदों के आधार पर ही चिकित्सा विज्ञान पर विचार कर रहे हैं। चिकित्सा विज्ञान पर चर्चा करने से पूर्व शरीर रचना और उसकी कार्य प्रणाली को जान लेना अत्यंत आवश्यक है। इसके पश्चात् ही रोग के कारण, लक्षण, निदान आदि पर विचार कर चिकित्सा प्रारंभ करते हैं। अब हम इनमें से प्रत्येक बिन्दु पर अलग-अलग विचार करते हैं।

1. शरीर रचना और उसकी कार्य प्रणाली- ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में शरीर रचना और उसकी कार्य प्रणाली पर कई सूक्तों में विचार हुआ है। यहाँ हम संक्षेप से इस विषय पर विचार कर रहे हैं।

वेद में वर्णन है- किसके द्वारा मनुष्य की दोनों एड़िया पुष्ट की गई, किसके द्वारा मांस जोड़ा गया, किसके द्वारा दोनों टकने, सुन्दर अवयवों वाली अंगुलियां, इन्द्रियां, दोनों पाँव के तलवे जोड़े गए। किसके द्वारा भूगोल के बीच पाँव रखे गए।[1]

फिर किस पदार्थ से मनुष्य के नीचे के दोनों टकने और ऊपर के दोनों घुटने ईश्वरीय गुणों ने बनाए हैं। दोनों टांगों को अलग-अलग करके किसके भीतर दोनों घुटनों के जोड़ों को उन्होंने जमाया है। इसे कौन जानता है।[2]

कर्ता परमेश्वर ने इस मनुष्य के दोनों भुजाओं को यथावत् पुष्ट किया है कि वह उनसे वीर कर्म करता रहे। परमेश्वर ने इसके दोनों कंधों को धड़ में यथावत् धारण कर दिया है।[3]

दोनों हाथों, शिर, मुख, जीभ, गले की नाड़ियां और हंसली की हड्डियां इन सबको खाल से ढ़क कर जोड़ने वाली बड़ी शक्ति परमेश्वर ने मिला दिया है।[4]

आगे विषय को विस्तार देकर कहा गया है-

कर्ता परमेश्वर ने मस्तक में सात गोलक

खोदे। दोनों कान, दोनों नथने, दोनों आंखें और एक मुख। जिनके विजय की महिमा में चौपाए और दोपाए जीव अनेक प्रकार से मार्ग में चलते हैं।[5]

वेद में बताया गया है कि पुरुष का लिंग स्त्री के संयोग से वीर्य को छोड़ता और इससे अलग मूत्र छोड़ता है अर्थात् शरीर में मूत्र के स्थान से अलग स्थान में वीर्य रहता है और यह वीर्य सब अंगों से उत्पन्न होता है इसलिए उसमें सब अंगों की आकृति रहती है। इसी कारण जिसके शरीर से वीर्य उत्पन्न होता है उसी की आकृति वाला संतान उत्पन्न होता है।[6]

इसी प्रकार कई मंत्रों द्वारा शरीर की रचना बताई गई है। हम इसे यहीं छोड़ कर शरीर की कार्य प्रणाली पर विचार करते हैं।

तू ही मस्तिष्क से आदेश, प्रेरणा आदि का आकर्षण करने वाली और शारीरिक अनुभूति को लेकर मस्तिष्क में आरोहण करने वाली कुटिलगामिनी वातनाड़ियों में उष्ण तरल पदार्थ को धारण करता है।[7]

अनन्तर जब सभी दिव्य अंग सर्पवत् कुटिल भावनाओं की प्रचण्डताओं को लाँघ जाते हैं तब तू उनको शिकार करने पशुओं के बराबर का बल उन्हें प्रदान करता है। इसका अर्थ यह है कि मस्तिष्क वातनाड़ियों के आधार पर काम करता है और सभी अंगों को इतना बल देता है कि कुटिल भावनाएं उनको पीड़ित नहीं कर सके। मस्तिष्क ही चेतना का केन्द्र होता है।[8]

इसलिए मनुष्य को मस्तिष्क की शक्ति को बढ़ाते रहना चाहिए।

वेद में वर्णन है- हे अनेक नामों से प्रसिद्ध! बहुतों से स्तुत मेरी मनन शक्ति! इस रीति से ज्ञान चाहने वाली कर्तृत्व बुद्धि के साथ प्रत्येक ऐश्वर्य के इच्छुक जन में अपने अस्तित्व को व्यक्त कर।[9]

इस विषय को अब यहीं विराम देकर आगे बढ़ते हैं।

2. रोग उत्पन्न होने के कारण- रोग उत्पन्न होने के कारण अनियमित जीवन, दूषित खाद्य और पेय पदार्थों का उपयोग तथा रोगाणुओं का किसी भी माध्यम से शरीर में प्रवेश कर जाना ही होता है।

वेद का कथन है-हे आह्लादप्रद, हे सर्वश्रेष्ठ रस तथा शरीर पोषक अन्न! तू हम जीवों से पीत और भुक्त होकर, हमारे हृदय के लिए कल्याणकारी हो, जैसे पुत्र के लिए पिता सुख दाता होता है अथवा मित्र मित्र को दुर्गुणों से दूर हटाकर हित कार्य में लगा देता है। हे सोम! तू धीर होकर जीवन के लिए हमारी आयु को बढ़ा दे।[10]

यह भी वर्णन है कि-व्यक्ति भूख लगने पर ही भोजन करे तथा भूख से कुछ कम ही भोजन करे, अधिक भोजन करना शरीर को हानि पहुँचाता है। उत्तम भोजन और स्वच्छ निवास स्थान रोग नाशक होते हैं।

वे अनिवार्य रोग हमारे शरीर से दूर हो जायें। यद्यपि ये अत्यंत बलवान् हैं तथापि अब उनकी शक्ति न्यून हो गई है, वे दुर्बल हो गये हैं क्योंकि हमें उत्तमोत्तम रस और भोजन प्राप्त है और हम लोग वहाँ बसे हैं जहाँ रहने से आयु बढ़ती है।[11]

रोगों की उत्पत्ति का दूसरा मुख्य कारण रोगाणुओं का शरीर में प्रवेश कर जाना है। रोगाणु वायु जल द्वारा ही नहीं वरन् अपने

बिस्तर और तकिए द्वारा भी शरीर में प्रवेश कर हमें रोगी बना देते हैं। अतः इनकी स्वच्छता पर ध्यान देना चाहिए।

वेद में वर्णन है– हमारे उपधानों में भरे हुए जन्तुओं को मैं बड़ी चोट से मारता हूँ। पक्के और कच्चे कीटाणु निर्बल हो गए हैं। बचे हुए दुष्टों को नीचे डालकर मैं मार डालूँ जिससे कोई कीट बचा न रहे।[12] मलेरिया आदि कुछ रोग मच्छरों द्वारा भी फैलते हैं। इस विषय में वेद में कहा गया है– मच्छर का घर मूंज आदि घास वाले पर्वत हैं और इसका घर महावृष्टि वाले प्रदेश हैं।[13]

3. ओषध विज्ञान– वेद का कथन है कि औषधियों के प्रयोग से मनुष्य अपने को रोगों से ही मुक्त नहीं करता है वरन् अपनी आयु में वृद्धि भी कर लेता है। कहा गया है– हे ओषधि को जानने वाले पुरुष! तेरी ओषधि का सेवन करने वाला मैं जिस प्रयोजन के लिए और जिस पुरुष के लिए ओषधि को खोदूं उससे वह अधिक आयु वाला होवे और बड़ी आयु वाला होकर जो बहुत अंकुरों से युक्त ओषधि है उसको सेवन करके सुखी और प्रसिद्ध हो।[14]

वेद का यह भी कथन है कि संसार में जितने रोग हैं उतना ही उनका नाश करने वाली ओषधियां भी हैं। गुदेन्द्रिय की व्याधि, मुख के रोग तथा राज रोगों को हटाने वाली औषधियां भी हैं उन्हें जानो।[15]

वैद्य गण रोगी में पहले रोग के लक्षण देखते हैं। फिर कौन सा रोग है यह निर्णय करते हैं और फिर निदान करते हैं। वेद में वर्णन है–

हे मनुष्य लोगों! जो सर्वोत्तम सोमलता के साथ वर्तमान ओषधी है उसके गुणों के विषय में आप विद्वान् लोग संवाद करो। वेदों और उपवेदों का वेत्ता पुरुष जिस रोगी के लिए इन औषधियों का ग्रहण करता है उस रोगी को इन औषधियों के द्वारा रोग से मुक्त कर देता है।[16]

ओषधी के प्रयोग से रोग दूर भाग जाते हैं, इस पर कहा गया है–

'हे मनुष्यों! तुम लोग सब ओर से स्थित सोमलता और जौ आदि ओषधी का उपयोग करो। इससे रोग ऐसे भाग जावेगा जैसे गौशाला में दीवार तोड़ कर घुसा चोर मालिक के धमकाने से भाग जाता है। औषधियां शरीर के अंदर पापों के फल के समान जो रोग हैं उन्हें हटा देती हैं।[17]

वेदों में नितत्नी, पिप्पली, कुष्ठ, शतवार, पाठा, जड़, गिड़ आदि कुछ औषधियों के गुणों का वर्णन भी हुआ है।

जैसे पिप्पली पागलपन की ओषधि है, बड़े घावों की भी ओषधि है। विद्वानों ने स्वीकार किया है कि वह जीवनदात्री है।[18]

इसी प्रकार– हे नितत्नी! पुराने केशों को दृढ़कर, बिना उत्पन्न हुए केशों को उत्पन्न कर और उत्पन्न हुओं को बहुत लम्बा बना दे।[19]

इस प्रकार पाठा ओषधि के विषय में कहा गया है– 'इस पाठा ओषध के सेवन से मैं स्त्री उत्कृष्टतरा तथा उत्कृष्टतरा स्त्रियों से अधिक उत्कृष्ट होऊँ और जो मेरी सौत है वह निकृष्टों से भी अधिक निकृष्ट हो जावे।[20]

इसी प्रकार जड; गिड ओषध के विषय में कहा गया है, 'हे वनस्पति!

तुझ को उस इन्द्र ने ही बल और सब

ओर से शक्ति दी है। हे ओषधि! सब पीड़ाओं को नाश करता हुआ तू रोगाणुओं को मार दे।[21]

फिर शतवार के विषय में कहा गया है– वह अपने दोनों सींगों से राक्षस (कीटाणु) और जड़ से दु:खदात्री पीड़ाओं को ढकेलता है। मध्य भाग से राज रोग को हटाता है। इसको कोई अनहित नहीं दबा सकता है।[22]

इस विषय को अब यही विराम देकर आगे चलते हैं।

4. शल्य चिकित्सा– वेदों में शल्य चिकित्सा पर भी पर्याप्त विवरण प्राप्त है।

यहाँ हम संक्षेप में विचार कर रहे हैं। वेद में कहा गया है– 'हे मनुष्य जो कुछ तेरा टूटा हुआ अंग और जलता हुआ तथा जो शरीर में पीसा हुआ है, मैं पोषण करने वाला वैद्य कल्याण करने वाली क्रिया से उस जोड़ को दूसरे जोड़ से फिर जोड़ दूँगा।[23]

विषय को विस्तार देकर कहा गया है–

'हे विद्वान्! तेरे हाड़ की मींग हाड़ की मींग से मिल जावे और तेरा जोड़ जोड़ से मिल जावे। तेरे मांस का हटा हुआ अंश जुड़ जावे और हाड़ भी जुड़ कर ठीक हो जावे।[24]

यदि कटारी आदि हथियार ने गिरकर काट दिया है अथवा फेंके हुए पत्थर से चोट लगी है तो बुद्धिमान् पुरुष रथ के अंगों के समान एक जोड़ को दूसरे जोड़ से मिला देवे।[25]

5. विष चिकित्सा– ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में विष चिकित्सा पर भी पर्याप्त विवरण उपलब्ध है। कुछ पक्षी भी विष को चूस लेते हैं कहा गया है– हे विष! शीघ्रगामी सुंदर पंख वाले गरुड़ ने प्रसिद्ध तुझको खाया, तूने उसे न तो मत्त किया और न व्याकुल किया किन्तु तू उसके लिए अन्न हुआ है।[26]

विषय को विस्तार देते हुआ कहा है– बाण की नोक से, लेप से और पंख वाले तीर के भाग से विष को निकाल कर मैंने वचन बोला है। तीक्ष्ण बाण के फल से और बाण छिद्र से विष को निकाल कर मैंने वचन बोला है।[27]

जो इक्कीस प्रकार की छोटी–छोटी चिड़ियां विष के पुष्ट होने के योग्य पुष्प को खाती हैं। इससे वह भी शीघ्र नहीं मरती हैं और हम लोग भी नहीं मारे जाते और उनके संयोग से विष का प्रभाव दूर हो जाता है। हे विषधारी! विष हरण करनें में स्थिर विष करने वाले वैद्य तूने मधुरता को प्राप्त किया है। इसकी मधुरता ग्रहण कराने और विष हरने वाली विद्या है।[28]

इसी प्रकार कपिञ्जला चिड़ियां भी विष को दूर कर देती हैं।

जहरीले तीर से शरीर में विष प्रवेश कर जावे उसकी चिकित्सा भी होती है। वरुण नामक ओषधि से भी विष का प्रभाव हटा दिया जाता है। 'उत्तम गुण वाली क्रिया में (वरुण नामक ओषधि में) वर्तमान यह जल विष को हटावे। उस जल में अमृत का रस है। उस जल से विष को मैं हटाता हूँ।[29]

विषैले पक्षी, पशु, सर्प आदि के काटने पर क्या करें? इस पर वेद कहता है–

हे मनुष्य! जो कुछ तेरा अंग काले पक्षी, चीउंटा, सर्प अथवा कुत्ते के समान पाँव वाले जंगली पशु आदि ने घायल कर दिया है उस अंग को सर्व रोग भक्षक आग निरोग कर देवे और जिस ऐश्वर्य ने बड़े विद्वानों में प्रवेश

किया है वह भी उसे निरोग करे।[30]

6. वेदों में **प्राकृतिक चिकित्सा** का भी वर्णन किया गया है। प्राकृतिक चिकित्सा में सूर्य चिकित्सा, वायु चिकित्सा, जल चिकित्सा तथा मृदा द्वारा चिकित्सा करना सम्मिलित है।

सूर्य चिकित्सा- सूर्य की किरणें रोगाणुओं को नष्ट कर दिया करती हैं। कहा गया है- जो सूर्य प्रकाशमान और व्यापित वाले धारण और आकर्षण गुणों को पुष्टि के लिए अधिकार में रखता है वह द्यु और पृथ्वी लोक के द्वारा हनुवाला होकर कृमि आदि का नाश करता है।[31]

इसी प्रकार वायु के विषय में कहा गया है कि वायु ओषध है जो हमारे हृदय के लिए कल्याण कारक है, आनन्ददायक है और हमारी आयु को बढ़ाने वाला है।[32]

हे वायु! स्वास्थ्य को बहाकर ला और हे वायु! जो दोष है उसे बहाकर निकाल दे। हे सर्व रोग नाशक वायु! तू इन्द्रियों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों के बीच चलने वाला वा दूत होकर फिरता रहता है।[33]

इसी प्रकार जल के लिए कहा गया है- जल निश्चय ही भेषज रूप है। जल रोग को दूर करने वाला है। जल सभी प्राणियों के लिए भेषजभूत है। अतः वे तुझ रोगी की चिकित्सा करें।[34]

इसी प्रकार मृदा का उपयोग भी ज्वर की तीव्रता कम करने में होता है। इसके अतिरिक्त स्त्री रोगों के विषय में ऋग्वेद और यजुर्वेद में 50 से भी अधिक मंत्र उपलब्ध हैं।

आयुर्वेद में नपुंसक पुरुष और बांझ स्त्री की चिकित्सा का भी वर्णन है। वेद में वर्णन है- नपुंसक पुरुष को उपयोगी बना और कर्मकारी बना। बड़े ऐश्वर्य वाले वैद्य आप पत्थर समान दो दृढ़ शस्त्रों से इस रोगी के दोनों आंडों को छेदें।[35]

इस प्रकार बांझ स्त्री के बांझपन को दूर करने के विषय में वर्णन है।

'हे स्त्री! जिस कारण से तू बांझ हुई है, उस कारण को तुझसे मैं नष्ट करा देता हूँ। उसे दूर हटाकर हम कहीं दूर रख देते हैं।[36]

अथर्ववेद में टीकाकरण का भी वर्णन है। उस पर स्थानाभाव से नहीं लिख रहे हैं।

7. कीटाणुनाशन- रोगाणु हमारे बिस्तर एवं वस्त्रों में प्रवेश न कर पावे इसलिए उन्हें सदैव स्वच्छ रखना चाहिए और यदि किसी प्रकार से रोगाणु हमारे शरीर में प्रवेश कर जावे तो उन्हें भी तुरन्त नष्ट कर देना चाहिए।

उदय होता हुआ प्रकाशमान सूर्य उन कीटाणुओं को मार डाले और अस्त होता हुआ सूर्य भी अपनी किरणों से उन्हें मारे जो कीड़े पृथ्वी के अन्दर हैं।[37]

8. कृत्रिम अंगों का प्रत्यारोपण- ऋग्वेद में धातु की जङ्घाप्रत्यारोपण का भी वर्णन हुआ है। युद्ध में अथवा खेलने में वा बीमारी में चलने फिरने का साधन (पैर) निश्चय ही टूट गया है। हे चिकित्सकों। तत्काल भागने या भगाने के लिए युद्ध या धन के लिए हित साधन के कार्य में चलने के लिए लोहे की बनी जङ्घा फिर से लगा दें।[38]

इसी प्रकार यदि किसी कारण से मूत्र का बहना रुक जावे तो सरकण्डे का प्रयोग कर उसे ठीक कर देवे। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद में चिकित्सा विज्ञान का विस्तृत वर्णन है। इति।

सन्दर्भ

1. केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
   केनाङ्गुली: पेशनी: केन खानि केनोच्छ-लङ्खौ मध्यत: क: प्रतिष्ठाम्।। अथर्व. 10.2.1.
2. कस्मान्नु गुल्फावधराव कृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य।
   जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधु: क्व स्विज्जानुनो: संधी क उ तच्चिकेत।।अथर्व.10.2.2.
3. को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं कवादिति। अंसौ को अस्य तद् देव: कुसिन्धे अध्या दधौ।। अथर्व. 10.2.5
4. शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसा। त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् संधा समदधान्मही।। अथर्व. 11.8.15.
5. क: सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।
   येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम्।। अथर्व 10.2.6.
6. रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणाऽऽवृत उल्बंजहाति जन्मना। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु।। यजुर्वेद 19.76
7. त्वमेतदधारय: कृष्णासु रोहिणीषु च। परुष्णीषु रुशत् पय:।। ऋ. 8.93.13
8. वि यदहेरध त्विषो विश्वे देवासोअक्रमु:। विदन्मृगस्य ताँ अम:।। ऋ. 8.93.14
9. अया धिया च गव्यया पुरुणामन्पुरुष्टुत। यत्सोमे सोम आभव:।। ऋ. 8.93.17.
10. शंनो भव हृद आ पीत इन्दोपितेव सोम सूनवे सुशेव:।
    सखेव सख्य उरुशंस धीर: प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारी:।। ऋ. 8.48.4
11. अप त्या अस्थुरनिरा अमीवा निरत्रसन्त-मिषीचीरभैषु:
    आ सोमो अस्माँ अरुहद्विहाया अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयु:।। ऋ. 8.48.11
12. अल्गण्डून हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
    शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचायथा क्रिमीणां-नकिरुच्छिषातै।। अथर्व. 2.31.3
13. ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषा:। यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचर:।। अथर्व. 5.22.5
14. दीर्घायुस्तओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्। अथा त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात्।। यजु. 12.100
15. नाशयित्री बलासस्यार्शसऽउपचितामसि। अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी।। यजु. 12.97
16. ओषधय: समवदन्त सोमेन सह राज्ञा। यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्त ष्ठंराजन् पारयामसि।। यजु. 12.96
17. अति विश्वा: परिष्ठा स्तेनइव व्रजमक्रमु:। ओषधी: प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रप:।। यजु. 12.84
18. पिप्पली क्षिप्त भेषज्यू ३ तातिविद्ध भेषजी। तां देवा: समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम्।। अथर्व. 6.109.1
19. दृंह प्रत्नान् जनया जातान् जातानुवर्षीय-सस्कृधि।। अथर्व. 6.136.2
20. उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्य:।
    अथा सपत्नी या ममाऽधरा साधराभ्य:।। ऋ. 10.145.3
21. उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ। अमीवा: सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे।। अथर्व. 19.34.9
22. शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्य:। मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्माति तत्रति।। अथर्व. 19.36.2
23. यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।

धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः।। अथर्व. 4.12.2

24. सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु।। अथर्व. 4.12.3

25. यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः।। अथर्व.4.12.7

26. सुपर्णस्त्वा गरुत्मान् विष प्रथममावयत्।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः।। अथर्व. 4.6.3

27. शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम्।। अथर्व. 4.6.5

28. त्रिः सप्त विष्पुलिङ्गका विषस्य पुष्पमक्षन्।
ताश्चिन्नु न मरन्ति नो वयं मरामाऽऽरे अस्य योजनं हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार। ऋ. 1.191.12

29. वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि।
तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम्।। अथर्व. 4.7.1

30. यत् ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः।
अग्निष्टद् विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश।। अथर्व. 18.3.55

32. अधि यस्तस्थौ केशवन्ता व्यचस्वन्ता न पुष्ट्यै।
वनोति शिप्राभ्यां शिप्रिणीवान्।। ऋ. 10. 105.5

32. वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत्।। ऋ. 10.186.1

33. आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे।। अथर्व. 4.13.3

34. आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।।
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्।। ऋ. 10.137.6

35. क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ।। अथर्व. 6.138.2

36. येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत्।
इदं तदन्यत्र त्वदप दूरेनि दध्मसि।। अथर्व. 3.23.1

37. उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः।
ये अन्तः क्रिमयो गवि।। अथर्व. 2.32.1

38. चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्।। ऋ. 1.116.15

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (215-218) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में वर्णित वास्तु-सौन्दर्य-प्रबन्धन

डॉ. (श्रीमती) निधि सिन्हा
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग
डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, देहरादून

मानवीय संवेदनाओं की सृजनशील अभिव्यक्ति को 'कला' के नाम से संज्ञित किया जाता है। 'कला' को सौन्दर्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। मानव-हृदय में सदैव अनेकानेक भावों का उद्वेलन होता रहता है। इन अनन्त भावों को व्यक्त और सम्प्रेषित करने के लिए मानव अनेक माध्यमों का आश्रय लेता रहता है। एक साहित्यकार अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए शब्दों का चयन करता है, तो एक चित्रकार रंगों द्वारा हृदयस्थ भावों को चित्रफलक पर बिखेर आनन्द का संचार कर दर्शक को मंत्रमुग्ध कर देता है, वहीं एक वास्तुकार ईंट, बजरी आदि के माध्यम से भव्य प्रासाद का निर्माण कर दर्शक को हठात् ही वाह-वाह करने के लिए बाध्य कर देता है। उक्त सभी कलाएँ अपने लालित्य गुण के कारण 'ललित कला' के अन्तर्गत आती हैं। इसके विपरीत हृदयस्थ भावों की कौशलमयी अभिव्यक्ति को 'कला' कहा जाता है। इनमें लालित्य नहीं होता, क्योंकि कुछ अभिव्यक्तियाँ कौशलपूर्ण होने के साथ-साथ उपयोगी भी होती हैं। सुनार[1], लुहार का कौशलपूर्ण कार्य इसके अंतर्गत आता है, जिनका उल्लेख वेदों में मिलता है।

वैदिक युग में कलाओं का कोई वर्गीकरण नहीं किया गया था। वैदिक काल में प्रत्येक कला 'उपयोगी कला' होती थी और उपयोगिता के कारण कला की सराहना की जाती थी। कलाकार भी इसलिए पुरस्कृत किए जाते थे, क्योंकि वे मानवोपयोगी वस्तुओं की रचना करते थे। 'कला' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'ऋग्वेद' में हुआ है-

यथा कलां यथा
शफं यथा ऋणं सन्नयामसि॥

(ऋग्वेद: 8/47/16)

प्रस्तुत शोध-पत्र के अन्तर्गत वेदों में वास्तुकला पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। **वास्तुकला** को **स्थापत्य कला** भी कहते हैं, क्योंकि एक स्थपति ही इस कला की स्थापना करता है, वही कौशलपूर्ण भवन का निर्माण करता है। इस कला की अभिव्यक्ति दो रूपों में होती है- देवों के आवास-गृहों के रूप में तथा मानवों के आवास गृह के रूप में। प्रथम रूप के अंतर्गत **देवालय, चैत्य विहार, स्तूप, वेदिका, स्तम्भ** आदि और दूसरे के अंतर्गत **राजप्रसाद, दुर्ग, परकोटे, नगर, गुफाएं, सरोवर** आदि आते हैं। **देवस्थान** छोटे होते हैं। मन्दिर से अभिप्राय

उस विशाल देवभवन से है, जिसमें भव्य प्रांगण के उपरांत चौकारे गर्भगृह में देवमूर्ति विराजमान रहती हैं। **चैत्य से** अभिप्राय उन बौद्ध मंदिरों से है, जो एक भव्य प्रासाद के रूप में निर्मित होते थे। बिहार से अभिप्राय बौद्धमठों से है, जिनमें बौद्ध मतानुयायी बौद्धभिक्षु निवास करते हैं। स्तूप का अर्थ है बौद्ध समाधि स्थल। **वेदिका** विविध प्रकार के चित्रों से युक्त होती है। **स्तम्भ** के अन्तर्गत लाटें और मीनारें आती हैं जिनमें धार्मिक और राजनीतिक दृष्टि से निर्माण कार्य किया जाता था।

वैदिक वाङ्मय में तत्कालीन स्थापत्य से संबंधित प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। 'वास्तु' शब्द ऋग्वैदिक काल से ही 'घर' के अर्थ में प्रयुक्त होता आया है। भारतीय 'स्थापत्य कला' याज्ञिक कार्य के रूप में वैदिक काल से ही विद्यमान थी। धर्मशास्त्रों में इसे **'वास्तु-युग'** कहा गया। **'वास्तोष्पति'** देवता का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है-

वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणां
ऽसत्रं सोम्यानाम्।। (ऋग्वेदः 8/17/14)

हे निवास स्थानीय सकल जगत् के स्वामी! आपकी कृपा से इस जगद्रूपी गृह का स्तम्भ स्थिर हो। त्वष्टा तथा ऋभु उस युग के कुशल कारीगर थे। वैदिक युग में स्थापत्य के लौकिक और धार्मिक दो भेद अस्तित्व में आ चुके थे- गृह-निर्माण, पुर-प्रकल्पना तथा दुर्ग-निर्माण लौकिक स्थापत्य के और वेदी, यूप, आवसथ आदि धार्मिक स्थापत्य के विषय थे।

गृह-निर्माण की कला में आर्य पूर्णतः दक्ष थे। अथर्ववेद का शालासूक्त इसका प्रबल प्रमाण है। इस सूक्त में चित्रित भिन्न-भिन्न पक्षों वाली शालाएँ तत्कालीन अनेक मंजिलों वाले मकानों की ओर संकेत करती हैं-

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा
षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां
मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भइवाशये।।
(अथर्व. 9/3/21)

शालासूक्त के प्रथम मंत्र में ही सब ओर द्वारों वाली, उपमायुक्त और परिमाण युक्त शाला वर्णित है-

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालाया विश्ववाराया
नद्धानि वि चृतामसि।।
(अथर्व. 9/3/1)

इसी सूक्त के 15वें मन्त्र में कहा गया है-सूर्य के प्रकाश और पृथिवी के बीच जो खुला स्थान है, उस विस्तार से इस शाला को हे मनुष्य तेरे लिए मैं ग्रहण करता हूँ। (अथर्व. 9/3/15) अतः अथर्ववेद के 'शालासूक्त के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि उस समय गृहों के निर्माण में वायु के आवागमन और सूर्य के प्रकाश का उचित प्रबंध होता था तथा भीतें, खिड़की, द्वार आदि का निर्माण एक निश्चित माप में किया जाता था, जो तत्कालीन मानव के वास्तुज्ञान को द्योतित करता है।

त्रिधातु और त्रिस्तरीय आवासों का उल्लेख ऋग्वेद में भी किया गया है-

इन्द्र त्रिधातु शरणं
त्रिवरूथं स्वस्तिमत्।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च
मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः।।
(ऋग्वेदः 6/46/9)

हे इन्द्र! ऐश्वर्यों से युक्त आप तीन स्वर्ण, चाँदी और ताँबा धातुओं से युक्त, शीत, उष्ण और वर्षा ऋतु में उत्तम आश्रय के योग्य बहुत सुख से युक्त गृह को ग्रहण करिए। स्पष्ट है कि उस समय ऐसे गृहों की कामना की गई है, जो सभी ऋतुओं में सुखकारक, धन-धान्य से युक्त हो, जहाँ प्रकाश की भी समुचित व्यवस्था हो। इसके अतिरिक्त ऐसे गृहों के लिए भी प्रार्थना की गई है, जिनमें तीनों तापों का निवारण करने की क्षमता हो-

अग्नीषोमा वृषणा वाजसातये
पुरुप्रशस्ता वृषणा उपब्रुवे।
यावीजिरे वृषणो देवयज्यया
ता नः शर्म त्रिवरूथं वि यंसतः॥

(ऋग्वेदः 10/66/7)

ऋग्वेद के अनुसार उस समय घर की भीतरी और बाहरी दीवारो को चित्रों द्वारा सुन्दर बनाया जाता था। आर्यों की यह अभिलाषा थी, कि जिस प्रकार कुलवधु अपने पति को संतुष्ट करने के लिए अपने को अलंकृत करती है, उसी प्रकार गृह-द्वार भी शोभा सम्पन्न हो।[2] अथर्ववेद में भी सुसज्जित गृह की उपमा अलंकृत हथिनी[3] और सुसज्जित वधु[4] से दी गई है। अतः स्पष्ट है कि वैदिक काल में घरों का निर्माण स्वास्थ्य की दृष्टि से तो उपयोगी होता ही था, सौन्दर्य की दृष्टि से भी घरों को पर्याप्त अलंकृत किया जाता था।

ऋग्वेद में वर्णित आयसपुर[5], लौहनिर्मित शतभुज दुर्ग[6], लौहमय नगर, शतद्वारा पुरी, सहस्रद्वार गृह, सहस्र स्तंभ वाले प्रासादों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है।

राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे
सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसाते।

(ऋग्वेद 2/41/5)

वैदिक काल में याज्ञिक कार्यों के सम्पादन हेतु वेदी का निर्माण किया जाता था। समस्त देवकार्य वेदी पर ही संपन्न होते थे, इसलिए शतपथ ब्राह्मण में 'वेदिर्देवलोकः' (8/6/3/6) कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण के **'त्र्यङ्गुला-वेदिः स्यात्'** वाक्य से वेदी तीन बालिश्त लम्बी प्रतीत होती है। वेदी सामने की ओर चौड़ी मध्य में सँकरी और पीछे के भाग में वरीयसी श्रेष्ठ समझी जाती थी (श.ब्रा. 1/2/5/16) वेदी के निर्माण में ईंटों का प्रयोग किया जाता था। वेदी वर्गाकार या गरुड़ के आकार की बनाई जाती थी।[7]

वैदिक कालीन सामान्य घरों में भी विभिन्न कक्ष होते थे। अथर्ववेद पत्नीनां सदनम् का उल्लेख करता है। 'सदस्' (बैठक) की व्यवस्था वैदिक गृहों में अलग से होती थी। घर में ही पशुओं के रहने के लिए 'शाला', 'गोत्र' या गोष्ठ की भी व्यवस्था होती थी। घर में यदा कदा भीतर भी कमरे बनाए जाते थे-

कुलायेऽधि कुलायं
कोशे कोशः समुब्जितः।
तत्र मर्तो वि जायते
यस्माद् विश्वं प्रजायते॥

(अथर्ववेद, 9/3/20)

वैदिक काल में घरों का निर्माण लकड़ी, मिट्टी, ईंट, बाँस, घास-फूस आदि से होता था। घर-निर्माण हेतु लकड़ी के खम्भ गाड़े जाते थे, जिन पर सीधी या आड़ी धरनें रखी जाती थीं। इन धरनों के ऊपर बाँस के बड़े-बड़े लट्ठे रखे काटकर छाजन बनाने का

काम किया जाता था। वैदिक काल में राजमहलों में हजार खम्भे तक होते थे तथा इतने बड़े प्रासाद में हजार दरवाजे तक बनाए जाते थे। मिट्टी के गृह बनाए जाते थे।

वैदिक घरों में स्वच्छता विशेष ध्यान रखा जाता था। प्रकाश की न्यूनता, सीलन, अंधकार और विभिन्न प्रकार के कीटों को नष्ट करने के लिए गवाक्षों की उचित व्यवस्था के साथ-साथ अग्नि प्रज्वालन किया जाता था। घरों की बाहरी तथा भीतरी दीवारों को चित्रादि की रचना द्वारा आकर्षक बनाया जाता था। अतः वैदिक काल में घर वास्तु को ध्यान में रखकर बनाए जाते थे।

निष्कर्षतः कहा जाता है कि वैदिक काल में वास्तुकला का पूर्णरूप से विकास हो चुका था। तत्कालीन वास्तुकारों और शिल्पकारो को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वैदिक आर्य गृह-निर्माण में वास्तु के महत्व से पूर्णतः परिचित थे। संभवतः आर्यों का यह अनुभव रहा होगा कि दक्ष वास्तुकारों और कुशल शिल्पकारों द्वारा निर्मित भवन में सुखी और स्वस्थ जीवन का यापन सहजता से किया जा सकता है साथ ही उनका यह भी विश्वास रहा होगा कि दक्ष वास्तुकारों द्वारा निर्मित गृह सुदृढ़ और सुरक्षित होते हैं।

वास्तु को ध्यान में रखकर बनाए गए गृहों की या यो कहिए कि गृह-निर्माण में आज भी वास्तुकला का महत्वपूर्ण योगदान है। आज के अव्यवस्थित और उच्छृंखल युग का सामना करने वाले अस्वस्थ मानव को दो पल सुकून से व्यतीत करने का अवकाश ही कहाँ? यदि हो भी तो वास्तु की दृष्टि से निर्मित गृह में दो पल का ही विश्राम मानव को आनन्द और सुख प्रदान करता हुआ अवश्य ही स्वास्थ्य-लाभ करेगा।

सन्दर्भ संकेत-

1. ऋग्वेदः मं० 8/सूक्त 47/मंत्र 15
2. व्यचस्वतीरुर्विया विश्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
   देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः। (ऋग्वेदः 10/110/5)
3. तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
   मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती। (अथर्ववेद 9/3/17)
4. मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव।
   वधूमिव त्वा शाले यत्कामं भरामसि।। (अथर्ववेद 9/3/24)
5. तस्मै तवस्य मनुदायि सत्रेन्द्राय देवेभिरर्ण-सातौ।
   प्रति यदस्य वज्रं बाह्वोर्धुर्हत्वी दस्यून्पुर आयसीर्नि तारीत्।। (ऋग्वेदः 2/20/8)
6. अधामही न आयस्यनाधृष्टो नृपीतये। पूर्भवा शतभुजिः। (ऋग्वेदः 7/15/14)
7. प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता : डॉ० सत्यप्रकाश शर्मा, पृष्ठ- 348

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (219-223) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

यज्ञों में ज्योतिष् और भौगोलिक ज्ञान

डॉ० विजयपाल

संस्कृत प्राध्यापक, पञ्चकुला, हरियाणा

यज्ञों में ज्योतिष्

यज्ञों में ज्योतिष् की आवश्यकता अनिवार्य है। आर्यों के दो विश्वास ऐसे हैं, जिनके कारण ज्योतिष् का सूक्ष्म ज्ञान आवश्यक है। एक तो भैषज्य यज्ञ के लिए ऋतुओं की सन्धियां जानना, दूसरे दक्षिणायन और उतरायण में मरने से दो प्रकार की गतियां मानना। वे मानते थे कि उत्तरायण में मरने से मोक्ष होता है। देशी और विदेशी विद्वान एक स्वर से कहते हैं कि आर्यों में ज्योतिष् का प्रादुर्भाव यज्ञों का समय देखने के लिए ही हुआ है।

भास्कराचार्य ''सिद्धान्तशिरोमणि'' में कहते हैं कि वेदों में यज्ञों का वर्णन है और यज्ञ काल के आश्रित हैं। इसलिए जिसमें काल का वर्णन हो वह ज्योतिषशास्त्र वेद का अंग कहलाता है[1] ज्योतिष् वेद का नेत्र इसीलिए कहलाता है कि ज्योतिष् से समय दिखलाई पड़ता है। इसीलिए जर्मन का प्रसिद्ध विद्वान् थीबो कहता है कि यज्ञों का ठीक समय जानने के लिए ही आर्यों में सबसे पहले ज्योतिष् शास्त्र के सूक्ष्म अवलोकनों की आवश्यकता हुई[2]।

यज्ञ सदैव सन्धियों में ही होते हैं सन्धि के लिए दूसरा शब्द पर्व है। गाँठ, जोड़ अथवा सन्धि को पर्व भी कहते हैं। प्रातः सायं की संधि में हवन संधि,[3] मास की संधि ऋतु की संधि, [4]दोनों अयनों की संधि पर ही यज्ञ (हवन) होते हैं। इनका सूक्ष्म ज्ञान ज्योतिष् से ही होता है। पक्ष और मास की संधि चाहे चन्द्रमा के स्थूल अवलोकन से अमावस्या और पूर्णिमा के दिन मालूम हो जाएं, पर ऋतु, अयन, संवत्सर का संधिज्ञान जब तक सायन गणनानुसार ज्योतिष् का ठीक ठीक ज्ञान न हो, तब तक नहीं हो सकता।

वेदों में ऋतुओं के हिसाब से हर महिनों के नाम दिए हुए हैं।[5] अतः प्रश्न है कि इन महिनों की संधियों को वे कैसे जानते थे? वे कैसे जानते थे कि मधुमास आज बीत गया और माधव लग गया तथा आज माधव बीतने पर वसन्त ऋतु खत्म हो गई? वेदों में इसी तरह दोनों अयनों का भी वर्णन है।[6] यह भी कैसे जाना जाता था कि आज उत्तरायण समाप्त हुआ और दक्षिणायन लग गया? वे हमेशा उत्तरायण को मोक्षदाता मानते थे। उनका मानना था कि "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" अर्थात् उत्तरायण के लिए परमेश्वर की भक्ति के अलावा और कोई दूसरा पंथ नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण की भूमिका में मार्टिन हाग कहते हैं कि [7] जो कि यज्ञ साल भर चलता है वह सौर जगत् की वार्षिक परिक्रमा का

रूप ही है। यह यज्ञ दो बराबर भागों में बाँट दिया जाता है, जिसका प्रत्येक भाग तीस अंशों में छै छै मास का होता है। दोनों के बीच में जो दोनों अयनों को काटता है, वह 'विषुवान्' नामी दिन है। यज्ञ सौरजगत् की आकृति के ही होते हैं। कहा भी है कि ''यज्ञो वै संवत्सरः'' अर्थात् यज्ञ संवत्सर ही है।

वैदिक काल के आर्यों को सायन गणना का ज्ञान था। क्योंकि ऋग्वेद में पृथिवी के गोल होने और घूमने का वर्णन मिलता है।

''चक्राणासः परिहणं पृथिव्यां
हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरूस्त इन्द्रं
परिस्पशो अदधात् सूर्येण॥

ऋग्वेदः 1/33/8

अर्थात् पृथिवी गोलाकार है। इसका आधा भाग सूर्य से प्रकाशित होता है। और आधा भाग अन्धाकारावृत्त रहता है। यह सूर्य के ही आकर्षण से ठहरी है। पृथिवी सूर्य के ही आधार पर है।

इसका वर्णन ऋग्वेद में दूसरी जगह इस प्रकार है ''उक्षा दाधार पृथिवीं उत द्याम्'' अर्थात् पृथिवी सूर्य के ही आधार पर है। वेद में दूसरी जगह स्पष्ट ही कहा है कि- ''दाधार पृथिवीमभितो मयूखैः'' अर्थात् किरणों से सूर्य पृथिवी को धारण किए हुए है। एक और जगह अथर्ववेद में पृथिवी के घूमने के विषय में कहा है-

''यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते
अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृत्तावृता
सा नो दधातु, भद्रया प्रिये धामनि
धामनि॥ अथर्ववेद 12/1/52

अर्थात् जो पृथिवी के दैनिक एवं वार्षिक वृत्तावृता होते हैं और जिसके 30 दिन और 12 महिने धाम हैं, वह हमारी रक्षा करे।

अतः इससे यह सिद्ध होता है कि वेदों में सायन गणना का पूर्ण ज्ञान है। इसीलिए वैदिक आर्यों ने सायन गणना के लिए वेधशाला के राशिचक्र का निर्माण किया था। उसी तरह ग्रहण देखने के लिए तुरीय यंत्र का भी आविष्कार कर लिया था। इस तुरीय यंत्र का वर्णन भास्कराचार्य ने सिद्धांत शिरोमणि में किया है।[8] और शिल्पसंहिता में तो दूरबीन बनाने का भी विस्तार से वर्णन है।[9] अर्थात् दूर तक देखने के लिए इस प्रकार का यंत्र बनाना चाहिए कि पहले मिट्टी को जलाकर काँच तैयार करे; फिर उसको साफ करके उस स्वच्छ काँच को बाँस या धातु की नली में (आदि, मध्य और अन्त में) लगाकर देखें। यह तुरीय यंत्र की भाँति ही ग्रहों के देखने के काम आता है।

इस तमाम वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिकों को ग्रहण जानने का ज्ञान था। भास्कराचार्य ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि कोई भी भारी पदार्थ ऊपर की ओर फैंकने से वह नीचे गिर जाता है। इससे सिद्ध है कि पृथिवी में आकर्षण है[10]। इसी तरह ग्रहों के आकर्षण की जो दूसरी बात समुद्र में ज्वारभाटे की है वह भी आर्यों को ज्ञात थी, विष्णु पुराण में लिखा है यथार्थ में ज्वारभाटा से समुद्र का जल कम और ज्यादा नहीं हो जाता प्रत्युत अग्नि पर थाली में जल रखने से जिस प्रकार वह उमड़ पड़ता है उसी तरह चन्द्रमा के आकर्षण से ज्वारभाटा होता है[11]। ज्योतिष्

का सूक्ष्म गणित, बीज गणित के बिना सरलता से नहीं हो सकता। अतः आर्यों ने याज्ञिक ज्योतिष् के लिए उसका भी आविष्कार किया था। मोनियर विलियम्स लिखते हैं कि बीज गणित और रेखा गणित का आविष्कार तथा ज्योतिष के साथ उनका उपभोग सबसे पहले हिन्दुओं के ही द्वारा हुआ है[12]।

अतः इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले ज्योतिष् ज्ञान की बदौलत ऋषियों को सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ज्ञान प्राप्त हुआ था।।

यज्ञों में भौगोलिक ज्ञान

देश और काल दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। काल के ज्ञान के साथ यदि देश का ज्ञान न हो तो पदार्थों का उपयोग ठीक-ठीक नहीं हो सकता। इसलिए यज्ञ के प्रकरण में देश का ज्ञान भी परमावश्यक है। मनुस्मृति में लिखा है कि[13]-

जहाँ काले मृग स्वभाव से विचरते हों, वही यज्ञ करने योग्य भूमि है। शेष म्लेच्छ देश हैं। इस श्लोक में यज्ञदेश स्थिर करने के लिए दो बातें बताई गई हैं- जहाँ मृग स्वभाव से चरते फिरते हों, अर्थात् जहाँ उनकी जीविका के लिए यथेष्ट चरभूमि हो। जंगल हों और जहाँ म्लेच्छ अर्थात् दस्यु न हों। मालूम हुआ कि यज्ञ वहाँ हो सकते हैं जहाँ चरभूमि हो, जंगल हों और जहाँ म्लेच्छ न हों अनार्य न हों।

जंगलों में यज्ञोपयोगी औषधियाँ और काष्ठादि मिलते हैं। यज्ञों में पुष्कल घृत की आवश्यकता होती है। वह पशुओं से प्राप्त होता है। वेद में लिखा है कि[14]-

हिमाच्छादित बड़े-बड़े गिरि और छोटे-छोटे पर्वत तथा अरण्य युक्त पृथ्वी कल्याणकारी हो। इन पहाड़युक्त जंगलों में ही यज्ञ करने से वास्तविक लाभ होता है। क्योंकि यज्ञों से उत्पन्न होने वाले रोगनाशक वाष्प वायु में मिलकर वायु को तभी शुद्ध करते हैं तब पहाड़ों से घिरे रहें और कहीं दूसरे देश को न उड़ जावें। इसी तरह जल बरसाने वाले यज्ञों के जल बनाने वाले हुत पदार्थ भी वायु में मिलकर तभी काम दे सकते हैं जब यज्ञ देश जंगलों और पहाड़ों से घिरा हो।

वेद में यज्ञोपयोगी देश का प्रथम लक्षण यही बतलाया गया है कि वह जंगल युक्त और पहाड़ी से घिरा हो। वेदों में भूगोल के ज्ञान का वर्णन इसीलिए किया गया है और इसीलिए संसार के टापू द्वीप और देशों का ज्ञान प्राप्त करना भी लिखा है-

नव भूमिः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि।

अथर्व० 11/7/6

मर्मृज्यन्ते द्वीपनमप्स्वन्तः[11]।

अथर्व० 4/8/7

यहाँ समुद्र से नई भूमि निकलने और समुद्रों के बीच में अन्यद्वीप निवासियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहा गया है। यह ज्ञान गोमेध यज्ञ से संबंध रखता है।

यज्ञ के प्रकरण में भूगोल का ज्ञान अर्थात् यज्ञोपयोगी देश के जानने की आवश्यकता पड़ती है। देश ज्ञान से वायु के चलने और उसके अनुकूल प्रतिकूल होने का भी संबंध है। किस देश में कब कौन सी वायु चलेगी बिना यह जाने पहाड़ों से भी काम नहीं चल सकता, यही अच्छे मुहूर्त का प्राथमिक बीज है। कहने का तात्पर्य यही है

कि यज्ञ के लिए भूगोल का ज्ञान आवश्यक है। उसी तरह भूगर्भ का ज्ञान भी आवश्यक है। यज्ञ मण्डप और यज्ञकुण्ड जहाँ बनाया जाता है वहाँ सबसे पहले भूमि का संशोधन किया जाता है। यज्ञविधियों में कहा गया है कि अमुक कुण्डों के लिए इतनी इतनी भूमि खोदनी चाहिए। भूमि के अंदर कोई धातु या पुराने नगर के भग्नावशेष नहीं होने चाहिए। इस तरह से पृथिवी की ऊपरी सतह से लेकर पानी की तह तक भूमि के संशोधन का विधान है।

दूसरा जहाँ म्लेच्छ न रहते हों वहाँ यज्ञ करना उपयोगी है। यहाँ म्लेच्छ से अभिप्राय अनार्यों, राक्षसों से है। इनके निवारण के लिए अश्वमेध यज्ञ का विधान है। यज्ञों में जिस प्रकार भूगोल और भूगर्भ ज्ञान की आवश्यकता है उसी तरह इमारत के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। इसीलिए आर्य लोग यज्ञ मण्डप को बहुत मजबूत और सुन्दर बनवाते थे। साधारण यज्ञशालाएं तो भले ही फूस की ही होती थीं, पर जहाँ हमेशा यज्ञ हुआ करते थे, ऐसी यज्ञशालाएं प्रत्येक ग्राम में ईंट की बनती थीं आजकल शिवालय को भी मण्डप ही कहते हैं, यह मण्डप वास्तव में यज्ञमण्डप ही है। उसमें आठ दरवाजे अभी तक होते हैं पर सात बंद कर दिये जाते हैं और एक निकलने के लिए रखा जाता है वही हवन कुण्ड का स्थान है। शिव की पूजा आरंभ होने के समय से ही यज्ञ कुण्ड के स्थान में शिवलिंग की स्थापना हुई है।

अतः यहाँ यह सिद्ध होता है कि आर्यों को भूगोल और भूगर्भज्ञान के साथ-साथ वास्तुशास्त्र का भी ज्ञान था जिसका उपयोग यज्ञों में भी किया जाता था। अर्थात् यज्ञों की सफलता के लिए ज्योतिष् और भौगोलिक ज्ञान की महती आवश्यकता है।।

सन्दर्भ सूची

1. वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृता यज्ञा प्रोक्तास्तेषु कालाश्रयेण।
   शास्त्रादस्मात्कालबोधो यतः स्याद्वेदागत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्तात्। (सिद्धान्त शिरोमणि)
2. The want of some rule by which to fix right time for the sacrifices gave that first impulse to astronomical observation. (Theebo)
3. प्रातर्प्रातर्गृहपतिर्नो०। सायंसायं गृहपतिर्नो०।।
4. ऋतुओं में ही यज्ञ करने से यज्ञकर्ता का नाम ऋत्विज अर्थात् ऋतुओं में यजन करने वाला है।
5. मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू (यजु० 13/25)। शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू।। (यजु० 14/6)
   नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू (यजु० 14/15)। तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू।। (यजु० 15/57)
   द्वे सृती अ शृण्वं पितृणामहं देवानामुत०। (यजु० 19/47)
6. षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत। (अथर्व 8/9/17)
7. The sastras which lasted for one year were nothing but an imitation of the sun's yearly course. They were divided into two distinct peats, each consisting of six months of 30 days each. In the midst of both was the Vishuvan i.e. the equator or the central day, cutting the whole satra into two halves. (Ait Brah, Intro, P. 48)

8. दृगुच्चमूलं नलकं निवेश्य वंशद्वयाधारमथास्य रग्धे।
विलोकयेत्खेचरं किलैवं जले विलोम तदपि प्रवक्ष्ये।। (सिद्धांतशिरोमणि)
9. मनोर्वाक्यं समाधाय तेन शिल्पीन्द्र शाश्वतः।
यन्त्र चकार सहसा दृष्ट्यर्थे दूरदर्शनम्।।
पलालाग्नो दग्धमृदा कृत्वा काचमनश्वरं।
शोधयित्वा तु शिल्पीन्द्रो नैर्मल्यं क्रियते च।
चकार बलवत्स्वच्छं पातनं सूपविष्कृतं।।
वंशपर्वसमाकारं धातुदण्डकल्पितम्।
तत्पश्चादग्रमध्येषु मुकुरं च विवेश सः।।
(शिल्पसंहिता)
10. आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् स्वस्थं गुरुः स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पतीति भाति समं समन्तात् क्ल परित्वयं रवे।। (गोलाध्याय)
11. स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकि सलिलं यथा।
तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोघौ मुनिसत्तम।
(विष्णुपुराण)
12. To the Hindus is due, the invention of Algebra and Geometry and their application to Astronomy, (Indian Wisdom, p.185)
13. कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः। (मनु० 2/23)
14. गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तो अरण्यंते पृथिवी स्योनमस्तु। (अथर्व. 12/1/11)

✦✦✦

ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय। –अथर्व. 14.1.31
हे प्रभु! पति को पत्नी का प्यारा बना।

इमां नारीं सुकृते दधात। –अथर्व. 14.1.59
इस नारी को उत्तम कर्मों में लगाओ।

दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्। –अथर्व. 14.2.2
प्रभु करे इसका पति दीर्घायु होकर सौ वर्ष जीता रहे।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (224-229) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

नारी अधिकार, वर्तमान चुनौतियाँ व वैदिक समाधान

वीरेन्द्र कुमार

पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

वैदिक ऋचायों से ज्ञात होता है कि नारी को आदि काल से ही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्राचीन समय से ही हमारी यह मान्यता है कि कन्या में सर्वदा लक्ष्मी निवास करती है। नारी को वेदोक्त काल में यज्ञ अर्थात् प्रत्येक उत्तम कार्य करने का अधिकार हैं वेदों में नारी को ब्रह्मा कहा गया है।[1] क्योंकि वह स्वयं विदुषी होते हुए अपनी संतान को सुशिक्षित करती है। इसलिए मनु महाराज का कथन है कि जो अपने परिवार का कल्याण चाहते हैं, वे स्त्रियों का सदा सम्मान करें।[2] स्त्री को ही घर कहा गया है, गृहिणी से ही घर का अस्तित्व है।[3] नारी की तुलना उषा से करते हुए कहा- तेज सम्पन्न उषा प्रकाश-रश्मियों से आकाश में सब दिशाओं को प्रकाशित कर देती है। रात्रि के अंधकार को निश्चयपूर्वक दूर करती है। सबको जगाती हुई स्वर्णिम किरणों के घोड़ों से युक्त रथ पर घूमती है। इसी प्रकार गुणवान नारी सबको चेतना प्रदान करके दुःखों का निवारण और सुखों का विस्तार करती है।[4] नारी को सरस्वती का रूप माना गया है और उसे विराट् अर्थात् विशेष तेजोमय कहा गया है। वह अपने ज्ञान से प्रतिष्ठित हो और विष्णु की तरह आदर प्राप्त करे।[5] वेद में वर्णन है कि स्त्री अबला नहीं सबला है। इन्द्राणी का कथन है कि जो दुष्ट मुझे अबला समझकर सताना चाहता है, मैं उसका विनाश करूंगी, मैं स्वयं वीर हूँ और वीर पुत्रों की माता हूँ। मरुत् मेरे सहयोगी हैं।[6]

वेदों में स्वयंवर अर्थात् प्रेम विवाह का समर्थन है। जिस प्रकार नर को नारी चयन का अधिकार है, उसी प्रकार नारी को भी नर चयन का अधिकार है। यहाँ प्रेम का विशुद्ध रूप है- अपने गुण-कर्म-धर्म-स्वभाव व शील के अनुरूप वर या वधू के चयन का निर्देश है।[7] वेदों में नारी के अधिकार के साथ-साथ कर्तव्यों का वर्णन करते हुए कहा है कि कन्या का परिश्रमी होना उत्तम गुण माना गया है।[7] नारी सुशील, मधुर भाषिणी, पतिव्रता, प्रसन्नचित्त, विदुषी व लज्जाशील होनी चाहिए।

न्यूनतायें:- कुछ स्त्रियों की न्यूनताओं की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है- 'कुछ स्त्रियों की मित्रता स्थायी और वास्तविक नहीं होती। उनका हृदय भेड़िये की भांति क्रूर और छलयुक्त होता है।[9] स्त्री-स्वभाव की अस्थिरता बताते हुए कहा गया है कि उनका मन चंचल होता है और वे जल्दबाजी करती हैं।[10]'

ऋषि-ऋषिकाओं के देश में जहाँ नारी को इतना गौरवमयी स्थान प्राप्त था, आज

वैश्वीकरण के युग में उसके सामने अनेक चुनौतियाँ हैं। जिनमें से प्रमुख निम्न हैं:-

1. समानता का अधिकार:- आज भी नारी को कई क्षेत्रों में पुरुष की वरीयता का सामना करना पड़ता है, जबकि वेदों में नारी को प्रत्येक यज्ञ तुल्य उत्तम कार्य करने का अधिकार दिया है-'जिस यज्ञ (उत्तम कार्य) में वेद-रक्षक विद्वान् तथा वेदवाणी में पारंगत विदुषी नारियाँ विराजमान हों, उस यज्ञ में विद्वान् जन हमें भी ले जायें,[11] सत्कार के योग्य, अहिंसक, सुखों की वर्षा करने वाली, तेजस्विनी और पवित्र विदुषी स्त्रियाँ विद्वान् पुरुषों के साथ मिलकर याज्ञिक कर्मों को पूर्ण करें।

अत: नारी प्राचीन काल में यज्ञ में भागीदार, सत्य और ऐश्वर्य की रक्षक, संग्रामों में सहायक, पूजनीया रही है।[12] जो स्त्रियाँ जल के समान शीतल स्वभाव वाली, पृथ्वी के समान सहनशील और वीरों के समान तेजस्विनी होकर विद्या प्राप्त करती हैं, वे विदुषी होती हैं।[13] अत: कन्यायें दिनोदिन विद्या प्राप्ति के लिए ज्ञान-यज्ञ के मार्ग पर आगे बढ़ें।[14]

2. प्रेम विवाह:- आज जो युवक युवतियाँ प्रेम विवाह करते हैं उनको अपनी जान का खतरा रहता है। जबकि वेद में नारी के वैवाहिक सम्बन्ध के विषय में कहा गया है कि युवक-युवती के विवाह का आधार प्रेम होना चाहिए। युवक युवती को चाहता हो और युवती युवक को। सुयोग्य ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी समागम के योग्य होकर एक-दूसरे की इच्छा करने वाले से विवाह करें।[15] 'पत्नी अपने योग्य पति को प्रसन्नतापूर्वक वरण करके, उससे उत्साहपूर्वक विवाह करे।'[16]

3. बढ़ते विवाह-विच्छेद:- वेद में जहाँ प्रेम विवाह का समर्थन, वहीं पर यह भी निर्देश है कि नर व नारी दोनों के गुण-कर्म-स्वभाव-शील समान हों ऐसा विवाह श्रेयस्कर है। अर्थात् विवाह का आधार गुण-कर्म होने चाहिए न कि धन-सम्पदा, भौतिक पदार्थ-पद आदि। ऋचा कहती है कि- 'सुन्दर सुखदायी विद्यायुक्त कन्या समान गुण कर्म-स्वभाव वाले विद्वान् के साथ विवाह करके तेजसम्पन्न होती है।'[17] ''रूप-गुण-बुद्धि आदि में समान वर-वधू ही शारीरिक और मानसिक आनन्द प्राप्त करते हैं।''[18] वेद का निर्देश है कि जब नर नारी के पालन-पोषण का पूरा भार उठाने में समर्थ हो, तभी विवाह करे। उत्तम विवाह के विषय में कहा गया है कि कन्या का आचार-विचार शुद्ध हो और वह विदुषी हो। वर के लिए कहा है कि वह ज्ञानी और विद्वान् हो। मानसिक, शारीरिक और पैतृक रोग, इन पर विचार करके ही विवाह सम्बन्ध करना चाहिए- यदि वधू को पैतृकता से प्राप्त रोग है, तो श्रेष्ठ चिकित्सक और विद्वान् उसे दूर करें, जिससे वह पतिकुल में उसे कष्ट न दें।[19] वेद में ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि-

'सब देवता और विद्वान् हम दोनों (वर-वधू) के लिए सुसंगत हो। ये हमें समान हृदय वाले बना दें। परमेश्वर हम में सम्यक् जीवन धारण करें।[20] यजुर्वेद में कहा है कि- जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी को कोमल करके शिल्प कर्म से उत्तम बर्तन बनाता है, उसी प्रकार सुशिक्षित मृदुल स्वभाव और गृहकार्यों में कुशल कन्याओं का निर्माण करके माता-पिता समान गुण-कर्म-स्वभाव वाले ब्रह्मचारियों से उनका विवाह करें।[21]

4. सगोत्र विवाह निषेधः- वेद में जहाँ प्रेम विवाह का समर्थन है, वही सगोत्र विवाह का विरोध है। यम और यमी विवस्वान् (सर्वत्र व्यापक ईश्वरीय चेतना) के पुत्र तथा पुत्री होने के कारण परस्पर सगे भाई-बहन हैं, जिनका विवाह और शारीरिक सम्बन्ध निषिद्ध है। यमी-यम के माध्यम से यह बताया है कि भाई-बहन परस्पर विवाह कभी न करें। परन्तु बहन अपने भाई के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ तथा भाई अपनी बहन के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री से विवाह करें। यमी कहती है, हे यम! प्रेमासक्त भाव से तुझे प्रियतम के रूप में प्रवृत्त करना चाहती हूँ। यम यह स्वीकार करते हुए कि भविष्य में ऐसा हो सकता है कि बहनें मर्यादाहीन होकर भाईयों को ही पति बनाने लगें, यमी के साथ विवाह और शारीरिक संबन्ध करने को तैयार नहीं होता और कहता है, हे सौभाग्यवती! तू मेरे अतिरिक्त अन्य किसी वीर्यवान पुरुष को पति के रूप में बाहों में भरकर अपनी इच्छा की पूर्ति कर।[22] अतः सहोदर भाई-बहन में शारीरिक मिलन का निषेध है। ऐश्वर्य सम्पन्न उषा का प्रकाश दूर से प्राप्त होता है। ऐसे ही पुरूषों को दूरस्थ स्थान की सौभाग्यवती कन्याओं से विवाह करना चाहिए।[23]

एसिड अटैक अर्थात् एक पक्षीय प्रेमः- आज नारी पर एसिड अटैक के हमले बढ़ते जा रहे हैं, जिसका मूल कारण एक पक्षीय प्रेम होता है। जब कोई नर नारी से एक पक्षीय प्रेम करता हो और नारी का विवाह अन्य पुरुष से हो गया हो। तो ऋग्वेद में कहा है- हे विवाह के इच्छुक पुरुष! तू यहाँ से उठ! यह कन्या पति को प्राप्त कर चुकी है। इसका विवाह हो गया है। समस्त धनों के स्रोत और सबका घर बसाने वाले परमेश्वर की अर्चना विनम्र वाणी से कर। पिता के घर रहने वाली किसी अन्य युवती की इच्छा कर। अर्थात् उस युवती से प्रेम कर जो किसी अन्य युवक से प्रेम नहीं करती। जन्म से निश्चित वही तेरा भाग्य है। उसकी खोज कर और विवाह कर।[24] यह ऋचा स्पष्ट करती है कि दाम्पत्य सम्बन्ध ईश्वरीय व्यवस्था के अन्तर्गत निश्चित है।

6. लिव इन रिलेशन बनाम गृहस्थः- कई युवा लिव-इन को शास्त्रों में वर्णित गंधर्व विवाह का आधुनिक रूप कहते हैं। गंधर्व विवाह वह विवाह होता था, जिसमें स्त्री-पुरुष प्रकृति को साक्षी मानकर स्वयं को पति पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेते थे। इस विवाह में सामाजिक सहमति की आवश्यकता नहीं होती थी। लिव इन में भी नर और नारी बिना विवाह किए सिर्फ आपसी सहमति से एक साथ रहते हैं।

शादी- शादी न सिर्फ दो आत्माओं का बल्कि दो परिवारों का भी मिलन है। शादी में वर-वधू को सामाजिक तौर पर एक सूत्र में बंधने की मान्यता प्राप्त होती है। गृहस्थ में स्त्री व पुरुष दोनों का सम्मान व प्रतिष्ठा निहित है। शादी को कानूनी और सामाजिक सुरक्षा भी मिलती है। वैश्वीकरण के इस दौर में भले ही रिश्तों की नयी सोच की बयार बह रही हो, लेकिन बावजूद इसके शादी आज भी लिव-इन रिलेशन से ज्यादा सुरक्षित है। वेद का आदेश है- गृहस्थ आश्रम से मत डर, मत कांप, विचलित न हो। संकल्पपूर्वक उत्तम बुद्धि और विचार से गृहस्थ के उत्तरदायित्वों को उत्साहपूर्वक पूर्ण कर।

प्रसन्नतापूर्वक घर में प्रवेश कर। परिवार में ऊर्जा सम्पन्न होकर आनन्द से जीवन व्यतीत कर।[25]

7. भ्रूण हत्या निषेधः- बड़े दुःख की बात है कि आज भी लिंग के आधार पर कन्या भ्रूण की हत्या हो रही है। इससे भी बड़ा दुःख यह है कि साक्षर और सम्पन्न परिवारों में यह दर और भी ज्यादा है। वेद में भ्रूण या शिशु हत्यारे को मृत्यु का दण्ड देने का विधान है- 'हे स्त्री! जो व्यक्ति तेरे गर्भ को नष्ट करे या उत्पन्न शिशु को मार दे, धनुर्धारी वीर पुरुष उसके हृदय को छेद दे, उसका वध कर दे।'[26]

8. अंगप्रदर्शन बनाम श्रृंगारः- यह विषय ऐसा है कि जो कोई भी इस विषय पर बोलता है, उसकी सोच पर सवाल उठाकर तालीबानी सोच बताकर उसकी बोलती बंद करवा दी जाती है। अक्सर हमें यह सुनने को मिलता है कि..... 'नजर तेरी खोटी और कपड़े मैं पहनूँ'। आज हम श्रृंगार के नाम पर 'अर्द्ध-नग्न' घूम रहे हैं। वेद में श्रृंगार का तो समर्थन है लेकिन अंग प्रदर्शन का विरोध है- 'हे वधू! घर की स्त्रियों ने सूत कात कर और बुनकर जिस वस्त्र को विस्तृत करके इसे चारों ओर सुसज्जित किया है, यह तेरी वृद्धावस्था तक तुझे ढ़कता रहे। हे आयुष्मति तू इस वस्त्र को धारण कर।'[27] तेरी पिंडलियां नंगी न रहे ढकी रहें। तब निश्चय से तू यज्ञ की ब्रह्मा और पूजनीय हो जायेगी।[28]

नारी श्रृंगार करें- सूर्य की स्वर्णिम शोभा के समान सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित पत्नी-पति के लिए जल से पार करने वाली नाव के समान व्यवहार करें।[29] अर्थात् वह सुन्दर वस्त्र और स्वर्ण-आभूषण धारण करती है। अभिप्राय यह है कि स्त्री को अपने अंगों का अभद्र प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। उसका सुशील व लज्जाशील व्यवहार उसके लिए शोभाजनक है।

9. बलात्कार व नारी हिंसाः- नारी के शील की रक्षा को राष्ट्रीय उत्तरदायित्व बताया गया है। जहाँ नारी के चरित्र की पूर्ण सुरक्षा होती है, वही राष्ट्र सुरक्षित कहा गया है। स्त्रीहरण को महापाप कहा है। स्त्रीहरण ही रावण जैसे महाबली के विनाश का कारण बना। वेद की आज्ञा है- स्त्री को अपमानित और पीड़ित करने वाले मांसभक्षक तथा व्यभिचारी लोगों को कठोर दण्ड दो।[30]

व्यभिचारी को नपुंसक बनाओः- हे औषधि! तू वनस्पतियों में श्रेष्ठतम और विख्यात है। मेरे इस व्यभिचारी शत्रु मनुष्य को नपुंसक और निवीर्य कर दे।[31] हे उत्तम औषधि! इसे नपुंसक और स्त्री के समान कर दे! हे राजन! दो कठोर यंत्रों से, पत्थरों से व्यभिचारी के दोनों अण्डकोश तोड़ दे।[32] जिस प्रकार स्त्रियाँ नारियल या नरकट को पत्थर से तोड़ती या कूटती हैं, उसी प्रकार दोनों अण्डकोषों के ऊपर स्थित तेरे प्रजननांग को तोड़ता या कूटता हूँ।[33]

व्यभिचारी को नारी स्वयं भी सजा देः- हे स्त्री! जिस प्रकार कूदने वाली गाय दूध दूहने वाले पात्र को लात-मार देती है, उसी प्रकार तू भी हिंसक, बलात्कारी, मारपीट और तोड़-फोड़ करने वाले व्यभिचारी पुरुष को पैरों से ठोकर मार दे।[34]

व्यभिचारी को मृत्यु की सजा दोः- जिस प्रकार परिक्रमा करता हुआ सूर्य अंधकार को मिटा देता है, उसी प्रकार जो कोई तुझ सोती हुई स्त्री को छलना चाहे या जागती हुई

को सताना चाहे, उसे तेरा पति या रक्षक नष्ट कर दें।[35] उस दुष्ट को नष्ट कर। उसका पीछा कर और उसकी पसलियाँ तोड़ दो। वह जीवित न रहे। उसके प्राण निकल जाये।[36]

ऐसे दुष्ट को अग्नि ज्वालाओं में ऐसा रखता हूँ, जैसे अन्न को दाढों में चबाया जाता है। वह अग्नि उसे किसी भी प्रकार निगल जाये।[37]

भाव यह है कि व्यभिचारी दुष्टों का संहार हो। उन्हें मृत्यु दण्ड मिले। हे शक्तिमान्! समाज के नीच, व्यभिचारी तथा मांसभक्षक व्यक्ति को उल्टा लटका कर दण्ड दो और समाज को सुखी करो। स्त्रियों के व्यापार या व्यभिचार से जीविका कमाने वाले को नीचे गिरा, दण्डित कर और न्याय व्यवस्था को ठीक प्रकार चला।[38]

उपसंहारः- यदि हम नारी की गौरवमयी, सम्माननीय आद्य अवस्था को पुनर्जीवित करना चाहते हैं तो हमें अपनी मनोवृत्त में पूर्ण परिवर्तन लाना होगा। वस्तुतः सामाजिक संरचना की नयी अवधारणा को आधार देना होगा, जिसमें मनुष्य के सामाजिक व आध्यात्मिक विकास में नारी की भूमिका को अच्छी तरह समझा और स्वीकार किया गया हो। समृद्ध व सुखी समाज के उद्भव के लिए यह परम आवश्यक है।

सन्दर्भ-संकेत-

1. स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ(ऋग्वेद 8/33.19)
2. तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
   भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च।।
   (मनुस्मृतिः 3/59)
3. जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु। (ऋग्वेद 3/53/4)
4. व्यञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः।
   प्रबोधयन्त्यरुणेभिरश्वैरोषा याति सुयुजा रथेन।।
   (ऋग्वेदः 1/113/14)
5. प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति।
   सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत्।
   (अथर्ववेद 14/2/15)
6. अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
   उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। (ऋग्वेदः 10/86/9)
7. युवो रथं दुहिता सूर्यस्य सह श्रिया नासत्यावृणीत।। (ऋग्वेद 1/117/13)
8. अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती।
   (अथर्ववेद 6/60/2)
9. पुरूरवोमा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
   न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।। (ऋग्वेद 10/95/15)
10. इन्द्रश्चिद्घा तदब्रवीत्स्त्रिया अशास्यं मनः उतो अह क्रतुं रघुम्।। (ऋग्वेद 8/33/17)
11. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
    अच्छा वीरं नर्यं पंक्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः।। (ऋग्वेद 1/40/3)
12. संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।
    वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः (ऋग्वेद 10/86/10)
13. आपश्चिदस्मै पिन्वन्त पृथ्वीर्वृत्रेषु शूरा मंसन्त उग्राः।। (ऋग्वेद 7/34/3)
14. अभि प्र स्थाताहेव यज्ञं यातेव पत्मन्त्मना हिनोत।। (ऋग्वेद 7/34/5)
15. जनिष्ट योषा पतयत्कनीनको वि चारुहन्वी-रुधो दंसना अनु।
    आस्मै रीयन्ते निवनेव सिन्धवोऽस्मा अह्ने भवति तत्पतित्वनम्।। (ऋग्वेद 10/40/9)
16. उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्
    मित्रैतां तऽउखां परिददाम्यभित्याऽएषा मा भेदि। (यजुर्वेद 11/64)
17. तं गूर्तयो नेमन्निषः परीणसः समुद्रं न संचरणे

सनिष्यवः।
पतिं दक्षस्य विदथस्य नू सहो गिरिं न वेना अधि रोह तेजसा। (ऋग्वेद 1/56/2)

18. तमिन्वेव समना समानमभि क्रत्वा पुनती धीतिरश्याः।
ससस्य चर्मन्नधि चारु पृश्नेरग्रे रुप आरुपितं जबारु।। (ऋग्वेद 4/5/7)

19. ये वध्वश्चन्तं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनादनु।
पुनस्तान्यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः।। (ऋग्वेद 10/85/31)

20. समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ।। (ऋग्वेद 10/85/47)

21. संꣳसृष्टां वसुभी रुद्रै धीरैः कर्मत्यां मृदम्।
हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्।। (यजुर्वेद 11/55)

22. आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।। (अथर्ववेद 18/1/11)

23. एषायुक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि।
शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान्।। (ऋग्वेद 1/48/7)

24. उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीळे।
अन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि।। (ऋग्वेद 10/85/21)

25. गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत-ऽएमसि।
उर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः।। (यजुर्वेद 3/41)

26. यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते।
पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम्।। (अथर्ववेद 8/6/18)

27. या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः।। (अथर्ववेद 14/1/45)

28. अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन्त्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ। (ऋग्वेद 8/33/19)

29. स्तरीर्नात्कं व्युतं वसाना सूर्यस्य श्रिया सुदृशी हिरण्यैः।। (ऋग्वेद 1/22/2)

30. अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्।
अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मध्वा जभार।। (ऋग्वेद 4/18/13)

31. त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे।
इमं मे अद्य पुरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि।। (अथर्ववेद 6/138/1)

32. क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ।। (अथर्ववेद 6/138/2)

33. यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना।
एवा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः।। (अथर्ववेद 6/138/5)

34. पदा प्र विध्य पाष्ण्र्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना।। (अथर्ववेद 8/6/17)

35. यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम्।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत्।। (अथर्ववेद 8/6/8)

36. तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि।
स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु।। (अथर्ववेद 16/7/12-13)

37. वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि।
एवानेवाव सा गरत्।। (अथर्ववेद 16/7/3-4)

38. उत्सवथ्याऽअव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्।
य स्त्रीणां जीवभोजनः।। (यजुर्वेद 23/21)

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (230-234) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

पृथिवी सूक्त के वैज्ञानिक तथ्य

डॉ० संगीता विद्यालंकार

कन्या गुरुकुल परिसर, हरिद्वार

आदिकाल से मनुष्य अपनी आवश्यकता तथा क्षमता के अनुसार प्रकृति से विभिन्न रूपों में संबंध स्थापित करता रहा है। प्रकृति के प्रति मानव की यह प्रवृत्ति किसी भी रूप में जीवन के उद्देश्य और अर्थ से सम्बन्धित प्रवृत्ति से पृथक् नहीं कही जा सकती। भारतीय संस्कृति प्रकृतिमय कही गयी है क्योंकि प्रकृति के विरुद्ध जाना भारतीय संस्कृति के मर्यादाओं के विरुद्ध जाना है। आज हमारे वैज्ञानिक अपने अनुसंधानों के आधार पर जो कह रहे हैं, उसे हमारे ऋषि- मुनियों ने अपने दिव्यचक्षु से हजारों वर्ष पहले कह दिया था।

भारतीय संस्कृति के अनुसार यह संसार पाँच तत्त्वों से बना है। ये पाँच तत्त्व हैं- पृथ्वी, आकाश, जल, वायु तथा अग्नि। यद्यपि यह कहना कठिन है प्रथम तत्त्व कौन है? तैत्तिरीयोपनिषद्[1] के अनुसार प्रकृति में ईश्वर ने सर्वप्रथम आकाश को बनाया फिर वायु (गैसीय पदार्थ) और अग्नि (ऊर्जा) और बाद में पृथ्वी और जल। दूसरी ओर यजुर्वेद[2] के अनुसार ईश्वर ने सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड का निरूपण किया फिर पृथ्वी का-

ततो विराडजायत
विराजोऽधि पूरुषः।
स जातोऽत्यरिच्यत
पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥

महाभारत में कहा गया है कि सृष्टि का निर्माण आकाश से प्रारंभ हुआ। बाद में जल और वायु का उदय हुआ और दूसरे तत्त्वों के संगठन से अग्नि का अभ्युदय हुआ और जब ये चारों तत्त्व नीचे की ओर आये तो पृथ्वी अस्तित्व में आयी और बाद में ये चारों तत्त्व ही प्रकृति के जन्मदाता बने[3] और जब इन तत्त्वों के साथ मन, अहंकार और बुद्धि भी मिल जाते हैं तो यह आठ तत्त्व मिलकर प्रकृति का निर्माण करते हैं।

यह भौतिक जगत् इन पञ्च तत्त्वों का ही परिणाम है। इन पाँच तत्त्वों की शुद्धता को भारतीय संस्कृति में जो महत्त्व दिया गया है वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है।

विज्ञान सार्वभौम, सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक सत्ता है। विज्ञान भी जगत् को पाँचभौतिक मानकर चलता है। चरक ने कहा है- सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे (च० सू० 26/10)। सुश्रुत ने भी महाभूतों को सृष्टि का मूलाधार माना है- भूतेभ्यो हि परं किञ्चिन्नास्ति चिन्ता चिकित्सते (सु० शा० 9)।

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों पञ्चमहाभूत, त्रिदोष, रस, गुण, वीर्य विपाक आदि सभी का आधार विज्ञान है।

अथर्ववेद के (12/1) पृथ्वी सूक्त के

ऋषि अथर्वा है और देवता (प्रतिपाद्य विषय) है- भूमि या पृथिवी। इस सूक्त में पृथिवी की महत्ता, विशालता, सांस्कृतिक महत्त्व का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस सूक्त का वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से विशेष महत्त्व है। पृथ्वी और भूमि ये दोनों पद समानार्थक माने जाते हैं, किंतु व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों के आधार पर इसमें सूक्ष्म अन्तर है[4] सूक्त में 63 मंत्र हैं तथा इन मंत्रों में पृथ्वी और भूमि दोनों में से प्रत्येक पद का 38 बार प्रयोग हुआ है तथा 15 स्थलों पर दोनों पदों का एक साथ प्रयोग हुआ है। कहीं कोई पद विशेषण और कहीं कोई पद विशेष्य के रूप में प्रसंगानुसार प्रयुक्त हुआ है।

पृथिवी सूक्त में जल, थल एवं वायु तीनों का विशद् वर्णन है। तीनों का होना प्राणिजगत् के लिये उपयोगी है। इनसे एक के भी नष्ट होने पर जीवन का अस्तित्व संभव नहीं है। **पृथिवी** पद को **ध्रुवा, शिवा, स्योनम्** आदि अनेक विशेषणों से विभूषित किया गया है। **'ध्रुवा'** पद इसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण को संकेतित करता है। **'ध्रुवा'** पद का अर्थ स्थिर, अटल है अर्थात् यह पृथिवी अपने ऊपर विशाल जलराशि को, पर्वतो को धारण करते हुये भी अटल, स्थिर है। इसमें कोई कम्पन नहीं है। इन सभी विशेषताओं के साथ-साथ यह भारी पदार्थों को अपनी ओर खीचनें वाली और धारण करने की शक्ति वाली है।[5] इस निर्देश द्वारा पृथिवी में गुरुत्वाकर्षण की ओर संकेत किया गया है जो बाद में न्यूटन के गति-नियम सिद्धान्त के रूप में प्रसिद्ध हुआ। अथर्वा ऋषि ने बताया है कि पृथ्वी को इन समस्त पदार्थों को धारण करने में सत्य, ऋत, क्षत्र-शक्ति, दीक्षा, तप ब्रह्मशक्ति और यज्ञ-ये सात महाशक्तियाँ सहायता कर रही हैं। तथा किसी राष्ट्र के निर्माण में भी यह सात महाशक्तियाँ सहायक होती हैं।

वैज्ञानिकता के साथ इस सूक्त में सामाजिकता, राष्ट्रप्रेम और अध्यात्म का भी अपूर्व समन्वय है। जैसे- **माताभूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः**[6] उक्ति द्वारा पृथिवी को माता के रूप में स्वीकार किया गया है। जैसे पुत्र माता की आज्ञा को शिरोधार्य करके उसके प्रत्येक आदेश का अनुगमन करता है। उसी प्रकार हम पृथ्वी के पुत्र हैं और हमें अपनी मातृभूमि के लिये सर्वस्व न्यौछावर करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। इस प्रकार राष्ट्रप्रेम के साथ-साथ प्रकृति से आत्मीय संबंध की भी स्थापना की गयी है।

वस्तुतः माता रूप में पृथ्वी की कल्पना अत्यंत प्राचीन है वेद में यत्र-तत्र पृथिवी को माता-पिता के रूप में भी चित्रित किया गया है। वैज्ञानिक आधार का विश्लेषण करते हुये कहा जा सकता है कि पृथिवी सूक्त में अनेक रूपों में विद्यमान जलतत्व का विशेष रूप से निरूपण किया गया है। समुद्र, नदियां, वर्षा आदि अनेक जल इस पृथ्वी पर विद्यमान है। जल तत्त्व को **'परिचराः'** की संज्ञा दी गयी है[7] अर्थात् यह सर्वत्र उपलभ्यमान तत्त्व है। यह जल प्रसन्नता और सुख का मूलाधार है। इसके द्वारा कृषि कार्य होते हैं[8] यह कहीं अतिवृष्टि और अनावृष्टि के रूप में जनजीवन को त्रस्त न कर दे इसलिए इसको सहस्त्रधारा, रासमाना, पयोदुहा कामदुआ आदि अनेक विशेषणों से परिभाषित किया गया है। अथर्ववेद के ही एक अन्य स्थल पर पाँच प्रकार के जलों[9] का संकेत है। (रेतीले, कीचड़, खोदे

गये कुओं, घड़ों और वर्षा)। जो पृथिवी और जल के अन्तर्निहित संबंधों को व्यक्त करता है। जो वनस्पति विज्ञान तथा रसायन शास्त्र के शोध के लिए उपयोगी है और इससे प्रेरित होकर अनेक वैज्ञानिको ने शोध कार्य भी किया है।

पृथिवी **'वसुन्धरा'** है। विश्वकर्मा है अतः यह ऐश्वर्यों की खान है। इस प्रकार प्राणियों, वनस्पतियों, पर्वतों, गिरियों तथा समस्त चराचर जगत् को अपने में समेटे हुये है। पृथिवी का निर्माण अश्मधूलि, और शिला आदि से होता है। उसे **'हिरण्यवक्षा'** कहा है क्योंकि उसके गर्भ में सुवर्ण, हीरा मोती प्रवाल वैदूर्य आदि की खानें हैं। इसलिए वह 'विश्वम्भरा'[10] भी है इसको **'विमृग्वरा'** विशेषण से भी सम्बोधित किया है जिसका अर्थ है विशेष रूप से खोजने योग्य। अर्थात् खनिज तत्त्व उसके गर्भ से सावधानीपूर्वक खोजने चाहियें जिससे वह आहत न हो और पर्यावरण दृष्टिकोण से भी उसका दुष्प्रभाव न हो। यह तथ्य भी भूगर्भ वैज्ञानिकों के लिये अन्वेषणीय है।

'पृथिवी' सूक्त में अग्नि तत्त्व का विशेष रूप से वर्णन है। अग्नि ही वह तत्त्व है जिसने वैदिक ऋषियों को सर्वाधिक आकर्षित किया है। यह अग्नि पृथिवी पर जल रूप में पत्थरों में, प्राणियों में, सर्वत्र व्याप्त है। यह अग्निद्युलोक में भी (सूर्य के रूप में) अन्तरिक्ष में (विद्युत्) रूप में पृथ्वी पर भौतिक अग्नि के रूप में विद्यमान है[11] यह अग्नि हवि को ले जाने वाला और घृत को चाहने वाला है। पृथिवी के गर्भ में और मध्य में जो ऊर्जा है वह भी अग्नि के कारण है। यही ऊर्जा वनस्पतियों को भोजन देती है। आज यही अग्नि 'सौर ऊर्जा' आदि अनेक रूप में विद्यमान है। अग्नि को **वैश्वानर** कहा गया है।

पृथिवी सूक्त में वायु का भी वर्णन है। वायु के तीव्र वेग को वात कहा गया है। वेद में अन्तरिक्ष में बहने वाला वात मातरिश्वा[12] कहलाता है। जो धूलि को उड़ाता है और वृक्षों को उखाड़ फेंकता है। इस वायु के इधर उधर बहने पर अग्नि इसका अनुगमन करती है।

एक मंत्र में कहा गया है कि जिस भूमि पर तमोमय अंधकार और प्रकाशमय दिन इकट्ठे होकर रात और दिन बनाते हैं वह भूमि हमें कल्याणकारी स्थानों में स्थापित करें[13]। स्पष्टतः यहाँ अहोरात्र का निर्देश है और इसे काल का निसर्ग रूप माना जा सकता है जो क्रमशः प्रकाश और अंधकार द्वारा काल परिवर्तन को सूचित करता है।

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में वर्णित कतिपय सिद्धांत को रसायनशास्त्र का मूलाधार कहा जा सकता है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच तत्त्व पञ्चमहाभूत कहे जाते हैं। इन्हीं से चेतनाधिष्ठानभूत मानव शरीर, आहार द्रव्य तथा औषध द्रव्य बने हैं। आहार द्रव्यों द्वारा शरीर में इन तत्त्वों की पूर्ति होती रहती है इन तत्त्वों की वृद्धि या ह्रास से जब कोई विकार पैदा होता है तब उसे दूर करने के लिए उसी के अनुसार इन तत्त्वों को घटाने या बढ़ाने वाले द्रव्य दिये जाते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद एवं रसायन शास्त्र का संपूर्ण विचार चाहे वह स्वास्थ्य संबंधी हो अथवा विकार संबंधी सभी पञ्चमहाभूतों के माध्यम से वात, पित्त, कफ के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। पृथ्वीसूक्त में इन पंचमहाभूतों का

यत्र-तत्र विस्तृत वर्णन है। इन पञ्च तत्त्वों में से पृथ्वी तत्त्व अत्यंत गुरु एवं स्थूल है और आकाश तत्त्व अत्यंत सूक्ष्म। अतः यह दोनों तत्त्व कार्यकर नहीं होते। अतः शेष तीन तत्त्व जल, अग्नि, वायु ही कार्यकर होते हैं। प्रकृति के रूप में ये तीनों तत्त्व सूर्य, चन्द्र और वायु के रूप में प्राकृतिक क्रियाओं का संचालन नियमन करते हैं। इसी प्रकार शरीर में इनके प्रतिनिधि (वात) वायु पित्त (सूर्य) और कफ (जल) समस्त शारीरिक क्रियाओं का संचालन करते हैं। अतः पृथिवी सूक्त में वर्णित पञ्चमहाभूत आयुर्विज्ञान के मौलिक सिद्धांत त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) रस, गुण, वीर्य विपाक आदि सभी का आधार है। वस्तुतः ऋग्वेद में ताम्र, हिरण्य (सुर्वण) और कांस्य के उपयोग का वर्णन मिलता है।[14]

ऋग्वेद में लौह, अयस् में ताम्र की एक रूपता मानी जाती है वहाँ अयस् शब्द ताम्र का वाचक है। बाद में लोहितायस और कृष्णायस शब्दों से ताम्र और लोहे का ग्रहण किया जाने लगा। अथर्ववद के पृथिवी सूक्त में रजत, लोहितायस् श्यामअयस् का उल्लेख मिलता है।

सूक्त में वर्णित गोदुग्ध, पयस, शब्द वैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्व रखते हैं। जैसे गोदुग्ध, गोमूत्र तथा त्रिफला (आंवला, हरड़, बहेड़ा) आदि शब्द उपचार दृष्टि से विज्ञान सम्मत है। यद्यपि पृथ्वी सूक्त में विज्ञान का प्रत्यक्ष स्वतंत्र वर्णन तो नहीं मिलता, किंतु इसमें उपलब्ध सामग्री परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से वैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करती है।

इस प्रकार पृथ्वी सूक्त में किसी प्रकार की नकारात्मक ऊर्जा का संकेत नहीं मिलता। यह पृथ्वी सुन्दर रूपवाली, शांतिकारक, सुगन्धयुक्त, सुख देने वाली, अन्न देने वाली, इच्छाओं को पूर्ण करने वाली स्तुतियोग्य तथा कल्याणमयी है। पृथ्वी मातृवत् आदरणीया तथा संरक्षणीया है। हम पृथ्वी के पुत्र हैं। यह हमारा कर्तव्य है कि इसकी रक्षा के लिए हम सदैव तत्पर रहें।

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने **'वेदों का राष्ट्रीय गीत'**[15] नामक पुस्तक में पृथ्वी सूक्त के विभिन्न रूपों का उदात्त चित्र प्रस्तुत किया है। समस्त राष्ट्रवासियों का अपने राष्ट्र के प्रति क्या कर्तव्य है? इसका भी मार्मिक चित्रण किया गया है। यह सूक्त काव्य भी है, नीति भी तथा संस्कृति के तत्त्वों को बताने वाली उत्कृष्ट रचना भी है तथा आज की मूलभूत समस्या पर्यावरण पर भी यज्ञ के माध्यम से प्रकाश डालती है। इस प्रकार प्रस्तुत लेख में पृथ्वी की अगणित विशेषताओं के साथ इसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण की व्याख्या करने का अल्प प्रयास किया गया है। यह ध्यातव्य है कि पृथ्वी सूक्त के ये वैज्ञानिक तथ्य सदा से प्रासंगिक हैं।

सन्दर्भ-

1. तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक-1
2. यजुर्वेद 31/5
3. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहंकारइतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। भगवद् गीता 7/4
4. या तेनोच्यते सा देवता। सर्वानुक्रमणी
   ख-निघण्टु 1/1
   ग-यदप्रथयत तत् पृथिवीव्यै पृथिवीत्वम्। तै ब्रा० 9/9/13/6-7

घ–भवन्ति भूतानि यस्यां सा (सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम सम्मुल्लास)
5. Three lows of Motion
ख सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ अथर्व 12/1/1
6. अथर्व 12/1/12
7. सानो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः। अथर्व 12/1/10
8. सहस्त्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां अथर्व 12/1/45
9. शं न आपो धन्वन्याः शमु सन्त्वनूप्या अथर्व 1/6/4
10. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणम् अथर्व. 12/1/45
ख विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा अथर्व. 12/1/6
11. क अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो अथर्व. 12/1/19
ख अग्निर्दिव आ ..... अथर्व 12/1/20
ग वैश्वानरं बिभ्रती ..... अथर्व 12/1/6
12. यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि .... अथर्ववेद 12/1/51
13. यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ..... अथर्व. 12/1/52
14. ऋग्वेद 9/56/9 9/922/2
15. वेद का राष्ट्रीय गीत, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी विश्व–विद्यालय, हरिद्वार।

✦✦✦

जागृतादहम्।
मैं जागरूक रहूँ।

अहं भूयासमुत्तमः। –अथर्व. 6.15.2
मैं उत्तम बनूँ।

भक्तिवांसः स्याम। –अथर्व. 6.79.3
हम भक्तिमान् बनें।

यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट। –अथर्व. 7.31.1
जो हमसे शत्रुता करता है वह अधोगति पाये।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (235-239) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

योग एवं वैदिक साहित्य में 'अपरिग्रह'

डॉ० राम हरीश मौर्य

दी.उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ० प्र०)

परि उपसर्गपूर्वक √ग्रह-उपादाने धातु से निष्पन्न परिग्रह शब्द का अर्थ हुआ 'परितो ग्रहः परिग्रहः। न परिग्रहः अपरिग्रहः।' आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना परिग्रह तथा ऐसा न करना 'अपरिग्रह' कहलाता है। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाङ्ग योग में पाँच यम का उपदेश किया है जिसमें 'अपरग्रिह' पाँचवा यम है **'अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'।**[1] श्रीमद्भागवत महापुराण में भगवान् श्री कृष्ण उद्धव के प्रश्नों **(यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन।)**[2] का उत्तर देते भगवान् श्री कृष्ण ने कहा- **अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्।।**[3] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असङ्ग, लज्जा, असञ्चय (आवश्यकता से अधिक धन इकट्ठा न करना), आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय ये बारह यम हैं। उक्त कथन में 'अपरिग्रह' को असञ्चय नाम से कहा गया है।

महर्षि पतञ्जलि ने 'अपरिग्रह' की कोई परिभाषा नही की किंतु योगदर्शन के भाष्यों एवं टीकाओं में 'अपरिग्रह' को परिभाषित किया गया है। जो इस प्रकार है- **विषयाणमर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनाद-स्वीकरणमपरिग्रहः।**[4] संसार के बंधन के कारण धन आदि भोग्य पदार्थों के संग्रह करने में दोष, संग्रह किये हुए की रक्षा करने में दोष, उनके नाश होने में दोष, उनमें आसक्त होने में दोष और प्राणियों की हिंसा (पीड़ा) में दोष दिखाई देने से इन भोग्य पदार्थों का संग्रह न करना ही 'अपरिग्रह' है।

अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः।[5] अपरिग्रहश्चहिंसाद्यसंख्यदोषदर्शनतः पदार्था-नामस्वीकारः।[6] अपरिग्रहो नाम देहयात्राऽतिरिक्त-भोगसाधनास्वीकारः।[7] अपरिग्रहः शरीरस्थिति-मात्रव्यतिरिक्तभोगसाधनास्वीकारः।[8] अर्जन-रक्षणादिषु दोषो दुःखं तद्दर्शनाद् देह-रक्षाऽतिरिक्तस्य विषयस्यास्वीकरणमपरिग्रहः।[9] शास्त्रीयाणामप्युपार्जितानां च रक्षणादिदोषदर्शनाद-स्वीकरणमपरिग्रहः।[10] परिग्रहे हिंसाऽऽद्या अपि दोषास्तेषां दर्शनादिति विशेषणं दम्भाशयादि-निमित्तकास्वीकरणेऽतिव्याप्ति निरासायेति।।[11]

देहरक्षाऽतिरिक्तानां
पञ्चधा दोषदर्शनात्।
अस्वीकारश्च
भोग्यानामपरिग्रह उच्यते।।

अर्जन-रक्षण-भय-सङ्ग-हिंसा इति पञ्चधा दोषदर्शनात् देह रक्षातिरिक्तानां भोग्यानां विषयाणाम् अस्वीकारः अपरि-ग्रहः।[12]

उक्त परिभाषाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भोग साधनों को स्वीकार न करना 'अपरिग्रह' है क्योंकि इसमें हिंसादि पाँच दोष देखे जाते हैं। यद्यपि पञ्चभौतिक शरीर के लिए भौतिक पदार्थों की परम आवश्यकता होती है, परन्तु जब मनुष्य इन साधनों को ही साध्य बनाकर इनमें आसक्त हो जाता है, लोभादि वृत्तियाँ जागृत हो जाती हैं। जिनके वशीभूत होकर मनुष्य अनावश्यक पदार्थों के संग्रह में लग जाता है। भोग्य पदार्थों के संग्रह करने, उनकी रक्षा करने में आसक्त होने तथा उनकी प्राप्ति के लिए हिंसादि दोषों में भी प्रवृत्ति देखकर योगी को वस्तु संग्रह छोड़ देना चाहिए। शारीरिक रक्षा के लिए वस्त्र की, सर्दी-गर्मी से बचाव के लिए मकान की आवश्यकता होती है। किंतु आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का परित्याग कर देना ही 'अपरिग्रह' है। इसी कारण साधक प्राणयात्रार्थ आवश्यक द्रव्य के अतिरिक्त कुछ ग्रहण नहीं करते। एक अपरिग्रह चाणक्य का उदाहरण प्रस्तुत है- चक्रवर्ती सम्राट् का निर्माता है। मौर्य साम्राज्य का प्रतिष्ठापक है, सर्वप्रथम बृहद् भारत का उपस्थापक है किंतु उसकी भौतिक विभूति की जानकारी करनी हो तो चन्द्रगुप्त के कञ्चुकीय से पूछिये। चाणक्य की पर्णशाला के सामने खड़े-खडे आश्चर्य चकित हो वह कहता है- **'अहो राजाधिराजमन्त्रिणो विभूतिः। उपलश-कलमेतद्भेदकं गोमयानां, बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्। शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि, र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्।''**[13] सम्राट् के मंत्री की महिमा अद्भुत है। उपलों को तोड़ने वाला यह पत्थर का टुकड़ा है। ब्रह्मचारियों द्वारा लाये गये कुशों का यह ढेर है। सूखती हुई इन समिधाओं से झुकी हुई छप्पर के किनारों वाला, फटी पुरानी दीवारों वाला यह घर दिखाई पड़ रहा है। यह चाणक्य की परिग्रह शून्यता का प्रभाव है।

वैदिक साहित्य में साक्षात् 'अपरिग्रह' के नाम से तो कुछ नहीं कहा गया है अपितु वेद एवं उपनिषद् की शिक्षाओं से अवश्य ही 'अपरिग्रह' वृत्ति का ज्ञान प्राप्त होता है। यथा- **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥**[14] ये संपूर्ण सांसारिक पदार्थ अथवा वस्तुएं सब उसी परमात्मा द्वारा दी गयी हैं। अतएव यह सब उसका ही है। इस भावना के साथ ही उनका उपभोग करना चाहिए, किसी के भी धन का लोभ मत करो। यही नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य है कि जो तुमने ईमानदारी से मेहनत करके उपार्जित किया वह तुम्हारा है, उसी से जीवन में भोग करो तथा जो दूसरे का है उसका लोभ मत करो। यम नचिकेता सम्वाद से 'अपरिग्रह' की उत्तम शिक्षा प्राप्त होती है। जब यमाचार्य नचिकेता के समक्ष दुर्लभ भोगों को प्रस्तुत करता है तब नचिकेता उसे यह कहकर ठुकरा देता है- **श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥**[16] हे यमराज! (जिन भोगों का आप ने वर्णन किया है वे कल रहेंगे या नहीं, इसमें सन्देह है) ऐसे क्षण भंगुर भोग मनुष्य के अन्तःकरण सहित सभी इन्द्रियों के जो तेज हैं, उसे क्षीण कर डालते हैं। जिस दीर्घ जीवन को देना चाहते हो वह सम्पूर्ण जीवन भी तुच्छ है। अतः ये आपके रथ आदि वाहन एवं अप्सराओं के नृत्य गीत आपके पास रहे ये मुझे नही

चाहिए। **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**।[16] मनुष्य, वित्त से तृप्त नहीं किया जा सकता है। अर्थात् कोई भी मनुष्य प्रभूत धन के भोगों से तृप्त नहीं हो सकता है। धन के भोग से कामना की अग्नि बढ़ती जाती है। इसलिए तृप्ति के साधन, वित्त का भोग नहीं है। मुझे वित्त की आवश्यकता नहीं है। उक्त दोनों मंत्रों से ज्ञात होता है कि सभी प्रकार के भोग अनित्य हैं, नष्ट हो जायेंगे, यह क्षय दोष है। ये भोग इन्द्रियों के तेजों को नष्ट कर देते हैं, यह सङ्ग दोष है। मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में मैत्रेय के जीवन में 'अपिरग्रह' का पूर्ण दर्शन होता है। इसका पता तब चलता है जब याज्ञवल्क्य परिव्राजक वृत्ति को धारण करते समय कात्यायनी तथा मैत्रेयी के मध्य अपनी सम्पत्ति को बांटने की बात कहते हैं, तब मैत्रेयी पूछती हैं- **'यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति'**।[17] हे भगवन्! धन्य-धान्य से पूरित इस सम्पूर्ण धरती की यदि मैं स्वामिनी बन जाऊं, तो क्या मैं अमर पद पा सकूँगी? याज्ञवल्क्य ने कहा- **'नेति यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवित ँ स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति।'**[18] नहीं, जैसे साधन सम्पन्नों का जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन हो जायेगा। धन से अमृतत्व की आशा नहीं करनी चाहिए। उक्त सम्वाद 'अपरिग्रह' वृत्ति का जीता जागता उदाहरण है।

'अपरिग्रह' वृत्ति की शिक्षा वेद में उपासक द्वारा इन्द्रियों के विषयों में न जाने की जो प्रार्थना की गयी है से प्राप्त होती है। यथा-

'ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना।
उतो न कृत्व्यानां नृवाहसा।।[19]

हे प्रभो! विषयों का आहरण करने वाली मेरी इन्द्रियाँ विषय रूप शत्रुओं की विनाशक हों।

'स्मदभीशू कशावन्ता विप्रा नविष्ठया मती। महो वाजिनावर्वन्ता सचासनम्।।'[20]

हमारे इन्द्रियाश्व प्रशस्त लगाम वाले, प्रशस्त शब्दों वाले, पूरण करने वाले शक्तिशाली व वासनाओं का संहार करने वाले हों। अथर्ववेद में पारिवारिक पालन पोषण तथा सामाजिक व्यवहार के लिए धन की याचना की गई है।

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः। स नः पूर्णेन यच्छतु।

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्। वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः।।[21]

विश्व के धारक देव की कृपा से हमें वह धन प्राप्त हो जो सब शक्तियों का पूरण करने वाला बने तथा सम्पत्ति दे, जो कि हमारे अग्रगति के साधक को, जीवन की रक्षक हो तथा हमें क्षीण न होने दे। साथ ही हम प्रभु की सुमति का भी धारण करें, ताकि यह सम्पत्ति हमें विलास की ओर न ले जाये। वेद यह भी आदेश करता है कि-**'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।'**[22] अर्थात् सौ हाथों से कमाओं और हजार हाथों से दान करो। **न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः। अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्तु पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्।।'**[23] वह मित्र, मित्र नहीं है जो समय पर काम में आने वाले मित्र के लिए अन्नादि वस्तुएं नहीं देता। वह गृह, गृह नहीं जो मित्र को अपने यहाँ से

नहीं देता। याचक तो अन्यत्र भी याचना कर सकता है। अर्थात् भूखे को अन्न देने वाला पराया घर भी अपना हो जाता है। अन्न को न देने वाला अपना घर भी पराया हो जाता है। **'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।**[24] धनों की अस्थिरता का विचार न करने वाला अन्न को व्यर्थ ही प्राप्त करता है। प्रभु कहते हैं कि मैं सत्य कहता हूँ कि अन्न व धन उसका निश्चय से ही वध का कारण होता है, यह अदत्त धन व अन्न उसकी विलास बुद्धि का हेतु होकर उसका विनाशकर देता है। न समझ व्यक्ति न तो राजा को पुष्ट करता है न ही मित्र की सहायता करता है। वह दान न देकर अकेले खाने वाला व्यक्ति शुद्ध पापी होता है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि विषय अथवा विषय भोगों की सामग्री प्राप्त करने तथा प्राप्ति की रक्षा करने में अनेक विध कष्ट होते हैं, साथ ही उनके नष्ट होने से भी शरीर तथा मन को अपार कष्ट होता है। विषयों का सेवन करते रहने से विषयों में आसक्ति बढ़ जाती है, इन्द्रियाँ चञ्चल हो जाती हैं, विषयों को प्राप्त करने में प्राणि हिंसा हो जाती है। अतः योग एवं वैदिक साहित्य में 'अपरिग्रह' (आवश्यकता से अधिक धन सञ्चय न करने) का अनिवार्य नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य के रूप में पालन करने का निर्देश दिया गया है। भगवान् श्री कृष्ण ने भी 'अपिरग्रह' के विषय में सतर्क करते हुए कहा है कि–

योगी युञ्जीत सतत–
मात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा
निराशीरपरिग्रहः।।[25]

अहंकारं बलं दर्प
कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो
ब्रह्मभूयाय कल्पते।।[26]

योग करने वाला साधक अकेले रहे आत्मा, चित्त, मन और शरीर को स्वाधीन रखे, भोगेच्छा को छोड़ दे तथा भोग वस्तुओं का संग्रह न करे। अहंकार बल, दर्प, काम, क्रोध और संग्रह बुद्धि इन सबका त्याग (अपरिग्रह करके) ममता रहित होकर जो शान्ति से युक्त होता है वह ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है।

'अपरिग्रह' नामक यम बहुत ही महत्वपूर्ण तथा तत्कालीन समाज के लिए प्रासंगिक है। समाज में 'अपरिग्रह' का पालन करना सभी वर्ग, सामाजिक समुदाय के लिए आवश्यक है। इसका समुचित रूप से पालन न होने से समाज में असमानता दिखाई देती है। यदि समाज के सभी व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक धन, साधन, अन्नादि अपने पास न रखें तो उससे अनेक अभाव ग्रस्तों की पूर्ति हो सकती है, सम्पूर्ण समाज सुखी और समुन्नत बन सकता है। अतः 'अपरिग्रह' पालन की आधुनिक समाज में महती आवश्यकता है।

पाद-टिप्पणियाँ-

1. योगदर्शन- 2/30
2. श्रीमद्भागवत महापुराण- 11/19/28
3. श्रीमदभागवत महापुराण- 11/19/33
4. योगदर्शन- व्यासभाष्य- 2/30

5. योगदर्शन भोजवृत्ति-2/30
6. योगदर्शन-भावगणेशवृत्ति-2/30
7. योगदर्शन- मणिप्रभा- 2/30
8. योगदर्शन- योगसुधाकर-2/30
9. योगदर्शन व्यासभाष्य-भास्वती टीका-2/30
10. योगदर्शन व्यासभाष्य-तत्त्ववैशारदी-2/30
11. योगदर्शन व्यासभाष्य-योगवार्तिक-2/30
12. योगकारिका-68
13. मुद्राराक्षस नाटक-3/15
14. ईशावास्योपनिषद्-1
15. कठोपनिषद्-1/1/26
16. कठोपनिषद्- 1/1/27
17. बृहदारण्यकोपनिषद्- 2/4/2
18. बृहदारण्यकोपनिषद्- 2/4/2
19. ऋग्वेद- 8/25/23
20. ऋग्वेद- 8/25/24
21. अथर्ववेद-7/17/1-2
22. अथर्ववेद- 3/24/5
23. ऋग्वेद- 10/117/4
24. ऋग्वेद- 10/117/6
25. श्रीमद्भगवद् गीता-6/10
26. श्रीमद्भगवद् गीता-18/53

✦✦✦

प्राणं सर्व उपासते। -अथर्व. 11.4.12
प्राण की सब उपासना करते हैं।

प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। -अथर्व. 11.4.15
सभी प्राण के आश्रित हैं।

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार। -अथर्व. 11.4.25
मनुष्यों के सो जाने पर भी उनमें प्राण जागता रहता है।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (240-243) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेद एवं विश्वशान्ति

डॉ. रेणु बाला
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर

अलौकिक ज्ञान का भण्डार वेद विश्व का प्राचीनतम अनुपम ग्रन्थरत्न है, जो आद्य ऋषियों के सहस्रों वर्षों के कठोर तप, चिन्तन-मनन, दूरदृष्टि एवं बोध का परिणाम है। इसमें सन्निहित ज्ञान सार्वभौमिक, सार्वकालिक, शाश्वत एवं युगबोधक है। वेद में सन्निहित यह ज्ञान देश, काल की सीमा से परे किसी क्षेत्र विशेष के लिए नहीं, अपितु समस्त विश्व के लिए है, जिसके द्वारा समस्त विश्व का कल्याण सम्भव है।

आज के इस भौतिकवादी युग में वैश्वीकरण के कारण जहाँ विज्ञान एवं टैक्नोलॉजी के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति होने से सम्पूर्ण विश्व उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा, तकनीकी विद्या प्रणाली में एक-दूसरे के अत्यधिक समीप आ गया है, वहीं परमाणु बम जैसे खतरनाक शस्त्रों के कारण तृतीय विश्व युद्ध के कगार पर खड़ा है, जिसके परिणामस्वरूप भय, आतंक, उपद्रव, कलह, पारस्परिक विद्वेष एवं हिंसा के कारण सर्वत्र अशान्ति का साम्राज्य है। यह समस्या समस्त विश्व की है।

आज क्षेत्रवाद, अलगाववाद, भाषावाद, साम्प्रदायिकता, जाति-वर्ग के आधार पर लोगों में असामाजिक तत्त्व भीष्ण रक्तपात करवाकर शान्ति को भंगकर रहे हैं, जबकि वेद का उपदेश है- **''मा हिंसीः पुरुषं जगत्''** (यजुर्वेद, 16/3) अर्थात् मनुष्य किसी की हिंसा न करे, अपितु मनुष्य को तो मनुष्य की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए-

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।
-ऋग्वेद, 6/75/14

जनमानस के कल्याण एवं विश्व शान्ति की भावना का मूल वेद में ही सन्निहित है। आवश्यकता है पारस्परिक सद्भाव से मिलजुलकर चलने तथा हृदय, मन, विचार, संकल्प तथा धर्मादि सभी में समता, एकता बनाये रखने की-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं
वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे
संजानाना उपासते॥

समानी व आकूतिः
समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो,
यथा वः सुसहासति॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी,
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः,

समानेन वो हविषा जुहोमि॥

–ऋग्वेद, 10/191/4–4

यदि समग्र विश्व मिलकर चलता है, आपस में प्रेमपूर्वक वार्तालाप करता है तो सबकी मनोवृत्ति भी एक जैसी होगी तो विश्व में अशान्ति के लिए स्थान ही कहाँ रहेगा?

पारस्परिक वैर–विरोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष की भावना अशान्ति के प्रमुख कारण हैं। इसलिए वेद में इन्द्र देवता से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि–

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं
जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं
दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

–ऋग्वेद, 7/104/22

अर्थात् हे इन्द्र! उल्लू जैसे अज्ञानी, भेड़िये जैसे हिंसक, कुत्ते जैसे ईर्ष्यालु, चकवे जैसे कामी, गरुड़ जैसे मदयुक्त तथा गिद्ध जैसे लालची प्रवृत्ति के दुराचारी लोगों से हमें दूर रखना। जब समाज ऐसे समाज विरोधी तत्त्वों से मुक्त हो जायेगा अर्थात् जब लोगों में अज्ञानता नहीं रहेगी, अहम् की भावना समाप्त हो जायेगी, लूट–खसूट, एक–दूसरे के शोषण की भावना समाप्त हो जायेगी तथा पारस्परिक झगड़े भी नहीं रहेंगे तो इसका परिणाम यह होगा कि इससे विश्व शान्ति स्थापना की दृष्टि से एक और कदम आगे बढ़ेगा।

आपसी तालमेल, सौहार्द की भावना स्थापित हो जाने पर ईर्ष्या, द्वेष एवं मनोमालिन्य एवं क्रोध जैसी दुर्भावनाओं के लिए जब जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहेगा तो विश्व में अशान्ति के स्थान पर शान्ति की भावना स्वतः ही स्थापित हो जायेगी–

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं
कृणोमि वः,
अन्योऽन्यमभिहर्यत
वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

–अथर्ववेद, 3/30/1

अव ज्यामिव धन्वनो
मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा संमनसौ भूत्वा
सखायाविव सचावहै॥

–अथर्ववेद, 6/42/1

वेद दुराचारी प्रवृत्तियों का परित्याग कर समस्त जनमानस को मित्रभाव से आगे बढ़ने का सन्देश देता है–

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः।

–ऋग्वेद, 10/101/1

वर्तमान युग में मैत्रीभाव की अत्यधिक आवश्यकता है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों में मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये जाते रहे हैं, लेकिन उनके मूल में स्वार्थ एवं अहम् की भावना होने के कारण वे फलीभूत नहीं होते। यदि स्वार्थ से हटकर मानव–कल्याण के निमित्त सभी एक–दूसरे के प्रति मित्रवत् व्यवहार करेंगे तो पारस्परिक मैत्रीभाव विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए एक सुदृढ़ पुल का काम करेगा। परन्तु इसके लिए किसी को तो पहल करनी पड़ेगी। वेद में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है कि मैं सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ तथा फिर सभी एक–दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखने के लिए प्रयासरत हों–

मित्रस्याहं चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षे,

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

–यजुर्वेद, 36/18

इसके लिए मैत्रीपूर्ण सद्भाव स्थापित करने हेतु सद्बुद्धि की कामना की गई है कि हम जिन प्राणियों को देख रहे हैं, उनके प्रति सद्भाव रखें तथा जिन्हें हम नहीं भी देख रहे, उनके प्रति भी हमारा सद्भाव बना रहे–

यांश्च पश्यामि यांश्च न।
तेषु मा सुमतिं कृधि....॥

–अथर्ववेद, 17/1/7

मैत्रीपूर्ण सदाचरण से समस्त विश्व में शान्ति का साम्राज्य होगा। सभी लोग निर्भय होकर कहीं भी अपना सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकेंगे–

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं
ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

–अथर्ववेद, 19/15/6

आज भाषा, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग–भेद, जाति आदि के कारण हिंसा की घटनायें सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं, जिनके परिणामस्वरूप भय, आतंक एवं अशांति का वातावरण बना रहता है। ये सभी तथ्य विवाद का कारण नहीं होने चाहिएं, क्योंकि हम सब एक पृथ्वी माता की संतान हैं। हमें एक परिवार की भांति ही सभी प्राकृतिक संसाधनों का मिल–बाँटकर उपभोग करते हुए उसी प्रकार से रहना चाहिए जैसे एक गाय सभी को समान रूप से सहस्र धाराओं में दूध देती है–

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

–अथर्ववेद, 12/1/45

पृथ्वी पर सभी मनुष्य एक समान हैं, न कोई बड़ा है, न कोई छोटा है। विश्व शान्ति स्थापना की दृष्टि से वेद की अवधारणा है कि इस धरती पर रहने वाले सभी मनुष्य समान हैं, सभी में वह परम–तत्त्व व्याप्त है तथा उस परम–तत्त्व में सभी प्राणी समाये हुये हैं, फिर भेदभाव की बात तो स्वतः समाप्त हो जाती है। वेद सभी को आत्मवत् समझने का संदेश देता है। जब सभी समान हैं तो न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। हम सभी भाई–भाई हैं। भेदभाव की भावना को भूलकर हमें विश्वमय शान्ति एवं जनमानस कल्याण के उत्थान के लिए प्रयास करते रहना चाहिए–

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽ–
मध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो
दिवो मर्या आ नो अच्छा
जिगातन॥ –ऋग्वेद, 5/59/6

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।

–वही, 5/60/5

प्रियं सर्वस्य पश्यत
उत शूद्र उतार्ये।

–अथर्ववेद, 19/62/1

ऐसा तभी सम्भव होगा, यदि हम लोभ, स्वार्थ जैसी दुर्भावनाओं का त्याग करते हुए स्वयं को पापाचार से दूर रखें। इसीलिए वेद में परमात्मा से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे परमात्मान्! हमारे लिऐ जो कुछ भी दुराचार हैं, उन्हें हमसे दूर ले जाओ और जो कुछ हमारे लिए कल्याणकारी है, भद्र है,

वह हमें प्राप्त हो–

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि
परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

–यजुर्वेद, 30/3

अर्थात् जो कोई भी विश्वशान्ति को विघटित करने वाले तत्त्व हैं, उनको हमसे दूर ले जा और जो हमारे लिए कल्याणकारी है, उसकी हमें प्राप्ति हो।

विश्व में शान्ति तभी सम्भव है यदि हम सभी विश्व को एक घोंसला मानकर पक्षियों की भान्ति मिलजुल कर प्रेमभाव से रहें–

यत्र विश्वं भवति एकनीडम्।

–यजुर्वेद, 32/8

यत्र विश्वं भवति एकरूपम्।

–अथर्ववेद, 2/1/1

मिलजुल कर रहने के लिए हमें अपने मन में विश्वशान्ति के निमित्त अच्छे विचारों को उत्पन्न करने का सङ्कल्प लेना होगा–

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

–यजुर्वेद, 34/1

जैसा कि वैदिक ऋषियों ने पारस्परिक मित्रता एवं सामञ्जस्य की भावना के लिए भद्र एवं मधुर वाणी को व्यवहार में लाने का संदेश दिया है जोकि वैश्विक शान्ति के लिए अत्यधिक उपादेय है–

जिह्वाया अग्रे मधु मे
जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो
मम चित्तमुपायसि॥
मधुमन्मे निक्रमणं
मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्
भूयासं मधुसन्दृशः॥

–अथर्ववेद, 1/34/2–3

वेद में विश्वशान्ति से संबंधित ऐसे अनेक सूत्र हमें प्राप्त होते हैं। आवश्यकता है उन्हें अपने जीवन में धारण करने की तथा मनसा, वाचा, कर्मणा अनुकरण करने की–

यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति।
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति॥

विश्वशान्ति हेतु दुष्ट बुद्धि का परित्याग कर आदर्श मानव बनने का भी संकल्प लेना होगा–

'दुर्मतिं जहि' –यजुर्वेद, 11/47

मनुर्भव –ऋग्वेद, 10/53/6

इसके साथ ही सूर्य तथा चन्द्रमा की भांति नियमपूर्वक बिना किसी स्वार्थभाव के लोक कल्याण के लिए हमें भी अपने कर्तव्य एवं धर्म का परिपालन ईमानदारी से करने की शपथ लेनी होगी–

स्वस्ति पन्थामनुचरेम
सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता
सं गमेमहि॥ –ऋग्वेद, 5/51/5

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (244-248) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक वाङ्मय में जल तत्त्व

डॉ० मोनिका मिश्रा

असिस्टेंट प्रोफेसर-संस्कृत विभाग,
लेडी श्रीराम कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

जीव जगत् में जल तत्व का उपयोगिता की दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। संसार में प्राणियों द्वारा जो जल प्राण के रूप में धारण किया जाता है वह जल सभी के लिए लाभकारी होने के कारण जीवन एवं तृप्तिदाता के रूप में जाना जाता है।

जड़ पदार्थों की जड़ता का कारण, चेतन पदार्थों का जीवन, अन्न की उत्पत्ति का कारणभूत, पृथ्वी का आधार, वनस्पतियों का मूल स्रोत, जीवसृष्टि का आश्रयभूत, तीनों लोकों का धारण करने वाला जल अपनी व्यापकता के कारण ब्रह्मस्वरूप 'कम्' कहा जाता है।

व्युत्पत्ति के बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है अतः जल की व्युत्पत्ति पर भी विचार करना आवश्यक है। व्याकरण निरुक्त तथा शब्दकोश के अनुसार 'जल घातने' धातु से अक् प्रत्यय के योग से तथा ''जल अपवारणे' धातु से अच् प्रत्यय के योग से जलशब्द की व्युत्पत्ति होती है। इस अर्थ में वेगजनित आघात, प्रहार, अपवारण (दूर करना), आच्छादन (ढ़कना) अर्थ वाला जल होता है।

संस्कृत वाङ्मय में जल तत्व को अनेक रूपों में परिभाषित किया गया है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी द्रवरूप में गतिशील रस जैसे तरल और मधुर हैं, जलासिक्त होने के कारण ही है। ब्रह्माण्ड का आधारभूत मूलतत्व होने के कारण जल को ब्रह्म रूपेण परिभाषित किया गया है। उपनिषदों में मधुरूप जल की कल्पना की गई है। जल तृप्ति प्रदान करने वाला होने के कारण जीवन स्वरूप कहा गया है। निरुक्त में जल को अमृत रूपेण परिभाषित किया गया है। जल के रूप में प्राण शरीर के परमसूक्ष्मरूप में व्याप्त हैं, अतः जल को प्राणरूप कहा गया। आयुर्वेद के विद्वान् द्रव्यरूप के द्वारा जल की परिभाषा करते हैं। इस प्रकार जल में द्रव्यत्व, रसत्व, स्यन्दनत्व और प्राणवत्ता विद्यमान है। विश्व का पालन करने वाला जल प्राणियों के लिए माता के समान होता है।

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु।

-यजुर्वेद 4/2

ऋग्वेद के एक मंत्र में भुवन के पालक के रूप में जल की वंदना की गई-

ऋष जनित्री भुवनस्य
पत्नीरपो वन्दस्व सवृधः सयोनीः।

जल की उत्पत्ति से संबद्ध अनेक मत

प्रचलित हैं, इनमें मुख्यतः जल की भौतिक उत्पत्ति शास्त्रों में सृष्टि और प्रतिसर्ग दो रूपों में वर्णित हैं। महाभूत जल की उत्पत्ति आदि सर्ग (सृष्टि) का विषय है। जीव सृष्टि की अपेक्षा लोक आदि रूप से जल की उत्पत्ति प्रलय का विषय है। जल की सृष्टि के मूल में जैसे अग्नि प्रथम कारक है, वैसे ही जल चक्र के मूल में भी है। वर्षा के लिए जल का ऊर्ध्वगमन वाष्प रूप से संभव है। इसलिए भारतीय साहित्य परंपरा तेज अथवा अग्नितत्व से जल की उत्पत्ति स्वीकार करता है। जैसा कि शुक्ल यजुर्वेद में प्रतिपादित है- **आपः तपोजाः** जल की उत्पत्ति का उक्त भौतिक सिद्धांत वैदिक संहिताओं में रासायनिक पद्धति से वर्षा विज्ञान के द्वारा विस्तार से वर्णित है। भौतिक तथा रासायनिक उत्पत्ति के अनंतर प्रतिसर्ग और जलोत्पत्ति पर भी विचार करना आवश्यक है।

हिरण्यगर्भ सूक्त में कहा गया-

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः परिरेक आसीत्।

–ऋ.10/121/1

इस रूप में जल ने ही सर्वप्रथम विश्व को व्याप्त किया। पुराणों में भी वर्णित है कि हजारों वर्षों तक ब्रह्माण्ड जल में स्थित था। तदनंतर हिरण्याण्ड स्फोट से पृथ्वी आदि की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार सृष्टि के प्रारंभ में सर्वप्रथम जल ही था।

जैसा कि **बृहदारण्यक उपनिषद्** में कहा गया है-

''आप एवेदमग्र आसुस्ता
आपः सत्यमसृजन्त,
सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं
प्रजापतिर्देवान्'' –5/5/1

जल के स्वरूपात्मक निर्णय में उसका आत्मतत्व रस कहा जा सकता है। जल रसात्मक है और रसतन्मात्रा से जल-महाभूत की उत्पत्ति उपनिषदों में मानी गई है। सृष्टि के क्रम में वायु के संयोग से अग्नि से उत्पन्न अव्यक्त जल रस तन्मात्रा से प्रसिद्ध हुआ। रस रूप में जल सम्पूर्ण लोक को व्याप्त करता है, इसलिए 'आप' कहा गया है। रसरूप जल नित्य होने के कारण कभी नष्ट नहीं होता है इसलिए जल को अक्षर कहा जाता है-

न क्षरति क्षीयते कदाचिदपीति वा।

–निरुक्त 1/12/32

प्रलयकाल में भी जल नष्ट नहीं होता, अतः निरुक्त में जल के लिए सत् भी कहा गया है।

सामान्यतः द्रव्यत्व जाति से युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तरल और स्निग्ध जल का स्वरूप जाना जाता है। महर्षि कणाद **''रूप रस स्पर्शवत्य आपो द्रवा स्निग्धा''** इस प्रकार जल का लक्षण करते हैं। द्रवत्व जल की नैसर्गिक अवस्था होती है, अतः श्रुति से जल का एक नाम **सुद्रव** प्राप्त होता है।

निःसुद्रव दधतो वक्षणासु

–ऋग्वेद 10/28/8

वेदों में जल के गुण यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में एक मंत्र में जल के पांच गुण वर्णित हैं-

आपो यद् वस्तपः
हरः अर्चिः शोचिः तेजः।

–अथर्ववेद 2/23/1 से 5 तक

इसी प्रकार ऋग्वेद के एक मंत्र में जल के तीन गुण विशेषतः उल्लिखित हैं-

मधुश्चुतः शुचयो
या पावकास्ता आपः।

सृष्टि में विद्यमान समस्त जल विभिन्न आधारों के द्वारा भिन्न प्रकार से व्यवहृत होता है।

वैशेषिकों के द्वारा कारण-कार्य भाव को आधार बनाकर जल के नित्य और अनित्य दो प्रकार कहे गए हैं। नित्य जल परमाणु रूप है और वह अनित्य जल का कारण है। इसके अतिरिक्त नित्य परमाणुभूत जल से द्व्यणुक आदि क्रम से ब्रह्माण्ड पर्यन्त अनित्य है। यह अनित्य जल-शरीर, इंद्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का है।

प्राणियों के जीवन का आधार जल पृथिवी पर विविध रूपों में स्थित है। हमारा यह जगत् स्थूल रूप से चार मंडलों में विभक्त किया गया है- 1. भूमण्डल 2. जलमंडल 3. वायुमंडल 4. जीवमंडल

इन मंडलों में भूमंडल प्रथम है। यह भूमंडल जलमंडल और जीवमंडल के द्वारा आच्छादित है और ये तीन मंडल वायुमंडल से आच्छादित रहते हैं। हमारी पृथिवी समुद्रों से ढकी होने से सागराम्बरा, समुद्रवसना और मनोहर होने से 'रसा' इस प्रकार कही जाती है- **यस्य समुद्रं रसया सहाहुः**

यह पृथ्वी जल का आवास है, ऐसा वेदों का वचन है-

''इयं (पृथिवी) वाडमयनमस्यां ह्यापो यन्ति।''

अंतरिक्ष के जल को पृथिवी के द्वारा ही धारण किया जाता है। अपनी नदियों, समुद्रों, गड्ढों में पृथिवी जल धारण करती है तथा मेघों का भेदन भी पृथिवी द्वारा सहा जाता है-

वडित्था पर्वतानां खिद्रं
बिभर्षि पृथिवि। -ऋग्वेद-5/84/1

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका नामक विश्वकोष को देखने पर ज्ञात होता है कि विश्वगोलक का समस्त क्षेत्रफल 50.99 करोड़ वर्ग किलोमीटर है इसके 36.10 करोड़ वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में अर्थात् 71% क्षेत्रफल में जलराशि का विस्तार है।

जल तत्व की अनेक प्रकार की उपयोगिताएं होती हैं जल तत्व सृष्टि का जीवन है, अतः यह अपनी विभिन्नता स्थितियाँ, परिवर्तनों और रूपों से विश्व का पालन पोषण करता है। माँ के गर्भ में जैसे शिशु के चारों ओर गर्भ रस रहता है जिससे शिशु संवर्द्धित और पोषित होता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में रजस् अर्थात् माया के दृश्यमान समस्त दृश्यों की स्थिति में जल ही मुख्य घटक तत्व है। ऋग्वेद में कहा गया है कि जल के गंभीर आवरण से सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ होती है-

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः
किमासीद् गहनं गभीरम्।

—ऋ. 10/129/1

जल से होने वाले लाभों को तीन कोटियों में विभाजित कर सकते हैं-

क. आध्यात्मिक लाभ

ख. आधिभौतिक लाभ

ग. आधिदैविक लाभ

जल के आध्यात्मिक लाभों पर विचार

किया जाए तो आध्यात्मिक भी शारीरिक व मानसिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। हमारे शरीर में त्रिदोष अर्थात् वात, पित्त व कफ की शांति के लिए जो द्रव्य प्रयुक्त किए जाते हैं उनमें जल का उपयोग आहार द्रव्य के रूप में, औषध के रूप में तथा शौच साधन के रूप में होता है। आहार के रूप में जल प्यास बुझाने वाला, तृप्ति प्रदान करने वाला, प्राणशक्ति लाने वाला, बल प्रदान करने वाला तथा शोष आदि दोषों का नाशक होता है। यह जठराग्नि को शांत करता है, खाए हुए अन्न को पचाता है तथा शरीर के भीतरी व बाह्य मलिनता को भी दूर करता है। हमारे प्राण जल रूप ही होते हैं अतः प्राणरक्षा के लिए जल ही सबसे अधिक आवश्यक होता है। शुद्ध जल में प्राण वायु अर्थात् ऑक्सीजन रहती है। उसके अभाव में शरीर के लिए आवश्यक पोषक तत्व खनिज लवण शरीर में नष्ट हो जाते हैं। वे तत्व जल पीने से शरीर के रक्त में मिलकर पोषण प्रदान करते है। इस प्रकार अन्न को पकाने व पचाने में जल साधक होता है। जल घृत के रूप में भी प्राण प्रदान करने वाला, अग्नि और सोम तत्वों से युक्त हुआ लोगों के लिए कल्याणकारी होता है। ऐसा अथर्ववेद में स्तुति मंत्रों के माध्यम से कहा गया है–

आपो भद्रा घृतमिद् आप
आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः।
तीव्रोरसो मधुपृचामरङ्गम
आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्॥

–3/13/5

जल में भेषज तत्व है। ऋग्वेद के मंत्र में जल को विश्वभेषजी– समस्त प्रकार का भेषज तत्व कहा है–

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्त-
र्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भु-
वमापश्च विश्वभेषजीः॥

–ऋग्वेद 1/23/20

पेट में पहुँचा हुआ पानी जठराग्नि को शांति करता है, यह क्षय रोग इत्यादि व्याधियों को नष्ट करता है। जल चर्म रोगों में भी चिकित्सा के रूप में प्रयोग किया जाता है। अथर्ववेद में चिकित्सा हेतु जल की याचना की गई है–

आपो याचामि भेषजः।

नेत्र चिकित्सा में भी जल का सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है। नेत्र जल के आवरण से आवृत होकर दर्शन क्रिया योग्य बना हुआ है। यदि नेत्र में जलीय तत्व न हो तो हम देख भी नहीं सकते। नेत्रों का संबंध सूर्य एवं जल से है। अतः जल तत्व चक्षु में भी प्रधान है। शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि हेतु जल पवित्रता के साधन के रूप में प्रसिद्ध है। नित्य नैमित्तिक कार्यों के प्रारंभ की स्नान से शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि हेतु जल पवित्रता के साधन के रूप में प्रसिद्ध है। नित्य नैमित्तिक कार्यों के प्रारंभ में स्नान से शारीरिक निर्मलता से स्फूर्ति, उत्साह और ऊर्जा की प्राप्ति होती है। ऋग्वेद में दुराचार, द्रोहभाव, मिथ्याचरण इत्यादि दोषों को नष्ट करने के लिए जल का ही विधान बताया गया है।

इदमापः प्रवहत यत् किं
च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह
यद्वाशेप उतानृतम्॥

–1/23/22, 10/9/8

अधिभौतिक भौतिक घटकों के संदर्भ में बताए गए लाभ हैं। वायुमंडल में जल भाप के रूप में प्राणोपयोगी वायु का निर्धारक होता है जो जीवों के लिए महत्वपूर्ण होता है। जलमंडलीय जल वायुमंडल में आर्द्रता के स्तर का निर्धारण करता है। पृथ्वी मंडल में अनाज उत्पन्न करता है तथा कटिबंध प्रदेशों के शैत्य स्तर का वाहक बनता है। अधिदैविक लाभ पर यदि विचार करें तो प्राचीन काल से जल पवित्र होने के कारण देव पूजा का साधन रहा है। देवताओं के कार्य- यज्ञ आदि में जल देवताओं को तृप्ति प्रदान करने वाला होता है। वेदों में तर्पण के आधार जल का उल्लेख है। यजुर्वेद में कहा गया है-

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं
पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन्।। –2/34

जल बहुमूल्य राष्ट्रीय संपदा है अतः इसका संरक्षण व सवंर्द्धन विचारणीय है। प्रकृति का अक्षय भंडार व्यर्थ प्रयोग से विरूपता को प्राप्त होने लगता है इसलिए जितना आवश्यक हो उतना ही विवेकपूर्वक संसाधनों का दोहन और उपभोग करना चाहिए। वर्तमान समय में विश्व की निरंतर बढ़ती हुई जनसंख्या के अत्यधिक उपभोग से संसाधनों का तीव्र गति से क्षरण हो रहा है दूसरी ओर दूषित वस्तुएं बहाने से प्रदूषण बढ़ रहा है। इस प्रदूषण से न केवल स्वरूप और गुणवत्ता में औपाधिक ह्रास हो रहा है अपितु पर्यावरण संकट भी उत्पन्न हो रहा है। इसके लिए मनुष्यों द्वारा यथासंभव प्रयास किया जाना चाहिए, वर्षा जल के असमान वितरण, नदी आदि के जल का धनी लोगों के द्वारा अपव्यय, उपयोग में अविवेक, प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतर उपयोग कर लेने की प्रवृत्तियाँ। इन सभी कारणों को दूर करना होगा। इसके साथ ही राष्ट्रीय जन-जागरण की चेतना भी जल संरक्षण के लिए आवश्यक है। तभी जल का संरक्षण होगा। जल संरक्षण से जगत् का और जीवन का संरक्षण होगा।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (249-254) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

दान का विवेचन-वैदिक दृष्टि

डॉ० प्रतिभा शुक्ला
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
एस.एस.डी.पी.सी.गर्ल्ज.पी.जी. कॉलेज, रुड़की

दान शब्द दा धातु + ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न है जिसका अर्थ है- देना, सौंपना, समर्पण करना, उपहार, पुरस्कार इत्यादि[1]। हिन्दू धर्मकोश के अनुसार इस शब्द का अर्थ है किसी वस्तु से अपना स्वत्व हटाकर दूसरे का स्वत्व उत्पन्न कर देना।' दान का व्यवहार ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर याज्ञिक हविष्य के विनियोग के अर्थ में हुआ है जिसमें देवता आमन्त्रित होते थे।[2] मनुस्मृति में 'दानमेकं कलौयुगे' कहकर दान की महत्ता प्रतिपादित की गई है[3]।

डॉ० पाण्डुरंग काणे[4] ने अपने ग्रंथ 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में दान का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि दान में किसी दूसरे को अपनी वस्तु का स्वामी बना दिया जाता है। दान लेने की स्वीकृति मानसिक, वाचिक या शारीरिक रूप से हो सकती है।[5] उक्त लेखक ने प्रतिग्रह शब्द को व्याख्यायित किया है। प्रतिग्रह शब्द का विशिष्ट अर्थ होता है। मनुस्मृति की टीका में मेधातिथि के अनुसार ग्रहण मात्र प्रतिग्रह नहीं है। प्रतिग्रह उसे कहते हैं जो विशिष्ट स्वीकृति का परिचायक हो, अर्थात् जब उसे स्वीकार किया जाये तो दाता को अदृष्ट आध्यात्मिक पुण्य प्राप्त हो और जिसे देते समय वैदिक मन्त्र पढ़ा जाये। जब कोई भिक्षा देता है तब वह कोई मन्त्रोच्चारण नहीं करता। अतः वह शास्त्रविहित दान नहीं है और न स्नेह से मित्र या नौकर को दिया गया पदार्थ ही प्रतिग्रह है।[6]

शास्त्रोक्त दान को परिभाषित करते हुए देवल का मानना है कि 'शास्त्र द्वारा उचित माने गये व्यक्ति के लिए शास्त्रानुमोदित विधि से प्रदत्त धन को दान कहा जाता है। जब किसी उचित व्यक्ति को अपना कर्तव्य समझकर कुछ दिया जाता है तो उसे 'धर्मदान' कहा जाता है।[7]

वैदिक वाङ्मय में दान का विशद वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि दानी अमरत्व पाते हैं। दानी दीर्घायु प्राप्त करते हैं।[8] जो व्यक्ति स्वीकार करने वाले उत्तम पात्र को अन्नादि प्रदान करता है और जो अन्न की अभिलाषा से भिक्षा आचरण करने वाले को अन्नदान करता है तथा जो निर्बल को अन्न देता है उसको यज्ञ के निमित्त बहुत अधिक प्राप्त होता है। वही सच्चा रक्षक है और वह परायों में भी अपना मित्र प्राप्त कर लेता है।[9] ऋग्वेद के ही एक सूक्त में कहा गया है कि देते हुए पुरुष का धन क्षीण नहीं होता। दान न देने वाले पुरुष को अपने प्रति दया करने वाला नहीं मिलता।[10] सम्पन्न व्यक्ति को याचक

के लिए कुछ न कुछ देना ही चाहिए, दाता को सुकृत का लम्बे से लम्बा पथ देखना चाहिए।[11]

समाज में सभी व्यक्तियों का स्तर पृथक्-पृथक् होता है। हमारा कर्तव्य है कि अपने से हीन व्यक्तियों की सहायता हम अवश्य करें। दान देने वाले का सदैव कल्याण होता है।[12] जिसके पास प्रचुर धन है, उसका कर्तव्य है कि वह उसे उस स्थान पर पहुँचाये जहाँ उसकी न्यूनता अनुभव हो रही है।[13] जो दान नहीं करता उसका अन्न व्यर्थ है। जो न मित्र को देता है और न दिव्यशक्तियों को समर्पित करता है, केवल अपना पेट पालने वाला व्यक्ति पापी होता है-

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी॥[14]

डॉ० शशिप्रभाकुमार[15] ने 'वैदिक भव्य-भावनाएं' नामक अपनी पुस्तक में कहा है कि 'सम्पूर्ण सृष्टि परस्पर आदान-प्रदान के क्रम से चल रही है। सूर्य प्रकाश देता है, दूषित द्रव्यों का रस ग्रहण कर लेता है। वायु शीतलता बाँटता है और गन्ध कणों को उड़ा ले जाता है। जल तृप्ति देता है और कूड़े-करकट को बहा देता है। अग्नि उष्णता देता है तो अपवित्रता को दग्ध करता है। प्रकृति के इन उपादानों से मानव को यही शिक्षा मिलती है कि संसार में संतुलन बनाये रखने के लिए परस्पर मिल-बाँटकर खाना चाहिए।' वास्तव में बाँटकर खाना ही उचित है। धन रथ के पहिये के समान कभी ऊपर तो कभी नीचे गति करता है।'

ऋग्वेद के धनान्नदान सूक्त में कहा गया है कि दानी का धन कभी कम नहीं होता- **'उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति। उतापृणन् मर्डितारं न विन्दते॥**[16] इसी प्रकार गोदान, अश्वदान एवं स्वर्णदान करने वालों को क्रमशः स्वर्गलोक, सूर्यलोक व देवत्व प्राप्त होता है-

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो
अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः
सोम प्रतिरन्त आयुः॥[17]

अथर्ववेद में सैकड़ों हाथों से एकत्र करने तथा हजारों हाथों से बिखेरने की बात कही गई है जिससे सम्पत्ति विस्तार को प्राप्त हो-

शतहस्त समाहर
सहस्त्रहस्त संकिर।
कृतस्य कार्यस्य
चेह स्फातिं समावह॥[18]

अथर्ववेद में कहा गया है कि विद्वान् व्यक्ति अदाता को दान देने के लिए प्रेरणा दे[19]। एक स्थान पर देने से कुछ घटता नहीं, इस भाव की अभिव्यक्ति में दानपात्र की पूर्णता अभिप्रेत है।[20] अथर्ववेदीय दान सम्बन्धी कतिपय उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं यथा- 'मैं भोजन पकाता हूँ और दान देता हूँ।[21] तुम दायें और बायें दोनों हाथों से दान दो।[22] दानी के लिए यह पृथ्वी ऊन के तुल्य कोमल होती है।[23] यदि मनुष्य दान देता रहता है तो वह उसके लिए स्वर्ग है।[24] जो ज्ञानी विद्वान् को दान देता है उसके पाप नष्ट होते हैं।[25] दानी को भोग्य वस्तुओं के साथ ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है।[26] दान के लिए अन्न पकाने वाले को ज्योति और ऐश्वर्य मिलता है।[27]

अथर्ववेदीय सूक्तों में दान हेतु देवों से

प्रार्थना की गई है। अग्नि से प्रार्थना है कि वह हमें दान के लिए प्रेरित करे।[28] इन्द्र से भी दान हेतु प्रेरित करने की बात कही गई है।[29] इन्द्रवायु हमें दान देने के इच्छुक हों।[30] दानदाता की निन्दा करना उचित नहीं है।[31] दानी को वीर कहकर उसकी वन्दना करने का उल्लेख है।[32] दाता को बहुत ज्ञान और भोग की प्राप्ति होती है।[33]

सामवेद में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि 'हे सब ओर से देने वाले ईश! हमें सब ओर से ऐश्वर्य दो।[34] मुझ अकेले को महादानी बनाओ।[35] हे परमात्मन्! दानी को ऐश्वर्य दो।[36] वास्तव में वह एक ईश्वर ही दानी मनुष्यों को धन पहुँचाता है।[37] वह ईश रत्नधारक है। वह अभीष्ट धन देता है।[38] इन्द्र से प्रार्थना की गई है- हे इन्द्र! तुम्हारा धन अमोघ है, मैं जो चाहता हूँ वह दो।[39] हे इन्द्र! तुम दाता के लिए कोई विघ्न नहीं होने देते।[40] हे श्रेष्ठ इन्द्र! तुम छोटों और निर्बलों को भरो।[41] कहा गया है कि इन्द्र का दान निरंतर प्रवाहित है। वह मनुष्यों को दान के लिए प्रेरित करता है।[42]

अग्नि दाता के लिए धन सुरक्षित रखता है।[43] नित्य युवा अग्नि से दानी व्यक्तियों की रक्षार्थ प्रार्थना की गई है।[44] सोम दाता को रत्न देता है।[45] हे सोम! तुम्हारे धन-दान को सैकड़ों विघ्न भी नहीं रोक सकते।[46] अश्विनौ से प्रार्थना है कि वह दाता को बहुमूल्य धन प्रदान करे।[47] ब्राह्मण व उपनिषदों में भी दान का महत्त्व प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण को दक्षिणा देने की बात कही गई है। छान्दोग्य उपनिषद् में आचार्य रैक्व को प्रचुर दान देने की चर्चा है।[48] तैत्तिरीय उपनिषद् में दान किस प्रकार दिया जाये, यह निर्दिष्ट है-

'श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्।
श्रिया देयम्।
ह्रिया देयम्। भिया देयम्।
संविदा देयम्।[49]

गीता में भी सात्त्विक[50], राजस[51] व तामस[52] दानों की चर्चा की गई है। महाभारत उत्तर पर्व में दान को धन की उत्तमगति कहा गया है।[53] उद्योगपर्व में दान न देने वाले धनवान् को गर्हित माना गया है।[54] अन्यत्र भी दान को उत्तम गति माना गया है।[55] देवल ने दान के छह अंगों का वर्णन किया है- दाता प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, धर्मयुक्त देय, उचित काल एवं उचित देश।

समाज में दाता प्रशंसा को प्राप्त होता है।[56] व्यासस्मृति में दाता की महिमा प्रतिपादित की गई है।[57] प्रतिग्रहीता अथवा दान ग्रहण करने वाला सुपात्र होना चाहिए। मनुस्मृति के अनुसार कपटी व्यक्ति दान लेने का पात्र नहीं है।[58] महाभारत के वन-पर्व में सुपात्र और कुपात्र पर प्रकाश डाला गया है। मनुस्मृति के अनुसार आदरपूर्वक दान करने वाले और सादर ग्रहण करने वालों को स्वर्ग-प्राप्ति होती है।[59] महाभारत के अनुशासन पर्व में कहा गया है कि दाता जिन पदार्थों को सर्वश्रेष्ठ मानता है, उन्हें ही दान में दे। श्रद्धा से प्रदत्त दान ही देय है- प्रदाय शाकमुष्टिं वा श्रद्धाभक्तिसमुद्यताम्।[60]

गाय, भूमि व विद्यादान को अतिदान कहा गया है।[61] याज्ञवल्क्य ने विद्या को सवश्रेष्ठ देय माना है।[62] महाभारत के अनुशासनपर्व में भूमिदान को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। भावना के साथ दान करना चाहिए। कठोपनिषद् के अनुसार भावनाविहीन दान से व्यक्ति कष्टप्रद स्थिति को प्राप्त करता है।[63]

दान देते समय अपने परिवार के विषय में भी चिन्ता करना अपेक्षित है।[64] अपने आश्रितों की चिन्ता न करते हुए दान करना अनुचित है।[65] याज्ञवल्क्य के अनुसार भी अपने परिवार की परवाह करते हुए दान देना चाहिए।[66] स्कन्दपुराण में बताया गया है कि कुछ विशेष स्थलों में दिया गया दान अनन्त फल वाला होता है–

'वाराणसी कुरुक्षेत्रं
प्रयागः पुष्कराणि च।
गंगा समुद्रतीरं च
नैमिषामरकण्टकम्॥
श्रीपर्वतमहाकालं गोकर्णवेदपर्वतम्।

इत्याद्याः कीर्तिताः देशाः
सुरसिद्धनिषेविताः॥
सर्वे शिलोच्चयाः पुण्याः
सर्वाः नद्याः ससागराः
गोसिद्ध मुनिवासाश्च
देशाः पुण्याः प्रकीर्तिताः॥
एषु तीर्थेषु यद्दत्तं
फलस्यानन्त्यकृद् भवेत्॥[67]

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में दान का पर्याप्त विवेचन हुआ है जिसका प्रभाव परवर्ती साहित्य पर भी निस्सन्देह दृष्टिगोचर होता है। आज आर्थिक विषमताओं के युग में परस्पर सहयोग प्रदान करते हुए दान की प्रवृत्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने में वेद हमारा पथ-प्रदर्शन करेंगे। आवश्यकता है वेद की शरण में आने की और वेदानुकूल आचरण करने की। हम ईश्वर से प्राप्त करते रहें और समस्त प्राणिजगत् को प्रदान करते रहें, यही शुभेच्छा है।

सन्दर्भ-

1. संस्कृत-हिन्दीकोश, पृ. 454, वामन शिवराम आप्टे, नागप्रकाशक 11ए/यू. जवाहर नगर, दिल्ली-7
2. हिन्दू धर्मकोश, पृ. 318, डॉ० राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी-संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग) राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग लखनऊ।
3. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौयुगे। मनुस्मृति 1, 86; महाभारत शांतिपर्व 232, 28; पराशर 1, 23; वायुपुराण 8, 65-66
4. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 448 डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे
5. जैमिनि 4, 2, 28; 7, 1, 5
6. अदृष्टबुद्ध्या दीयमानं मन्त्रपूर्वं गृहणतः प्रतिग्रहो भवति।
न च भैक्ष्ये देवस्य त्वादिमन्त्रोच्चारणमस्ति। न च प्रीत्यादिना दानग्रहणे। न च तत्र प्रतिग्रहव्यवहारः। -मेघातिथि (मनु. 5,4)
7. अर्थानामुदिते पात्रे यथावत्प्रीतिपादनम्। दानमित्यभिनिर्दिष्टं व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते।। देवल अपरार्क, पृ. 287; दानक्रियाकौमुदी पृ. 2; हेमाद्रि, दानखण्ड पृ. 13; दानवाक्यावलि आदि द्वारा उद्धृत। पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनवेक्ष्य प्रयोजनम्। केवलं धर्मबुद्ध्या यद् धर्मदानं तदुच्यते।। देवल (हेमाद्रि द्वारा दान, पृ. 14)
8. दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते।
दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः।
(ऋ० 1, 125, 6)
9. ऋ० 10, 117, 3
10. ऋ० 10, 117, 1
11. ऋ० 10, 117, 5

12. यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। (ऋ० 1, 1, 6)
13. एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे
द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे
संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः।। (ऋ० 10, 177, 8)
14. ऋ० 10, 117, 6
15. वैदिक भव्य भावनाएं पृ. 38 डॉ. शशिप्रभा कुमार, सरस्वती साहित्य संस्था, दिल्ली-92;
16. ऋ० 10, 117, 1
17. ऋ० 10, 107, 2
18. अथर्ववेद 3, 24, 5
19. अदित्सन्तं दापयतु प्रजानन्। (अथर्व. 3, 20, 8)
20. अनूनं पात्रं निहितं च एतत्। (अथर्व. 12, 3, 48)
21. अहं पचाम्यहं ददामि। (अथर्व. 12, 3, 47)
22. आ प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात्। (अथर्व. 7, 26, 8)
23. ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावते। (अथर्व. 18, 3, 49)
24. दातुं चेत् शिक्षान् स स्वर्ग एव। (अथर्व. 6, 122, 2)
25. यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति। (अथर्व. 14, 2, 41)
26. समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः। (अथर्व० 7, 506)
27. हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव। (अथर्व० 12,3,50)
28. रयिं दानाय चोदय। (अथर्व० 3, 20, 5)
29. इन्द्रं दानाय चोदयन्। (अथर्व० 3, 20, 7)
30. दानकामश्च नो भुवत्। (अथर्व. 3, 20, 6)
31. न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते। (अथर्व० 20, 21, 1)
32. वीरं दानौकसं वन्दध्यै। (अथर्व० 20, 35, 5)
33. दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना (अथर्व० 20, 94, 7)
34. विश्वतो दावन् विश्वतो न आ भर। (सामवेद 437)
35. वृषणं कृणुतैकमिन्माम्। सामवेद 591
36. विदा भगं वसुत्तये। (सामवेद 240)
37. य एक इद् विद्यते वसु मर्ताय द्वाशुषे। (सामवेद 389)
38. वि रत्नधा दयते वार्याणि। (सामवेद 1408)
39. नकिर्हि दानं परि मर्धिषत्वे यद्यद् यामि तदा भर। (सामवेद 1580)
40. नेन्द्र सश्चि दाशुषे। (सामवेद 300)
41. भरेन्द्र ज्यायः कनीयसः। (सामवेद 309)
42. मनो दानाय चोदयन् (सामवेद 1320)
43. अरक्षद् दाशुषे गयम्। (सामवेद् 1380)
44. त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄन् पाहि। (सामवेद 1246)
45. दधद् रत्नानि दाशुषे। (सामवेद 1257)
46. न त्वा शतं च न ह्रुतो राधो दित्सन्तमामिनन्। (सामवेद 1215)
47. धत्तं रत्नानि दाशुषे। (सामवेद 306)
48. तैत्तिरीय उपनिषद् 11, 3
49. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्।। -गीता 17, 20
50. यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।। गीता, 17, 21
51. अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।
-गीता 17, 22
52. महाभारत, उत्तरपर्व, 151, 11
53. महाभारत उद्योगपर्व, 30, 60

54. नीतिशतक
55. सेदु हव्यो ददिर्यो माम पत्यते (अधर्व० 20, 67, 7)
56. व्यास स्मृति 4, 60
57. मनुस्मृति 4, 193-200
58. मनुस्मृति 4, 235
59. देवल (अपरार्क 290)
60. वसिष्ठ धर्मसूत्र 29, 19
61. याज्ञवल्क्य 1, 212
62. महाभारत अनुशासन पर्व 62,2
63. कठोपनिषद् 1, 1, 3
64. व्यासस्मृति 4, 16; 18, 24; 26; 30-31
65. आपस्तम्बधर्मसूत्र 2, 4, 9; 10-12
66. याज्ञवल्क्य 2, 175
67. स्कन्दपुराण (हेमाद्रि दान पृ० 83)

✦✦✦

मा त्वा केचिद् वियमन्। -अथर्व. 7.117.1
देख, तुझे कोई बन्धन में न डाल सके।

तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
ध्यान रख, तेरी कीर्तियाँ उत्तम हों।

उत्क्रामातः पुरुष मावपत्थाः। -अथर्व. 8.1.4
हे नर! ऊपर उठ, नीचे मत गिर।

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। -अथर्व. 8.1.6
ध्यान रख, तेरी उन्नति हो, अधोगति नहीं।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (255-260) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

विश्वशान्ति एवं वेद
मानव-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० सुकेश शर्मा
रीडर, संस्कृत विभाग, लाजपतराय स्नात. महा.,
साहिबाबाद, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश

विश्व वाङ्मय पटल पर वेद विश्व-शान्ति के सबसे बड़े उन्नायक हैं। देदीप्यमान सूर्य के समान विराजमान ये वेद, मानव-मूल्यों की अक्षुण्ण- आभा से सदियों से मनु-सन्ततियों का सतत् मार्गदर्शन करते रहे हैं।

विश्व-शान्ति की अविरल पयस्विनी प्रवाहित करने वाले मंत्रों से मानव-मन में 'जिओ और जीने दो' का भाव सुविकसित करते रहे हैं।

एक ओर वैदिक मनीषा सविता देव की उपासनापरक मंत्रों से मानव मन को दिवस का शुभारंभ करने की प्रेरणा देती है यथा ''ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव, यद्भ्रदं तन्न आ सुव'' अर्थात् हे सविता देव!। हमें समस्त बुराईयों एवं दुर्गुणों से दूर रखिए तथा जो हमारे लिए कल्याणकारी है, वह हमें प्राप्त कराइए। इस प्रकार श्रेष्ठ विचारों से व्यष्टिपरक चरित्र निर्माण की आधार शिला रखी जाती है। उसी प्रकार सामाजिक मूल्यपरक मन्त्रों से यथा-

''ओम् सहनाववतु।
सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै
तेजस्विनावधीतमस्तु
मा विद्विषावहै।''

समाज में साथ-साथ आगे बढ़ने एवं विद्वेषरहित सहभागिता की भावना सुनिश्चित की जाती है। ये वेद- मन्त्र सम्पूर्ण मानवजाति के लिए विश्वशान्ति से ओतप्रोत जीवन शैली अपनाने की दृष्टि प्रदान करते हैं, यथा-

'असतो मा सद् गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतम् गमयेति''

सम्प्रति, ज्ञान-विज्ञान की उत्तरोत्तर शाखा-प्रशाखाओं के विकसित होने पर मानव-सन्तति जितना वेदों के पठन-पाठन से दूर हुई है, उतनी ही विश्वशान्ति की भावना से भी। आज विश्वभर में छाया आतंक का संकट इसका ज्वलन्त प्रमाण है। पेशावर की घटना हो पेरिस की, सीरिया, ईराक की हो या नाइजीरिया की, ये परिदृश्य मनुष्य की मनुष्यता को भूलकर पाशविक एवं बर्बर उन्माद की पराकाष्ठा को अभिव्यक्त करने वाली घटनाऐं हैं।

अत: आज आतंक से संत्रस्त मानव-जाति की संरक्षा के लिए सद्विचारों एवं विश्वशान्तिपरक मानव-मूल्यों से ओतप्रोत वैदिक साहित्य के अनुशीलन एवं प्रसार की परमावश्यकता है, तभी मानव जाति सुरक्षित

एवं मनुसन्तति विश्व-शान्ति के पथ पर अग्रसर हो सकेगी और तभी विश्व में विश्व-शान्ति की प्रतिष्ठा हो सकेगी। मानव जीवन को स्वस्थ दिशादृष्टि देने वाले गुणों को मानव मूल्यों की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। ऋषियों द्वारा प्रदत्त आचार संहिता या जीवनदृष्टि का ही नाम है मानव मूल्य जिनसे मानव जीवन का पूर्ण एवं सार्थक सदुपयोग हो सकता है।

डॉ० धर्मपाल मेनी के अनुसार देश काल तथा परिस्थितियों के अनुसार जन सामान्य की उदात्त भावनाएं मानव मूल्य हैं जिनकी दो कसौटियां हैं:

1. लोक कल्याण

2. वैयक्तिक उदात्तीकरण

वैदिक वाङ्मय में मानव मूल्य विश्वकल्याण की भावनाओं के रूप में मुखरित हुए हैं यथा-

मधुनक्तमुतोषसो
मधुमत् पार्थिवं रजः
मधु द्यौरस्तु नः पिता -ऋग्० 1.90.6

वैदिक वाङ्मय ऋत एवं सत्य की भावना से अनुप्राणित हैं ब्रह्माण्ड की सुव्यवस्था यदि ऋत नियम पर आश्रित है तो लोक जगत् की व्यवस्था सत्य पर; जैसा कि वैदिक ऋचा उद्घोष करती है-

सत्येनोत्तभिता भूमिः
सूर्येणोत्तभिता द्यौः। -ऋक्० 10.85.1

अर्थात् वसुन्धरा की आधार भूमि सत्य है तथा अंतरिक्ष को सूर्य ने धारण कर रखा है।

लोक कल्याण एवं विश्वशांति के मूल में ऋत एवं सत्य की भावनायें ही हैं; इसी से अन्य उदात्त भावनाओं का स्फुरण होता है।

वैदिक- वाङ्मय में गुम्फित मानव-मूल्यों को अवबोध-सौकर्य के लिए अग्रलिखित श्रेणियों में निबद्ध किया गया है-

- **व्यष्टिपरक मानव-मूल्य**
- **पारिवारिक मानव-मूल्य**
- **सामाजिक मानव-मूल्य**
- **आध्यात्मिक मानव-मूल्य**
- **विश्वकल्याणमयी भावनापरक मानव-मूल्य**
- **राष्ट्रीय चेतना परक मानव-मूल्य**

व्यष्टिपरक मानव-मूल्य

सुगा ऋतस्य पन्थाः
-ऋक्० 8.31.13

सत्य का मार्ग सुख से गमन करने योग्य है

ऋतस्य पथा प्रेत -यजु० 6/45

सत्य के मार्ग पर बढ़ो।

वाचः सत्यमशीय। -यजु० 39.4

मैं अपनी वाणी में सत्य का संधान करूँ।

सद्बुद्धि के लिए वेदमाता गायत्री से प्रार्थना का विधान है यथा-

ऊँ भूः भुवः स्वः तत्सवितुर् वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियोः यो नः प्रचोदयात्

अर्थात् हम दिव्य तेज एवं निष्पाप बुद्धि को अन्तरात्मा में धारण करें।

मेधा देवी से मेधा शक्ति संपन्न होने के लिए भी प्रार्थनाएं मिलती हैं-

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं
ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्

प्रपीतां ब्रह्मचारिभि
र्देवानामवसे हुवे॥

–अथर्व० 6.10.8.2

विद्या की अधिष्ठात्री माँ सरस्वती से भी ज्ञान संपन्न होने के लिए प्रार्थनाएं की गई हैं–

पावका नः सरस्वती
वाजेभिर्वाजिनीवती
यज्ञं वष्टु धिया वसुः। ऋग्. 1/3/10

धन समृद्धि के द्वार खोलने वाली हे माँ सरस्वती! हमारे यज्ञ स्तवन को स्वीकार करो।

चोदयित्री सुनृतानां
चेतन्ती सुमतीनाम्
यज्ञं दधे सरस्वती। ऋग्. 1/3/11

सरस्वती सत्यवाणियों की प्रेरयित्री, सन्मति देने वाली यज्ञों की धारयित्री है।

मानव-मन को शिवसंकल्प से युक्त कर उदात्त भावनाओं से मनुष्य के चरित्र को अभिषिक्त किया जाता था यथा–

यत्प्रज्ञानमुतचेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।

–यजु० 34-2

इस प्रकार व्यष्टिपरक मूल्यों के रूप में मनुष्यों को सद्बुद्धि, प्रखर बुद्धि, संपन्न, सत्यवादी एवं मानव- मन को शुभ-सङ्कल्पों से अभिषिक्त करके मनुष्य के चरित्र को सुदृढ़ किया जाता था जिससे विश्वशांति की आधारशिला रखी जा सके।

पारिवारिक मूल्य

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं
कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत
वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो
मात्रा भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमतीं
वाचं वदतु शान्तिवाम्॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्
मा स्वसारमुतस्वसा।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा
वाचं वदत भद्रया॥

येन देवा न वियन्ति
नो च विद्विषते मिथः।

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे
संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

–अथर्ववेद- 3.30.1-4

अर्थात् मैं तुमको समान हृदयवाला बनाता हूँ। मैं तुम्हें विद्वेष से मुक्त करता हूँ तुम एक दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है। पुत्र पिता का आज्ञाकारी एवं माता के साथ प्रीति युक्त मन वाला हो। पत्नी अपने पति से द्वेष न करे। भाई बहिन परस्पर द्वेष न करें वे सब मंगलकारी रीति से परस्पर सुखदायक प्रेमपूर्वक संभाषण करें। जिस व्यवहार से विद्वान् भेदभाव से रहित एवं द्वेष से रहित होते हैं। वही व्यवहार मैं तुम्हारे घर के लिए निश्चित करता हूँ।

सामाजिक मूल्य

संगच्छध्वं संवदध्वं सं
वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथापूर्वे
संजानानामुपासते॥

समानो मन्त्रः समिति समानी
समानं मनः सहचित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥

समानी वः आकूतिः
समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति॥

ऋग्. 10/191/2-4

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय

-ऋक्. 5.60.5

प्रियं सर्वस्य पश्यत उतशूद्रउतार्ये

(अथर्ववेद 19.62.1)

सबके प्रति कल्याण दृष्टि रखो चाहे वह शूद्र हो या आर्य।

समानोअध्वा प्रवतामनुष्यदे।

-ऋक् 2.13.2

मार्ग पर सभी पथिकों का समान अधिकार है।

इस प्रकार मानव मन में सहभागिता की भावना, साथ-साथ आगे बढ़ने की कल्याण-दृष्टि विकसित की जाती थी, जिससे विश्वशांति की प्रतिष्ठा हो सके।

आध्यात्मिक मूल्य

वैदिक संस्कृति आत्मतत्त्व प्रधान संस्कृति है यथा

इदं ज्योतिरमृतंमर्त्येषु -ऋक् 6.9.4

अर्थात् यह आत्मा मनुष्यों में अमर ज्योति के रूप में है।

अयमात्मा ब्रह्म। -बृहदा० 2.5.29

यह आत्मा ही ब्रह्म है।

आत्मैवेदम् सर्वम्। -छान्दो० 6.25.2

यह सब आत्मा ही है।

एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

परब्रह्म एक ही है उसके अनेक रूप विद्वानों की व्याख्या के कारण हैं।

ईशावास्यमिदम् सर्वम्
यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा
मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

-यजु० 40.2

यह चराचर जगत् ईश्वर से व्याप्त है अनासक्त भाव से सांसारिक पदार्थों का उपभोग करो। किसी के धन के प्रति लोभ-दृष्टि मत रखो।

यस्तु सर्वाणिभूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न
विजुगुप्सते॥ -यजु० 40.6

जो सब प्राणियों को अपनी आत्मवत् देखता है तथा सभी प्राणियों में अपनी आत्मा के दर्शन करता है ऐसा मुमुक्षु किसी से भी घृणा नहीं करता।

इस प्रकार वैदिक संस्कृति आध्यात्मिक मूल्यों से समृद्ध है जो विश्वशांति एवं विश्वकल्याणार्थ उन्नत जीवन-दर्शन देती है।

विश्वकल्याणमयी भावना परक मानव मूल्य

वैदिक ऋचाऐं विश्वकल्याणमयी भावना से अनुप्राणित हैं

पुमान् पुमांसम् परिपातु विश्वतः

-ऋक् 6.65.24

मनुष्य को मनुष्य की सब ओर से रक्षा करनी चाहिए

केवलाघो भवति केवलादी।

ऋग्. 10/117/16

अकेले उपभोग करने वाला पाप का भागी होता है।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु ....

-ऋक् 1.89.1

हमारे पास सब ओर से कल्याणकारी भावनाऐं आयें।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम
देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि
देवहितं यदायुः॥ -यजु. 25/21

हम कानों से अच्छा सुनें, आँखों से अच्छा देखें, स्वस्थ इन्द्रियों से पूर्णायु प्राप्त करें।

मित्रस्याहं चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

-यजु० 36.18

हम मित्र की दृष्टि से सबको देखें तथा सभी मुझे मित्रभाव-दृष्टि से देखें।

यांश्च पश्यामि यांश्च न
तेषु मा सुमतिं कृधि

-अथर्व० 16.1.6

सबके प्रति सद्भावना हो।

शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे

-यजु० 36.8

मनुष्य ओर जानवर सबका कल्याण हो।

राष्ट्रिय-चेतना

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

-अथर्व० 12.1.12

पृथ्वी मेरी माँ है और मैं हूँ पृथ्वीपुत्र।

भूमि सृष्टि की आधारभूत अग्नि को धारण करती है-

वैश्नानरं बिभ्रती भूमिरग्निम्।

-अथर्व० 12.1.6

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा
तपो ब्रह्म यज्ञः पृथ्वीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं
लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

अथर्व. 12/1/1

महान्सत्य, महान् ऋत, उग्रता अर्थात् क्षात्र शक्ति, दीक्षा, तप, ब्रह्मशक्ति और यज्ञ ये सात हमारी पृथ्वी अर्थात् राष्ट्र को धारण करते हैं। हमारे भूत और भविष्य की रक्षा करने वाली हमारी मातृभूमि हमारे लिए विस्तृत प्रकाश और स्थान करे।

इळा सरस्वती मही
तिस्रो देवीमयोभुवः। -ऋ० 1.13.9

मातृभूमि, मातृसंस्कृति एवं मातृभाषा तीनों दिव्यशक्तियाँ हैं।

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा
निवेशनी। -ऋ० 1.22.15

हे मातृभूमि! तुम हमारे लिए सुख एवं निवास भूमि बनी रहो।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो
ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः।
शूरइषव्योऽतिव्याधी
महारथो जायताम् -यजु० 22.22

अर्थात् हे ब्रह्म! हमारे राष्ट्र में ज्ञान सम्पन्न बुद्धिजीवियों का, अस्त्र-शस्त्र संचालन में निपुण एवं शत्रुओं का दमन करने वाले सैनिकों का जन्म होता रहे।

इस तरह मानव-मन को राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत कर सुदृढ़ सशक्त राष्ट्र की नींव रखी गई है।

वैदिक वाङ्मय रत्नगर्भा वसुन्धरा की तरह मानव-मूल्यों की खान है; जिसके अनुशीलन से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में लोककल्याणमयी दृष्टि सुविकसित कर विश्व में शान्ति की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो सकेगा।

आओ हम सब वेदप्रेमी बनें।

✦✦✦

आरोह तमसो ज्योतिः। -अथर्व. 8.1.8
तमस् से छूट कर ज्योति में प्रवेश कर।

मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः। -अथर्व. 8.1.9
संसार में मुर्दादिल होकर मत रह।

तमो मोपगाः। -अथर्व. 8.2.1
हताश मत हो।

जीवतां ज्योतिरभ्येहि। -अथर्व. 8.2.2
जीवितों की ज्योति प्राप्त कर।

ज्योतिः शूर पुरस्कृधि। -अथर्व. 8.5.17
हे शूर! ज्योति को अपना आदर्श बना।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (261-267) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिक शिक्षा दर्शन : एक विश्लेषण

डॉ० विनोद कुमार गुप्त
एसो० प्रोफेसर, संस्कृत
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
नई टिहरी, टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड

''**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**'' की पताका को फहराने वाला देश अब केवल '**भुञ्जीथाः**' पद का अनुगामी बन गया है। अतः उपभोक्तावादी युग में सम्प्रति चारों ओर भ्रष्टाचार, दुराचार, व्यभिचार, आतंकवाद, साम्प्रदायिक विवाद आदि अमानवीय एवं अनैतिक आचरण का आधिपत्य स्थापित हो गया है, जिस कारण भारतीय संस्कृति अपसंस्कृति की कलुषित छाया से आच्छादित हो गयी है। आज लौकिक उन्नति के लिए तो व्यक्ति सतत् प्रयत्नशील है, किन्तु अलौकिक उत्कर्ष उसे समझ में नहीं आता। अन्य शब्दों में अलौकिक उत्कर्ष की हत्या कर वह लौकिकता के पीछे-पीछे भाग रहा है। शायद इसके मूल में आज की शिक्षा-पद्धति है, जिसमें अलौकिक (आध्यात्मिक) विकास का कोई स्थान नहीं दिखायी देता। पाठ्यक्रमों में नैतिक मूल्यों (जिसके कारण भारतीयता की पहचान है) से संबंधित पाठ्यचर्या लुप्तप्राय हो गयी है, जिससे आज की युवा पीढ़ी विद्यार्थी-जीवन में नैतिक मूल्यों से संस्कारित नहीं हो पाती। अतः आवश्यकता है लौकिक उत्कर्ष के साथ-साथ नैतिक उत्कर्ष की, जिससे व्यक्ति में आशा की ज्योति प्रदीप्त हो, विश्वबन्धुत्व का भाव जागरित हो, आत्मिकबल एवं मनोबल की वृद्धि हो, उत्साह एवं पुरुषार्थ का संचरण होवे, पापकर्म से निवारित करने वाली आस्तिकता की भव्यभावना प्रस्फुटित होवे। अतः वैदिक वाङ्मय में प्रतिच्छवित नैतिक मूल्यों की उद्भाविका शिक्षा के सन्दर्भ में विचार एवं प्रचार-प्रसार अत्यन्त प्रासङ्गिक प्रतीत होता है।

'शिक्षा' शब्द 'शिक्ष् विद्योपादाने' धातु से व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- 'शिक्ष्यते विद्योपादीयतेऽनयेति शिक्षा' अर्थात् जिसके द्वारा व्यक्ति विद्याग्रहण करता है या अपने कल्याण का मार्ग प्राप्त करता है, उसे शिक्षा कहते हैं। वैदिक वाङ्मय में व्यक्ति के कल्याण के जितने भी उपादान हो सकते हैं, उन सभी पर स्पष्टतः आदेश है। आज समाज एवं राष्ट्र में घटित हो रहे अनैतिक कृत्यों के मूल में प्रमुखतः दो बातें उभरकर सामने आती हैं- पहली विश्वबन्धुत्व की भावना का ह्रास पारिवारिक सौहार्द्र की भावना का अभाव तथा दूसरी भौतिक सुखों की इच्छा बलवती होना, फलस्वरूप इसकी प्राप्ति हेतु गर्हित आचरण करना।

वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन करने पर यह बोध होता है कि वेद में '**वसुधैव**

कुटुम्बकम् की शिक्षा पदे-पदे परिलक्षित होती है। यजुर्वेद में परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखे जाने एवं समझे जाने का निर्देश है। वस्तुतः मित्रता वह सद्गुण है जिसके द्वारा विश्वबन्धुत्व की भावना जाग्रत होती है तथा मानवमात्र के प्रति सद्भावना एवं सौहार्द्र अभिव्यक्त होता है। फलतः मन में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या-भाव, साम्प्रदायिक हिंसा आदि का भाव नहीं आने पाता-

''मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

मित्रस्याहं चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।''[1]

विश्वबन्धुत्व की भावना के बीज रूप में संगठन की चर्चा करते हुए यजुर्वेद का ऋषि कहता है कि हम सम्मिलित एक साथ भोजन एवं जलपान करें-

''सग्धिश्च मे, सपीतिश्च मे''[2]

एक साथ भोजन करने को 'सग्धि' (सहभोज) तथा जलपान करने को 'सपीति' कहा जाता है। वास्तव में एक साथ भोजन आदि करने से प्रेम-भाव एवं राष्ट्रिय-भावना विकसित होती है।

विश्वबन्धुत्व का ही पोषक है समदृष्टि या समतामूलक भाव। आज का व्यक्ति समतामूलक न होकर स्वार्थमूलक हो गया है, जिस कारण प्रत्येक स्तर पर अनेक विसङ्गतियाँ एवं विघटन की स्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, फलतः लोगों के हृदय में एक दूसरे के प्रति प्रेम-भाव या मित्र-भाव के स्थान पर शत्रु-भाव ने जन्म ले लिया है। अतः ऋग्वेद के वे मन्त्र ध्यातव्य हैं जिनमें ऋषि हम सभी को एक साथ चलने बोलने आदि का निर्देश दिया है-

सं गच्छध्वं सं वदध्वं
सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे
संजानाना उपासते।।[3]

हमारी मन्त्रणायें, स्वभाव समितियां एक विचार वाली होवें। हमारे मन एवं चित्त समान हों। हम समान विचार से सर्वसम्मति से निर्णय लें। हमारे हृदय, मन एवं विचार सह अस्तित्व की भावना से आप्लावित हों-

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानो मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि।।

समानी व आकूतिः,
समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति।।''[4]

विश्वबन्धुत्व की भावना के लिये अनिवार्य तत्व हैं- अहिंसा। अहिंसा ही वह शस्त्र है, जिससे विखण्डन, विघटन, आतंकवाद आदि अनैतिक आचरण समूल नष्ट हो सकते हैं। ऋग्वेद में आदेश दिया गया है कि तेजस्वी पुरुष, स्त्रियों, पशुओं की हिंसा न करें। हिंसा करने वाले दुराचारियों से स्वयं को दूर रखते हुये उन्हें समाज से निष्कासित किया जाये-

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं
मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।

मा नो वधीः पितरं मोत मातरं
मा नः प्रियास्तन्वोरुद्र रीरिषः।।[5]

हिंसा केवल रक्तपात ही नहीं होती, अपितु वाणी आदि से भी हुआ करती है।

इसीलिए ''प्रियं ब्रूयात् सत्यं ब्रूयात्'' की भावना व्यक्त होती हुई वेद में 'माधुर्य' जीवन जीने की बात कही गई है। वस्तुतः पारम्परिक शान्ति किंवा लोककल्याण के लिए मधुरता आवश्यक है। अथर्ववेद में एक स्थल पर कहा गया है कि वाणी, कार्य गमनागमन, आकृति आदि सभी मधुर होवे–

मधुमन्मे निक्रमणं
मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्
भूयासं मधुसन्दृशः॥[6]

यजुर्वेद का एक मंत्र जिसमें कहा गया है कि माधुर्य आचरण सम्पन्न नदियाँ, रात्रि एवं दिन, वायु, पृथिवी, वनस्पतियाँ, सूर्य, चन्द्र आदि से शिक्षा लेते हुए हमें भी जीवन में मधुरता का सन्निवेश करना चाहिए, ताकि प्रेम–भावना तथा पारस्परिक सौहार्द्र की भावना बनी रहे–

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥[7]

कभी 'मातृवत् परदारेषु' की भावना से ओत–प्रोत हमारा देश सम्प्रति व्यभिचार से कराह रहा है। जगह–जगह कन्यापहरण, बलात्कार आदि की घटनायें घटित हो रही हैं, जिसका कारण है व्यक्ति का संयम से भ्रष्ट होना। आत्मिक उन्नति तथा चारित्रिक बल के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का जीवन संयमित होवे। संयम का आशय यह है कि वह जितेन्द्रिय अर्थात् अपनी इन्द्रियों को वश में रखे, काम–भावना के आवेश को नियंत्रित करे, परस्त्री को वासना की दृष्टि से न देखे आदि। चारित्रिक दोष से दूषित व्यक्ति किसी भी प्रकार समाज में सम्मान नहीं प्राप्त करता और न ही ऐसे लोगों से युक्त समाज में पारस्परिक सद्भाव भावित होगा। ऐसे लोग तिरस्करणीय होते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है कि कामातुरजन धर्मज्ञान एवं सत्यविद्या के अधिकारी नहीं होते। जो कामी हों, वे हमारे बीच में न रहें–

न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो
न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा
शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥[8]

व्याभिचारिक घटनाओं से आज समाज अतिक्रान्त हो चुका है। नैतिकता का क्षरण दिन–प्रतिदिन तेजी से हो रहा है, जिस कारण व्यक्ति में अनेक विकृतियों ने जन्म ले लिया है। सामाजिक उत्कर्ष हेतु नैतिकता का होना अनिवार्य है, जिसकी संचेतना वैदिक वाङ्मय में अनेकशः प्राप्त होती है। प्रकृत वाङ्मय में सदाचार का स्थान नैतिक मूल्यों के अन्य उपादानों से अधिक है। आज चलचित्रों में विज्ञापनों आदि में अश्लील दृश्य, रक्तपात, आतंकवाद, भ्रष्टाचार आदि का प्राधान्य है। व्यक्ति जैसा देखता है, जैसा सुनता है, उसके अनुसार ही उसकी चित्तवृत्तियाँ काम करती हैं। अच्छा सुनना एवं अच्छा देखना अच्छे विचार के उद्भावक हैं, जबकि बुरा देखना एवं सुनना बुरे विचारों को जन्म देता है, जिनसे प्रेरित होकर व्यक्ति की प्रवृत्ति अनैतिक कार्यों की ओर उन्मुख होती है। अच्छे विचार हमेशा व्यक्ति को सदाचार के लिये अभिप्रेरित करते हैं। इस विषय में यजुर्वेद के ऋषि का कथन है कि हमें अपनी आत्मिक उन्नति के लिये संयमित जीवन की आवश्यकता होती है, जिसके लिए हमें अच्छा देखना एवं अच्छा सुनना चाहिए–

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः,
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।[9]

अच्छे विचारों के लिए मन का पवित्र होना भी आवश्यक है। यदि हम चाहते हैं कि दुर्गुणों एवं कुविचारों से दूर रहें तथा सत्य का अनुगामी बनें तो सर्वप्रथम हमें अपना मन पवित्र रखना होगा। जब तक मन कुविचारों से भरा होगा, तब तक हम आत्मिक उन्नति नहीं प्राप्त कर सकेंगे। अतः ऋग्वेद का आदेश है कि अत्यंत विपरीत परिस्थितियों में भी अपने मन को विचलित न होने दें तथा सत्य से न हटें–

भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये
येना समत्सु सासहः।[10]

जब व्यक्ति में रजोगुण एवं तमोगुण का प्राधान्य होता है, तब व्यक्ति का मन चंचल होता है और मन की पवित्रता कलुषित हो जाती है। अतः मन की पवित्रता के लिए सत्त्वगुण की प्रधानता आवश्यक है। अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि–

असुं त आयुः पुनरा भरामि
रजस्तमो मोप गा मा प्रमेष्ठाः।[11]

वैदिक वाङ्मय में जीवन की आचार-संहिताओं के रूप में सप्तमर्यादाओं का उल्लेख किया गया है– अस्तेय, व्यभिचार, सुरापान, भ्रूण-हत्या, दुराचार, पापकर्म को छिपाना, ब्रह्म-हत्या। स्मृतिग्रन्थों में इन्हें महापाप की संज्ञा दी गई है। इनसे हमेशा बचना चाहिए। वेद का कथन है कि यदि इनमें से एक भी कार्य करता है तो वह पापी है, जबकि उक्त मार्गों के त्याग के फलस्वरूप वह सद्गति को प्राप्त करता है–

सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुः
तासामितेकामभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे
पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ।।"[12]

पारस्परिक सौहार्द्र की कितनी सुंदर शिक्षा दी है अथर्ववेद के ऋषि ने जिसमें चतुर्वर्णों में प्रिय होने की कामना की गयी है–

प्रियं मा कृणु देवेषु
प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत
उत शूद्र उतार्ये।।[13]

अर्थात् मुझे ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों तथा जितने देखने वाले हैं उन सब में प्रिय बनाओ। आशय यह है कि अपने पवित्र कार्यों (सप्तमर्यादाओं) द्वारा सबका शुभ करें। यह वही व्यक्ति कर सकता है जिसमें नैतिक मूल्य यथा-परोपकार, प्रेम, सौहार्द्र आदि के गुण विद्यमान हों और ये गुण वेदादि के अध्ययन से आते हैं। सम्प्रति जो भी नैतिक गुण हमारे बीच में दिखाई दे रहे हैं वे सब तपः पूत ऋषियों की साधना के प्रतिफल हैं। इन मूल्यों का उपदेश वैदिक ऋषियों ने किसी व्यक्ति विशेष, धर्म विशेष अथवा सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं, अपितु मानवमात्र के कल्याण की भावना से जुड़कर किया है। ऋग्वेद का कितना सुन्दर भाव है, जिसमें कहा गया है कि कृपण अदाता व्यर्थ में सम्पत्ति संकलित करता है। मै सत्य कहता हूँ उसका वह मरण ही है जो न तो देवों को हवि अर्पण करता है और न अपने समान पोष्य मित्र को देता है। वस्तुतः केवल स्वयं खाने वाला केवल पाप को ही खाता है–

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी।।[14]

कहने का भाव यह है कि दान आदि सत्कर्मों से समाज की सेवा करते रहना चाहिए। यहाँ दान की उपयोगिता बतायी गई है। दान के विषय में तैत्तिरीयोपनिषद्कार ने जो भाव व्यक्त किये हैं, वह अत्यंत दुर्लभ है–

''ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।।''[15]

अर्थात् जो कोई हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण हो, उनका यथोचित आसन आदि देकर सम्मान करना चाहिए। श्रद्धापूर्वक देना चाहिए। अश्रद्धा से नहीं देना चाहिए। अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार देना चाहिए। लज्जापूर्वक अर्थात् विनम्रभाव से देना चाहिए। डर से अर्थात् विवेक पूर्वक अपना कर्तव्य समझकर निष्कामभाव से देना चाहिए अर्थात् 'आब गयी आदर गया नैनन गया स्नेह' की स्थिति नहीं होनी चाहिए। यदि दान आदि सत्कर्म के विषय में संदेह हो जाये तो उस विषय में विवेकशील, सत्कर्मनिरत, धर्माभिलाषी ब्राह्मण जैसा आचरण करें, वैसा तुम्हें आचरण करना चाहिए। यही उपदेश है और यही वेदों का रहस्य है। यही अनुशासन है। इसलिए तुमको इसी प्रकार सदाचार का पालन करना चाहिए। वेद में दान न देने वाले को नष्ट करने या मार देने का आदेश दिया गया है, क्योंकि अदाता समाज का शत्रु है और वह समाज के लिए घातक है–

सद्यश्चिद्यः सहस्राणि शता
ददन्नकिर्दित्सन्तमा मिनत्।[16]
जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि सः।।[17]

आधुनिक दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली एवं अर्थव्यवस्था के कारण आज लोगों में दान अर्थात् परोपकारार्थ निष्काम भाव से कुछ भी देने के भाव में निरंतर क्षरण हो रहा है। दान के विषय में अब लोगों में नकारात्मक सोच का पल्लवन हो रहा है, जबकि सामाजिक व्यक्ति होने के कारण हमारा कर्तव्य है कि अपनी वित्तीय स्थिति के अनुसार निर्धन, असहाय आदि को अपनी आय का कुछ न कुछ भाग अवश्य देना चाहिए। इससे पारस्परिक सद्भावना विकसित होती है। वस्तुतः दान विश्वबन्धुत्व की भावना का एक अनिवार्य अंग है।

नैतिक शिक्षा की प्राथमिक पाठशाला एवं प्रयोगशाला परिवार है। बालक सर्वप्रथम वहीं सामाजिक सौहार्द्र, पारस्परिक सद्भाव आदि सीखता है। अतः पारिवारिक सदस्यों के बीच में कैसा संबंध, व्यवहार होना चाहिए। इस विषय में वैदिक वाङ्मय से हमें निर्देश प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद के **'सांमनस्य सूक्त'** के प्रथम मंत्र में हृदय, मन एवं द्वेषराहित्य की जिस समानता की शिक्षा दी गयी है, वह अद्भुत है–

सहृदयं साम्मनस्य-
मविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभि हर्यत
वत्सं जातमिवाघ्न्या॥[18]

अर्थात् मैं तुम्हारे प्रति हृदय एवं साम्मनस्य के द्वारा विद्वेषराहित्य से उपलक्षित गुणों का बोध कराता हूँ, जैसे बछड़े के साथ गाय स्नेह रखती है। बछड़े का थोड़ा भी कष्ट उसका अपना कष्ट होता है। यही हार्दिक एवं मानसिक ऐक्य की भावना समस्त पारिवारिक सदस्यों में हो। इसी सूक्त में आगे माता-पिता, भाई-बहिन तथा पति-पत्नी के बीच परस्पर सौहार्द्र एवं सामंजस्य की भावना का संदेश कितना पालनीय है-

अनुव्रतः पितुः पुत्रो
मात्रा भवतु सम्मनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं
वाचं वदतु शान्तिवाम्॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा
स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा
वाचं वदत भद्रया॥[19]

प्रकृत मन्त्रद्वय में यह आदेश दिया गया है कि पुत्र पिता की आज्ञानसुार कार्य करें। माता के साथ एक मन से रहे। पति-पत्नी एक दूसरे के प्रति मधुर एवं सुखद वाणी ही बोले। कभी भी कटुवचन न बोले। भाई भाई के प्रति भी विद्वेष न करे तथा बहिन के प्रति बहिन भी द्वेष न करे। इस प्रकार कुटुम्ब के प्रत्येक सदस्य एक दूसरे से प्रेम एवं सद्भाव के साथ रहते हुये मधुर एवं कल्याणकारी वाणी बोलते रहें। एक स्थल पर माता-पिता के साथ प्रशस्त आचरण करने का आदेश देते हुए कहा गया है कि-

स्वस्ति मात्र उतपित्रे नो अस्तु।[20]

''अतिथि देवो भव'' का उद्घोष करने वाले वैदिक वाङ्मय में अतिथि-सत्कार को भी मानव का परम कर्तव्य बताया गया है। घर के प्रत्येक सदस्य में सौमनस्य की भावना होगी तभी अतिथि-सत्कार यथोचित रूप से हो सकेगा। अथर्ववेद में अतिथि के सत्कार का निदर्शन करते हुए कहा गया है कि- हे गृहस्वामिनि! तुम्हारे घर पर अतिथि आये हुए हैं दूध से परिपूर्ण यह कलश ले जाकर उनके समक्ष रख दे। इच्छानुसार पान करा। घृत से उनका सत्कार कर-

''पूर्णं नारि! प्र भर कुम्भमेतं
घृतस्य धाराममृतेन सम्भृताम्।
इमां पातृनमृतेना समङ्ग्धीष्टा-
पूर्तमभि रक्षात्येनाम्।''[21]

ऋग्वेद में अक्षसूक्त के माध्यम से ऋषि सामाजिक बुराईयों को दूर करने का आदेश देता है। इसमें जुआ को दुर्व्यसन के रूप में बताया गया है। यह पूरा सूक्त जुँआ में हारे हुए व्यक्ति पश्चाताप स्वरूप है। जुआरी से उसके सभी सम्बन्धित नाराज हो जाते हैं। यहाँ तक कि सास बोलना बंद कर देती है, पत्नी दरवाजा बंद कर देती है। द्यूत-क्रीड़ा के लिए मना करते हुए कहा गया है कि- हे जुआरी! तुम पासों से मत खेलो, खेती करो। कृषि से प्राप्त धन को बहुत समझते हुए उसी में आनन्द, उसी से तुम्हें अनेक सांसारिक सम्पदायें प्राप्त होंगी तथा दाम्पत्य-सुख प्राप्त होगा।

भौतिकता की विलासमयी उपभोगवादी प्रवृत्तियों में मस्त आज का व्यक्ति अन्न के महत्व को भी भूल बैठा है। जनसंख्या वृद्धि के कारण दिनों दिन अन्नोत्पादन कम होता जा रहा है। दूसरों की चिन्ता न करते हुए स्वयं

ही अकेले अन्न का उपभोग करने वाले लोग उपभोग तो करते ही हैं साथ ही उससे अधिक अन्न को व्यर्थ में फेंक देते हैं। भूख से अधिक थाली में ले लेते हैं, और बाद में उसे फेंक देते हैं। उनकी दृष्टि में अन्न केवल भूख मिटाने का साधन मात्र है। अन्न का क्या स्वरूप है, इस विषय में उन्हें ज्ञान नहीं है। इसका कारण आज की शिक्षा ही है। तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्न के स्वरूप के विषय में बताते हुए कहा गया है कि-

''अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति।।''[22]

यही सप्तम अनुवाक् में कहा गया है कि जो अन्न को नष्ट करते हैं अन्न उन्हें नष्ट कर देता है।

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में प्रतिच्छवित नैतिक मूल्य विषयक उक्त परिशीलन से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति नैतिक शिक्षाओं को अपने व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ करता है। वैदिक वाङ्मय में निर्देशित नैतिक मूल्यों के द्वारा छात्र अपने शरीर, मस्तिष्क, बुद्धि तथा व्यक्तित्व को इस योग्य बना लेता था कि एक व्यक्ति के रूप में परिवार, समाज, राष्ट्र के प्रति सदाचारपूर्ण दायित्वों के निर्वहन में सक्षम हो सके। आजकल दूषित राजनीति के कारण सम्प्रदायवाद, आतंकवाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद फलतः पारस्परिक विद्वेष की भावना आदि अनेक प्रकार के अनैतिकवाद एवं विसङ्गतियों ने जन्म ले लिया है। जिस कारण जगह-जगह भ्रष्टाचार, रक्ताचार, अपहरणाचार, व्यभिचार, बलात्कार आदि से समग्र राष्ट्र ग्रस्त है। इन समस्त विघटनकारी, विध्वंसकारी, अकल्याणकारी तत्त्वों को समाप्त करना है तो वैदिक शिक्षा में उपबृंहित नैतिक मूल्यों के विषयों में छात्र/छात्राओं को शिक्षित किया जाये, जिससे उन्हें संस्कारित बनाया जा सके। शासनपद्धति या राजनीति को आध्यात्मिकता से जोड़ा जाये, जिससे आध्यात्मिक भावना से आप्लावित व्यक्ति में विश्वबन्धुत्व की भावना, पारस्परिक सौहार्द्र आदि नैतिक गुण विकसित हो सकें जिससे समस्त अनैतिक कार्यों का शमन होगा।

सन्दर्भ-

1. यजुर्वेद 36/18
2. वही 18/9
3. ऋग्वेद 10/191/2
4. वही 10/191/3-4
5. वही 1/114/7
6. अथर्ववेद 1/34/3
7. यजुर्वेद 13/29
8. ऋग्वेद 7/21/5
9. यजुर्वेद 25/21
10. ऋग्वेद 8/19/20
11. अथर्ववेद 8/2/1
12. वही 5/1/6
13. वही 19/62/1
14. ऋग्वेद 10/117/6
15. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/2-3
16. ऋग्वेद 7/32/5
17. वही 6/51/14
18. अथर्ववेद 3/30/1
19. वही 3/30/2-3
20. वही 1/31/4
21. वही 3/12/8
22. तैत्तिरीयोपनिषद् 3/2

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (268-272) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में सामाजिक चिंतन

(वर्णाश्रम व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में)

–डॉ. दीपा गुप्ता

असिस्टेंट प्रोफेसर, प्रा.भा.इ. संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
कन्या गुरुकुल परिसर, गु.कां.वि.वि., हरिद्वार

आज संसार के सभी विद्वान् निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि वेद मानव जाति का प्राचीनतम ग्रंथ है। आधुनिक युग के महानतम मनीषी महर्षि दयानंद सरस्वती का समग्र चिंतन एवं मानव जाति के सर्वांगीण उत्थान के लिए उनके द्वारा प्रस्तावित बहुआयामी कल्याण योजना की आधार भूमि वेद ही हैं। एक मात्र वेद ही ऐसा ग्रंथ है जिसमें उपदेश किसी एक देश अथवा समूह के लिए नहीं, अपितु संसार के प्रत्येक स्थान पर रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान रूप से आत्मोन्नति, सामाजिक उत्थान, शान्ति, सद्भाव, सदाचार लौकिक सुख पारलौकिक आनन्द का मार्ग प्रशस्त करते हैं। राग, द्वेष, अहंकार, स्वार्थ, संघर्ष, शोषण तथा विभिन्न समस्याओं से त्रस्त विध्वंस के कगार पर खड़ी मानवता की रक्षा के लिए वेदों का आचरण ही एकमात्र उपाय है। भारतीय विद्वज्जजन वेदों को विविध विद्याओं का मूल स्रोत मानते हैं। मनुस्मृति में वर्णित है कि 'सर्वज्ञानमयो हि सः' कि वेद संपूर्ण ज्ञान विज्ञान का भंडार हैं।[1]

स्वामी दयानंद सरस्वती ने सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दों में वेद को सर्वज्ञाननिधान उद्घोषित किया। यथा वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। (आर्य समाज का तीसरा नियम)

स्वयं वेद में वेदों को **यस्मिन् वेदा निहिताः विश्वरूपाः** (अर्थात् सब का निरूपण करने वाले वेद जिसमें निहित हैं) कहा है।[2]

वैसे तो वेदों में विविध विद्याओं का संगम है लेकिन अपने विषयानुसार मैं वेदों में प्रतिपादित सामाजिक चिंतन वर्णाश्रम व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में इसकी विवेचनात्मक रूप से समीक्षा करूँगी।

वैदिक सभ्यता का इतिहास सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक सभी दृष्टिकोणों से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। लेकिन जब हम वेदों में सामाजिक जीवन का अध्ययन करते हैं तो सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि वेदों में निहित सामाजिक जीवन के अन्तर्गत वर्ण व्यवस्था का स्वरूप क्या था? एवं उसकी महत्ता क्या थी? क्योंकि किसी भी सभ्यता या संस्कृति के सामाजिक जीवन में वर्ण व्यवस्था का अपना एक अहम् स्थान है। वर्ण व्यवस्था किसी भी समाज का वह महत्वपूर्ण अंग है जिसके बिना वह समाज अपंग हैं, चल नहीं सकता। समाज की कल्पना मानव शरीर से की गई है। जिस

प्रकार शरीर के संचालन में विभिन्न अंगों जैसे मुख, भुजा, जंघा, पैर इत्यादि का अपना एक विशिष्ट कार्य होता है और किसी एक के अभाव में शरीर की स्थिति दयनीय हो जाती है, ठीक उसी प्रकार समाज के संचालन में प्रत्येक वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का भी अपना एक विशिष्ट कार्य होता है। और उनमें से किसी एक के अभाव में समाज का संचालन सुचारु रूप से नहीं हो सकता। वेदों में वर्ण व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्ण व्यवस्था का आधारभूत वेदमंत्र निम्न प्रकार से इंगित है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू
राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः
पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥[3]

–ऋग्वेद–10,90,12 यजुर्वेद–31,11

अर्थात्–(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (अस्य) इस समाज का (मुखं) मुख है। (राजन्यः) क्षत्रिय (बाहू) भुजायें (कृतः) बनाया गया है। (यद्) जो (वैश्यः) वैश्य हैं (तत्) वह (ऊरू) जंघायें हैं और (पद्भ्याम्) पैरों के लिए (शूद्रः) शूद्र (अजायत) बना है।

यजुर्वेद में इन चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है।

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं
मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्।[4]

–यजुर्वेद–30.5

अर्थात्–ब्राह्मण का कर्त्तव्य है–समाज को धार्मिक नेतृत्व प्रदान करना, पठन– पाठन करना।

क्षत्रिय का कर्त्तव्य है–क्षत्र, राष्ट्र और देश की सुरक्षा।

वैश्य का कर्त्तव्य है–मरुत् देवों की तरह देश-देशान्तर से व्यापार और धन की वृष्टि करना, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को संभालना।

शूद्र का कर्त्तव्य है–तपस्, श्रमसाध्य सभी कार्य, शिल्प इत्यादि।

वर्ण व्यवस्था से सम्बंधित ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[5] का उपर्युक्त मंत्र वैदिक धर्म के समाज-संगठन सम्बन्धी वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्त का प्रधान और आधारभूत मंत्र है, इस मंत्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस मंत्र में मनुष्य समाज की मनुष्य शरीर से उपमा दी गई है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[6] में ब्राह्मण को समाज का मस्तिष्क माना गया है। जिस प्रकार शरीर में मस्तिष्क का स्थान ऊँचा है उसी प्रकार समाज में ब्राह्मण वर्ण को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

ब्राह्मण का मुख्य कर्त्तव्य वेदों को पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान लेना इत्यादि है।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[6] में क्षत्रिय को समाज की भुजा माना गया है। जिस प्रकार से भुजा शरीर में कार्य करती है उसी प्रकार से क्षत्रिय समाज की रक्षा करता है। क्षत्रिय का कर्त्तव्य है–राज्य सम्यक् संचालन, देश की सीमा का विस्तार करना, विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करना इत्यादि।

आर्थिक विकास का सारा दायित्व वैश्य पर रहता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[7] में वैश्य को समाज की जंघा माना गया है जिस प्रकार जंघा पूरे शरीर का भार संभालती है ठीक उसी प्रकार एक वैश्य भी सम्पूर्ण समाज के

आर्थिक दायित्व को संभालता है। कृषि, पशुपालन, उद्योग-धन्धे व्यवसाय, दान देना इत्यादि वैश्य के प्रमुख कर्त्तव्य माने गये हैं।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त[8] में शूद्र को समाज के पैर बतलाते हुए कहा है—जिस प्रकार पैरों के द्वारा ही सारा शरीर स्थिर एवं गतिशील होता है, उसी प्रकार एक शूद्र भी समाज को गतिशील और स्थिर बनाए रखता है। समाज की निष्काम भाव से सेवा करना शूद्र का मुख्य कर्त्तव्य माना गया है। शूद्र का यह भी कर्त्तव्य है कि प्रथम तीन वर्णों से ईर्ष्या न करते हुए उनकी निष्काम भाव से सेवा करे।

परिचर्यात्मकं कर्म
शूद्रस्यापि स्वभावजम्।

अर्थात् सब वर्णों की सेवाभाव शूद्र का स्वाभाविक कर्म है। वैदिक काल में चारों वर्णों में सामंजस्य प्रेम सद्भाव था। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि के भाव सर्वथा नहीं थें। चारों वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था।[9] अतएव यजुर्वेद और अथर्ववेद में चारों वर्णों की सुख समृद्धि और तेजस्विता की प्रार्थना की गई है।[10]

यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में चारों वर्णों का उल्लेख है[11] इससे सूचित होता है कि इन वेदों के समय में वर्ण-भेद, भली-भाँति विकसित हो चुका था।

वेदों में सामाजिक जीवन के दूसरे पहलू आश्रमव्यवस्था का भी पूर्णतः उल्लेख मिलता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम

यह आश्रम उपनयन संस्कार से प्रारंभ होकर समावर्तन संस्कार के साथ समाप्त होता था। ऋग्वेद[12] में ब्रह्मचारी तथा अथर्ववेद[13] में ब्रह्मचर्य शब्द अनेक स्थलों पर आये हैं। उपनयन संस्कार (जनेउ धारण) शिक्षारंभ का प्रतीक था बालकों के तुल्य ही बालिकाओं का भी यज्ञोपवीत होता था। जिस प्रकार विवाह से पूर्व बालकों को ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था उसी प्रकार बालिकाएँ भी ब्रह्मचारिणी रहती थी।[14] वेदों में ब्रह्मचर्य एवं संयम पर बहुत बल दिया गया हैं।[15] ब्रह्मचर्य के नियमों में मुख्य है—संयमी और तपस्वी जीवन बिताना, भोग विलास की सामग्री से दूर रहना, ऊपरी शैया वर्जय (अर्थात् पंलग पर सोना निषिद्ध है) पाँच यम नियमों का पालन करना, (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि) अपने और गुरु हेतु भिक्षा वृति करना, पीले वस्त्र धारण करना। बालक स्नातक होने पर विवाह करते थे, कुछ आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे। बालिकायें भी इसी प्रकार स्नातक होकर कुछ तो विवाह कर लेती थीं।

उन्हें सद्योद्वाहा कहा जाता था, और कुछ आजन्म[16] ब्रह्मचारिणी रहती थीं उन्हें ब्रह्मवादिनी कहा जाता था। ऐसी ब्रह्मवादिनी नारियों में मैत्रेयी, गार्गी विशेष उल्लेखनीय हैं।

गृहस्थ आश्रम

विवाहोपरान्त गृहस्थ आश्रम प्रारम्भ होता है। गृहस्थ के लिए ऋग्वेद में 'गृहपति' शब्द का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद[17] में भी गृहस्थ के लिए गृहपति शब्द ही प्रयुक्त है। वेदों में गृहस्थ-दम्पती के कर्त्तव्यों का बहुत विस्तार से वर्णन है। अर्थववेद[18] में पारिवारिक जीवन को सुखद बनाने के लिए कुछ सुन्दर उपदेश दिये गये हैं। उदाहरणार्थ—पति-पत्नी सदा उद्यमशील हों, नवीन उद्योग

करें, उद्यमी को ही इस संसार में सुख मिलता है।

परिवार में मधुरता का वातावरण हो, परस्पर मधुर वचन बोलें।[19] हास्य और आमोद-प्रमोद का वातावरण हो।[20] ऋग्वेद में उल्लेख है कि पति-पत्नी सुशिक्षित हो, व्यवहार कुशल हों, पत्नी विदुषी, तेजस्विनी और वक्ता हो।[21]

बालक परिवार में माता पिता के आज्ञाकारी हों, बहन-भाइयों में द्वेष न हो।[22] घर की सुरक्षा के विषय में पति-पत्नी दोनों सावधान रहें। अधिक विषयभोग में न फंसे।[23]

वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम

वेदों में वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम के विषय में सामग्री अत्यल्प है। ऋग्वेद[24] में सन्यासी के लिए यति शब्द प्रयुक्त हुआ है। संयम पूर्ण जीवन बिताने वालो को ही यति कहते थे। अथर्ववेद[25] में मुनि शब्द प्रयुक्त हुआ है। मुनि का सम्बन्ध मनन से है। जो मनन, चिन्तन और स्वाध्याय में मग्न रहते थे, उन्हे मुनि कहा जाता था।

अथर्ववेद में मुनिकेशम् शब्द आया है।[26] इससे ज्ञात होता है कि मुनि जटा रखते थे। एक सन्यासी मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहता था, अतः उसे मुमुक्षु अर्थात् मुक्ति का इच्छुक कहा गया है।

वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यकों और उपनिषदों के रूप में जो प्राचीन वैदिक साहित्य है, उसमें चारों आश्रमों की सत्ता के अनेक संकेत विद्यमान हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के एक संदर्भ में यह कहा गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण कर गृही (गृहस्थ) बने, गृही जीवन बिताकर वनी (वानप्रस्थ) बनें और फिर वनी होने के बाद परिव्राजक (संन्यासी) बन जाए।[27]

इस प्रकार वेदों में तथा वैदिक साहित्य में आश्रम व्यवस्था का स्पष्ट तथा विशद् रूप से प्रतिपादन किया गया है और यह भी बताया गया है कि चारों आश्रमों के क्या ध र्म और कर्त्तव्य हैं।

आधुनिक भारतीय समाज में वेद-वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था की प्रासंगिकता

वेदों में वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था अत्यन्त विकसित एवं परिपक्व रूप में थी, यही कारण है कि आज भी हमारे सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव प्रतिबिम्बत होता है। वेदों में सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए जो वर्णाश्रम व्यवस्था के नियम प्रतिपादित किए गये हैं। यदि मनुष्य अपने जीवन में इन नियमों को ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा एवम् आस्था रखते हुए आत्मसात् कर आचरण करता है तो निःसन्देह उसका सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित एवम् सुदृढ़ होगा। क्योंकि यह कहना गलत नहीं होगा कि वर्णाश्रम व्यवस्था किसी भी संस्कृति, समाज या सभ्यता के सामाजिक जीवन को एक सुदृढ़ एवम् सुव्यवस्थित आधार प्रदान करती है।

वेदों में उल्लिखित वर्णाश्रम व्यवस्था का इतना अधिक महत्व है कि आज के समय में भी मनुष्य वर्णाश्रम व्यवस्था का पूर्णतः पालन करते हुए कर्म प्रधान जीवन व्यतीत कर रहा है। यही कारण है कि आधुनिक कालीन सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए वेद कालीन वर्णाश्रम व्यवस्था एक

वरदान सिद्ध हुई है। यह सत्य ही है कि वेदों में निहित वर्णाश्रम व्यवस्था की उपयोगिता, सार्थकता, प्रासंगिकता एवम् महिमा सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है।

संदर्भ

1. मनुस्मृति – 2.6
2. अथर्ववेद – 4.35.6
3. द्विवेदी, कपिलदेव – वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृष्ठ संख्या 256, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी – 221001, प्रथम संस्करण सन् 2000 (ऋग्वेद – 10, 90, 12/यजुर्वेद – 31, 11)
4. विद्यालंकार, सत्यकेतु – प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ सं. 192-193 – श्री सरस्वती सदन सफदरजंग इनक्लेव नई दिल्ली – 110029 छटा संस्करण सन् 2000 (यजुर्वेद – 30, 5)
5. ऋग्वेद पुरुषसूक्त – 10, 90, 12 यजुर्वेद – 31, 11
6. वही
7. वही
8. ऋग्वेद पुरुषसूक्त-10, 90, 12 यजुर्वेद – 31, 11
9. यथेमां वाचं कल्याणीमा वदानि जनेभ्यः ब्रह्म राजन्याभ्याम् शूद्राय-चार्याय च. यजुर्वेद–26, 2
10. यजुर्वेद – 18, 48अथर्ववेद 19, 62, 1
11. यजुर्वेद – 30, 5 ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्।
12. ऋग्वेद – 10, 109, 5 अथर्ववेद – 6, 108, 2
13. अथर्ववेद 11, 5, 19 (अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के संपूर्ण पांचवे सूक्त में ब्रह्मचर्य की ही महिमा कही गई है।)
14. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् – अथर्ववेद–11, 5, 18
15. आचार्यो ब्रह्मचारी ० द्विवेदी, कपिलदेव – वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृष्ठ संख्या 258, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी – 221001, प्रथम संस्करण सन् 2000 (अथर्ववेद 11, 5, 16)
16. ऋग्वेद – 6/56/2
17. अथर्ववेद – 14, 1, 51
18. अथर्ववेद – 6, 122, 3
19. मधुमती वाचम् उदेयम्!, द्विवेदी, कपिलदेव – वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृष्ठ संख्या 259 विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी – 221001, प्रथम संस्करण सन् 2000 (अथर्ववेद – 16, 2, 2)
20. हसामुदौ महसा मोदमानौ – द्विवेदी, कपिलदेव – वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृष्ठ संख्या 259, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी – 221001, प्रथम संस्करण सन् 2000 (अथर्ववेद 14, 2, 43)
21. ऋग्वेद 10, 159, 2
22. अथर्ववेद 3, 30, 3/3, 30, 2
23. अथर्ववेद 2, 6, 3/ऋग्वेद – 7, 21, 5
24. ऋग्वेद 8, 3, 9 / 8, 6, 18
25. अथर्ववेद 7, 74, 1 मुनेः मुनीनाम्
26. अथर्ववेद 8, 6, 17
27. "ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत्" विद्यालंकार सत्यकेतु – प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ सं. 198 – श्री सरस्वती सदन सफदरजंग इनक्लेव नई दिल्ली – 110029 छटा संस्करण सन् 2000

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (273-279) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदार्थनिरूपण हेतु वेदाङ्गों के अध्ययन की अनिवार्यता

–गुलशन कुमारी
शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

'वेद समस्त ज्ञानराशि के अक्षय भण्डार हैं। इतना ही नहीं भारतीयों की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और धर्म के आधारभूत स्तम्भ हैं।' अत: समस्त जन-मानस इन्हें अतिशय आदर-सम्मान एवं पवित्रता की दृष्टि से देखता है। इनकी महनीयता तो स्वत: सिद्ध है। 'ये वेद अनादि और अपौरुषेय हैं', साक्षात्कृतधर्मा ईश्वर के नि:श्वासभूत हैं–'यस्य नि: श्वसितं वेदा:'। वस्तुत: ये ईश्वरप्रदत्त ज्ञान के निष्पादक हैं। वेद शब्द की व्युत्पत्ति ही 'विद् ज्ञाने' धातु से हुई है जिसका अर्थ 'ज्ञान' है। वेदों में ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक समस्त पक्षों का प्रतिपादन है। वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इन चार प्रकार के पुरुषार्थों के प्रतिपादक हैं। ये वेद भी अङ्गों के द्वारा ही व्याख्यात होते हैं, अत: वेदाङ्गों का अतिशय महत्त्व है।

'अङ्ग' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'उपकारक' 'अंग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि', अर्थात् जिनके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता प्राप्त होती है उन्हें अङ्ग कहते हैं। भाषा तथा भाव दोनों की दृष्टि से वेद स्वयं एक दुरूह विषय है अतएव वेद का अर्थ जानने में, उसके कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में तथा इस प्रकार की सहायता देने में जो उपयोगी शास्त्र हैं उन्हें वेदाङ्ग कहते हैं। वेद के स्वरूप तथा अर्थ संरक्षण के निमित्त ही वेदाङ्ग साहित्य का उदय हुआ। पाणिनीय शिक्षा में वेद को पुरुष के रूप में कल्पित करके उसके छह अवयवों[1] का निर्देश किया गया है। वेदार्थनिरूपण हेतु वेदाङ्गों का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। वेदों में अखिल ज्ञान-विज्ञान निहित है यह सुस्पष्ट है किन्तु यह भी सत्य है कि यह ज्ञान-विज्ञान वेदों में प्राय: संक्षिप्त या बीजरूप में है अत: वेदों के विशद् अर्थ तथा वास्तविक तथ्य जानने हेतु अल्पज्ञ मनुष्य के लिए वेदाङ्गों का परिज्ञान अत्यावश्यक है। यास्कमुनि ने लिखा है-साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हुए, उन्होंने अपने बाद के मनुष्यों को उपदेश के द्वारा वेदमन्त्रों को प्रदान किया। उपदेश देने में ग्लानि का अनुभव करते हुए उन अवर लोगों ने स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए वेदाङ्गों का निर्माण किया।[2]

वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए छ: विषयों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। वेदमन्त्रों के

उचित उच्चारण के लिए शिक्षा का, कर्मकाण्ड और यज्ञीय अनुष्ठान के लिए कल्प का, शब्दों के रूप ज्ञान के लिए व्याकरण का, अर्थ ज्ञान के लिए शब्दों के निर्वचन के निमित्त निरुक्त का, वैदिक छन्दों की जानकारी के लिए छन्द का तथा अनुष्ठानों के उचित काल-निर्णय तथा ज्योतिष सम्बन्धी रहस्यों को जानने के लिए ज्योतिष का उपयोग है और इनकी उपयोगिता के कारण ये छहों वेदाङ्ग माने जाते हैं।

1. शिक्षा

वेदों में प्राणभूत वेदाङ्गों में शिक्षा का प्राथमिक स्थान है। इसे वेदपुरुष का घ्राण[3] कहा गया है। शिक्षा का अर्थ है शिक्षण अर्थात् उच्चारण की शिक्षा देना। आचार्य सायण के अनुसार स्वर, वर्ण आदि की उच्चारण विधियों की जहाँ पर शिक्षा दी जाती है उसे शिक्षा कहते हैं।[4] पाणिनि शिक्षा में स्वरों के विषय[5] में लिखा है कि वेदमन्त्रों के उच्चारण में इन उदात्तादि स्वरों का विशेष महत्त्व है जब तक हमें स्वर का ज्ञान नहीं होगा तब तक मन्त्रार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वेदों में स्वरभेद से अर्थ भेद[6] हो जाता है। अर्थात् स्वर तथा वर्ण से हीन मन्त्र अशुभ का सूचक होता है। वस्तुतः वेद मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण करने से इष्टफल की प्राप्ति के स्थान पर अनिष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है। जैसा कि पाणिनि शिक्षा में स्पष्ट कहा है कि जो मन्त्र स्वर या वर्ण से हीन होता है वह मिथ्या रूप में प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ को नहीं कहता। अपितु वाग्वज्र बनकर यजमान को ही विनष्ट कर देता है, जैसे 'स्वर' के अपराध से 'इन्द्रशत्रु' पद यजमान (वृत्र) का ही विनाशक बन गया।[7] भाष्यकार वेंकटमाधव ने भी वेदार्थ निर्णय में स्वरों के विषय में कहा है कि जिस प्रकार अन्धकार में मशालों की सहायता से चलता हुआ मनुष्य कभी मार्ग में ठोकर खाकर नहीं गिरता, उसी प्रकार स्वरों की सहायता से किया गया मन्त्रार्थ स्पष्ट तथा सन्देह रहित होता है।[8] अतः इस प्रकार यह विदित होता है वेदार्थ ज्ञान के लिए स्वरों का विशेष महत्त्व है।

2. कल्पसूत्र

वेदाङ्ग गणना में कल्प द्वितीयस्थानीय है। इसे वेद पुरुष के हाथ कहा गया है– हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।[9] कल्प का मुख्य विषय वैदिक कर्मकाण्ड है। वेद में विहित कर्मों को क्रमपूर्वक व्यवस्थित रूप में सङ्कल्पित करने वाला शास्त्र कल्प[10] है। आचार्य सायण के अनुसार याग प्रयोगों की कल्पना सामर्थ्य जिस शास्त्र में निहित हो, उसे कल्प[11] कहते हैं। कल्पसूत्रों की आधारशिला कर्मकाण्ड है तथा हिन्दु धर्म के सारे कर्म संस्कार, निखिल अनुष्ठान और समूचे रीति-रस्म प्रायः कल्पसूत्रों से ही उत्पन्न हैं। हिन्दु जीवन के समस्त नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निष्काम कर्म, सारी क्रियाएँ, सम्पूर्ण संस्कृति तथा अशेष अनुष्ठान समझने के लिए एकमात्र अवलम्ब यह सूत्र ही है। कल्पसूत्रों का प्रधान विषय कर्मों का प्रतिपादन, संस्कारों की व्याख्या और यज्ञों का विधान वर्णन करना है। अथर्ववेद में यज्ञ[12] को जगत् की उत्पत्ति का स्थान कहा गया है। अथर्ववेद के इन्हीं मन्त्रों में कहा गया है कि तपः पूत महर्षिवरों ने भगवान् यज्ञपुरुष को आत्मना उद्बुद्ध किया।[13] ऋग्वेद

के दशम मण्डल में विभिन्न सूक्तों में विवाह, अन्त्येष्टि और गर्भाधानादि का उल्लेख है।[14] इन मन्त्रो के पश्चात्वर्ती गृह्यकर्मों में एतदर्थ विनियुक्त होने से यही स्पष्ट होता है कि गृह्यकर्मों की परम्परा ऋग्वैदिकाल को स्पर्श करती है। पाकयज्ञादि से सम्बद्ध कुछ पारिभाषिक शब्दावली यजुर्वेद में विद्यमान है।[15] अथर्ववेद में भी अधिकाश मन्त्र-विवाह, चतुर्थीकर्म, उपनयन, गर्भाधान, गोदान, अन्त्येष्टि, अष्टका, वास्तुनिर्माण प्रभृति कर्मों के अतिरिक्त अनेक प्रकार रहस्यात्मक क्रिया-कलाप से सम्बद्ध है।

वस्तुतः कल्पसूत्रों का वेदार्थ की भूमिका में अभिन्न एवं अखण्ड सम्बन्ध है। वैदिक परम्परा को शाश्वत रखने में इनका अभूतपूर्व योगदान है तथा वेदों की वेदता में कल्पसूत्रों का अक्षुण्ण महत्त्व है।

3. व्याकरण

वेदाङ्गों में व्याकरण का प्रमुख स्थान है इसे वेद-पुरुष का मुख[16] कहा गया है। जिस प्रकार शरीर के अवयवों में मुख्य अग्रगण्य है और मुख के बिना भोजनादि न करने से शरीर की पुष्टि असम्भव है उसी प्रकार व्याकरण के बिना वेदरूपी पुरुष के शरीर की रक्षा तथा स्थिति असम्भव है। व्याकरण शास्त्र अतिगूढ़ वेदमन्त्रों के अर्थ व्यक्त करने की कुञ्जी है और दूसरी और ऐसा कवच भी है, जिससे वेदमन्त्र सुरक्षित रहे। व्युत्पत्ति के आधार पर जिसके द्वारा पदों के प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन किया जाता है उसे व्याकरण कहते हैं—व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।

व्याकरणशास्त्र में वर्ण, पद, सन्धिविचार, शब्द रचना के नियम तथा प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन किया गया है। व्याकरण के द्वारा ही शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में व्याकरण के अध्ययन के प्रयोजन[17] के विषय में कहा है। व्याकरण-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य वेदों की रक्षा करना है। इस शास्त्र में वर्ण समाम्नाय पद एवं स्वरों के उच्चारण के नियम एवं प्रयोग तथा पदपाठ, क्रमपाठ आदि की कल्पना वेदों की रक्षा के लिए ही की गई है। महर्षि पतञ्जलि[18] ने कहा है कि वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। लोप, आगम और वर्ण विकार को अच्छी तरह जानने वाला ही वेदों की शुद्ध रूप से रक्षा कर सकता है।

4. निरुक्त

वेदाङ्गों की गणना में निरुक्त को वेदपुरुष का श्रोत्र[19] कहा गया है। आचार्य सायण ने निरुक्त शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि अर्थ के ज्ञान के लिए दूसरे की सहायता के बिना निरपेक्ष रूप से पदों का जहां पर कथन है उसे निरुक्त कहते हैं।[20] दुर्गाचार्य का कथन है कि अर्थ का ज्ञान कराने के कारण ही यह वेदाङ्गों में प्रधान है क्योंकि व्याकरण तो शब्दों पर ही विचार करता है और कल्प मन्त्रों का विनियोग बतलाता है किन्तु निरुक्त शब्द और अर्थ के निर्वचन का ज्ञान कराता है। इस प्रकार निरुक्त वेद के अर्थ को जानने के लिए नितान्त आवश्यक है[21] और व्याकरण शास्त्र का पूरक है। वेदमन्त्रों का अर्थ जानने के लिए पहले उनका व्युत्पत्तिपरक अर्थ जानना आवश्यक होता है। निरुक्त का विषय कठिन वैदिक

शब्दों की व्युत्पत्ति करना है जो दुरुह शब्द व्याकरण की पकड़ से बाहर थे उनके अर्थज्ञान के लिए निरुक्त की रचना हुई।'

वेदार्थ निर्णय में निरुक्त की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इसमें अर्थगूढ़ वैदिक शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की पद्धति द्वारा स्पष्ट किया है इस पद्धति से अर्थ के स्पष्टीकरण में यह सिद्ध किया है कि वेदों में भिन्नार्थक शब्दों के योग से यदि मिश्रित अर्थ की अभिव्यक्ति होती है तो गुण धर्म के आधार पर एक ही शब्द विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थों का द्योतन करता है। उदाहरणार्थ 'वराह' शब्द का निर्वचन द्रष्टव्य है। संस्कृत में 'वराह' शब्द शूकर के अर्थ में ही प्रयुक्त है, किन्तु वेदों में यह शब्द कई भिन्न अर्थों में प्रयुक्त है जैसे–

1. मेघ उत्तम या अभीष्ट आहार देने वाला होता है, इसलिये इसका नाम 'वराह' है – 'वराहो मेघो भवति वराहार:'।
2. उत्तम-उत्तम फल, मूल आदि आहार प्रदान करने वाला होने के कारण पर्वत को भी 'वराह' कहते हैं – 'अयमपीतरो वराह एतस्मादेव। वृहति मूलानि। वरं वरं मूलं वृहतीति वा।'
3. तेजस्वी महापुरुष उत्तम-उत्तम गुणों को ग्रहण करने के कारण 'वराह' कहलाते है। 'अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते।'
4. उत्तम-उत्तम जड़ों या औषधियों को खोदकर खाने के कारण शूकर 'वराह' कहलाता है। 'वरं वरं वृहति मूलानि'।

हिन्दी में 'गो' शब्द गाय के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। वेदों में 'गो' गाय तथा इन्द्रिय के अर्थ में प्रयुक्त तो है ही, महर्षि यास्क के मतानुसार 'गौर्यवस्तिलो वत्स:' अर्थात् गो 'यव' के एवं तिल 'वत्स' के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इस प्रकार संस्कृत 'दुहिता' शब्द लड़की के अर्थ में प्रयुक्त है, किन्तु निरुक्त के अनुसार दूर में रहने से जिसका हित हो, वह 'दुहिता' (दूरे हिता) हैं इसी प्रकार निरुक्तकार यास्क ने वेदों में वृत्रासुर की कल्पना न कर वेद मन्त्र में प्रयुक्त 'वृत्र' को 'मेघ'[22] के अर्थ में स्वीकार किया है।

अर्थात् वृत्र मेघ का ही नाम है। इस प्रकार वेदार्थ निर्णय में निरुक्त का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

5. छन्द

वेदाङ्गों में छन्द शास्त्र वेद का पादवत्[23] उपकारक है। छन्दों के सम्यक् ज्ञान के बिना वैदिक मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं हो सकता। महर्षि कात्यायन के अनुसार जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन, अध्यापन, यजन तथा याजन करता है उसका वह प्रत्येक कार्य निष्फल ही होता है।[24] वेदमन्त्र छन्दोबद्ध हैं, उनकी विशुद्धता और लयबद्ध गति के ज्ञानार्थक छन्द शास्त्र का अध्ययन परमावश्यक है। वेदमन्त्रों के साथ छन्दोच्चारण का घनिष्ठ सम्बन्ध है उनके उच्चारण की गति-विधि बिना छन्द शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किए नहीं जानी जा सकती। व्याकरण शास्त्र के अनुसार रुचिकर और श्रुतिप्रिय लयबद्ध वाणी ही छन्द है 'छन्दयति पृणाति रोचते इति छन्द:।' जिस वाणी को सुनते ही मन आह्लादित हो जाता है, वह छन्दमय वाणी ही वेद है –

'छन्दयति आह्लादयति छन्द्यन्तेऽनेन वा छन्दः। वेद के अर्थज्ञान में साक्षात् उपकारक वेदाङ्गों में छन्द का अन्यतम स्थान है। वेदार्थ का महत्त्वपूर्ण प्रासाद इसी शास्त्र के उपर प्रतिष्ठित हैं इसलिए इस शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के बिना वेद के सूक्ष्म अर्थ की प्रतीति असम्भव है। आचार्य सायण ने वेदार्थ में छन्दों की उपयोगिता के विषय में कहा है।[25] नैरुक्तो का सिद्धान्त है कि दैवत ज्ञान के बिना मन्त्रार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार भी छन्दों के ज्ञान को वेदार्थ में उपयोगी मानता है।[26] आचार्य पिङ्गल और शौनक ने अपने-अपने ग्रन्थों में गायत्री आदि छन्दों के अग्नि आदि देवताओं का निर्देश किया है।[27] मध्वमतानुयायी जयतीर्थ ऋग्वेद के मध्वभाष्य की टीका में वेदार्थ में छन्दोज्ञान की उपयोगिता के विषय में लिखते हैं।[28]

अतः इस प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध है कि छन्दः शास्त्र की वेदार्थ में साक्षात् उपयोगिता है।

6. ज्योतिष

वेदाङ्गों में ज्योतिष अन्तिम वेदाङ्ग है। इसे वेद का चक्षु[29] कहा गया है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ के सम्पादन के लिए है और यज्ञ का विधान विशिष्ट समयों की अपेक्षा रखता है। नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर-काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञ-याग का विधान वेदों में पाया जाता है। किन्तु इन सबका मूल कारण तथा इनकी वास्तविक स्थिति के साथ-साथ काल का विस्तृत ज्ञान, दिन, मास, वर्ष, युग, घटी, पल, होरा, सन्धि, तिथि, पक्ष आदि का विस्तृत वर्णन ज्योतिष शास्त्र से ही अवगत किया जा सकता है। वेदों का प्रधान विषय यज्ञ-संपादन है और यज्ञ के सफल संपादन के लिए आवश्यक है कि उनका आरम्भ ग्रहों की सुगति को देखकर किया जाए, जिसको बताने वाला शास्त्र ज्योतिष है।[30] यजुर्वेद में बारह मासों का तथा ऋतुओं[31] का उल्लेख मिलता है। किन्तु ऋतुपरिवर्तन किस प्रकार होता है? इसका विस्तार ज्योतिष शास्त्र से ही जाना जा सकता है। ऋग्वेद में बताया गया है कि एक चक्र है जिसकी बारह प्रधियाँ हैं और अचल रूप से 360 शंकु अर्थात् अंश है उसमें तीन नाभियाँ हैं।[32] सूर्य सिद्धान्त के मानाध्याय में लिखा है कि दो-दो राशियों के भोगकाल को ऋतु कहा जाता है अर्थात् दो राशियों तक सूर्य एक ऋतु में रहता है। शिशिर आदि ऋतुओं की प्रवृत्ति मकरराशि से होती है अर्थात् मकरकुम्भ में सूर्य के रहने पर शिशिर ऋतु मीन मेष में वसन्त आदि। मेषादि बारह राशियों में सूर्य के रहने से 12 मास होते हैं तथा इन्हीं बारह मासों में एक सौर वर्ष होता है।[33]

ज्योतिष शास्त्र के इस प्रकार वर्णनों को पढ़कर सुस्पष्ट होता है कि वेद में जिस चक्र का वर्णन आता है, उसे संवत्सर कहते है। बारह प्रधियों से तात्पर्य संवत्सर के बारह महीने या बारह राशियाँ है। तीन नाभियाँ सर्दी, गर्मी, वर्षा ये तीन ऋतुएं है। 360 शंकु संवत्सर के 360 दिन हैं।

ज्योतिष शास्त्र में नक्षत्रों से सम्बन्धित, ऋतुओं से सम्बन्धित, कल्प, अहोरात्र, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, सौरमास, चान्द्रमास, सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि की प्ररिक्रमा आदि अनेकों महत्त्वपूर्ण विषय हैं वेदार्थ परिज्ञान में जिनका निरुपण आवश्यक है। इसलिए वेदों के ज्ञान

के साथ-साथ वेदाङ्गों का ज्ञान भी आवश्यक है जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जा सकता है।

सन्दर्भ

1. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
   ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
   शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुख्यं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।। पा.शि. 41, 42
2. 'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म-ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदङ्गानि च। निरु. 1-20
3. शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य। पा. शि. 41
4. स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्षयते उपदिश्यते सा शिक्षा। ऋग्वेदभाष्यभूमिका, पृ. सं. 49
5. उदात्तानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः। पा. शि. 11
6. मन्त्रो यः स्वरतो हीनो वर्णतो वापि कुत्रचित्। निष्फलं तं विजानीयात्तथैवाशुभसूचकम्।। वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा 6
7. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।। पा.शि. 52
8. अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्। एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्था स्फुटा इति।। स्वरानुक्रमणी 1/8
9. पा. शि. 41
10. कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्वेण कल्पनाशास्त्रम्।
    ऋग्वेद प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ.सं. 24, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2011 संस्करण।
11. कल्पयते समर्थ्यते याग-प्रयोगो यस्मिन्। ऋग्वेदभाष्य भूमिका, पृ. सं. 50
12. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अथर्ववेद 10/90/8
13. तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। अथर्ववेद 10/90/9
14. ऋग्वेद 10/14-16, 18, 85, 183, 184
15. तैत्ति. सं. 1/7/1/3; 6/2/5/4
16. मुखं व्याकरणं स्मृतम्। पा.शि. 42
17. रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्। महाभाष्य पस्पशाह्निक
18. रथार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागम-वर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपाल-यिष्यतीति। महाभाष्य, पस्पशाह्निक
19. निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते। पा.शि. 41
20. अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। ऋग्वेदभाष्यभूमिका पृ.सं. 45
21. प्रधानं चेदमितरेभ्योऽङ्गेभ्यः सर्वशास्त्रेभ्यश्च अर्थपरिज्ञानाभिनिवेशात् अर्थो हि प्रधानं तद्गुणः शब्दः, स च इतरेषु व्याकरणादिषु चिन्तयते। यथा - शब्द-लक्षण परिज्ञान सर्वशास्त्रेषु व्याकरणात्। एवं शब्दार्थनिर्वचन-परिज्ञानं निरुक्तात्। दुर्गाचार्य वृत्ति, पृ. सं. 3
22. तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्ताः। निरुक्त 2/16
23. छन्दः पादौ तु वेदस्य। पा. शि. 41
24. यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दो-दैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणु वर्च्छति गर्ते वा पात्यते या पापीयान् भवति। सर्वानुक्रमणी 1/1
25. एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदाङ्गत्वम्। ऋग्वेदभाष्य भूमिका पृ.सं. 53
26. वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः। दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति। बृहद्देवता 1/2

27. पिङ्गलछन्दसूत्र 3/63
ऋक्प्रातिशाख्य 17वां पटल
28. एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति।
29. ज्योतिषमयनं चक्षुः। पा.शि. 41
30. वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः। तस्मादिदं कालविधान-शास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्।। वेदाङ्ग ज्योतिष श्लोक 36
31. मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू। .....शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू। .....नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू। .....तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू।। यजुर्वेद 13/25; 14/6, 27; 15/57
32. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्वोर्पिताः वह्निर्नचलाचलासः।। ऋग्वेद 1/164/48
33. द्विराशिनाथा ऋतवस्ततोऽपि शिशिरादयः। मेषादयो द्वादशैते मासास्तैरेव वत्सरः।। सूर्य सिद्धान्त मानाध्याय 10

✦✦✦

इतो जयेतो विजय संजय जय। –अथर्व. 8.8.24
यहां जय पा, वहां जय पा, जय ही जय पा।

उत्तिष्ठत संनह्यध्वम्। –अथर्व. 11.9.2
उठो, कमर कस लो।

वीरयध्वं प्रतरता सखायः। –अथर्व. 12.2.26
मित्रो! उद्यम करो, पार हो जाओ।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (280-284) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदों में पुनर्जन्म की अवधारणा

डॉ. बबलू वेदालंकार
दर्शनशास्त्र विभाग, गु.का.वि.वि., हरिद्वार

पुनर्जन्म की अवधारणा मानव के लिए महत्वपूर्ण विचारणीय विषय रही है। व्यक्ति स्वभाव से ही प्रश्न उठाता रहता है कि हम कहां से आये हैं, हमारा जन्म क्यों हुआ? तथा मृत्यु के पश्चात् हम कहां जायेंगे या हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व समाप्त हो जायेगा? आदि। इन प्रश्नों का उत्तर हमें दो प्रकार से मिलता है–प्रथम भौतिकवादी चिन्तकों का है जो यह मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण अस्तित्व समाप्त हो जाता है कुछ शेष नहीं बचता। दूसरे अध्यात्मवादी हैं ये इसके उत्तर में कहते हैं कि मृत्यु पूर्ण अस्तित्व का समापन नहीं है अपितु भौतिक स्थूल शरीर की ही मृत्यु है जिसमें से आत्मतत्त्व अलग हो जाता है, वह पुनः नया शरीर या नया जीवन अपने किये कर्मों के आधार पर कर्मफल भोग के लिए ग्रहण करता है। इसे ही पुनर्जन्म कहते हैं। विज्ञान भी पुनर्जन्म सम्बन्धी पहेली को सकारात्मक सम्भावनाओं के साथ सुलझाने का प्रयास कर रहा है।

वेद पुनर्जन्म को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करता है। अवैदिक दर्शन चार्वाक इसे अस्वीकार करते हुए कहता है कि जब तक जिएं, सुखपूर्वक जिएं, अपने पास द्रव्य न होने पर ऋण लेकर घृत पीएं, ऋण के लौटाने की व्यर्थ चिन्ता न करें, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर यह कौन जानता है कि जीवन का पुनरागमन होगा।[1] जबकि अवैदिक जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। वैदिक दर्शन न्याय[2], वैशेषिक, संख्य-योग तथा मीमांसा व वेदान्त पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं तथा उसे कर्म सिद्धान्त के लिए आवश्यक मानते हैं।

संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'वेद' पुनर्जन्म की अवधारणा को अनेक मन्त्रों के द्वारा स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। पुनर्जन्म को स्वीकार करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि हे सुखदायक परमेश्वर! आप कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापित कीजिए। तथा प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिए। हे जगदीश्वर! इस संसार अर्थात् इस जन्म और पर जन्म में हम लोग उत्तम-उत्तम भोगों को प्राप्त हों। तथा हे भगवन्! आपकी कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आपको, विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें। सबको मान देने हारे! सब जन्मों में हम लोगों को सुखी रखिये, जिससे हम लोगों का कल्याण हो।[3]

पुनः आगे कहा है कि हे सर्वशक्तिमान्! आपके अनुग्रह से हमारे लिए बारम्बार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को और अन्तरिक्ष

स्थानादि अवकाशों को देते रहें। पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हमको उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे। पुष्टि कराने वाला परमेश्वर कृपा करके जब जन्मों में हम को सब दुःख निवारण करने वाला पथ्य रूप स्वस्ति को देवे।[4]

पुनर्जन्म को यजुर्वेद ने स्वीकार करते हुए कहा है कि हे सर्वज्ञ ईश्वर! जब हम जन्म लेवें, तब हम को शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलता युक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। जो विश्व में विराजमान ईश्वर है, वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे। सब पापों के नाश करने वाले आप हम को बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रक्खें।[5]

यजुर्वेद में पुनर्जन्म किस प्रकार होता है तथा इससे छुटकारा कैसे मिलता है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए कहा है कि इस संसार में पाप और पुण्य के फल-भोग लिये दो मार्ग हैं। एक है पितृ अर्थात् ज्ञानियों, देवों अर्थात् विद्वानों का, दूसरा – विद्या विज्ञान रहित मनुष्यों का उसमें एक पितृयान है, दूसरा देवयान। जिसमें माता-पिता के संयोग से देह को धारण करके, पाप-पुण्य और सुख-दुःख को पुनः-पुनः भोगता है अर्थात् पूर्वापर जन्मों को धारण करता है, वह पितृयान कहाता है। तथा जिसमें मोक्ष पद को प्राप्त करके जन्म मरण रूप संसार से मुक्त हो जाता है वह दूसरा मार्ग देवयान कहलाता है।[6]

अथर्ववेद में भी कहा गया है कि हे जगदीश्वर! आपकी कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझको प्राप्त हों। अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे। श्रेष्ठधन भी पुनर्जन्म में प्राप्त होता रहे।[7] आगे कहा है कि जो मनुष्य पूर्व जन्म में धर्माचरण करता है उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है। और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को धारण करता है। जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप-पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभाव युक्त जीवात्मा है, वह पूर्व शरीर को छोड़कर वायु के साथ रहता है, पुनः जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होकर पुनः जन्म लेता है। जो जीव अनुदित वाणी, अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदो में सत्य भाषण करने की आज्ञा दी है, वैसा ही यथावत् जान के बोलता है और धर्म ही में यथावत् स्थिर रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है। और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतंग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है।[8] इस प्रकार चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो वेद को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानते और न ही प्रमाणिक ग्रन्थ मानते और वे किसी अन्य ग्रन्थ कुरान आदि को प्रामाणिक मानकर इसका खण्डन करते हैं तथा पुनर्जन्म का भी खण्डन समान तर्क से करते हैं, तब पुनर्जन्म को किस प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है?

इस प्रश्न के उत्तर में दो सम्भावनाएं हो सकती हैं–प्रथम दार्शनिक, जिसका आधार तर्क व साधना है तथा दूसरा वैज्ञानिक अर्थात् तथ्यात्मक है।

दार्शनिक किसी भी अवधारणा को तर्क की कसौटी पर कसता है तब उसे स्वीकार या अस्वीकार करता है या उसे प्रज्ञा चक्षु अर्थात् समाधि की अवस्था में अलौकिक योगज प्रत्यक्ष से स्वीकार करता है।

तार्किक दृष्टि से देखें तो एक बच्चा जन्म के समय ही निर्धन, अपंग आदि कष्ट दायक स्थिति में उत्पन्न होता है, दूसरे उसी समय में दूसरा बच्चा सम्पूर्ण सुख-सुविधाओं से युक्त परिस्थितियों के साथ सम्पन्न परिवार में उत्पन्न होता है। कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता। अतः उनके जन्म की भिन्नता का कारण भी अवश्य होगा। इसका उत्तर कर्मफल है। मनुष्य को कर्म का फल अवश्य मिलता है। अच्छे कर्म से अच्छा फल अर्थात् सुख प्राप्त होता है तथा बुरे कर्म से दुःख प्राप्त होता है, अतः पूर्व जन्म के कारण ही उसे सुख-दुःख भोगने के लिए सुखद व दुःखद परिस्थितियां जन्म के समय ही प्राप्त हो जाती हैं। पुनर्जन्म के बिना कर्मफल की सिद्धि भी नहीं होती क्योंकि एक व्यक्ति अच्छा कर्म करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। जैसे कि दूसरों के प्राण बचाने के लिए अपने प्राणों की बलि दे देना आदि। तब उसको यदि इस कर्म का फल प्राप्त नहीं होगा तब कर्मफल के सिद्धान्त की हानि होगी। अतः इसके लिए पुनर्जन्म को स्वीकार करना पड़ता है।

योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि जब योगी–साधक धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणामों को लक्ष्य में रखकर (धारणादि) संयम करता है तब उनके सिद्ध होने पर भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों काल का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[9] वे आगे पुनर्जन्म के ज्ञान की प्राप्ति को बताते हुए कहते हैं कि प्राणी जो कुछ कर्म सम्पन्न करता है तथा मन, बुद्धि के सहित इन्द्रियों द्वारा जो कुछ अनुभव करता है, वे सभी संस्कार बीज रूप से अन्तःकरण में संचित होते रहते हैं। ये संस्कार विभिन्न जन्मान्तरों से एकत्रित होते चले जाते हैं। योगी को उन संस्कारों में सयंम करके उनको प्रत्यक्ष कर लेने से पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार योगी को अपने संस्कारों का संयम कर साक्षात् कर लेने पर अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है, उसी प्रकार दूसरे अन्य पुरुषों के संस्कारों का साक्षात्कार कर लेने से उनके भी पूर्व जन्मों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।[10] योगी साधक को जन्म-जन्मान्तरों के विवेक ज्ञान होने के उपरान्त ही यह शक्ति प्राप्त होती है कि वह दूसरे प्राणियों की चित्त वृत्तियों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[11]

नवभारत टाइम्स में पण्डित केवल आनन्द जोशी ने एक लेख में बताया कि ज्योतिष शास्त्र के अनुसार जब भी कोई जातक पैदा होता है, तो वह अपनी भुक्त दशा व भोग्य दशाओं के साथ पिछले जन्म के भी कुछ सूत्र लेकर पैदा होता है[12] वे आगे लिखते हैं कि पुनर्जन्म की कई अवस्थाओं में व्यक्ति को अपने पूर्व जन्म की कई बातें याद रहती हैं। पिछले जन्म के संस्मरण और यादों को व्यक्त करने वाले कई उदाहरण हमारे सामने पत्र-पत्रिकाओं में टेलिविजन चैनलों में और अखबारों में आए दिन देखने को मिलते हैं। जैसे-प्रख्यात अमेरिकी लेखक ओ हेनरी को 35 वर्ष बाद याद आया कि वह पिछले जन्म में एक रहस्यवादी लेखक रहे हैं और इस

पुनर्जन्म की यात्रा में उनका यह पिछला जन्म एक लेखक के रूप में उभर आया।[13] वे आगे कहते हैं कि सर्प को अपने सात वर्षों की स्मृति मस्तिष्क में रहती है। ऊंट भी अपने तीन जन्मों का हाल जानता हैं। ऊंट और नाग योनि में ऐसे उदाहरण आते हैं, जब ऊंट अपने पुराने क्रूर स्वामी को जब भी इस जन्म में पहिचान लेता है तो अपनी लातों से उस पर आक्रमण करने से बाज नहीं आता। सर्पदंश का सार यही है कि जब भी आपको आक्रमण करेगा तो यही सोचकर करेगा कि पिछले जन्मों में आपने भी उसे कहीं पर तंग किया है।[14]

हिन्दुस्तान अखबार में छपा है कि मृत्यु से जुड़ी कुछ बातें ऐसी हैं, जिन पर विज्ञान में गम्भीर शोध हो रहे हैं। उनमें से एक है 'नियर डेथ एक्सपिरियंस' या लगभग मृत्यु का अनुभव। कभी-कभी यह होता है कि किन्हीं वजहों से कोई व्यक्ति चिकित्सा वैज्ञानिक नजरिये से मर जाता है, दुर्घटना या बिमारी से उसका दिल रुक जाता है और दिमाग को खून मिलना बन्द हो जाता है और वह व्यक्ति ब्रेन डेड हो जाता है। तुरन्त इलाज मिलने पर कभी-कभी वह व्यक्ति वापस जीवित हो जाता है। बल्कि कुछ मामलों में ऐसे लोगों के अपने आप जीवित हो जाने की भी घटनाएं मिलती हैं। डॉक्टर मानते हैं कि ऐसा अनुभव बहुत ज्यादा मरीजों को होता है, लेकिन ज्यादातर होश में आने पर उसे भूल जाते हैं। मृत्यु के उन क्षणों के जो अनुभव कुछ लोग सुनाते हैं, वे काफी अनोखे होते हैं। अक्सर उन क्षणों में बादलों के बीच उड़ने, देव दूतों या यम दूतों से मिलने, गहरी शान्ति का अनुभव करने से लेकर भय तक के अनेक अनुभव लोगों को होते हैं। वैज्ञानिकों के सामने प्रश्न यह है कि जब दिमाग मृत होता है, तो ये अनुभव कैसे होते हैं, कुछ वैज्ञानिकों की अटकल है कि शायद मृत्यु के पश्चात् कुछ वक्त तक पूरा दिमाग मृत नहीं होता, शायद ऐसा कोई हिस्सा सक्रिय होता है, जिसके बारे में हमें पता नहीं है, लेकिन यह अटकल ही है। यह भी देखा गया है कि ऐसे लोगों के अनुभव आम तौर पर उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, परिवेश पर निर्भर रहते हैं। मसलन ईसाई धर्म में संस्कारित लोगों को देवदूत या ईसा मसीह दिखाई देते हैं। भारतीय लोगों को यम दूत दिखाई दे सकते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि पुनर्जन्म की घटनाएं भारत में ही ज्यादा सुनाई देती हैं, जहां लोगों को पुनर्जन्म पर विश्वास है।

इसके बावजूद यह नहीं माना जा सकता कि ऐसे अनुभव लोगों के निजी पूर्व संस्कारों पर ही आधारित होते हैं। कई लोगों ने ऐसी बाते देखी हैं, जो उन्हें पता होने की बिल्कुल सम्भावना नहीं थी, और जो बिल्कुल स्वभाविक थी। मसलन, मृत्यु का अनुभव करने वाले एक व्यक्ति ने तफसील से यह बताया कि उसने 'मरने' के आद अस्पताल के उस कमरे में क्या-क्या हुआ, जहां उसकी देह पड़ी थी। जाहिर है, उसके लिए यह जानने का जरिया नहीं था। इस विषय पर शोध करने वाले एक डॉक्टर का कहना है कि मृत्यु के बाद का अनुभव उससे ज्यादा व्यापक है, जितना हम अभी तक मानते आए हैं। विज्ञान की दृष्टि से इस क्षेत्र में अनसुलझे सवाल हैं, जो इस तरफ इशारा करते हैं कि 'ब्रेन डेड' होना या मृत्यु अंत नहीं है, उसके बाद भी कुछ है।[15]

निष्कर्ष रूप में कहें तो पुनर्जन्म की

अवधारणा वेदों के साथ-साथ अन्य भारतीय दर्शनों में भी मिलती है। जिसे तर्क लौकिक उदाहरण भी स्वीकार करते हैं। विज्ञान भी इसके ऊपर सकारात्मक दृष्टिकोण से अनुसन्धान कर रहा है। मनुष्य कर्म को उसके फल की प्रेरणा से करता है जबकि पशु मूलभूत आवेगों से, जोकि मनुष्य को पशुओं से भिन्न करता है। पुनर्जन्म की अवधारणा के अभाव में कर्मफल सिद्धान्त की व्याख्या सम्भव नहीं हैं। कर्मफल के अभाव में मनुष्य की गरिमा समाप्त होती दिखाई देती है जिससे उसकी पशु से भी भिन्नता नहीं रहती है। अतः पुनर्जन्म की अवधारणा से ही मनुष्य कर्मों द्वारा अपने जीवन की सर्वोत्कृष्टता अन्य प्राणियों से सापेक्ष प्राप्त करता है। अर्थात् पुनर्जन्म के अभाव में मनुष्य की मनुष्यता समाप्त हो जाएगी। पुनर्जन्म की अवधारणा मनुष्य को नैतिक कर्म करने व अनैतिक कर्म से रोकने में भी भूमिका निभाती है।

पाद-टिप्पणियां

1. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद्
   ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
   भस्मीभूतस्य देहस्य
   पुनरागमनं कुतः।।-सर्वदर्शन संग्रह-18
2. पुनरुत्पति प्रेत्यभावः। न्यायसूत्र 1-1-9
3. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः
   पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
   ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते
   मृळया नः स्वस्ति।। (ऋग्. 10/59/6)
4. पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु
   पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
   पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु
   पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः।।
   (ऋग्. 10/59/7)
5. पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्।। (यजु. 4/15)
6. द्वे सृतीअशृणवं पितृणामहं
   देवानामुत मर्त्यानाम्।
   ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति
   यदन्तरा पितरं मातरं च।।
   (यजु. 19/47)
7. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च। पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्ता-मिहैव।। (अथर्व. 7/69/1)
8. आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद
   ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
   धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो
   वाचमनुदितां चिकेत।। (अथर्व.5/1/2)
9. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।।
   योगदर्शन सूत्र 122
10. संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।।
    योग सूत्र 124
11. प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।।
    योगदर्शन सूत्र 125
12. नवभारत टाइम्स 19 नवम्बर 2011, पुनर्जन्म की बात सच या झूठ, ब्लॉग्स, पं. केवल अनन्द जोशी
13. वही
14. वही
15. हिन्दुस्तान 9 मार्च 2015, देहरादून संस्करण

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (285-288) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिकवाङ्मये दीक्षाविचारः

डॉ. अमृतलालः भोगायता
(डीन पुराणसंकाय), श्रीसोमनाथसंस्कृतयुनिवर्सिटी,
वेरावलम्, गीर- सोमनाथ (गुजरात)

यद्यपि महाकविमाघमतेन[1] ''अनुज्ञितार्थ-सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः'' तथाऽपि विचार्येत्थं लेखनकर्मणि प्रवृत्तः यथा-

दीक्षाविचारं विशदं ब्रवीमि
पुरः समाजे विदुषां स्थितेऽपि।
कीटोऽपि यद् वाञ्छति पत्र-
सङ्गत्पारं प्रयातुं प्रचलत्पयोधिम्॥

तथा च-

चरणान् शरणीकुर्वे
विदुषां ज्ञानहेतवे।
गुणदोषात्मिका वाणी
क्षन्तव्याऽमृतवाग्धनैः॥

'दीक्षा' इत्यत्र दीक्ष् धातुर्विद्यते, दीक्षते अनया इति दीक्षा अथवा-

दीयते विमलं ज्ञानं
क्षीयते कर्मवासना।
तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता
मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः॥

प्रायः सर्वेषामपि चरमं परमं च ज्ञेयं ब्रह्मैव भवति परं तत् तत्व[2] तथा निगूढमास्ते यथा न कि श्चत् सारल्येन वेत्तुं प्रभवति य श्च वेत्ति स न ब्रूते।

तस्मात् ब्रह्मविषये जिज्ञासा सृष्टेरारम्भत एव दृश्यते यतो हि केनोपनिषदि-केनेषितं .. .. इति प्रोक्तम्।

यद्यपि हस्ताभ्यां समुद्रपारं गन्तुं कठिनं तथा च क्षारं नीरमपि पातुमशक्यं परं नावा नीरदेन चेदं शक्यं तथैवैतज्ज्ञातुं गुरोर्दीक्षाऽनिवार्या। श्रीमद्भागवतस्यैकादशे स्कन्धे निमियोगे श्वरसंवादे प्रोक्तं यत्- ''तस्माद् गुरुं प्रपद्येत[3] .....'' तथा च लब्धानुग्रह आचार्यात्[4] ....। अर्थात् शाब्दे परे च निष्णातादाचार्याद् दीक्षा ग्राह्या। एवमत्र दीक्षायाः अनिवार्यता, गुरोः सामर्थ्यावश्यकता तथा च शिष्यस्य पात्रतायाः अनिवार्यता दर्शिता।

अत एव गुरोः पञ्चप्रकारा[5] प्रोक्ताः। यथा-

(1) पाषाणगुरुः

(2) पर्णगुरुः

(3) पथप्रदर्शकः (Mile Stone)

(4) नौकागुरुः

(5) पोतगुरुः

पूर्वस्मिन् काले ऋषयो मुनयो गुरवः वेदामृतपानेन प्रवचनपरम्परया पात्रेभ्यः शिष्येभ्यः दीक्षामयच्छन्। अनेनेदमनि ज्ञातुं शक्यते यद् अस्मदीयभारतीयपरम्परायां प्राचीना वैदिकी परम्परा च धर्मशास्त्रप्रथिता पौरणिकी परम्परा

च वर्तते। अतः शास्त्ररीत्या द्विविधा दीक्षा वैदिकी पौराणिकी च। व्रतेन दीक्षामाप्नोति .. ... इति श्रुतिः, लब्धानुग्रह आचार्यादिति पुराणम्। यतो हि ''श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्तिते'' इति हारितस्मृतिप्रमाणम्[6] केचनात्र भणन्ति ''स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'' तस्मात् दीक्षितैः प्रवचनप्रवृतिः करणीयाः, केचन वदन्ति ''नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः''[7] अतः चिन्तनमनिवार्यं, केचन वदन्ति कृपास्पर्शोऽ-निवार्यस्तेनास्यानुभूतिर्जायते, केचन कथयन्ति दर्शनेनास्य दर्शनमनिवार्यम्, भिद्यते हृदय ग्रन्थिः[8] तस्मादेव कारणात् पुनः दीक्षायाः चत्वारः प्रकाराः जायन्ते यथा-स्पर्शदीक्षा, शब्ददीक्षा, दृष्टिदीक्षा तथा च चिन्तनदीक्षा।

अस्माकं शास्त्रेषु प्राणिव्यवहाराणामभ्यासं कृत्वा सिद्धान्तानां सरलरीत्योपदेशः कृतः, यथा व्याकरणे-खले कपोत[9] न्यायः, काकाक्षिगोलक-न्यायः[10] धर्मशास्त्रे-घुणाक्षरन्यायः[11] दर्शने-टिट्टिभन्यायः[12] भूलिङ्गशकुनिन्याय[13] - पुराणे नीतिशास्त्रे मात्स्यन्यायः[14] तथैवात्रापिकपोतपोत इव स्पर्शदीक्षा, टिट्टिभपोत इव शब्ददीक्षा, मत्स्यपोत इव दृष्टिदीक्षा, कूर्मपोत इव चिन्तनदीक्षा ग्राह्या देया च। यतो हि कपोतनाम् अण्डात् पोतः स्पर्शत्वाज्जायते, मत्स्यानाञ्च दृष्टित्वा-ज्जायते तथैव टिट्टिभानां पोतः शब्दत्वाज्जायते अण्डात् पोतः शब्दत्वाज्जायते एवञ्च कूर्माणां अण्डात् पोतः चिन्तनत्वाज्जायते उत्तरोत्तरं स्पर्शदीक्षातः शब्ददीक्षा, शब्ददीक्षातः दृष्टिदीक्षा, दृष्टिदीक्षातः चिन्तनदीक्षा उत्तमा। तथैव दीक्षाप्रदातृणां च दीक्षितानामपि प्रकारा ज्ञेयाः। स्पर्शदीक्षायाः प्रमाणं ध्रुवस्य भगवत्स्पर्शद्वारा ज्ञानोपलब्धिः यथा ''योऽन्तः प्रविश्य.....।[15] शब्ददीक्षायाः प्रमाणम् अर्जुनः श्रीमद्भगवद्-गीताश्रवणेन ज्ञानं प्राप्तवान् ''नष्टो मोहः स्मृति र्लब्धाः .....।[16] दृष्टिदीक्षायाः प्रमाणं भीष्मः श्रीकृष्णस्य दृष्टिपातेन मोक्षमवाप .....।[17] तथा च चित्रस्य प्रमाणं दाक्षायाणमूर्तिच्छिष्याः यथा-

''चित्रं वटतरोर्मूले
वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं
शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥

पुन श्चात्र त्रिविधा दीक्षा गुरुशिष्यभेदात्-

(1) सन्यासिनो गुरवः संन्यासिनश्च शिष्याः
यथा श्रीमच्छङ्कराचार्याः तदनुयायिनश्च

(2) गृहस्थाः गुरवः गृहस्था शिष्याः
यथा श्रीमद्वल्लभाचार्याः तदनुयायिन श्च

(3) गृहस्थाः गुरवः सन्यासिनश्च शिष्याः।
यथा जनकराजा परमहंसाः शुक-नारदादयः

सूक्ष्मस्थल भेदाच्च पुनः द्विविधा दीक्षा प्रथिता

(1) सूक्ष्मदीक्षा तु अतिप्राचीना यत्र मन्त्र-प्रवचनजपविधिना गुरवः शिष्यान् दीक्षितान् अकुर्वन्।

(2) स्थूलदीक्षा नातिप्राचीना यत्र भूषातिलक-मालाभिः सम्प्रदायविशिष्टस्य चिह्नैः चिह्निता दीक्षा दीयते। साम्प्रतं तु प्रायः ''सर्पास्तु गताः केवलं तद्गतिनिर्मितरेखा एव अवशिष्टाः'' इति दीक्षापरम्पराया: दयनीया दशा दृश्यते।

पुनश्च मानवस्य जन्मनः प्राक् ततश्च मरणोत्तरं येन षोडशसंस्काराः शास्त्रनिर्दिष्टाः सन्ति तेऽपि दीक्षाधीना एव वर्तन्ते।

अन्ते तदेव वक्तुं शक्यते यत् सृष्टेरारम्भतः ब्रह्मतत्त्वं ज्ञातुं मोक्षं प्राप्तुं च दीक्षापरम्परा

वैदिककालतः प्रारब्धा साम्प्रतमपि प्रकारान्तरेण सर्वत्र दिवाकरकरा इव व्याप्ता वर्तते। वेदेषु दर्शनेषु, पुराणेषु, धर्मग्रन्थेषु, धार्मिकसम्प्रदायेषु च सर्वत्र दीक्षाविचाराः प्रस्तुताः, एवञ्च दीक्षायाः अनिवार्यताऽपि दर्शिताः। ''दीक्षादानं तपस्तीर्थं ज्ञानं यागादिकाः क्रियाः'' इत्यत्रापि दीक्षा-सूत्रसूत्रिता एव सर्वाः धार्मिकविधिपरंपराः स्वीकृताः। अत एव-

व्रतेन दीक्षामाप्नोति
दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति
श्रद्धया सत्यमाप्यते।

(शु. यजुर्वेदसंहिता अ.19 मं.30)

सन्दर्भ-सूची

1. बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते। अनुज्ञितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः।। शिशुपालवधम् (सर्ग-2 श्लोक-73)
2. ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।। केनोपनिषद्- प्रथमखण्ड मं-1
3. तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।। श्रीमद्भागवतम् स्क. 11 अ.3, श्लोक-22
4. लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः। महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः।। श्रीमद्भागवतम् स्क.11 अ.3, श्लोक-48
5. (1) पाषाणगुरु- यथा पाषाणः जले निमज्जति तथैव एतादृशो गुरुः सशिष्यो भवसागरे निमज्जति।
   (2)पर्णगुरु- स्वयं पर्णवत् तरीतुं शक्तः परं तदाश्रयं ग्रहीत्वा शिष्यो मज्जति।
   (3) पथप्रदर्शकः- एतादृशो गुरुः Mile Stone एव मार्गदर्शनं करोति परं हस्तं गृहीत्वा शिष्यदायित्वं स्वीकृत्य न चलति।
   (4) 'नौकागुरुः' अयं गुरुः प्रबुद्धान् कतिपयच्छिष्यानेव तारयितुं प्रभवति।
   (5) 'पोतगुरुः' अयं गुरुः समर्थो भवति समस्तमपि योग्यायोग्यच्छात्रवृन्दं स्वतपसा ज्ञानेन च भवार्णवपारं नयति।
6. श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे विप्राणां परिकीर्तिते। एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः।। हारितस्मृति (1-24)
7. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।। कठोपनिषद्, शि. वल्ली, 23 मन्त्रः
8. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। मुण्डकोपनिषद्, खण्ड-2, मं-8
9. **खले कपोतन्यायः** यथा खले (खलिहानमें) कपोताः युगपत्पतन्ति तथैव 'भवति' आदीनां रूपाणां सिद्धौ आदौ 18 प्रत्ययाः प्राप्ताः भवन्ति ततश्च 'द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने' इत्यनेनैकवचनविवक्षायां सत्यां 'तिप्' प्राप्तिर्भवति।
10. **काकाक्षिगोलकन्यायः** काकस्यैकमेव चक्षुरिन्द्रियं गोलकद्वयेऽपि चाक्षुष-प्रत्यक्षोप्रजनने व्युपकारकं भवतीति। ''न वेति विभाषा'' इति सूत्रस्य इतिशब्दः अनेन न्यायेनोभाभ्यां सम्बध्यते। नेति निषेधः, वेति विकल्पः।

11. **घुणाक्षरन्यायः**- घुणनामकः कीटः काष्ठकर्तनं करोति तदा अजानता तेन 'राम' इति लिख्यते तथैव क्वचित् 'उलटा नाम जपत जग जाना वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना' आकस्मिकी मोक्षप्राप्तिर्जायते।
12. **टिट्टिभन्यायः**
कस्यचिट्टिट्टिभाख्यपक्षिणोऽण्डानि तटस्थानि समुद्रः स्ववीचिनापजहार। स च पक्षी स्वसाहसेनैनं शोषयिष्यामीति प्रवृत्तो भार्यादिभिर्बहुधा वार्यमाणोऽपि नोपरराम, प्रत्युत तानपि बब्रे। तांश्च पतनोत्पतनाभ्यां बहुधा क्लिश्यतः सर्वानवलोक्य कृपालुर्नारदस्तत्समीपे गरुडं प्रेषयामास। ततस्तत्पक्षवातेन शुष्यन्समुद्रो भीतोऽण्डान्यानीय पक्षिणे ददाविति। यथा दृढाध्यवसायश्च पक्षिणो गरुडसाहाय्यादण्डलाभः तथैव दृढबुद्धे-र्जिज्ञासोरतिदुर्लभस्यापि तत्त्वज्ञानस्येशानु-ग्रहात्सुखेन लाभो भविष्यतीति।
13. **भूलिङ्गशकुनिन्यायः** हिमाचलप्रदेशे भूलिङ्गाख्यः पक्षी-मा साहसं कुर्वीत पुनः पुनरुच्चैर्वदन् सिहंदष्ट्राग्रलग्नं मांसं जिघृक्षतीति प्रसिद्धम्, तथैव परोपदेशमात्रकुशलः स्वयं च यथेष्टचरणशीलो दाम्भिकस्त्याज्य एवेति भावः। महाभारते यथा-
न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिङ्गशकुनिर्यथा।
14. **मात्स्यन्यायः** यथा- प्रबलमत्स्या निर्बलमत्स्यान् खादन्तीति न्यायार्थः। राज्येऽपि यदि दण्डनीतिर्नभवति चेत् दुर्बलान् बलवत्तराः हन्युः।
15. स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरिर्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले।।
श्रीमद्भागवतम्-4-9-4
16. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। श्रीमद्भगवद्गीता- अ-18, श्लो-73
17. भीष्म-
तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम्।
यन्मेऽसूस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः।। श्रीमद्भागवतपुराणम्-स्कन्ध-1 अ-9 श्लोक-22

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (289-293) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

अद्वैतवेदान्ते वेदापौरुषेयत्वविमर्शः

जानकीशरणः

सङ्कायाध्यक्षः- दर्शनम्
श्रीसोमनाथसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वैरावलम्

शोधसारः

[सर्वैरास्तिकदर्शनेषु इष्टानिष्टप्राप्ति-परिहारोपायभूतानां वेदानां प्रामाण्यमुररीक्रियत एव। वेदार्थावगमने तदनुसारिस्मृत्योऽपि प्रमाणभूताः। तत्तद्दर्शनेषु वेदानां प्रामाण्यं स्वतः इत्यपि स्वीक्रियते। किन्तु वेदाः पौरुषेयाः वा अपौरुषेयाः इत्यत्रास्ति विप्रतिपतिः। अद्वैतवेदान्ते वेदानाम् अपौरुषयत्वं स्वीक्रियते, किञ्च प्रत्यक्षप्रमाणापेक्षया श्रुतिरेव गरीयसी इत्यपि तत्र निगदितम्। तर्हि किन्नामापौरुषेयत्वं कथञ्च तदुपपाद्यते इति अद्वैतवेदान्तदिशा अस्मिन् शोधपत्रे विवेचितम्]

सर्वविद्याप्रदीपकः
सर्वशास्त्रोपबृंहितः।
अपौरुषेयश्रुत्याख्यः
तदाम्नायोऽऽश्रीयते॥

भारतीयास्तिकदर्शनशास्त्रेषु षडेव दर्शनानि वेदानां प्रामाण्यम् अभ्युपगच्छन्ति। वेदमपेक्ष्य लब्धप्रमाणम् इतिहासपुराणादिकं शास्त्रं स्मृतिशास्त्रमिति प्रथितम्। ऋषिभिः वेदस्य प्रत्यक्षीकरणाद् वेदः प्रत्यक्षं, एवञ्च प्रत्यक्षमाश्रित्य विद्यमानस्य इतिहासपुराणादिस्मृतिशास्त्रस्य अनुमानतुल्यत्वं सिद्ध्यति। अत एव ब्रह्मसूत्रेषु प्रत्यक्षशब्देन श्रुतिः अनुमानशब्देन च स्मृतिः प्रतिपादिता[1]। एतयोः श्रुतिस्मृत्योः प्रामाण्यं सर्वैरास्तिकदर्शनकारैः उररीक्रियते।

वेदान्ते खलु प्रस्थानत्रयी आद्रियते। तत्र श्रुतिप्रस्थानं स्मृतिप्रस्थानं च यथा प्रामाण्यत्वे-नाभ्युपेतं तथा न्यायप्रस्थानं बादरायणप्रणीतं ब्रह्मसूत्रमपि प्रमाणत्वेन स्वीक्रियते। अत्रैव विद्यते किञ्चिद्वैलक्षण्यं वेदान्तस्य इतरास्तिकदर्शन-सम्प्रदायेभ्यः। वेदान्तशास्त्रं यमेव मतविशेषं स्वीकृत्य सगुणत्वं वा द्वैतत्वमद्वैतत्वं विशिष्टाद्वैतत्वं वा प्रतिपादयति तत्र सर्वत्र एतस्य प्रस्थानत्रय-स्यावश्याङ्गीकरणीयत्वं निर्विवादम्। तत्रापि वेदस्यापौरुषेयत्वान्नित्यत्वाच्च स्वतःप्रामाण्यं पुरुषदोषलेशसंसर्गासम्भव इति कृत्वा वेदानां निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यम् अद्वैतवेदान्ते स्वीक्रियते। यथा घटपटादिकं पार्थिवं वस्तु चाक्षुषप्रत्यक्षे रूपदर्शने वा किञ्चित्तेजःपदार्थं सूर्यादिकमपेक्षते, किन्तु सूर्यः स्वप्रकाशने सूर्यान्तरं नापेक्षते अतः रूपप्रकाशने सूर्यस्य स्वतःप्रामाण्यम्।[2] अपि च प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तेऽलौकिके विषये वेदस्य प्रामाण्यं निरपेक्षमेव। अत एवोक्तं सायणभाष्य-भूमिकायाम्- ''अलौकिकपदेन प्रत्यक्षानुमाने व्यावर्त्येते....तस्मादलौकिकोपायबोधको वेद इति. .. अत एवोक्तं.... प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य

वेदता।।[3]'' तदपेक्ष्य लब्धप्रमाणस्य स्मृतिशास्त्रस्य प्रामाण्यं पश्चाद्भवति[4]। श्रुतिं स्मृतिं चोभयमपेक्ष्य लब्धप्रमाणं न्यायप्रस्थानं ब्रह्मसूत्रात्मकं खलु ततोऽपि पश्चाद्भावि। अतो वेदस्य प्रबलतमं प्रामाण्यं ततो दौर्बल्यं स्मृतेः[5], ततोऽपि दौर्बल्यं प्रामाण्यं न्यायप्रस्थानस्येति[6]। अपि च श्रीमद्भागवते षष्ठस्कन्धे धर्मप्रमाणत्वेन परिगृहीतो वेदः ''वेदप्रणिहितो धर्मः ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः। वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुमः[7]'' इति श्लोकेन साक्षात् भगवत्स्वरूपत्वेन प्रतिपाद्यते। तत्रैव भगवद्वाक्येन वेदस्य नित्यत्वमपि उक्तम्[8]। ''अपौरुषेयो वेदस्तु साक्षान्नारायणात्मकः'' इत्यनेन वेदस्यापौरुषेयत्वं प्रतिपादितम्।

एतदेव भगवता बादरायणाचार्येण ब्रह्मसूत्रेषु ''शास्त्रयोनित्वात्[9]'' इत्यनेन सूत्रेण समर्थितम्। तत्र प्रथमं तावत् साधनचतुष्टयसम्पन्नैः मुमुक्षिभिः अशेषदुःखनिर्मूलनाय निरतिशयानन्दरूपप्रत्यग-भिन्नब्रह्मानुभवाय च वेदान्तविचारः कर्तव्यः इति प्रथमेन सूत्रेण प्रतिपादितम्।[10] ततो जिज्ञास्यत्वेन प्रतिज्ञातस्य ब्रह्मणः लक्षणं द्वितीयेन सूत्रेण[11] व्यवस्थापितम्। ततः ''मानाधीना मेयसिद्धिः'', ''प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'' इतिन्यायेन तार्तीयं सूत्रमित्थं सूत्रयामास सूत्रकारः- ''शास्त्रयोनित्वात्[12]'' इति। तत्र (1) शास्त्रस्य योनिः शास्त्रयोनिः, तस्य भावः शास्त्रयोनित्वम्, तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्। (2) शास्त्रं योनिः यस्य तत् शास्त्रयोनि, तस्य भावः शास्त्रयोनित्वम्, तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्, इति द्वेधा विग्रहो वेदान्ताचार्यसम्मतः। तत्र बादरायणाः ''अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः[13]'' इत्यादिश्रुतिमूलतया ब्रह्मविचारे प्रवर्तन्ते। तत्र भगवच्छङ्करपादाः ''महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोप-बृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म[14]'' इति शास्त्रयोनित्वाधि-करणभाष्ये विस्तरतो वेदानाम् अपौरुषेयत्वं साधयन्ति। स च वेदः विधि-मन्त्र-नामधेय-प्रतिषेध-अर्थवादात्मकः। वेदबोधितेष्टसाधनता-कधर्मस्य अनिष्टसाधनताकाधर्मस्य च कथनेन विधिप्रतिषेधयोः प्रयोजनवत्त्वम्। मन्त्रभागस्य अनुष्ठानकालीनार्थस्मारकत्वेन प्रयोजनवत्त्वम्। विधायकवाक्यमेव ब्राह्मणमुच्यते। नामधेयानां सङ्कल्पादौ व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा प्रयोजनं भवितुमर्हति। विधिप्रतिषेधसन्निधिपठितानां स्तुतिनिन्दापुराकल्पपरकृतिरूपाणाम् अर्थवाद-वाक्यानां विधेयधर्मप्राशस्त्यप्रतीतिजननद्वारा विधिवाक्यैकवाक्यतया, एवं प्रतिषेधविषया-धर्मजन्यदुःखादिनिन्दाप्रतीतिजननद्वारा च प्रतिषेधवाक्यैकवाक्यतया प्रामाण्यं भवति। अन्य रीत्या वेदानां स्वतःप्रामाण्यम् उत्पत्तिमत्वेऽपि अपौरुषेयत्वञ्च प्रतिपाद्यते अद्वैतवेदान्ते।

अत्रेयं शङ्का- ''अस्य महतो भूतस्य'' इत्यादिवाक्यस्य वेदानामुत्पतौ तात्पर्यं नास्ति। यतो हि वेदानामुत्पत्तिमत्त्वे अनित्यत्वमपरिहार्यम्। यतो हि उत्पत्तिमद्वस्तुनः नित्यत्वं नास्ति दृष्टचरं लोके। अथ च उत्पत्तिमत्त्वे पौरुषेयापत्तिः। पौरुषेयत्वप्रादुष्यात् वेदानां स्वतःप्रामाण्यं अस्तमियात्। अनृतव्याघातपुनरुक्तरागद्वेषादि-दोषदूषितस्य पौरुषेयवचसः नित्यत्वं स्वतः-प्रामाण्यत्वञ्च न सम्भवति। अपि च ''वेदः अपौरुषेयः वाक्यसमूहात्मकत्वात्, भारतादिवत्। अयञ्च वेदः वाक्यसमूहात्मकः, तस्मात् वेदः पौरुषेयः'' इति निगमनं सिद्ध्यति। वेदे काठकं, कौथुमं, पैप्पलादं, तैत्तिरीयकमित्याद्याः पुरुषसम्बद्धाः समाख्याः श्रूयन्ते। ''तेन प्रोक्तम्'', ''कृते ग्रन्थे'' इति पाणिन्यनुशासनेन कृतार्थे प्रोक्तार्थे एव तद्धितप्रत्ययो भवति, तेन वेदानामप्रोक्तत्वे अकृतत्वे च तादृशप्रयोगा-

सम्भवः। ततश्च वेदानां कार्यत्वमेवावगम्यते। कार्यस्य कर्तृपूर्वकत्वात् कश्चन कर्ता अस्तीति पौरुषेयत्वमवशात् स्वीकर्तव्यम्।

अत्रायं समाधिः- सर्वज्ञब्रह्मणः सकाशात् ऋग्वेदादेः या उत्पत्तिः श्रूयते सा मुख्यैव। सर्वज्ञत्वात् ब्रह्म गतकल्पीयं वेदं स्वरवर्णपद-वाक्यादीनामानुपूर्वीव्यमन्तरेण[15] यथापूर्वमादि-जीवाय हिरण्यगर्भाय उपदिशति। अतः सर्गादौ परमेश्वरः गतकल्पीयं वेदमेव प्रथमजीवाय उपदिशति[16], अतः ''अस्य महतो भूतस्य निः श्वसितम्....'' इत्यादिश्रुत्या वेदानामुत्पत्तिः मुख्यैव कथिता।

अत्र पुनः शङ्का- ननु आम्नायस्य जनिमत्वे अपौरुषेयत्वं स्वतःप्रामाण्यञ्च कथं सम्भवतः? अत्रोच्यते- किमिदमपौरुषेयत्वम् इति विचारः कर्तव्यः। उच्यते-सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारण-विषयत्वं पौरुषेयत्वं तद्भिन्नत्वमपौरुषेयत्वम्। अर्थात् प्रमाणान्तरेण अर्थं बुद्ध्वा तदर्थज्ञापनाय स्वेच्छया शब्दप्रयोगः पौरुषेयः। यथा नद्यास्तीरे फलानि सन्तीत्यादि वाक्यम्। वेदानां विषये तु पूर्वतनकल्पीयो वेदः तथैव संस्मृत्य उपदिष्टः अतो नास्ति तत्र पौरुषेयापत्तिः। ''तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत[17]'', "तेभ्यः.....त्रयो वेदाः अजायन्त...'' इत्यादिवेदवाक्यादेव वेदानां यज्जनिमत्त्वं ज्ञायते तत्तु पूर्वोक्तरीत्या गतकल्पीयं वेदं परमेश्वरः अस्मिन् कल्पे स्मृत्वा उपदिशति इत्यवगन्तव्यम्।

भामतीकारैरपि इत्थमभ्यधायि शास्त्रयो-नित्वाधिकरणभाष्यव्याख्याने। तद्यथा- ''येऽपि तावत् वर्णानां नित्यत्वमास्थिषत तैरपि पदवाक्यादीनामनित्यत्वमभ्युपेयम्। आनुपूर्वी-भेदवन्तो हि वर्णाः पदम्। पदानि चानुपूर्वीभेदवन्ति वाक्यम्। व्यक्तिधर्मश्चानुपूर्वी न वर्णधर्मः, वर्णानां नित्यानां विभूनां च कालतो देशतो वा पौर्वापर्यायोगात्। व्यक्तिश्चानित्येति कथं तदुप-गृहीतानां वर्णानां नित्यानामपि पदता नित्या। पदानित्यतया च वाक्यादीनामप्यनित्यता व्याख्याता। तस्मान्नृत्तानुकरणवत् पदाद्यनुकरणम्। यथाहि यादृशं गात्रचलनादि नर्तकः करोति तादृशमेव शिक्ष्यमाणानुकरोति नर्तकी, न तु तदेव व्यनक्ति। एवं यादृशीमानुपूर्वी वैदिकानां वर्णपदादीनां करोत्यध्यापयिता तादृशीमेवानुकरोति माणवकः, न तु तामेवोच्चारयति, आचार्य-व्यक्तिभ्यो माणवकव्यक्तीनामन्यत्वात्। तस्मान्नित्यानित्यवर्णवादीनां लौकिकवैदिक-पदवाक्यादिपौरुषेयत्वे विवादः, केवलं वेदवाक्येषु पुरुषस्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्ये विप्रतिपत्तिः।[18]'' तदेवोक्तं कुमारिलभट्टपादैः - ''यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता[19]'' इति। तत्र सृष्टिप्रलयमनिच्छन्तो जैमिनीयाः जगतः सृष्टिं स्रष्टारं परमेश्वरञ्चानभ्युपगम्य वेदाध्ययनं प्रति अस्मादृशगुरुशिष्याध्ययनपरम्परया वेदस्य नित्यत्वं सङ्गिरन्ते। वैयासिकं तु मतमनुवर्त्तमानाः श्रुतिस्मृतीतिहाससिद्धसृष्टिप्रलयौ उररीकृत्य अनाद्यविद्योपधानलब्धसर्वशक्तिज्ञानस्यापि परमात्मनः नित्यस्य वेदानां योनेरपि न स्वातन्त्र्यम्। एवञ्च कल्पे कल्पे समानां सृष्टिं निरूपयन्तो वेदान्तिनः वेदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वञ्च प्रतिपादयन्ति।[20]

यत्तु ''वेदः पौरुषेयः वाक्यसमूहात्मकत्वात् भारतादिवाक्यवत्'' इत्यनुमानं प्रोक्तं, तत् सोपाधिकं व्याप्यत्वासिद्धं प्रदर्श्य हेतुरस्तु साध्यं मास्तु इति अप्रयोजकशङ्काद्वारा निराकर्तुं शक्यम्। तद्यथा- वेदः प्रागभावप्रतियोगितावच्छेदक-धर्माभाववान् अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात् आत्मादिवत् इति प्रतिकूलतर्केण सत्प्रतिपक्षित्वम्।

वाक्यत्वहेतुश्च जन्यज्ञानमूलकत्वेन सोपाधिक इति अप्रयोजकः।

अपि च पदसमूहं वाक्यं चेतनपुरुषसम्बन्ध-मन्तरा उत्पत्तुं न शक्यम्। एवञ्च मीमांसकानां मते वर्णाः, नित्याः अथापि वर्णसमूहः वाक्यं, चेतनापेक्षोत्पत्तिकं, अतः वाक्यं नित्यमिति वक्तुं न शक्यते। तस्मात् वाक्यस्य वाक्यसमूहरूप-वेदस्य च कश्चन कर्ता अवश्यं स्वीकर्तव्य एव। परन्तु तस्य कर्तुः उत्पादयितुर्वा तद्रचने स्वातन्त्र्यं न स्वीक्रियते। पूर्वपूर्वकल्पावस्थितं वेदं परमेश्वरः नूतनकल्पारम्भे तथैव रचयतीति स्वीक्रियते। भारतादिग्रन्थानान्तु स्वतन्त्रतया कर्तृभिः रचितत्वात् पौरुषेयत्वं दोषः। अत्र तु न तादृशो दोषः अस्ति। अत एव ''अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी विद्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः[21]।। इत्यादिस्मृतिः उपपद्यते। इति शम्।।

सन्दर्भाः

1. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्
2. ऋग्वेदः
3. बृहदारण्यकोपनिषत्
4. श्वेताश्वतरोपनिषत्
5. तत्तिरीयसंहिता, सायणभाष्यम्,
6. महाभारतम्
7. मीमांसासूत्रम्
8. श्रीमद्भागवतम्
9. रघुवंशम्

सन्दर्भ-सूची

1. ''शब्दः, इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानु-मानाभ्याम्''- ब्रह्मसूत्रम् 1.3.28। अत्रेदं शाङ्करभाष्यम् - ''प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्''- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, 1.3.28 पृ. 322
2. ''वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये''- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्,2.1.1
3. तैत्तिरीयसंहिता, सायणभाष्यभूमिका, पृ. 2
4. ''श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'' रघुवंशम्, 2.2
5. ''विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसि ह्यनुमानम्''- मीमांसासूत्रम् 1.3.3
   अपि चात्र भाट्टकारिकात्रयम्-
   या तु वेदाविरुद्धेह स्मृतिः काचन दृश्यते।
   सा तु स्याद्भ्रान्तिमूलैव न स्पष्टश्रुतिमूलिका।।
   स्वातन्त्र्येण प्रमाणत्वं स्मृतेस्तावन्न संयतम्।
   वेदमूलानुमानं च प्रत्यक्षेण विरुद्ध्यते।।
   वेदवाक्यानुमानं हि तावदेव प्रवर्त्तते।
   तदर्थविषयं यावत् प्रत्यक्षं नोपलभ्यते।।
6. शारीरकभाष्यस्य आनन्दमयाधिकरणे श्रुति-विरोधमुपगत्य न्यायप्रमाणगतसूत्राण्यन्यथा व्याख्याय श्रुतेरेव प्रबलं प्रामाण्यं प्राधान्य-ञ्चोद्घोषयामासाचार्यङ्करः, ब्रह्मसूत्रशाङ्कर-भाष्यम्, 1.1.12-19
7. श्रीमद्भागवतम् 6.1.40
8. ''शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू''- श्रीमद्भागवतम् 6.16.51
9. ब्रह्मसूत्रम् 1.1.3
10. ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''-ब्रह्मसूत्रम् 1.1.1
11. ''जन्माद्यस्य यतः''- ब्रह्मसूत्रम् 1.1.2
12. ब्रह्मसूत्रम् 1.1.3
13. बृहदारण्यकोपनिषत्, 2.4.10
14. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् 1.1.3, पृ. 96
15. ''धाता यथा पूर्वमकल्पयत्''- ऋग्वेदः 10.190.3

16. ''यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै...'' – श्वेताश्वतरोपनिषत्, 6.18
17. ऋग्वेदः 10.90.9
18. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यभामतीव्याख्यानम्, 1.1.3 पृ. 98–99
19. श्लोकवार्तिकम्, पृ. 802
20. अत्र भामतीव्याख्यानम्, ''तथाहि यागादिब्रह्महत्यादयोऽर्थानर्थहेतवो ब्रह्मविवर्ता अपि न सर्गान्तरे विपरीयन्ते। नहि जातु कश्चित् सर्गे ब्रह्महत्याऽर्थहेतुरनर्थहेतुश्चाश्वमेधो भवति। अग्निर्वा क्लेदयति। आपो वा दहन्ति, तद्वत्। यथात्र सर्गे नियतानुपूर्व्यं वेदाध्ययनमभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरन्यथा तदेव वाग्वज्रतयानर्थहेतुः एवं सर्गान्तरेष्वपीति तदनुरोधात् सर्वज्ञोऽपि सर्वशक्तिरपि पूर्वपूर्व-सर्गानुसारेण वेदान् विरचियन्न स्वतंत्रः। पुरुषास्वातन्त्र्यमात्रं चापौरुषेयत्वं रोचयन्ते जैमिनीया अपि। तच्चास्माकमपि समान-मन्यत्राभिनिवेशात्।''– ब्रह्मसूत्रशाङ्कर-भाष्यभामतीव्याख्यानम्, 1.1.3 पृ. 98–99
21. महाभारतम्, 12.232.24–25

✦✦✦

उत्तिष्ठता प्रतरता सखायः। –अथर्व. 12.2.27
उठो, मित्रो! पार हो जाओ।

तमो व्यस्य। –अथर्व. 12.3.18
तमोगुण को अपने अन्दर से निकाल दे।

सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहि। –अथर्व. 13.1.20
सब शत्रुओं को पददलित करता हुआ आगे बढ़।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (294-298) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वेदेषु समष्टिचिन्तनम्

- डॉ० इन्द्रेश 'पथिकः'

एसोसिएट प्रोफेसर, भाषाविभागः (संस्कृताध्ययन केन्द्रम्)
देवसंस्कृति विश्वविद्यालयः, गायत्रीकुञ्जम्,
शान्तिकुञ्जम्, हरिद्वारम् (उत्तराखण्डः)

वर्तमान काले वयम् इतिहासस्य निर्णायकं कालम् अनुसरामः। असाधारणभौतिक प्रगत्या विविधाः सुखसुविधाः निष्पादिताः किन्तु मनुष्यस्य हार्दिकं दारिद्र्यं पूर्वतः अत्यधिकं वृद्धिमुपागतम्। वैज्ञानिकान्वेषणैः अखिलविश्वं ग्रामस्वरूपे परिवर्तितं, किन्तु एकस्मिन् परिवारे एव प्रत्येकसदस्यमध्ये नैकट्यं विनष्टं दृश्यते। सामाजिक व्यवस्थायाः शरीराकृतिः उपरितः तु केनापि प्रकारेण विनिर्मितविशालकाया वर्तते परम् अस्याभ्यन्तरे रिक्तमिव अवशिष्टम्। विभिन्नाभिः कुरीतिभिः, दुष्प्रचलनैः, मूढ-मान्यताभिः अन्धविश्वासैश्चास्य मूलानि विनष्टानि। अस्याः स्थित्या एकमेव कारणमस्ति समष्टिचिन्तनस्याभावः।

वैदिककाले मानवाः भौतिक प्रगत्या सह आत्मिक प्रगत्यामपिअधिकं महत्त्वं दत्तवन्तः। अस्मात्कारणात् ते सर्वदा समष्टिचिन्तनसमन्विताः भवन्ति स्म। वेदेषु समष्टिचिन्तनं पर्याप्तरूपेण दृश्यते। तत्र व्यक्ति निर्माणस्य परिवारनिर्माणस्य सूत्रैः सहैव समाजनिर्माणस्य तत्त्वानामपि उल्लेखो व्यापकं विवेचनञ्च दृश्यते। समष्टिचिन्तनस्य समाजनिर्माणस्य च पूर्वं समाज शब्दो विवेचनीयः।

समाजशब्दस्यार्थः-समाज शब्दः समुपसर्ग-पूर्वकाद् अज् धातोर्निष्पद्यते। अस्यार्थो भवति लोक साहचर्यम्। एतावतां साहचर्यशीलानां प्राणिनां समूहमेव 'समाज' इति कथ्यते। यतः व्यष्टीनां सङ्घटनमेव समष्टिर्भवति। परिवारः व्यष्टिसमष्ट्योर्मध्यगतः संयोजकः अस्ति। व्यक्तीनां समूहः अथ च परिवाराणां समूहः एवम् एतयोः विस्तारश्च समाजशब्देन ज्ञायते। याः नैतिकशिक्षाः व्यक्तिरङ्गीकुरुते ता एव परिवारपरिकरे उपयुज्य व्यक्तिः समाजस्य बृहत्क्षेत्रे प्रयुनक्ति। अतः यानि सूत्राणि कस्याः अपि व्यक्तेः कृते उत्कर्षाधायकानि भवन्ति तान्येव समाजस्य कृतेऽपि लाभभृतानि सिद्ध्यन्ते। वैदिकसमाजे सामाजिकसमरसतायाः कृते बहुरस्ति कृतः प्रयत्नः। अतः वेदेषु स्थाने-स्थाने सामाजिकताभावसूत्राणां प्रशिक्षणं प्रचुरतयोप-लभ्यते।

वेदेषु समष्टिचिन्तनम्-

समाजस्य आधार एव सङ्घटनं भवति। अथ च सङ्घटनन्तु प्रकारान्तरेण सहयोग एव अस्ति। सहयोगस्तु सङ्कीर्णस्वार्थपरतामुल्लङ्घ्य एव कर्तुं शक्यते। यस्तु आत्मानम् आत्मीय-परिवारातिरिच्य न केनाप्ययेन सहृदयं व्यवहरते, स न तु समाजस्य अङ्गतया एव स्वीकर्तुं शक्यते न च स सामाजिकहिताय कथमपि

प्रवर्तते। वैदिककाले समाज आदर्श- रूपतया अवस्थित आसीत्। तदानीं व्यक्तेश्चिन्तनं न केवलं स्वार्थसिद्ध्यै स्वपारिवारिक सिद्ध्यै चाभवत्, अपितु विश्वपरिवारकल्याणसिद्ध्यै अभवत्। तथा च विश्वहितसाधनप्रसङ्गे ऋषिः संवननः प्राचीनतमे ऋग्वेदग्रन्थे उपदिशति- **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्, देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।**[1] अर्थात् अयि स्तोतारः! सम्भूय साधन्ताम्। सम्भूय संवादं प्रसारयन्ताम्। सम्भूय मनोवृत्तिं प्रवर्तयन्ताम्। पूर्वं यथा देवजनेन सम्भूयैव प्रयोजनसिद्धिः कृता तथैव युष्माभिरपि कार्या।

अन्यत्रापि आर्यजनानां सामाजिकप्रवृत्तिभावो बहुधा श्रूयते। यथा- युष्माकं मनोभावजन्यं प्रवर्तनं समानमेव भवितव्यम् युष्माकं हृदयजा सहानुभूतिरपि समानी स्यात्। युष्माकं सङ्कल्पाः समाना एव स्युः। येन सहितेन यत्नेन यूयम् आप्तकामाः स्यात्।[2] वैदिकऋषिरथर्वा तात्कालिक-मानव-समाजस्य सङ्घटनावश्यकतां द्योतमानो जनान् प्रेरयते-**समानी प्रपा सहवोऽन्न-भागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवा-भितः।**[3]अर्थात् अयि मानवाः! युष्माकं जलपानस्थानानि समानानि स्युः। यूयं समानस्य प्रयोजनस्य संसिद्ध्यै तथा संलग्नाः स्यात यथा रथचक्रसंलग्नाः अराः चक्रप्रवर्तनाय सम्भूयैव प्रयतन्ते।

वैदिककालिकसमाजः चतुर्षु भागेषु विभक्तः आसीत्। ब्राह्मणः क्षत्रियः वैश्यः, शूद्रश्च। अत्र एतेषु उत्तममध्यमादिभेदस्तु नासीदेव। वैदिकवर्णव्यवस्थायाः स्वरूपं प्रगतिशीलं पूर्णतः वैज्ञानिकरूपेण चासीत्। येनाधारेण वर्णचतुष्ट्यः समाजस्य चतुर्मुखी-विकासस्य हेतोः प्रयत्नशीलः आसीत्।

वैदिकवर्णव्यवस्थायाः स्वरूपं कार्यनिर्धारणञ्च

मेधासम्पन्नसमाजशास्त्रीऋषयः सामाजिक-व्यवस्थां सुचारुरूपेण चालयितुं रुचि-प्रवृत्ति-योग्यता-गुणानां चाधारेण निखिलसमाजं चतुर्धा विभक्तं कृतवन्तः। वस्तुतः एषः समाजः संपूर्णरूपेण एकं शरीरमेव विद्यते। अतः वेदेषु समाजरूपशरीरस्य रूपकं भगवतः विराट् शरीर रूपेण प्रस्तुतवान्। तस्य विराट्शरीरस्य मुखात् ब्राह्मणस्य, वक्षस्थलाद् बाहोः च क्षत्रियस्य, मध्यभागाद्वैश्यस्य, पादभागात् शूद्रस्य आवि-र्भावोऽभवत् इति वर्णितम्।[4] शतपथब्राह्मणेऽपि चतुर्वर्णस्योल्लेखो विद्यते-**चत्वारो वै वर्णाः। ब्राह्मणो राजन्यः वैश्यः शूद्रः।**[5] एते एव चत्वारः वर्णाः वैदिककाले प्रमुखाः आसन्।

वस्तुतः वैदिकवर्णव्यवस्था समाजस्य विविध प्रतिभानां मनोवृत्त्यनुसारं योग्यतानुसारं च श्रमस्य विभाजनं आसीत्। यो वर्णः ज्ञानसम्पन्नो भूत्वा निखिलसमाजं प्रकाशितं कृतवान् स एव ब्राह्मणः आसीत्। ब्राह्मणः लोकत्रयं प्रकाशितवान् इति वेदेषु वर्णितम्।[6]समाजरूपशरीरस्य वक्षबाहूरूपेण च **क्षत्रियः शक्तिसम्पन्नो** भूत्वा समाजस्य राष्ट्रस्य वा रक्षां कृतवान्। 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः' इमां व्युत्पत्तिं सार्थं कर्तुं समाजस्य रक्षार्थं स सततं चेष्टां कृतवान्। अथर्ववेदे उल्लेखोऽस्ति यत् कः क्षत्रियः द्रोहरूपीदुर्गतेः रक्षिष्यति।[7] समाज-रूपशरीरस्य मध्यभागः वैश्यः पोषणशीलो भूत्वा निखिलसमाजस्य निर्वाहं पोषणकार्यं च कृतवान्। अस्मै निमित्ताय स कृषिवाणिज्यकार्यं कृतवान्। कुत्रापि आर्थिकः अभावः न तिष्ठतु एतत्कार्यं वैश्यस्य दायित्वमासीत्। समाज-रूपशरीरस्य आधारभागः अर्थात् पादः समाजस्य सेवा कृतवान्। असौ वर्णः समाजरूपी

भव्यभवनस्य मूलप्रस्तरो भूत्वा स्वकीयसेवया शिल्पमाध्यमेन समाजस्यभारं धारयति स्म। तस्येदं कार्यं कस्यापि व्रतानुष्ठानादितः न्यूनं नासीत् अपितु तपस्या इव आसीत्। अतः यजुर्वेदे तं **'तपसे शूद्रम्'** इति निगद्य तस्य महिमा वर्णितः।[1] वैदिकसंस्कृत्यां वर्णव्यवस्था तस्याः संस्कृत्याः प्राणरूपा आसीत्।

वेदेषु सामाजिकः आचारः

वैदिकयुगस्य सभ्य-सुसंस्कृत-समुन्नत-समाजस्य कृते आसन् केचित् सामाजिकाः नियमाः, येषां परिपालनेनैव स समाजः उन्नतेश्चरमसीमानमस्पृशत्। भवति आचार एव मानवस्य सर्वाङ्गीणविकासप्रक्रिया। नैतिकान्वितं जीवनचरितमेव आचार इति शब्देन बोध्यते। अस्य परिपालनेन विकसति जीवनसुमनम्। सामाजिकाचाररूपे नैतिकतागुणानां परिपालनं व्यक्तिरेव करोति या व्यक्तिः न केवलं व्यष्टिरूपिका अपितु समष्टेरपि रूपमस्ति। अतः समाजरूपसमष्टिम् आदर्शप्रतिष्ठायै युगानुकूलं सामाजिकसदाचाराणां परिपालनम् कर्त्तव्यतया स्वीकृतं वर्तते। व्यक्तेः आचरणं सामाजिकानां मानवीयाचाराणामेव सैद्धान्तिकस्थापनां करोति। इयमुक्तिः सर्वथैव सत्या यत् सामाजिक प्रभावाणां कारणेनैव व्यक्तिः स्वाचारपालनाय जागरिता भवति। यथा वृक्षस्य हरीतिमारक्षायै तस्य मूलाभिषिञ्चनम् आवश्यकं भवति तथैव समाजस्य विकासाय समुन्नत्यै च व्यक्तिसमुन्नतिः आवश्यकी। व्यक्तिसमुन्नतिः व्यक्तेश्चारित्रिक विकास एव कथ्यते। व्यक्तिषु सद्गुणानां समुचितसमावेशैनैव ते मानवाः विकसिताः भवन्ति अथ च विकसितव्यक्तीनां समुन्नत्या एव प्रगतिशील समाजस्य रचना भवति।[9]

वैदिकसमाजे ये आचाराः प्रतिष्ठापिता आसन् तेषु-**ऋतं, सत्यं, अहिंसा, पारस्परिककल्याणभावः, दानम्, शुभकार्यं, सन्मैत्री, विवेकशीलता, अभयं, वर्णाश्रम-व्यवस्था, नारीसम्मानः, समत्वभावः, निर्लोभः, सदाचारश्च** प्रमुखतया गण्यन्ते। एतानि एव तत्त्वानि तत्कालीनसमाजस्य समुन्नत्यै प्रमुखानि आसन्।[10] एषु महत्त्वपूर्णानां केषाञ्चित्सूत्राणामुपरि संक्षिप्तः प्रकाशः कुरुते।

(क) ऋतं सत्यञ्च- वैदिककाले ऋतं सत्यञ्च प्रमुखसामाजिकाचाररूपेण आस्ताम्। ऋतशब्दस्य प्रयोगो वैदिकसाहित्ये धर्मरूपे, सृष्टिरूपे अथवा सृष्ट्याचलनियमस्य रूपे जातः। वस्तुतः निखितब्रह्माण्डं येन सर्वव्यापक-सर्वोत्कृष्टनियामकतत्त्वेन नियन्त्रितमस्ति तस्य नाम तु ऋतम् एवास्ति। सत्यं तस्य छायाकृतिरस्ति। इतर शब्देन ऋतम् आत्मा वर्तते तर्हि सत्यशरीररूपमस्ति। अस्तु यदा ऋतं कथ्यते तर्हि असौ सत्येन समन्वितं विद्यते एवञ्च यदा सत्यं कथ्यते तर्हि असौ ऋतेन समन्वितं भवति। तैत्तिरीय ब्राह्मणे 'सत्यं वा ऋतं' इति उल्लिखितमस्ति। [11]अनेन ऋतं सत्यं चैकेव मूलसृष्टेः नियामकतत्त्वस्य रूपद्वयं विद्यते। एषु ऋतं शाश्वतं विद्यते, सत्यञ्च देशकालानुसारेण परिवर्तनशीलम्।

(ख) परस्परं मैत्रीभावः- वैदिकसमाजे सर्वत्रैव मैत्रीभावः संव्याप्तः आसीत्। एषः मित्रभावः न केवलं मनुष्येषु अपितु प्राणिमात्रं प्रति एव आसीत्। अनेनैव कारणेन कोऽपि कमपि न द्रुह्यति स्म। ऋग्वेदस्य सामवेदस्य च अनेकैः मन्त्रैः ज्ञायते यन्मित्रं मित्रस्य परामर्शं सादरं शृणोति। [12]मित्रं मित्रस्य प्रार्थनां शृणोति[13], मित्रं मित्रस्य वार्तां नोपेक्षते[14], मित्रं मित्रं उपद्रवेभ्यः रक्षति[15], मित्रं निजमित्राणां सहायतां करोति[16], मित्रं मित्रस्य कृते पूज्यः भवति[17],

इत्यादयः। अयं मैत्रीभावः सर्वप्राणिनां कृते आसीत्। यजुर्वेद इयं प्रार्थना वर्तते यत् हे परमात्मन्! वयं समर्थाः स्याम। सर्वे प्राणिनः अस्मान् मित्रस्य चक्षुषा पश्येयुः वयमपि सर्वान् मित्रभावेनैव पश्याम- **दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहम् चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।**[18] इत्थं मैत्रीभावेन सर्वत्र शान्तिः आसीत्।

(ग) समत्वभावः- वैदिकसमाजः समताभावनया व्याप्त आसीत्। वेदेषु समत्वभावप्रदर्शनार्थं अनेके मन्त्राः सन्ति। ते मन्त्राः समाजं सम्भूय प्रार्थनां कर्तुं भेदरहिततया सम्भूय मनसः बुद्धेः चित्तस्य च संचालानार्थं प्रेरयन्ति। ऋग्वेदे, अथर्ववेदे, तैत्तिरीय ब्राह्मणे च यथा संकलितं तथा प्रदर्श्यते- **समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।** अर्थात् अयि स्तोतारः! भवतां सर्वेषां प्रार्थना समाना स्यात् पारस्परिक सम्मेलनमपि समानं स्यात्। भवता विचारतन्त्रः समानः स्यात्। अहं भवता जीवनं एकेनैव मन्त्रेण अभिमन्त्रयामि।[19] वैदिककाले वर्णव्यवस्था भेदभावरहितासीत्। तदा यज्ञसदृशेषु श्रेष्ठकर्मसु सर्व एव जनाः सहैव भागं गृहीतवन्तः अभवन्। ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य, तैत्तिरीयसंहिताया एकस्मिन् मन्त्रे उल्लेखोऽस्ति यत् पञ्चजनाः (ब्राह्मणः, क्षत्रियः, वैश्यः, शूद्रः, चाण्डालश्च) सहैव जुह्वति-विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ, आरोदसी अपृणञ्जायमानः।[20]

(घ) लोककल्याण-भावः- वैदिक-समाजस्य आदर्शतामापादयितुं उत्कृष्टतां च निर्मातुं याः प्रवृत्तयः आसन् तासु लोककल्याणपरक-कामना एव सर्वातिशायिनी वर्तते। वैदिक मानवः, यज्ञं करोति तदपि सर्वेषां कल्याणाय[21] उपासनां करोति तदपि सर्वेषां कल्याणाय, सम्पूर्णस्य विश्वस्य हितकामना तस्य हृदि विराजमानास्ति। इदमेव कारणं यत् मंत्रस्तोता कर्णाभ्यां लोक-मंगलमेव शुश्रूषति, नेत्राभ्यां कल्याणकारिदृश्यानि एव विदृक्षति, आजीवनं रोगमुक्त सन् लोकहित कारिकार्याणि एव चिकीर्षति- **'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।'**[22] वेदेषु यत्र-यत्र कल्याणाय प्रार्थना कृता वर्तते तत्र-तत्र 'वयं', 'अस्माकं' 'नः' 'वः' इत्यादयः बहुवचनान्ता एव शब्दाः प्रयुक्ताः सन्ति। यथा- **आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो.... दिवे दिवे; देवानांभद्रा सुमति-र्ऋजूयतां .... प्र तिरन्तु जीवसे।।**[23] एतैः उदाहरणैः वेदेषु समष्टिचिन्तनस्य पर्याप्त- रूपेण अनुमातुं शक्यते।

विश्वप्राचीनतमग्रन्थऋग्वेदे सहस्रं मिलित्वा स्तुतिकरणस्य शतशः अर्चनानां विंशत्यधिक-स्तोत्रगानस्य च निर्देशो विद्यते **सहस्रं साकमर्चत परिष्टोभत विंशतिः। शतैनमन्वनो नवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्नु स्वराज्यम्।**[24] गायत्री महामंत्रे कृता सर्वसद्बुद्धिप्रार्थना सामूहिकतायाः जीवन्तम् उदाहरणं वर्तते .....**धियो यो नः प्रचोदयात्।**[25]

(ङ) वेदेषु विश्वशान्तिकामना- वैदिकसमाजः सम्पूर्णपृथिव्यां व्याप्तः आसीत्। अस्तु तात्कालिकैः मानवैः देवाः सर्वेषां कल्याणाय, सर्वेषां शान्त्यर्थं प्रार्थ्यन्ते स्म। यतः मानवः स्वं विश्वपरिवारस्य सदस्यः मनुते स्म। अतः स प्रार्थनामपि अखिल विश्वशान्त्यर्थमेव करोति स्म। ऋग्वेदे अनेके मन्त्राः विश्वशान्ति-प्रार्थनायुक्ताः सन्ति। तत्र एकस्मिन्मन्त्रे स्तोता उद्गिरति यत् धाता, द्यावापृथिवी पृथिव्याः अन्नं पर्वताः देवताः सर्वेषां कृते सममेव

कल्याणप्रदाः स्युः।[26] यजुर्वेदेऽपि शान्तिमन्त्रैः ऋषयः प्रार्थनां कुर्वन्ति–हे मित्रदेव! वरुणदेव! अर्यमन्! इन्द्रदेव! बृहस्पतिदेव! जगत् पालक विष्णो! अस्मभ्यं शान्तिदायकाः कल्याणकारिणः च भवन्तु।[27]

उपसंहारः

अनेन प्रकारेण वेदेषु वर्णिताः शान्तिमन्त्राः विश्वशान्त्यर्थं प्रयुक्ताः अभवन्। फलतः सम्पूर्णः एव वैदिक समाजः शान्तः समृद्धश्चभवत्। वैदिकसमाजस्य सुखशान्त्योः मूलं कारणं आसीत् वैदिकमानवस्य समष्टिचिन्तनम्। वर्तमानकाले मानवः एकाङ्गी भूत्वा सङ्कीर्णस्वार्थपरतायां लिप्तो भूत्वा सङ्कुचितं चिन्तनम् करोति। तस्य चिन्तनम् स्वार्थस्य परिधौ परिभ्रमति। अतः स एकाकी निवसन् दुःखी असन्तुष्टश्च जीवनं यापयति। यदि आधुनिकः मानवः वैदिकसमाजस्य समष्टिचिन्तनम् अनुगमनं कुर्यात् तर्हि स सर्वेषामेव उत्कर्षाय ईश्वरं प्रार्थयेत्। एवञ्च सर्वेषामेव हिते स्वहितं मन्वीत। फलतः अधुनाऽपि समष्टिचिन्तनेन सर्वत्र सुख–शान्ति–समृद्धिश्च भवितुं शक्यते। वैदिक समष्टिचिन्तनम् अद्यापि प्रासङ्गिकमस्ति। तच्चिन्तनं तद्व्यवहारश्च प्रत्येकेन मानवेन करणीयमस्ति।

सन्दर्भाः

1. ऋ– 10/191/2
2. ऋ– 10/191/4– समानी वः आकूति समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।
3. अथर्व. 3/30/6
4. ऋ० 10/90/12 ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्ययद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।
5. शत० ब्रा० 5/5/4/9
6. ऋ० 1/49/4 अभिद्विजन्मा त्रीरोचनानि विश्वा .....अस्थात्।
7. अथर्व० 7/103/1 को अस्या नो द्रुह .... .. उन्नेष्यति क्षत्रियः।
8. यजु० 30/5
9. वेदामृतम्, सुखीसमाज, भूमिका, पृ. 5– डॉ. कपिलदेव द्विवेदी।
10. वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा– पृ. 158–178, डॉ. प्रतिभारानी
11. तैत्ति. ब्रा. 3/8/3/6
12. वेदामृतम्, सुभाषितावली– डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, ऋ 1/128/1 विश्वश्रुष्टिः सखीयते।
13. वेदामृतम्, सुभाषितावली– डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, ऋ 3/43/4 सखा सख्युः शृण्वद् वन्दनानि।
14. वही, ऋ– 9/86/16, साम. 557, 1152
15. वही, ऋ– 3/31/8 सखा सखीन अमुञ्चद् निरवद्यात्।
16. वही, ऋ– 3/4/1
17. वही, ऋ–सखा सख्ये वरेण्यः।
18. यजु० 36/18
19. ऋ० 10/191/3, अथर्व० 6/64/2, तैत्ति० ब्रा० 2/4/4/5
20. ऋ० 10/45/6, यजु० 12/23, तैत्ति. सं. – 4/2/2/2
21. साम. 111
22. ऋ. 1/89/8, यजु. 25/21
23. ऋ. 1/89//1–2, यजु. 25/14–15
24. ऋ. 1/80/9
25. यजु. 36/3
26. ऋ. 7/35/3 शं नो धाता शमु धर्ता.... देवानां सुहवानि सन्तु।
27. यजु. 36/9 शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रोबृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः।।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (299-301) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

वैदिककर्मकाण्डेषु नारी

प्रतिभा आर्या

शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वर्त्तमानपरिप्रेक्ष्ये यत्र नारीसशक्तिकरणस्य वार्त्ताः आकर्ण्यन्ते तेषु विविधेषु प्रश्नेषु इदं महत्वपूर्णं वर्त्तते, यत् किं नारीयज्ञाधिकारिण्यः खलु, पुरुषाधिक्ये अस्मिन् यज्ञाधिकारक्षेत्रे किं नार्योऽपि यज्ञाधिकारिण्यः भवितुर्महन्ति, एषां समेषां प्रश्नानां यथेष्ठोत्तरमस्माकं वेदेषु उपनिबद्धं वर्त्तते। श्रूयते वेदो हि विविधविषयाणां कोषागाराः, तत्र ब्रह्मणा नारीणां कृते **पूर्वहूतिका** इति विशेषणमुल्लिखितम् अर्थात् या सर्वप्रथमाहुति-प्रदानं करोति सा पूर्वहूतिका इति।

वेदकालतः सूत्रकालपर्यन्तं, महर्षिजैमिनीतः महर्षिदयानन्दपर्यन्तं, ब्राह्मणग्रन्थतः स्मृतिग्रन्थ-पर्यन्तं सर्वेऽपि ग्रन्थाः सर्वेऽपि ऋषयः एक स्वरेण इत्थमेव उद्घोषयन्ति- **स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।**[1] स्रष्टा स्वयमेव सम्पूर्णसृष्टेः सर्जनस्य दायित्वं यस्योपरि प्रदत्तं, या राष्ट्रस्य धुरिः वर्त्तते, सा नारी कथं न अस्मिन् पवित्रकर्मणि अग्रगण्या, पुरोधा भवितुमर्हति। श्रुतौ एतद् अभिहितम् यत् **इयं नारी यज्ञस्य केतुः** इयं नारी यज्ञस्य केतुः पताका वर्त्तते यदा पताका गगने दोधूयते तदा सर्वं विश्वमिदं पश्यन्ति, तथैव इयं नारी अपि पताका वर्त्तते।

वैदिककर्मकाण्डेषु यज्ञोऽयं प्रधानकर्म-काण्डः वर्त्तते अत एव महर्षिदयानन्देन सत्यार्थ प्रकाशे **प्रशस्ता, धार्मिकी विदुषी**[2] इति उल्लिखितम्। वेदेषु बह्वयो मन्त्रदर्शिका ऋषिकाः दृश्यन्ते तद्यथा-विश्ववारा,[3] लोपामुद्रा,[4] अदितिः,[5] अपाला,[6] ब्रह्मवादिनी,[7] घोषा[8] प्रभृतयः। स्त्रियः वैदुष्यमासाद्य यज्ञादिकर्मणि प्रवृत्ताः अभूवन्। हारीतधर्मसूत्रे स्त्रीणां ब्रह्मवादि-नीत्वं स्पष्टतया वर्ण्यते-[9]

''**द्विविधा हि स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च।** तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयन-मग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्यंच। सद्यो वधूनाम् उपस्थिते विवाहकाले कथञ्चिदुपनयनं कृत्वा विवाहः कार्यः।''

इत्थं हारीतः स्त्रीणां कोटिद्वयमुपदर्श्य ब्रह्मवादिनीत्वं समर्थयति।

बृहदारण्यकोपनिषदि-**अथ य इच्छेत् दुहिता मे पण्डिता जायेत**[10] इत्युद्धरणं कन्यानां पाण्डित्यं परिपुष्णाति। तैत्तिरीयब्राह्मणे अपत्नीकं यज्ञे अनधिकारं सिद्धयति- **अयज्ञो वा ह्येष यो अपत्नीकः।**[11]

व्याकरणशास्त्रे पत्नीशब्दस्य निर्वचनमेव तस्याः यज्ञाधिकारं पोषयति, यतोहि पत्नीशब्दः ''पत्युर्नो यज्ञसंयोगे''[12] इति पाणिनिसूत्रेण यज्ञसंयोगे सत्येव सिद्ध्यति। काशिकायाम् ''ऊङुतः''[13] इति सूत्रे प्रदत्तम् **अध्वर्युर्ब्राह्मणी**

इत्युदाहरणेन सिद्ध्यति यत् तदानीं स्त्रियः अध्वर्युपदमलंकुर्वाणासन्। ऋग्वेदे कन्यानां पुत्रीणां शैक्षणिकविद्यायाः, तस्याः कृते यज्ञस्यशिक्षायाः कृते प्रोक्तम्–

अभि प्र स्थाताहेव यज्ञं
यातेव पत्मन् त्मनाहिनोत॥[14]
त्मना समत्सु हिनोत यज्ञं
दधात केतुं जनाय वीरम्॥[15]

वेदेषु सहस्रमन्त्राणां द्रष्टा ऋषिका वर्त्तते, यथा ऋषयः वेदमन्त्राणां साक्षात्कृतवन्तः तथैव ऋषिकाः अपि दृश्यन्ते यथा घोषा,[16] अपाला,[17] श्रद्धा,[18] शची,[19] सूर्यासावित्री,[20] वाक् आम्भृणी[21], अदिति[22] प्रभृतयः वेदेषु 422 मन्त्राणां द्रष्टा ऋषिकाः वर्त्तन्ते। बृहद्देवतायां वर्णनं यथा–

घोषा गोधा विश्ववारा
अपालोपनिषन्निसत्
ब्रह्मजाया जुहूर्नाम
अगस्त्यस्य स्वसादितिः॥
इन्द्राणी चेन्द्रमाता
च सरमा रोमशोर्वशी।
लोपामुद्रा च नद्यश्च
यमी नारी च शश्वती॥
श्रीर्लक्ष्मी सार्पराज्ञी वाक्
श्रद्धा मेधा च दक्षिणा।
रात्री सूर्या च सावित्री
ब्रह्मवादिन्य ईरिता॥[23]

ब्रह्मणः अर्थात् वेदस्य प्रचारकरणात् ऋषिकाः ब्रह्मवादिनी इति कथ्यन्ते।

एषां समेषां ऋषिकाणां नामानि दृष्ट्वा वयं ज्ञातुं शक्नुमः यत् नार्यः यज्ञकर्मणि अत्यंता कुशलाः प्रवीणा चासन्। वेदेषु आर्षग्रन्थेषु सर्वत्र नारीणां कृते यज्ञविधानं विहितम्। वेदेषु न कुत्रापि तस्याः कृते यज्ञे अनधिकारं विहितम्।

बृहदारण्यकोपनिषदि अपि याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवादे नारीणां पाण्डित्यं द्योतयति तदानींतनस्य स्त्रियः विदुष्यः आसन्।

साम्प्रतमपि नार्यः सर्वस्मिन् क्षेत्रे अग्रगण्या सन्ति वैदिककर्मकाण्डक्षेत्रेऽपि अनेकेविदुष्यः सन्ति ये वैदुष्यमासाद्य यज्ञकर्माणि सम्पादयन्ति ब्रह्मापदं च सुशोभयन्ति, तेषां नामग्राहस्य नास्ति आवश्यकता, क्षेत्रेऽस्मिन् स्वामीदयानन्दस्य महती भूमिका वर्त्तते ये हि नारीजातिं ब्रह्मापदे सुशोभितवन्तः।

रामायणेऽपि बालीः मृत्युक्षणे तारायाः प्रशंसाकुर्वन् कथयति यत् – ''**मन्त्रवत् विजयैषिणी**''[24]

वाक्यमिदं तदानींतनस्य नारीणां पाण्डित्यं द्योतयति। सा वेदमन्त्रज्ञा तपस्विनी चासीत्– ''यथा तारां तपस्विनीम्''[25] तारायाः कृते बाली कथयति–

सुषेणदुहिता चेयमर्थ–
सूक्ष्मविनिश्चये।
औत्पातिके च विविधे
सर्वतः परिनिष्ठिता॥
यदेषा साध्विति
ब्रूयात्कार्यं तन्मुक्तसंशयम्।
न हि तारा मतं
किञ्चिदन्यथा परिवर्त्तते॥[26]

एवमेव कौशल्यामातुः कृते **मन्त्रवत्कृत–मंगला** इत्युद्धरणं प्राप्यते।

सा क्षौमवसना हृष्टा
नित्यंव्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म
तदा मन्त्रवत्कृतमंगला॥[27]

सा माता यथाविधि मन्त्रद्वारा अग्निं जुहोति स्म। भगवतीसीता अपि प्रातः सांयकाले सन्ध्यां करोति स्म, हनुमान् सीतायाः कृते इत्थं चिन्तयति–

सन्ध्याकालमनाः श्यामा
ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शिवजलां
सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी।।[28]

एवञ्च प्रमाणादिभिः सिद्ध्यति यत् वेदकालतः अद्यपर्यन्तं नार्यः यज्ञकर्माणि कुर्वन्ति सम्पादयन्ति च। अतः तेषां कृते इदं प्रश्नमेवनिर्मूलं वर्त्तते यत् नार्यः यज्ञाधिकारिण्यः सन्ति किम्?

पादटिप्पण्यः

1. अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर। मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।। (ऋ० 8/33/19)
2. सत्यार्थप्रकाश द्वितीय समुल्लास।
3. ऋग्वेद 5/28
4. ऋ० 1/179
5. यजु० 8/43
6. ऋ० 8/91
7. ऋ० 10/109
8. ऋ० 10/39
9. हारीत धर्मसूत्र 21/20/24
10. बृहदारण्यक 6.4.17
11. तैत्तिरीयब्राह्मण 2/2/2/6
12. अष्टा० 4/1/33
13. काशिका 4/1/66
14. ऋ० 7/34/5
15. ऋ० 7/34/6
16. ऋ० 10/39
17. ऋ० 1/179
18. ऋ० 10/151
19. ऋ० 10/159
20. ऋ० 10/85
21. ऋ० 10/125
22. ऋ० 4/18
23. शैनकीय बृहद्देवता 2/82,84
24. वाल्मीकि रामायण किष्किन्धा० 16/12
25. वा० रा० 13/26
26. वा० रा० किष्कि० 16/12–13
27. वा० रा० अयोध्या 17/1
28. वा० रा० सुन्दरकाण्ड 8/10

✦✦✦

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा। –अथर्व. 3.28.3
हे नारि! घर के पुरुषों को सुख दे, गाय-घोड़ों को सुख दे।

इह सहस्त्रसातमा भव। –अथर्व. 3.28.4
इस गृहाश्रम में तू बहुत दान करने वाली हो।

पशून् यमिनि पोषय। –अथर्व. 3.28.4
हे गृहपत्नी! पशुओं का पालन-पोषण कर।

आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः। –अथर्व. 3.23.2
दस मास गर्भ में रहा हुआ तेरा वीर पुत्र पैदा हो।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (302-310) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

Relevance of Vedic and Sanskrit Terms for the Terminology of Modern Sciences in Indian Languages

Dr. SHASHI TIWARI

Former Professor in Sanskrit,
University of Delhi, Delhi

Vedic and Sanskrit languages and its literatures are most significant and important for modern times. The term '*Samskṛtam*' means complete, and perfect as it is derived from *Sam* (Wholly, or perfectly) and *kṛtam* (create, done). Sanskrit, *Saskṛtā vāk*, the refined speech, is a historical Indo-Āryan language and the primary language of Hinduism, Jainism and Buddhism. This is the oldest living language of the world today and one of the earliest ancient languages. Sanskrit as an ancient and beautiful language of Bhārata has vast and glowing Vedic and Sanskrit literature. Sanskrit is not only a language but also a shining tradition of Indian culture and inheritance, knowledge and science, philosophy and art. It has enriched our society from time immemorial. A study of this literary treasure of ancient times is absolutely relevant to us, and to many modern disciplines in all aspects of our lives. All the modern languages of India are considered rightfully as the children of Sanskrit, which has evolved from the earlier language of Vedas. It is the unifying factor of the vast majority of Indian languages. No language of modern India excepting Tamil and Urdu can substantially exist without borrowing words from Sanskrit.

1. Foremost Qualities of Sanskrit – Purity and Perfection

There has never been any kind, or nature of change in the science of Sanskrit grammar as seen in other languages of the world as they passed through one stage to another. The phonology (the speech sound) and morphology (the science of word formation) of the Sanskrit language is entirely different from all of the languages of the world. The sound of each of the 36 consonants and the 16 vowels of Sanskrit are fixed and precise since the very beginning.

They were never changed, altered, improved or modified. The reason is its absolute perfection by its own nature and formation.

Among the currently documented ancient languages like Latin or Greek, Sanskrit is the only language which has retained its purity and wholesomeness. Its structure and vocabulary has remained unchanged over the thousands of years. The oldest literature of the world, the Vedas are available in the same form that they were written at the very beginning. Scholars today can read and interpret them the same way great scholars of India did years ago. The Sanskrit language is generally divided into Vedic and classical. Phonetically Vedic and Classical languages are identical, but grammatically they differ. The Vedic Sanskrit language, standardized by the grammar of Pāṇini is known as Classical Sanskrit. A remarkable change in Sanskrit language came during medieval period of Indian history when regional languages in India lifted their heads in the form of their literature. This has also significantly influenced most modern languages of the Indian subcontinent, particularly in India, Pakistan, Sri Lanka and Nepal. Today, it is listed as one of the 22 scheduled languages of India and is an official language of the state of Uttarakhand. In western classical linguistics, Sanskrit occupies a pre-eminent position along with Greek and Latin in Indo-European studies.

Today many scholars are trying to research on the structure of Sanskrit language and ancient concepts of Sanskrit scriptures. Scholars and researchers of Sanskrit understand that there is a wealth of knowledge available in Sanskrit which scientists and technologists are finding today. Definitely, the deeper research on the Vedas, particularly on the *Atharvaveda*, will bring forth valuable information in science and technology related to medicine, flight sciences, physics, material sciences and many other related fields. The corpus of Sanskrit literature encompasses a rich tradition of poetry and drama as well as scientific, technical, philosophical and Hindu religious texts. Sanskrit continues to be widely used as a ceremonial language in Hindu religious rituals in the forms of hymns and *mantras*. Spoken Sanskrit is still in use in few traditional institutions in India and there are many scholars, learned authors and poets who are still contributing and writing in different forms of Sanskrit literature.

Sanskrit is as modern as any language and continues to be a spoken language. The grammar of Sanskrit is precise, complete and remains well defined. Its grammar is entirely described by Pāṇini, who composed 4,000 *Sutras* (rules) for

Sanskrit morphology which illustrate word- formation without any redundancy. Rules, transformations and recursions are used with such sophistication that Sanskrit grammar has the computing power equivalent to that of a Turing machine.

2. Importance of Sanskrit for Computer Science

Sanskrit is presently regarded as the most scientific and technical language in the age of Internet. Sanskrit is attached to the earliest literary and scientific heritage of the ancient Indian thinkers at one side and it is connected to the modern information and Computer Science on the other side. The recent researches have established that the concepts, fundamental to TCS, have their origin in the Sanskrit Grammar of Paṇini. Sage Paṇini's comprehensive and scientific theory of phonetics and phonology going back to about 2500 years is opening many doors to the advances in software development. In this context, structure of Sanskrit Language is also praiseworthy for its mathematical accuracy. Several academics have stated that Sanskrit is the best language for use with computers due to it being the only human language which has a fully defined and context-free grammar.

It is also unique due to the fact that it is the only known language which has a built-in scheme for pronunciation, word formation and grammar. Sanskrit comprises fifty one letters (*akṣara*). *Akṣara* denotes the set of letters of Sanskrit from the first to the last and means that the sounds of those letters does not ever get destroyed, and thus signifies the eternal quality of the sound of those letters. As a result, the sound of a word is essentially the sounds of the *akṣaras* in that word. The basic unit of a word is a word-root. In Sanskrit, words are derivatives, unlike other languages. Words have *dhātu* and *pratyaya*. All roots are verbs and there is no real concept of proper nouns. As a result, all words are complete verbs and do not have to depend on adjacent words for their meaning. So, it is the words in the sentence that matter, and not their order, resulting in a more structured language. For example, we can put the three words 'Rama goes to school' - '*Ramaḥ vidyālayam gacchati*' in any order, without changing the meaning. In other languages, these words have to be in order and any change in the order thoroughly changes the meaning of the sentence. The precise and extremely well defined structure of Sanskrit, coupled with its antiquity offers a number of areas in linguistics research, including Computational Linguistics.

3. Sanskrit's Potential for Scientific Terms in Indian Languages

Throughout the history and development of Indian thought, the science of grammar and linguistics was attributed a status equal to that of mathematics in the context of scientific investigation. 'Sanskrit's potential for scientific use was greatly enhanced as a result of the thorough systemization of its grammar by Paṇini. On the basis of just under 4000 *sūtras,* he built virually the whole structure of the Sanskrit language, whose general 'shape' hardly changed for the next two thousands years. An indirect consequence of Paṇini's efforts to increase the linguistic facility of Sanskrit soon became apparent in the character of scientific and mathematical literature.'[1]

The extraordinary thing about Sanskrit is that it offers direct accessibility to anyone to that elevated plane where the two - brain and heart, logical and sensitive, scientific and spiritual-become one. From the very beginning, scientific principles have been hidden in the verses of the Vedas, Upaniṣads, epics and Purāṇas. Concepts and principles seen in present day mathematics, pure sciences and astronomy are all hidden in the compositions and treatises of many early scholars of ancient Sanskrit literature. This is the main point for its significance for the finding of scientific terminology today. The other point to be mentioned is certain qualities of this language. Especially the language Sanskrit is considered ideal for coining new scientific and technological terms because its vocabulary is derived from root syllables. It is, therefore, that the need to borrow words or special scientific terms does not arise for Indian languages.

The Commission for Scientific and Technical Terminology (CSTT) is an organization of Government of India, which is operating with the motto '*Bharatiya Bhashaon Mein Gyan Vigyan*'. This commission was established in 1961 by the Government of India with the aim of developing all Indian Languages as media of instruction by enriching and developing them. Formulation of principles relating to evolution and coordination of scientific and technical terminology in Hindi and other languages is its main function. The Commission develops and approves terminology in all Indian languages. It is also an aim of the Commission to see that there is uniformity of terminology in all the Indian languages. The Commission is planning to create National Terminology in which a technical term in English will have the equivalents of all Indian languages. The Commission has been engaged in the task of evolution of technical terms in Hindi, production of university level text books,

definitional dictionaries and various reference literatures. So far, 53 definitional dictionaries have been published. A total number of 5.5 lakh technical terms have been evolved of different disciplines viz. Basic science, social science, humanities, technology, medicine, agriculture etc. Over 4.22 lakh terms have been keyed in the computers.

It is to note in this context that the standing commission for Scientific and Technical Terminology approved six principles for evolution of the terminology; such as, (1) 'International terms' should be adopted in their current English forms, as far as possible, and transliterated in Hindi and other Indian languages according to their genius. (2) The symbols will remain in the international form written in Roman script, but abbreviations may be written in Nāgari and standardized form. (3) Letters of Indian scripts may be used in geometrical figures. (4) Conceptual terms have generally been translated. (5) In the selection of Hindi equivalents simplicity, precision of meaning and easy intelligibility should be borne in mind. (6) The aim should be to achieve maximum possible identity in all Indian languages by selecting terms: (1) Common to as many of the regional languages as possible and (2) Based on Sanskrit roots.[2] Here we can see that emphasis is given of the selection of terms coming from the Sanskrit Language directly as they will be assessable to most of the readers of Indian languages. In order to explain, a few Vedic and Sanskrit terms are discussed in this paper, which are in use for modern Sciences in Hindi and other regional languages. To be more accurate the importance of Sanskrit to those sciences is also briefly mentioned here.

(1) Mathematics (*Gaṇita)*

Vedic Mathematics is today recognized very well among scholars of humanity and science as ancient science of India. *Śulvasūtras* are Vedic texts which present geometrical formations of *Yajñavedis*. Āryabhatta was an eminent Āchārya of mathematics during fifth century A.D. The language of mathematics, being inherently unambiguous, minimizes personal interpretation and therefore maximizes opportunity for exploration and discovery. Mathematics is taught today to most of the children in secondary level generally in their own medium of instruction. Some Sanskrit terms used in the field of mathematics in Indian languages are:

Astrology- *Khagolagaṇita* , Geometry- *Jyāmiti* , Diameter - *Vyāsa*, Triangle-*Tribhuja,*

Circumference-*Paridhi*, Circle – *Vṛtta*, Measure -*Māna*, Rectangle-*Āyata,*

Altitude- *Ko-i*, Ratio-*Anupāta,*

Infinity- *Ananta,* Zero- *Śunya*, Number- *Saṁkhyā.*

(2) Physics (*Bhautika Vijñāna)*

The Upaniṣads are those Vedic texts which present certain principals of Physics known in ancient India. It is significant to mention that in the last decade, physicists have begun to comment on the striking similarities between their own discoveries and the discoveries made thousands of years ago in India. Creation, universe, stars, light, time etc. were studied by our ancient thinkers in detail. That is the reason today's modern Physics easily uses many Sanskrit terms for scientific terminology of Physics. Some examples are:

Molecule- *Aṇu*, Waves- *Taraṅga,* Impact- *Abhighāta*, Attraction- *Ākarṣaṇa,*

Throwing up- *Utkṣepaṇa*, Energy- *Ūrjā*, Orbit- *Kakṣā,* Element- *Tattva,*

Atom- *Parmāṇu*, Mineral- *Khanija*, Action – *Karma, - Motion- Gati.*

(3) Metallurgy (*Dhātu Vijñāna*)

The Vedic literature contains descriptions of advanced scientific techniques, sometimes even more sophisticated than those used in our modern technological world. Modern metallurgists have not been able to produce iron of comparable quality to the 22 foot high Iron Pillar of Delhi, which is the largest hand forged block of iron from antiquity. This pillar stands at mute testimony to the highly advanced scientific knowledge of metallurgy that was known in ancient India. In this science we may find a number of Sanskrit terms appropriate for Hindi and other regional languages, as an instance some are given:

Matter- *Dhātu*, Piller- *Stambha*, Machine- *Yantra,* Iron, Steel- *Loha*, Copper- *Tāmra,* Carpenter- *Takṣaka,* Architecture- *Sthāpatya.*

(4) Cosmology (*Brahmāṇḍa - Vijñāna*)

Vedic Cosmology is yet another ancient Vedic science which can be confirmed by modern scientific findings and this is acknowledged by well known scientists and authors, such as Carl Sagan and Count Maurice Maeterlinck, who recognized that the cosmology of the Vedas closely parallels modern scientific findings. Carl Sagan stated, 'Vedic Cosmology is the only one in which the time scales correspond to those of modern scientific cosmology.'[3] Certain terms are mentioned here to show how Sanskrit words are taken for Cosmological terminology in modern languages:

Creation- *Sṛṣ-i*, Eclipse- *Grahaṇa*, Horizon- *Kṣitija,* Equator- *Bhūmadhya-rekhā*,

Gravitation- *Gurutva*, Constellation- *Tāraka-samūha*, Poll –

Dhruva.

(5) Astronomy *(Khagola Vijñāna)*

Valuable contributions done in the field of Astronomy by ancient sages are considered now as a strong bridge to fill the gap between Sanskrit and the modern scientific development. Sanskrit texts of Varāhamihira, Brahmagupta, Bhāskarāchārya and many others are available to give significant insights to modern Astronomy. The ninety foot tall astronomical instrument known as *Samrat Yantra*, built by King Suwai Jai Singh of Jaipur, measures time very accurately. Cosmology and other scientific accomplishments of ancient India spread to other countries along with mercantile and cultural exchanges. In reference to modern astronomy some Sanskrit terms are most useful even today for regional languages:

Observatory-*Vedhaśālā*, Star-*Tārā,* Constellation- *Nakṣatra*, Season- *Ṛtu*,

The Sun's course north or south of the equator-*Ayana,* Date-*Tithi, Half month-Pakṣa.*

(6) Medical Science (*Ayurvijñāna*)

Sanskrit scholars' contributions to medical sciences are always mentioned with great pride. In the field of Ayurveda whose main source is *Atharvaveda*, knowledge about herbal drugs, preventive and curative medicines, anatomy, surgery, diseases, identification of ailments and their treatments etc. proves the existence of developed medical science in those times. Serious and deep-rooted research work is required to identify the herbs and flowers referred to in the different verses of *Atharvaveda*. Ayurvedic texts can definitely provide medicine for certain diseases which are generally considered today as incurable. *Charaka-Saṁhitā, Suśruta-Saṁhitā, Bhāva-prakāśa,* and *Rasa-ratna-samuccaya* have huge impact to the treatment of the body and mind in a holistic manner. Today medical science uses various terms of Sanskrit for the students of other Indian languages:

Diagnosis- *Nidāna,* Disease-*Roga*, Cure-*Roganivāraṇa*, Health-*Svāsthya*, Injury- *Vraṇa*,

Surgery- *Salya,* Prevention-*Saṁrakṣaṇa*, Medicine- *Cikitsā*, Medicine- *Oṣdhi,*

Delivery- *Prasūti*, Age- *Ayu.*

(7) Botany (*Vanaspati Vijñāna)*

Science of Plants was quite developed in ancient India because in Vedic texts we find names for the number of herbs, trees and flowers. Besides, Vedas and Purāṇas, *Arthaśāstra, Bṛhata-saṁhitā*, and *Śukranīti* are important texts in this context. External and internal Morphology of plants were well known to ancient scientists.[4] It is evident

from the terms found in Sanskrit and used presently in Indian languages:

Planting- *Ropaṇa,* Absorption- *Avaśoṣaṇa*, Nourishment- *Poṣaṇa,* transpiration- *Vāṣpotsarjana*, Cutting- *Kartana,* Seed-*Bīja*, Root- *Mūla*, Fetility- *Urvarāśakti.*

(8) Engineering and Technology (*Ābhiyāntrikī and Praudyogikī*)

The principles of engineering and technology specially dealing with land survey, site-selection, and layout and planning of village and city, construction of roads, gateways, ponds, palaces and temples, and drainage etc. are found in certain ancient Sanskrit texts. *Samarāṅgaṇa Sūtradhāra, Mayamata, Mānasāra, Bṛhat-saṁhitā, Arthaśāstra* are some texts which have sufficient material about the theories of architecture and technology. Not only ornaments but weapons and machines (*Yantra*) were built with the usage of different metals, minerals and raw materials (*Dhatu*) such as gold, silver, copper, tin, lead, iron and wood. *Yantrasarvasva* of Bharadwaj, and also *Samarāṅgaṇa Sūtradhāra* refer manufacturing of air craft and its technique. In the present context, only some Sanskrit terms used as scientific terminology are referred here:

Mineralogy- *Utkhanana,* Survey- *Sarvekṣaṇa,* Machine- *Yantra,* Aero plane- *Vimāna*,

Boat- *Naukā,* Automatic- *Svayamcālita*, Construction- *Nirmāṇa*,

Manufacturing- *Saṁracanā*, Site Selection- *Bhūmi-cayaba*

(9) Military science (*Sainya Vijñāna*)

Well developed ancient military science can be seen in the *Mahābhārata* and *Arthaśāstra*. Different types of missiles and armaments were used during wars, account of which we find in our ancient scriptures. Many ancient terms are taken and used by modern military people. Weapons are generally named as *Astra, Śastra*, or *Āyudha. Cakra, Vijya, Vikrānta, Vyūha, Sāvadhāna, Senā, Ākramaṇa* are some other popular words found in this science.

(10) Management Sciences (*Prabandha Vijñāna)*

Management Sciences was not unknown to ancient Sanskrit writers.

The modern business is based on the use of management tools and resources in a timely and efficient manner to get the tasks done. This management approach creates and sustains built-in tension between the manager and the worker. This style of managerial approach is described by Lord Śrī Kṛṣṇa as *Āsuri Sampad* or demonic approach. The opposite approach for achieving managerial effectiveness is described there as

Daivī Sampad or Divine approach which results in the welfare of mankind.[5]

In the Management Sciences we have to adopt the use of Sanskrit words such as, *Karma, Kausala, Prabandhana, Yojana* for the persons of regional languages.

Conclusion

Thus we can see that Sanskrit is useful for the scientific terminology of modern Indian languages due to the richness of its language and also due to the vast related material available in its literature. On the importance of intellectual heritage of India Maxmuller once commented: 'Whatever sphere of human mind you may select for your special study, where it be language, or religion, or mythology or philosophy, where it be laws or customs, primitive art or primitive science, every where you have to go to India. Whether you like it or not because some of the most valuable and most instructive materials in the hisory of man are treasured up in India and in India only'.[6] This is very much true with the relevance of Sanskrit for the modern Indian languages.

Sanskrit language is a marvel of marvels, an epitome of Vedic and ancient Indian thinkers' genius. May the eternally fragrant blossoms of Sanskrit language and literature rooted in the genius of people of Bharatavarsha dealing with every aspect of human knowledge, flourish and prosper to tackle the needs of the modern world.

References (Endnotes)

1. G. G. Joseph, The Crest of the peacock, Princeton University Press (2000)
2. Accounts are given from the website of CSTT.
3. From the website: '*Scientific Verification of Vedic Knowledge*' by Swami Visnu.
4. Sanskrit Vāṅmaya Me Vijñāna kā Itihāsa , (ed.), NCERT, 2003, pp.79-100
5. Gita XV1.2-10
6. Maxmuller, A History of Ancient Sanskrit Literature, 1917.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (311-318) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

Scientific Aspects of Vedas in Modern Perception

-Veloori Raghuram
Research Scholar, Dept. of Sanskrit
Osmania University, Hyderabad

"All knowledge that the world has ever received comes from the mind; the infinite library of the universe is in our own mind."– Swami Vivekananda

Almost everyone, including scientists, religionists and philosophers, are apparently in pursuit of truth. Yet, what is truth and how do we find it? Scientists have complete confidence in the scientific process, yet, we see that the latest theories are eventually replaced by more advance theories. Every theory, they say, is a step closer to perfection, but they never assert that they have reached perfection.

It is praiseworthy to speak about the ancient minds and their inventions, it is also mandatory to know whether they are practically right or not. The society accepts the truth only with the proofs which are seen with naked eye. But all the ancient concepts are mutually seen but not instant result oriented or seen directly.

Vid is enquiry and contemplation, Vid is to exist, Vid is to be illuminated with knowledge, vid is to obtain and benefit. Because these aspects are subject matter of the Dhātu or elemental component Vid, the word Veda is formed providing the same. The Sanskrit word Veda has Vid as its Dhātu it is a verb meaning 'to know'. Vedic scholars have however not stopped with mere understanding of this. They have delved deeper to realize and state as

विदविचारणे, विदसत्तायां,
विदज्ञाने, विद्लृलाभे,
एतेषांधातूनांविषयेवर्तन्तेय-
स्मात्ततोवेदाइत्युक्ताः।[1]

Definition by sayaṇācharya

इष्टप्राप्तिअनिष्टपरिहारयोः
अलौकिकमुपायंयोग्रन्थःवेदयतिसवेदः

"The next which gives the spiritual clues for achieving the desired topics, and for getting rid of the undesired objects is called Veda".

Vedic knowledge is called *apauruṣeya*, which means it is not knowledge of human invention.

Vedic knowledge appeared at the dawn of the cosmos within the heart of Brahma, the lotus-born god of creation from whom all the species of life within the universe descend. *Brahma* imparted this knowledge in the form of *śabda* (spiritual sound) to his immediate sons, who are great sages of higher planetary systems like the *Satyaloka, Janoloka* and *Tapaloka.* These sages transmitted the Vedic *śabda* to disciples all over the universe.

A vast number of statements and materials presented in the ancient Vedic literatures can be shown to agree with modern scientific findings and they also reveal a highly developed scientific content in these literatures. The great cultural wealth of this knowledge is highly relevant in the modern world.

Who is Rishi?

साक्षात्कृतधर्माणऋषयोबभूवुः।
तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य-
उपदेशेनमन्त्रान्संप्रादुः॥[2]

The rishis could see or perceive the dharma manifest in reality. They passed on the mantras to their disciples of next generation through instruction.

Having preceived or seen the dharma, Rishis are also called mantra drastas, or seers of mantras, or thoughts. A Vedic seer is the inspired or medium of Devine Revelation – a person who, by his righteous, pure and holy life is able to grasp higher and Devine things, which are far above the ken of the generality of manking.

Rishis are Receivers and Transmitters

The Rishi did not write the Veda. He did not create it out of his mind. It is neither the abstraction of thought nor wilderness of the fantasy. It is not mere ritualistic literature of the primitive people. The rishi was a seer of primitive people. The Rishi was the seer of thought, which existed already. The thought was not his own. He was only the spiritual discoverer of the thought. He is not the inventor of the Veda. Rishis are only a medium or an agent to transmit the experiences to the people, which they received. Veda is not the rediance of the medium, but it is the radiance itself. It is not essence of reality of abstract nature, but the existence in reality itself.

Vedas are Teliphonic Conceptual

We heard that in ancient times Vedas (Śṛuti) were learned not with the help of books or computers or with any other source. Vedas used to flow through the teacher to the student. How teachers received is in the same way. How students transferred the education to next is also the same way. It is very clear that the Vedas are telephonic conceptual, as if they use two main

organs of the body to receive or transmit the education are Ears and mouth. We are very familiar with the telephonic concept for better communication and have close feel with the people who are not before are far from us, to which we are using for only communication.

In ancient times the same concept is used for the development of knowledge and to make students always alert mutually. That might be the reason of their perfection of education and implementation. We can sense the clarity of thoughts an purity of thoughts and the beauty of their ideology for the best future.

Vedic Research to Enrich Modern Science & Technology

Is research of the Vedas a new proposition? Evidence is available that it is not. A study of Sanskrit literature brings into light the existence of innumerable centers of learning and sites of research across the length and breadth of India in ancient times. Universities such as Nalanda, Takṣaśila are well known but these were not only ones. Thousands of students were attracted from across world to ancient India. Conclusively, in India, generations after generations are have been researching the Vadas, Śāstras and deriving 'truth' appropriate for their own times.

It is most amazing to note that the Vedas have built in resilience and survival in changing times. In recent times there has been substantial reduction in the study and research of Vedas, but there has been a mere than commensurate increase in their study in almost every University and other study centers of the world. Internet and another fabulous electronic tool are available for even more comprehensive research.[3]

Vedic Science through Astronomical Thoughts

It is also not a new topic in the education system. There is great astro-vision observations can be seen in Vedic mantras explained on the name of Lokas. The explanations of outer worlds, astrological observations for the result of perfect timing of Yāgas etc. explained in the Jyōtiṣa Śāstra the science of Shining objects.

Namakam Eleventh Anuvaka

सहस्त्राणिसहस्त्रशोयेअधिभूम्या-
म्तेषागुंसहस्त्रयोजनेवधन्वानितन्मसि।[4]

Those Rudras who live on the face of the earth in thousands of varieties, we shall cause the strings of their bows to be loosened, and the bows themselves to be deposited thousands of yōjanās far away from us.

अस्मिन्महत्यर्णवेऽन्तरिक्षेभवाअधि।[5]

Those Rudras who dwell in the sublime ocean and the space between sky and earth, we shall cause the strings of their bows to be loosened and the bows

themselves to be deposited thousands of yōjanās far away from us.

All the thoughts of astronomical and astrological observations of Vedic literature explain about the great philosophies of supernatural elements. All the mantras were compiled in a very informative way in which a formulated concept is seen.

Vedas and their Segrigation in Computational Techniqe

The Vedas are four : The Rig-Veda, the Sama Veda, the Yajur Veda and the Atharva Veda, the Rig Veda being the main. The four Vedas are collectively known as Chathurveda, of which the first three Vedas viz., Rig Veda, Sama Veda and Yajur Veda agree in form, language and content. Each Veda consists of four parts the Samhitas (hymns), the Brahmanas (rituals), the Aranyakas (theologies) and the Upanishads (philosophies). The collection of mantras or hymns is called the Samhita. The Brahmanas are ritualistic texts and include precepts and religious duties. Each Veda has several Brahmanas attached to it. The Upanishads form the concluding portions of the Veda and therefore called the Vedanta or the end of the Veda and contains the essence of Vedic teachings.

The concepts of classifying vedas is an amazing thing happened in vedic literature. A person who segregated vedas is none other than veda vyāsa according to the texts. Veda + vi + Asa = Veda vyāsa is the derivation we generally give. That's a mythological part. Come to the present context. If we get a hard disk in a computer of 500 GB while formatting it the operating system asks to share the hard disk. Generally we divide it into four generally. One is for 'C' the other are the D, E, F particularly. Or else it will take the complete space for OS. But the data will not be saved in 'C' in the next format. So it is better to have a partition in the hard disk.

Now come to the present context it is not an easy task to segregate a bulk of Mantras without the computational knowledge. The great compilation was classified into Four parts and named it as Rig Veda, Yajur Veda, Sama Veda, Atharva Veda and classified into again four parts Samhita, Brahmana, Aranyaka, Upanishad. It looks exacly like partition of computer hard disk.

ṣat Shastras and Computer Languages

छन्दः पादौ तु वेदस्य
हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते।
ज्योतिषमयनं चक्षुः
निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य
मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
कल्पश्चेति षडङ्गानि
वेदस्याहुर्मनीषिणः॥

All the six shastras were

explained as the limbs of vedapurusha. Which are very important to understand the terms and hymns of Vedic literature.

The Vedanga (vedāṅga, "member of the Veda") are six auxiliary disciplines traditionally associated with the study and understanding of the Vedas. 1. Shiksha (śiksā): phonetics and phonology (sandhi), 2. kalpa (kalpa): ritual, 3. Vyakarana (vyākarana): grammar, 4. Nirukta (nirukta): etymology, 5. Chandas (chandas): meter, 6. Jyotisha (jyotiṣa): astronomy for calendar issues, such as auspicious days for performing sacrifices. Traditionally, vyākarana and nirukta are common to all four Vedas, while each veda has its own śiksā, chandas, kalpa and jyotisa texts. The Vedangas are first mentioned in the Mundaka Upanishad (at 1.1.5) as subjects for students of the Vedas. Later, they developed into independent disciplines, each with its own corpus of Sutras.

The Big List of 256 Programming Languagescan be seen to develop the computer educationLike c, c++ etc. the top ten list of programming languages can be seen below.

1. Java
2. PHP
3. JavaScript
4. Python
5. Objective-C
6. Ruby
7. Perl
8. C, C++ and C#
9. SQL
10. Swift

Application of Mythological Charecters to the I.T. World

India is a land of gods. They are gods to whom we believe as very powerful and protect the world from demons. Who saves us from troubles and bless the bliss and comforts. Who are excellent in physical and mutual maintenance, whose duty is only to give never expect etc. we can see the application of the technology world to the gods. Like....

Brahma	–	System installer
Saraswati	–	Browser
Vishnu	–	System Operator
Parvati	–	Motherboard
Shiva	–	System Programmar
Laxmi	–	ATM
Narada	–	Data transmitter
Agni	–	Courier
Yama	–	Deletor
Garuda	–	Flight
Apsara (Rambha Etc.)	–	Viruses
Paramatma	–	Electrictiy
Ganapati	–	Anti virus
Maharshis	–	Processors
Hanuman	–	Email
Rishis	–	cables
Chitragupta	–	Harddisk

I personally feel that innovation and inspiration are the two sides of a coin. The modern people

of commerce and trade are inspired by the mythological charecters and applied to their creations or inventions like Maruti car, Garuda International airport etc.

Vedic Psychology

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा-
इतिचत्वारो.....
किंजातिःकिंज्ञानंकिं-
कर्मकिंधार्मिकइति।।[6]

There are four classes - the Brāhmaṇa, the Kshatriya, the Vaiśya, and the śūdra. Even the Smṛtis declare in accordance with the words of the Vedas that the Brāhmaṇa alone is the most important of them. Then this needs to be examined. What is meant by the Brāhmaṇa? Is it a jīva? Is it a body? Is it a class? It is jnāna? Is it karma? Or is it a doer of Dharma?

तर्हिकोवाब्राह्मणोनाम।
.....सच्चिदानन्दम्आत्मानम्-
अद्वितीयंब्रह्मभावयेत्इत्युपनिषत्।।[7]

Who indeed then is Brahman? Whoever he may be, he who has directly realized his Atman and who is directly cognizant, can see everything in his palm, of his Atman, that is without a second, that is devoid of class and actions, that is free from the faults of faults of the six stains (hunger, thirst, grief, confusion, old age, and death) and the six changes (birth, existence etc), that is of the nature of truth, knowledge, bliss and eternity, that is without any change in itself, that is the substratum of all the kalpas, that exists penetrating all things, that pervades everything within and without as Akash, that is of nature of undivided bliss, that cannot be reasoned about and that is known only by direct cognition. He who by the reason of having obtained his wishes is devoid of the faults of thirst after worldly objects and passions, who is the possessor of the qualifications beginning with Sāma (dama, uparati, titiksha, samadhana, śraddha), who is free from emotion, malice, thirst after worldly objects, desire, delusion, etc., whose mind is untouched by pride, egoism, etc., who possesses all these qualities and means-he only is the Brahmin. Such is the opinion of the Veda, the Smṛtis, the itihāsa, and the purāṇas. Otherwise one cannot obtain the status of a Brahmans. One should meditate on his Atman as sachhidānanda, and the non-dual Brahman. Yes, one should meditate on his Atman as the sachhidānanda Brahman. Such is the Upanishad.

It is clear that there are many concepts which are controversial, critical, and with full of confusion in our Vedic and Upanishad texts. As if they are not practical, clear and approachable, but awesome and philosophical. We believe them as great as they are the gift of our ancients, we respects them but we are not studying them in a proper way, if it happens all the facts of

ancient concepts will be crystal clear and helpful for the development of the sociological betterment.

The above context is an example for the grandeur of Vedic and Upanishad literature. The vision of class system and the meaning of a word Brahman, seen in such a way where there are no confusions and critical thoughts. a very perfect and wider view of a word Brahman was explained and concluded that anyone with the symptoms of control of the mind, control of the senses, austerity and penance, cleanliness, satisfaction, forgiveness, simplicity, knowledge, mercy, truthfulness, and complete surrender to the lord, become Brahmans. It is an idea to apply the vision to all the aspects to understand the necessity and identity of every creation of our ancients. It is only possible when we have clarity and purity of thoughts, which we learn from ancient education.

Conclusion

The study which makes a man to know something new and to apply the same for his uplifting of mutual tendency is Education. The way to which the modern people are following is the same explained in Vedic literature. The daily routine, the food culture, hospitality, education, charity, penance, human values, respect, worship etc. but everything is maintained unknowingly. If the highness of the social system is in such position only by following the Vedic systems unknowingly, what will be the impact of Vedic readings and applications of Vedic philosophies in the modern world? What will be the result of its learning and understanding of Vedic terms?

The modern education system depends on certification and commercialization. But the ancient education system used to give realization. In present system we are learning to crop, store, cook, and arrage to have food of mind. But the ancient great minds have already prepared food and offered in a readymade process. The only thing which we need to do is to try to understand the intentions of those rishis and the philosophies which are really helpful for the development of modern generations.

The essentiality of Vedic systems to the modern society lies in belief of the mankind. All the philosophies lead to salvation. They will protect like a nature, they will guide us to salvation, and they will give us supreme knowledge. ज्ञानंब्रह्मेतिव्यजानात्। The generative organizing and destructive (GOD) power is the source of the universal existence. This type of knowledge will be known from Vedic philosophies, through many artistic and scientific educations.

Thus we need Vedic sciences; we should learn and apply them for physical, mutual and all sorts of

development for modern progress.

References

1. vedasararatnavali Vol. 1 page 122
2. *nirukta* 1.20
3. Science and technology in Vedas and Shastras - Dry. RVSS. Avadhaulu
4. krishnayajurvedataittiriyasamhitā 4/5/11/1
5. krishnayajurvedataittiriyasamhitā 4/5/11/2
6. Vajrasuchakopanishat sloka 2
7. Vajrasuchikopanishat – sloka 9

✦✦✦

मैतं पन्थामनुगा भीम एष। –अथर्व. 8.1.10
देख, इस रास्ते पर मत जा, यह बड़ा भयंकर है।

तम एतत् पुरुष मा प्रपत्था। –अथर्व. 8.1.10
हे पुरुष! तमोमार्ग पर पैर मत रख।

मा क्रुधः। –अथर्व. 11.2.20
क्रोध मत कर।

शुद्धा भवत यज्ञियाः। –अथर्व. 12.2.20
शुद्ध बनो, यज्ञार्ह बनो।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (319-323) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

Vedic Symbolism

-Dr. Bharti Sharma
Asst. Prof., S.D.D.P.C. Girls P.G. College
Roorkee (U.K.)

Today, *Vedas* undisputedly stand as encyclopaedia dealing with every pros and cons of life. The *Vedas* do not pertain to a particular time or place. They pertain to mankind and knowledge pertaining to every field of science, study of phonetics, the code of rituals, grammar, etymology, literature, astronomy, medicine, archery, music and architecture. *Vedic* culture is a culture which is second to none. It portrays people with a divine vision and brings in them deep sensibility. This sensibility makes them pregnant with enormous purity, spiritual advancement, great thinking and a well disciplined living. Paramhansa shri Swami Omkarananda is very much correct when he says :

Man is born not for physical experiences alone Man is born to conquer matter, to conquer time and space. Man is born to realize the infinite supreme, omniscient and omnipotent reality.

The purpose of the paper is also to sensitize one for wonderful *Vedic* sensibility, deep mystical relation towards Divinity, and these efforts actually bring man back to the blessed *Vedic* world of high moral standards.

Based upon its fundamental definition, *Veda* must have been around as long as the universal energy has born in existence; that is forever. In order to empower our social conducts, consistent with religious teachings we must allow *Veda* to help us. Among the various levels of knowledge *Veda* facilitated "*Prateek Shailly*" or symbolic style before world.

What is truth in this universe? No one can answer this question? Our actions, and statements too are symbolic or '*प्रतीकमय*'. We have never seen the letters like '*क*' '*ख*' '*ग*' and vowels as well. But we maintained the alphabet or *वर्णमाला* to identity them. Similarly, we never saw God but maintained statue for them. We all have names for our individual identity. The term '*Prateek*' envelops all the English words like 'symbol' 'sign' and 'indication'. Actually, this term has no synonym which can exactly

explain it. Moreover, it covers each subject whether it is science, geography or so on. These all are actually '*Prateek*' or 'Symbols'. The spiritual and world-wide image of 'symbol' was understood by Casirare among western scholars.[1]

The perennial process of *निर्माण* or Creation and *विकास* or progress and the never ending संयोग or वियोग is actually '*yajna*' in the vast campus of world nature. For this world-wide साक्षात्कार the symbols or '*Prateekas*', provided is '*Bhautik Yajna*' which are subjects to '*mantras*'. These '*yajnas*' maintain the '*Prateek Setu*' or bridge of symbols between nature and man. As we know :

परोक्षप्रिया हि देवाः।

Even in poetics *Lakshana* and *Vyanjana* is more important than *Abhidha*.

This is how man builds up a relation with nature and earns capacity to utilize the power of nature. Thus, it is noteworthy that the process of world is '*Ashvamedha Yajna*'[2]. The living and breathing also has been undoubtedly called '*yajna*'[3].

'Prateek' has been defined as a masculine word in Śabdakalpa-drum

प्रतीयते प्रत्येति वा इति।[4]

meaning by which something is sensitized or identified is '*Prateek*'. As '*Rigveda*', the most ancient creation of world and the necessity and imagination of '*Prateek*' was imagined in Bharat-varsha for the first time. Now it is crystal clear that the *Vedic* term '*Prateek*' and its meaning is contribution of Bharat to the World. On the surface level, '*Prateek*' is the medium to express our information, knowledge and learning. But the surface level is not the soul of the things and hence the soul meaning is actually the spiritual meaning of '*Prateek*'.

The term '*symbol*' in west is accepted for '*Prateek*' meaning that when a thing is not visible and a '*sign*' is imagined to express and introduce it very well is known as '*Prateek*'. Thus the term '*Prateek*' may have various senses as '*sanket*' or indication, *lakshana* or sign or '*chihna*' and '*mudra*'. Scientifically 'symbol' term is accepted for '*Prateek*'.

Again, this term '*Prateek*' is defined as:

अङ्गः प्रतीको अवयवः।।[5]

meaning *'अङ्ग', 'प्रतीक', 'अवयव'* as '*Prateek*' or symbol. Rigveda also states similar notion:

वि सानुना पृथ्वी सस उर्वी पृथु
प्रतीक मध्ये धे अग्निः।।[6]

If expanding the fire, the earth is made the '*Prateek*', अवयव of sun, then anything part of something is known as '*Prateek*'.

Great Sage Manu also used this term as 'statue' – meaning '*swaroop*':[7]

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्ति
माता पृथिव्या मूर्ति॥

Similarly in 'मित्र' mother is the '*Prateek*' of the ancient universal waves ≈. The earth was formed with the waves of sky and water. The newly born baby pronounced the first letter 'm' and second, 'w' meaning mother from 'm' and 'wife' form 'w'.[8]

Our 'vedas' have *prateekatmak* study of the universe:

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे॥[9]

meaning that every elemental piece of universe contains complete knowledge of the entire universe. Our human body is no exception. What is within us is a representation of what is outside of us.

Next 'Vishnu' is '*Prateek*' of '*Yajna*'.

यज्ञो वै विष्णुः।[10]

Since time immemorial, devotees, have had great reverence for '*Om-Kar*'. Nowadays, it is also written as '*Aum*'. The three-syllables a+u+m represent and salute Brahma, Vishnu and Mahesh or Shankar and invoke their blessings. The three syllables also represent the three *Vedas* – Rig-Veda, Yajur-Veda and Sama-Veda.

It is said that '*Om*' represents 'Brahma' – the creator. It came even before Brahma.[11] In the *Gopath Brahman* it is said that '*Om*' represents Shiva, and the *mantra* represents Shakti. All the *Upanishads,* the *Dharmashastras, Gayatri mantra* and the *mantras* used when performing a '*yajña*' or in reverence to gods begin with '*Om*'. Chanting '*Om*' produces a quivering sen-sation and power within. It affects every part of the body. The mind experiences unity and strength. The dormant inner strength is aroused. When chanted in a group, the beneficial influence is much greater. The electrifying effect of '*Om*' cleanses unwanted deposits in the brain and promotes well being.[12]

Again, '*mangalsutra*', around the neck, is symbolic of a married woman. Irrespective of the jewellery, the *mangalsutra* has special significance. It is also the symbol of good luck, good fortune and love between couple. The use of black beads and figures like those of a peacock or a pendant. **A peacock is a symbol of woman's love for husband. Black beads ward off evil.**[13]

It is a customary to have '*saptpadi*' in a Hindu wedding. The two promise that in the presence of Agnidev, the god of fire and parents etc., they are getting religiously bound in a mutual relationship. This ceremony is performed before the fire since it symbolises energy or Surya, the Sun. Surya is the soul of the living world and a form of Vishnu. **Therefore, when one walks around the fire, it is symbolic of**

going around with God as witness with seven commitments. Let us mark one of them:

तीर्थव्रतोद्यापन–यज्ञकर्म
मया सहैव प्रियवर्य कुर्याः।
वामांगमायामि तदा त्वदीयं
ब्रवीति वाक्यं प्रथमं कुमारी॥[14]

In *Vedic* culture we have various rituals. One such act is the preparing of पुरोडाश in यज्ञीय कपाल. The thought of making best citizens for society and nation is working behind this ritual. **The '*purodash*' in *Yagiya Capal* is the symbol of brain containing the best thoughts and feelings.** The best brain & thoughts are imagined in the mind of the pupil behind this practice.

The homely rituals are located in *Grahaya Sutras* like *उपनयन, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीत* etc. During *आपोनिष्ठा संस्कार* Acarya first has '*jala*' in his *anjali* then in the *anjali* of pupil and proceed to unpour it in a pot. Here **'*jala*' is symbol of '*gyan*' meaning, first Acarya should earn knowledge by 'himself'. The act of unpouring '*jala*' is the invocation of '*gyan*' expanding to all directions.** We still have '*प्रतीकवाद*' in routine life or *लौकिक संसार*. Some of the symbols followed during wedding ceremonies are:

मधुपर्क विधि Where both the bride and groom are offered honey or '*मधु*' which is symbolic of equanionity or '*माधुर्य*' in *वाणी* and relation. Next, '*शिलारोहण विधि*' where bride is asked to step on rock, that is **symbolic of having rock like resolution or *संकल्प* amid the complexities of married life.**

Two Years back a talk was organized by WAVES, Haridwar branch on *Vedic Prateekvad*. There the learned speaker Dr. Priyamvada Ji, principal, Gurukul Arsh Kanya Vidyapeeth, Nazibabad reminded various renowned scholars in the reference of *Prateekvaad*.

She recalled *Vedagya Acaryas* like Acharya Sen, Swami Dayanand Sarasvati, Shri Arvind and Dr. Fatah Singh etc. According to her, Swami Dayanand ji highlighted *Prateekvad* with the examples of *Brahmin Granthas*. According to Yogiraj Arvind '*Prateekas*' come in brain during ecstasy. Fire is symbolic of power, strength resolution and '*ज्वाला*'. It brings our offerings higher and higher and conveys us strength in exchange. Dr. Fatah Singh also puts forward great efforts to provide vast landscape to '*prateekas*'. As a matter of fact, According to Dr. Fatah Singh, '*Vedas*' are the knowledge of mental status at the extreme. This level was made easily understanding through '*Prateekas*'.[15]

Lastly, in the research work वेद में हिरण्य का प्रतीकवाद by Dr. Pratibha Shukla, fifteen names of हिरण्य are researched. *हिरण्य* means gold but there gold is symbolic of the

'*आत्मज्योति*'. The fifteen names are its various forms and *अमृत* is one of them. Thus the work proves that 'अमृत' can never be the synonym of gold. Thus here we have *Vedic Prateekvad*.[16]

Thus in the present scenario of spiritual crisis, this is the high time when we strictly require a bridge to bring us back to the blessed *vedic* world of high moral standards. Undoubtedly, the *vedic prateek* can prove the best torchbearers.

References

1. प्रतीकशास्त्र, परिपूर्णानन्द वर्मा, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ.1 ।
2. बृहदारण्यक उपनिषद 1, 1, 1 ।
3. ऐतरेय आरण्यक 3, 2, 6 ।
4. शब्दकल्पद्रुम पृ. 268
5. हलायुधकोश – सरस्वती भवन, वाराणसी ।
6. ऋ० 7/66/1
7. मनु. 2/226
8. प्रतीकशास्त्र, परिपूर्णानंद वर्मा, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ ।
9. श.ब्रा. 7/5/2/17
10. शतपथ ब्राह्मण, 1.1.8.8
11. कठोपनिषद्, 1/2/16–17
12. *Hindu Rites, Rituals, Customs & Traditions, A to Z on the Hindu Way of Life,* Prem P. Bhalla, Hindoology Books, Ed. 2014, P. 14, 15
13. *Hindu Rites, Rituals, Customs & Traditions, A to Z on the Hindu Way of Life,* Prem P. Bhalla, Hindoology Books, Ed. 2014, P. 115
14. *16 संस्कार,* शनि साधक उपेन्द्र धाकरे, जयपुर वुक हाउस, जयपुर–3, पृ.191
15. डा. फतह सिंह
16. *वेद में हिरण्य का प्रतीकवाद*, डॉ. प्रतिभा शुक्ला

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (324-333) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

Vedic Education and its Relevance in Modern Times

-Dr. Rajender Dhull
Asstt. Prof. R.K.S.D. College of Education,
Kaithal (Haryana)

The present paper deals with the necessity of education for human and social development. It mainly deals with the Vedic System of Education and its main features. It also throws light on the various aspects of Vedic Education as education for character building, skill development, and worship of God, spirituality, and development of personality, creation of an aptitude for the development of culture, nation and society. It further deals with the how Vedic Education has a special role to play in the education of modern India and world at large which is facing many problems like decline of value system and quality education as a whole. So the researcher is of the view that Vedic Education has a major role to play in modern Indian education system so as to realize the true aims of education.

Introduction

The education system which was evolved first in ancient India is known as the Vedic system of education. In other words, the ancient systems of education were base on the Vedas and therefore it was given the name of Vedic Education System. Some scholars have sub divided Vedic Education period into Rig-Veda period, Brahman period, Upanishad period, Sutra (Hymn) period, Smriti period etc. but all these period, due to predominance of the Vedas, there was no change in the aims and ideals of education. That is why the education of these periods is called as Vedic education.

In Vedic era education had a very prominent place in society. It was being considered as pious and important for society. In the eyes of Aryans, education was the only means to acquire prosperity in the field of physical, mental, spiritual and social developments. Education was must for everybody for becoming cultured. In absence of education people were considered as uncultured and animal like thing. Education was an instrument to show new paths and knowledge to us. Education opens

our hidden qualities and helps people to attain Salvation. It can be regarded as 'Third Eye' of human beings. Through education only a man gets rid from debt of Guru and so was the feeling of people at that time. In short by putting different logic, we can say that education was the most important aspect of human life of that period. Terms such as knowledge, awakening, humility, modesty etc. are often used to characterize education in the Vedic period.

Characteristics of Vedic Education

The education system of Vedic period has unique characteristics and qualities which were not found in the ancient education system of any other country of the world. According to **Dr. F.E. Key,** "To achieve their aim not only did Brahmans develop a system of education which, survived even in the events of the crumbling empires and the changes of society, but they, also through all those thousands of years, kept a glow of torch of higher learning". **Dr. A.S. Altekar** says that Vedic education aimed at infusion of a spirit of piety and religiousness, formation of character, development of personality, and inculcation of civil and social sense, promotion of social efficacy & preservation and spread of national culture.

The ancient education system has been a source of inspiration to all educational systems of world. The ingredients, which our present system, lacks, and which were the predominant fecets of our ancient system relate to admission policies (upnayan), monitorial system, low teacher pupil-ratio, healthy teaching surroundings, free schooling and college education, sympathetic treatment, role of punishment in discipline, regulation governing student life.

The primary aim of Vedic Education was wholesome development of personality and character. Self-realization and self-illumination were the sole aim of education and it was through this quality that wholesome development of personality of an individual was cherished. Moral strength and moral excellence were developed to the fullest extent, which we lack so utterly. The moral stature of our educated people is deplorably low. Moral values are at stake. The old values, which held society together are disappearing and as there is no effective programme to replace them by a new sense of responsibility. Innumerable signs of social disorganization are evident everywhere and are continually on the increase. The social, moral and spiritual values which our Vedic ancient system developed in the education have been totally lost sight of.

The primary aim of Vedic education was instilling into the minds of pupils a spirit of being pious and religious for glory of God and good of man. The pursuit of

knowledge was a pursuit of religious values. The life of the pupil was full of ritual acts. Education without religious instructions was not education at all. It was believed that a keener appreciation of spiritual values could be fostered only through a strict observance of religious rites.

In no period of the History of India, was so much stress laid on character building as in Vedic period. **Vyas Samhita** states, "The result of education is good character and good behaviour. A conquest does not make a hero nor studies a wisewoman. He who has conquered his senses is the real hero. He who practices virtue is really wise."

Wisdom consisted in the practice of moral values. Control of senses and practice of virtues made one a man of character. Moral excellence could come only through practicing moral values. Example was better than percept. The teacher and the taught were ideals of morality, for both practiced it all through their lives.

The inculcation of civic virtues and social values was an equally important objective of education of India. The Brahmachari after his education in the Gurukulas went back to the society to serve the rich and the poor, to relieve the diseased and the distressed.

Imparting and receiving of education was as sacred as anything can be, for example, education started and ended with certain prescribed religious rituals like upnayan and samavartan. The disciple was to devoted himself whole heartedly to the cause of learning while he remained with his teacher. In most cases the boy went to a teacher for studentship. The maximum age of entrance into school was different for the different castes. The period of schooling was long, at least 12 years for one Veda. The school in the Ancient Education System lasted for 7 to 8 hours a day. In fair weather classes were held in the open under shady groves. The whole atmosphere was quiet. calm and peaceful. It must be noted that schools were not kept away from human habitation. Never in the history of education will you find such a close contact between the teacher and the taught. The teacher was the spiritual father, he is to nurse, when the pupil fell sick, he was to feed, clothe and teach his student as he fed, clothed and taught his son. The student also regarded the teachers as he regarded his parents, king and God. Both were united by communion of life. Regarding discipline, the student had to observe strict regulations. Instruction was important, but was even more significant than teaching was discipline-discipline inculcated through strict obedience to laws and regulations of student life, discipline that was rooted in morality and religion. A student was required to give up lust, anger, greed, vanity, conceit and over joy.

It was demanded of every student whether rich or poor that he should lead a simple life in the Gurukul or in the Ashram. In all schools and colleges the pupil-teacher ratio was too low. Individual attention was maximum. The number of students in a school was kept very small. But when, under certain condition the enrolment increased, the teacher sought the co-operation of more advanced and senior boys who was were appointed as monitors (Pittiacharya). In the absence of teacher entire work was entrusted to them. Punishment had practically no place in the school system. Pupils received very sympathetic, treatment from their teachers. Their personality was respected and teachers were required to use sweet and gentle speech in dealing with pupil. During Vedic period education was free and no student was required to pay any fees. There was perfect autonomy and no outside agency could interfere in the matters of education. No external authority, no external beneficiary, no politics was permitted to enter the school or college system. In the words of **Dr. P.N. Prabhu,** "Education in ancient India was free from any external control like that of the state and government or any party politics. It was the kings duty to see that learned Pundits, pursued their studies and performed their duty of imparting knowledge without interference from any source what so ever."

A student had to pay nothing in return for education he received in a Gurukul or Ashram. Access to good education depended not on wealth but on talent.

The main characteristics of Vedic education can be briefly enumerated as follows :

1. Knowledge :

Education is knowledge. It is mans third eye. This aphorism means that knowledge opens mans inner eye, flooding him with spiritual and divine light, which forms the provision for man's journey through life. Through education, the development of every aspect of human life becomes possible. Knowledge protects and individual like a mother, inspires him to follow the path of good conduct as father does, and gives the pleasure that one's wife provides.

Education leads to the development of personality. The word Veda 'originates from the root vid' which bears the meaning of knowledge. Sayana declares that the Veda is a means to the obtaining of the adorned that which is worthy of worship, as well as means to the panishment of the underised, the evil. Knowledge of the four Vedas (Rigveda, Yajurveda, Samaveda and Atharvaveda), along with the knowledge of Shruti, Smriti etc. provided an individual, with new knowledge which broadened his intellectual horizon.

2. Aims of Education :

The utimate aim of education is ancient Indian was not knowledge as preparation for life in this world or for life beyond, but for complete realization of self for liberation of the soul from the chains of life both present and future.

During this period, education had an idealistic form, in which the teachers (acharyas) laid stress upon worship of God, religiousness, spirituality, formation of character, development of personality, creation of an aptitude for the development of culture, nation and society.

The immediate aim of education however was to prepare the different castes of people for their actual life through vocational education. Passing of examination and getting a degree, as considered to be at present was not the aim of education the aim was moral, religious and spiritual. So far as discipline is concerned it was not external at all but self discipline.

3. Methods of Instruction

It was pupil centered education. No single method of instruction was adopted, though recitation by the pupil followed by explanation by the teacher was generally followed. Besides question – answer, debate and discussion, story telling was also adopted according to need. There was no classroom teaching. However monitorial system was prevalent and senior pupils were appointed to teach juniors. Travel was regarded as necessary to give finishing touch to education so the methods of teaching generally practiced during Vedic period were mainly Maukhik (oral and other method was based on Chintan (thinking or reflection)

In the oral method the students were to memorize the mantras in order that there might not be changed wrongly and they might remain preserved in their original forms. Under the oral methods these prosodies were thoroughly taught on which happened to be based. Special emphasis was laid on the various lines of a particular verse, their pronunciation and meanings. In this oral method correct pronunciation was specially emphasized. For this instruction in grammar and pronunciation was compulsory for all. Thinking method was another part of the teaching method. Through this an attempt was made to preserve the Veda mantras (Vedic hymns) Manan was higher method of teaching than a thinking. Through Manan the meanings of Vedic mantras. The meanings of Vedic mantras were developed and preserved in one's own mind. This method was used to encourage the highly intelligent students by guiding them to make research, similarly in ancient days, Manan (Reflection) was a method specially adopted for highly intelligent students.

4. Medium of Instruction

As these educational institutions were managed and organized by Brahmans and all the books written in Sanskrit, therefore the medium of instruction was Sanskrit.

5. The 'Upnayana' Ritual

The word upnayana means to take close to, or to being in touch with. A ceremony called the upnayana. ceremony was performed before the child was taken to his teacher. This ceremony was performed at the ages of 8, 11 and 12 for the Brahmins, Kshatriyas and Vaishyas, respectively. The ceremony signaled the child's transition from infancy to childhood and his initiation into educational life. In this context, the term upanayana' means putting the students in touch with his teacher. With the passage of time, the ceremony came to be conferred to the brahmins class only.

6. Celibacy or Brahamacharya

Every student was required to observe celibacy in his specific path of life. Purity of conduct was regarded as of supreme importance. Only the unmarried could become students in a Gurukul. On entering student life, the student was made to wear a special girdle called a mekhala. Its quality depended on the caste of the student. Brahmins wore a girdule of moonj grass, the kshatriyas of string guttaanta and the vaishyas a girdle made of wool. The clothes worn by them were also accordingly of silk, wool etc. The students were not allowed to make use of fragrant, cosmetic or intoxicating things.

7. Alms System

The students had to bear the responsibility of feeding both himself and his teacher; this was done through begging for alms, which was not considered bad. Since every domestic know that his own son must be begging for alms in the same way at some other place. The reason behind the intoduction of such a practice was that accepting alms induces humility. The student realized that both education and subsequent earning of livelihood were made possible for him only through society's service and its sympathy. For the poor students, Begging for alms was compulsory and unavoidable, but even among the prosperous, it was generally accepted practice.

8. Status and Service of the Teacher

The status of teacher was very high. They commanded full respect and honoured even by kings. Teachers were regarded as Brahma Vishnu and Mahesh.

Teachers on their part, behaved like true parents and treated their pupils will full compassion. The teacher-taught relationship was cordial and conducive. Every student was required, while residing in the Gurukul, to serve his

teacher compulsorily. Any violation of the Guru's instructions was regarded as a sin and subject to stern punishment. The student's duties included obtaining such daily necessities as water, a twig for brushing the teeth etc. for this guru. The teachers also ensured that the students should not be distracted from their studies while performing such duties during the vacations in which the students returned home he was not required to perform any service for the teacher.

9. Practicability

Apart from intellectual aspect of education its practical side was not lost sight of and along with art, literature and philosophy, students got a working knowledge of animal husbandry, agriculture and other professions of life. In addition education in medicine was also imported. According to **Dr. Alteker,** the purpose of education was not to provide general knowledge about a variety of subjects, but to produce specialists of the best kind in various spheres.

10. Education for the Individual

The nature of education was much more individualistic rather than joint in groups. All round development of a child's personality was the chief aim of education. Every teacher devoted himself to be integral development of each student. He aimed at the physical and intellectual development of his wards the maximum attention was devoted to the individual development of every student, but there was no provision for the education of the incapable and the handicapped, especially those who were lacking in mental and moral qualities as were known for moral turpitude.

11. Duration of Education

In the house of the teacher, the student was required to obtain education up to the age of 24, after which he was expected to enter domestic life. Students were divided into three categories :

a) These obtaining education up to the age of 24 – Vasu
b) These obtaining education up to the age of 36 – Rudra
c) These obtaining education up to the age of 48 – Aaditya.

12. Curriculum

Although the education of this period was dominated by the study of Vedic Literature, historical study, stories of heroic lives and discourses on the puranas also formed a part of the syllabus. Students had necessarily to obtain knowledge of metrics. Arithmetic was supplemented by the knowledge of geometry. Students were given knowledge of four Vedas – Rigveda, Yajurveda, Samaveda and Atharvaveda. The syllabus took within its compass such subjects as spiritual as well as materialistic knowledge, Vedas, Vedic grammar, arithmetic knowledge of gods, knowledge of the absolute, knowledge of ghosts,

astronomy, logic philosophy ethics, conduct etc. The richness of the syllabus was responsible of the creation of Brahman literature in this period.

13. Equal Opportunities to all

The education was free and accessible to all who sought it. There was no discrimination on the basis of caste, creed, colour etc. and the students of all strata of society received education on an equal footing.

14. Plain Living and High Thinking

The education institutions were residential in the form of Gurukulas situated in forest, where teachers and pupils lived together. Education imparted was in the pure, calm and charming atmosphere of the Gurukulas and Ashramas and emphasis was laid on the development of character through Plain Living and High Thinking.

15. Academic Freedom

Due to academic freedom students remained busy in thinking and meditation. It enhanced originality among them.

16. High place to Indian culture

Indian culture was full of religious feelings and it was assigned a very high place in the field of education.

17. Female Education

During the Vedic age women were given full status with men. For girls also the Upanayan (initiation ceremony) was performed and after that their education began. They were also required to lead a life of celibacy during education. They used to study the Vedas and other religious and philosophy books; they were free to participate in religious and philosophical discourses. Many Samhitas of Rigveda were composed by women. In Gurukulas the gurus treated male and female pupils alike and made no distinction what-so-ever.

The education of women also began at home where they learnt letters of alphabet. They were also instructed the works of home and family. As a matter of fact Home was the main centre of Education of girls in Home-Science. The rich family employed teachers to teach their daughter at home. In other cases, the process of teaching girls was completed by the family Purohits or by the educated elders. There were provisions of girls' hostels where worthy lady teachers took care of their education. Though there was no provision of co-education, it was not prohibited at all. Women were given education in religion, literature and along with these they were instructed in dance, music and other fine arts.

Women were honoured and respected in society. Therefore women education was at its peak at the time. Women were regarded as a great source of power, place, satisfaction and knowledge for

men. It was thought that without women, men could not progress. Therefore girls during Vedic period were taught like boys. The Vedic period consistently believed that despite the difference in physiology woman in no way intellectually inferior to man. she possess excellent memory, intelligence and other mental faculties and hence she has the capacity to obtain any type of education. It also believed that a woman's fulfillment lies in womanhood and latter's in motherhood. It is because of this that the nature of feminine education differs from that of masculine education. She should be skilled in household duties. The importance of women has been explained in the Vedas at various places. In these days there have been many great women who due to their deep scholarship and penance were regarded as woman sages. Lopamudra, Apalla, Ghosha and Vishwavara were some of the great women sager who were held in high esteem. Yagyavalkya has mentioned names of Maitreyi, Kauanitiki as women who composed commentaries on the Vedas, while Brahman has mentioned the name of Gandbrava. Grabita as instances of women who obtained highest education. Many have gone so far as to say that it is the duty of parents to give their daughters an integral education. They should also be given education in various arts.

Relevance of Vedic Education in modern times :

In the modern times also, the Vedic education has a major to play so that the present education can go on right lines. In the present system of education, the aims are lopsided, as the intellectually training has become the be-all and end-all of education. It does not take into consideration the physcial, emotional, spiritual and other aspects of the personality of the child. Self-realization or self-illumination and harmonious development of personality, character, moral values were highly emphasized by Vedic education which is also endorsed and supported by most of the modern educationists and philosophers whether they belong to West or East. The great Vedanta philosopher and educationist **Swami Vivekananda** also emphasized this aim and said, "We want that education by which character is formed, strength of mind is increased, the intellect is expanded and by which one can stand on one's own feet". **Mahatma Gandhi,** the father of nation also emphasized and remarked, "By education I mean an all round drawing out of the best, in child and man-body, mind and spirit." Regarding the aims of education he further said, "The end of all the knowledge must be the building up of character, personal purity."

Today when the world is torn with feeling of religious fundamentalism and disharmony in the

society, the role of Vedic education is much more is world peace. In this regard **Sri Sri** exclaims, "Vedic wisdom says that there are many paths to one truth. It does not say, this is this the only way and if you do not follow this, you will go to hell. It says that there is only one Divinity, but with many names, many forms, and many ways of worship. So that broad outlook towards life can come from Vedic education." So, Vedic education can be practiced for peace education or education for peace.

Vedic education stressed the character development aim of education and it regarded character formation as suitable foundation of education. The prevalent system of education is not character oriented, but information oriented. It is consumerist and makes one selfish, self-centred and cynical. It sharpens reasons, but hardens the heart. It lays little or no emphasis on such basic values as truth, love, honesty, humility, compassion, forbearance and justice. Therefore, there is a need to seek a proper balance between individual and social aims and to develop character of the students on the desired lines and for this the school environment has to be made healthy and conducive in which teachers have to play an exemplary role and to be a role model for the students.

Conclusion :

In Vedic era education had the prominent place in society. It was considered as pious and important for society. Education was must for everybody for becoming cultured. Relationship between Guru and pupils were very cordial during Vedic and post-Vedic period. By means of education efforts were being made to infuse Satyam Shivam and Sundaram inside the students. A great importance was attached to Veda in education system, self study Swa-dhyaya was considered more important during that period. The Vedic period favored women education.

References :

* Altekar, Anant Sadashiv (1994). Education in Ancient India, Banaras : Gyan Publishing House.
* Lal, Raman Behari (1950). Philosophical and Sociologi-cal Principles of Education, Merrut : Rastogi Publica-tions.
* http://www.mu.ac.in/myweb_test/ma%20edu/History%20 of%20Edu..pdf retrieved on 10/03/2015
* Aggarwal, J.C. & Bhola, P (2010). Shiksha Darshan, Delhi : Shipra Publications.
* Ramachandran, Padma & Ramkumar, Vasantha (2005), Education in India, New Delhi : National Book Trust.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (334-342) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

The Modern Interpretation of Vedic Philosophy

(With Special Reference of *Āśrama* System)

-Dr. Kavita Bhatt

Deptt. of Philosophy
HNB Garhwal University, Garhwal

These days, man is enjoying the luxrious lifestyle, as the gift of scientific innovations; but it leads toward materialistic approach. It is also a cause for degrading discipline. As a matter of fact, Vedic Philosophy is source of discipline for mankind without boundaries of cast, community, religion, country. Āśrama, as the disciplinary system paves a path of ultimate wellbeing for everybody. It is a way not only for individual well-being, but social too, but these days human-being has no systematic lifestyle, which resulting as degradation of harmonious duty system. As a result, there is a crisis of values and discipline at individual and social level. While, *Āśrama Vyavasthā* presents systematic guidelines for every person at each stage of life. There are four *Āśramas* namely *Brahmcarya, Gṛhastha, Vānprastha* and *Saṅyāsa*. There is special division of duties like study, family responsibilities (to earn money, marriage and reproduction), social duties, and spiritual wellbeing for every stage of life called *Āśrama,* but there is a need to reinterpret these in modern scenario to upgrade the individual discipline and social harmony.

In this paper we shall try to interpret above four *Āśramas* with new dimensions of discipline. For the purpose, we have a plan to divide the whole paper in three parts. We shall try to explain the Vedic view of *Āśrama,* the various duties as explained for these four by Vedas and the relevance of this systematic division of life in modern perspective respectively in first, second and third part of our research paper.

Part I

Vedic View of Āśrama system

First of all, it is necessary to draw a frame of Vedic literature for the proper understanding of *Āśrama Vyavasthā* as directed by the same. In words of S.N. Dasgupta, "…..the same generic name "*Veda*" or "*Śruti*" (from "*Śru*"

to hear); for Veda in its wider sense is not the name of any particular book, but of the literature of a particular epoch extending over a long period. As this literature presents the total achievements of the Indian people in different directions for such a long period, it must of necessity be of a diversified character. If we roughly classify this huge literature from the points of view of age, languages, and subject matter, we can point out four different types, namely the *Saṁhitā* or collection of verses (*sam* together, *hita* put), *Brāhmaṇa, Āranyakas* ("forest treaties") and the *Upaniṣads*. All these literatures, both prose and verse, were looked upon as so holy that in early times it was thought almost a sacrilege to write them; they were therefore learnt by heart, by the Brahmins from the mouth of their preceptors and were hence called "*Śruti*" (literally anything heard)."

We may see the construction of *Saṁskrit* word *Āśrama=Ā+śrama+Ghañya* (घञ्) means the hermitage or the resting place of a seer or monk, placed in a deep forest, where he would practice Meditation-Yoga for self-realization. It would be practiced either alone or with a company of fallows for the achieving of the same. In ancient Indian culture, the *Āśrama* dotted the forests all over and characterized the lives of people who retired from active life, practicing severe penances and austerities including self-mortification. The word has a particular meaning in the sense of duty for human being called *Āśrama-dharma* according to *Vedic* idealism. It envisages resting places in the forest of human life for people to achieve their liberation from the cycle of births, by adhering to a code of conduct and a map of life. Its principal aim is to inculcate divine centered living and encourage people to uphold *Vedic Dharma,* as they pursue the chief aims of human life, namely *Dharma* (religion), *Artha* (wealth), Kāma (pleasures) and *Mokśha* (salvation), in the course of their journey upon earth, without neglecting their obligatory duties and without sacrificing their spiritual ideals and human values.

It recognizes four *Āśramas* or stages in the life of a human being. They are *Brahmacarya* (stage of studentship), *Gṛhastha* (the stage of a householder), *Vānaprastha* (stage of a forest dweller) and *Saṅyāsa* (stage of renunciation). From a theological point of view, the ashramas offer an incredible opportunity to people to live in accordance with the highest ideals of human life, irrespective of their age and the occupation and work for their salvation. Manu believed that nothing in the world was ever done by a man without desires and that the best way to fulfill them was by practicing dharma and discharging one's obligatory duties. He declared that he who persisted

in discharging his prescribed duties would not only attain immortality but also the fulfillment of all his desires even in his present life. It chief weakness is its adherence to caste based duties, obsession with the superiority of the priestly class and the exclusion of a large section of people who do not belong to the upper three castes because of their birth.

The concept of four *Āśramas* as successive stages in the life of an individual was a later development in *Vedic* society. The *Vedic Dharma* originally upheld the concept of *Eka-Āśrama* or one *Āśrama* for the rest of one's life based on one's most dominant goal or aspirations. Of the four, the life of a householder was considered to be the most appropriate and auspicious. However as time went by the *Dharmaśāstras* (Hindu law books) found favor with the idea of four *Āśramas* as the successive stages in the lives of twice born castes whereby one could live life in accordance with one's goals and aspirations and also preserve the institutions of family, caste and society. It was probably an attempt to preserve *Vedic* society by discouraging people from abandoning their homes and family responsibilities at a very young age in their lives and becoming ascetics.

Part II

The Various Duties as explained for these four stages of life

1. Brahmacarya (stage of studentship)

It is the first stage in the life of a person on the path of the *Vedic Dharma*. It usually begins with his initiation (*Upanayana*) ceremony that marks his new birth as a twice born. *Brahmacarya* means activity concerning *Brahman*. Technically speaking any-one who is in pursuit of *Brahman* or on the path of *Brahma* is a *Brahmacārī*. However, in ancient India it was used to denote a student who was receving specialized knowledge and vocational training from a teacher about his caste based occupation and practiced celibacy and self-restraint during the course of his education, in order to conserve his energies and remain focused on his immediate goal of mastering his subjects. The students practiced celibacy and self-restraint as a part of their obligatory learning, following the example of *Brahmā,* the creator god, who was associated with the qualities of celibacy and chastity. Secondly, they lived in the company of a teacher who was regarded as Brahman in human form. Since in either case they followed the ideals of Brahma or Brahman, they were referred to as *Brahmacārī* followers of *Brahmā* or *Brāhmaṇa*.

With some exceptions here and there, these rules were followed by students belonging to all the three upper castes.

i. Obedience to the teacher, entire family members and other elders in society.

ii. Take a bath daily, purification of mind-body, offer libations of water to gods, sages, ancestors, and spirits and pour fuel into sacred fire, study of holy scriptures and recite the verses till the mastery.

iii. A student is not allowed to cooking of own food. It is the duty to go out daily and beg for food, only from the people of merit, who are knowledgeable in the Vedas, righteous and not committed to the mortal sins.

iv. Practice of self-restraint; get away from honey, meat, perfumes, garlands, spices, women and acidic food. Make a refrain from singing, dancing and playing musical instruments.

v. Cultivation of virtues by controlling of sensual desires, anger, and greed. Avoidance of injury to living creatures, gambling, idle disputes, backbiting lying, looking at the touching woman and hurting others.

The above said stage of life was spent almost entirely in the *Gurukulas* with the purpose of mastery of the Vedas and other scriptures and acquiring the knowledge of *Brahma* through cultivation of virtues. Besides, sublimation of sexual energy was considered essential to develop the faculties of the mind in a student such as memory and comprehension and make him worthy of higher learning. After successful comple-tion of their education, by mastering either all the Vedas or at least one of them, the students were permitted by their teachers to leave them and return to their homes. The student's return to home was usually marked with a ceremony in which he presented his master with a gift such as a field, gold, a cow, a horse, a parasol and shoes, a seat, grain, (even) vegetables, or whatever was pleasing to the teacher. The next stage called *Gṛhastha* (the stage of a householder).

2. Gṛhastha (the stage of a householder)

The stage of *Gṛhastha* begins when a student returns home after successful completion of his education, without breaking rules, and takes a ritual bath. The ritual bath marks the beginning of his life as a snataka, which marks the period of transition from a student to a responsible young adult, ready to assume full responsibilities as a householder. In ancient times the snataka brahmanas, who just completed their education but were not yet married or initiated into household duties, enjoyed good reputation. The following duties are prescribed for a householder.

i. The performance of various daily, monthly and annual sacrifices called *Brahma-yājña, Devayājña, Pitr-yājña, Bhūtayājña and Manuśya-yājña: i.e.* sacrifice to Brahman, gods, ancestors, lower creatures and human beings respectively. The offering of food and water to all of these daily as per personal capacity.

ii. Invitation and services to guests and obligatory duties as householder during the day, month and year as per social standing.

iii. Opting the right profession as per the choice, according the *Varṇa* without deep attachment of physical desires.

iv. Respect towards the teacher, parents and others.

v. Look after his wife, keep her happy, and she in turn should support him in the discharge of his obligatory duties, remaining patient, self-controlled, and chaste and never doing anything that might displease him, whether he was alive or dead.

The life of a householder places enormous responsibility on people, making them work for their temporal and spiritual goals, without sacrificing their higher aims and without succumbing to the temptations of materialistic life, living in a society that regards personal possession as a mark of one's success and achievement. It is like walking on a unsafe path, where the chances of faltering are higher and the consequences of karmic sin greater. The *Bhagavad-gītā* therefore rightly advises people to perform their obligatory duties with a sense of sacrifice and as an offering to God, accepting Him as the Real Doer and without seeking the fruit of their actions. *Vāna-prastha* is the next stage for a person.

3. Vānaprastha (stage of a forest dweller)

Vānaprastha is the life as a forest dweller. According to Manu, when a householder sees his wrinkled skin, white hair, and grandsons, it is time for him to retire into a forest, to begin a life of detachment and gradual withdrawal from the distractions and attractions of the external world, either by entrusting his children to his wife, after making provision fo their sustenance, or accompanied by her, leaving behind all his possessions. Technically this is the stage of retirement. It distinguishes him from a *saṅyāsī* is his use of sacrificial fire, which he carries along with him into the forest, and his performance of the five daily sacrifices. During this phase, he is advised to practice austerities and remain celibate. The life of a for-

est dweller is difficult and challenging because it makes a great demand on the part of an individual, who is accustomed to a certain way of life and comforts, to make necessary adjustments in order to fit him into a life of hardship and suffering. The following rules are prescribed for a forest dweller. We may write down these duties as below:

i. He may live in a dwelling place of a hermitage. Take pure food: fruits, herbs etc. only to exist, wear tattered garments, hair should be unclipped.

ii. Give alms according to his ability, and honor those who come to his hermitage by offering them water and fruits etc.

iii. He should be alert while privately reciting the Vedas, patient in the face of hardships, friendly towards all, stable in his mind, generous in giving gifts without ever accepting them, and show compassion towards all living creatures.

iv. He should eat vegetables that grow on dry land or in water, flowers, roots, and fruits produced by trees and oils extracted from forest-fruits. He should avoid honey, flesh, and mushrooms growing on the ground or elsewhere and certain fruit and vegetables. He should also avoid food produced by cultivation or grown in a village, however hungry he may be. He may eat anything that is cooked or ripened by time. After collecting his food, he may eat it either in the day only or in the night only, but not more than once. After eating food, he should promptly clean the vessel in which he collected or prepared the food. He may store food sufficient up to six months.

v. He is also expected to train himself physically and mentally by various exercise and making his austerities harsher and harsher day by day. He may either roll about on the ground, or stand during the day on tiptoe or alternately stand and sit down. In summer he should expose himself to the heat, during the rainy season live under the open sky, and in winter be dressed in wet clothes. In addition to the austerities, he must study the various sacred texts contained in the Upanishads.

As the time passes by, a person who is leading the life of a forest dweller should gradually turn himself into a complete ascetic so that he begin his fourth and final phase as a sanyasin or renouncer.

4. Saṅyāsa (stage of renunciation)

This is the last stage of life of a person; in which one is advised to live like a mendicant or an ascetic, renouncing everything, including the sacrificial fire and the five daily sacrifices. It is difficult to say when exactly the *Vānaprastha* ends and the *Saṅyāsa* begins because a person is advised to transform himself gradually from a forest dweller into a fully fledged ascetic by increasing his austerities and making them harsher and harsher to the point where he becomes indifferent to the vicissitudes of life. However what distinguishes the two phases is the use of fire. A person who enters the phase of *Saṅyāsa* is advised to perform a special ceremony and withdraw the sacrificial fire into himself so that he himself becomes an embodiment of fire that manifests itself as a radiant spiritual energy (tapas). During this phase a *Saṅyāsi* is advised to become completely detached from all worldly activities and possession and become a wanderer, subsisting on alms, controlling himself and not hurting any animal. He should beg only once in a day, in a place where no kitchen smokes is seen, and subsist on meager food, just to keep himself alive. By eating little, and by standing and sitting in solitude, he is advised to restrain his senses from the sense objects. By the restraining his senses, by the destruction of love and hatred, any by abstaining from injuring the creatures, he should make himself fit for immortality. He should contemplate upon death, transmigration of men, conditions of after life, and possibilities of future lives and so on. By deep meditation, he has to recognize the subtle nature of the supreme Soul and its presence in all beings, both the highest and the lowest. He should conduct himself in such a way that no harm is done to other beings, either intentionally or unintentionally. According to *Manusmṛti*, "By not injuring any creatures, by detaching the senses from objects of enjoyment, by the rites prescribed in the Veda, and by rigorously practicing austerities," he has to overcome the dualities of life, such as pain and pleasure, love and hatred, joy and sorrow and attain freedom from the circle of births and deaths.

Part III

Relevance of Āśrama Dharma in Modern Perspective: Efficiency, deficiency and Suggestions

These four stages symbolically represent the divinity in the following manner:

Brahmā	**Brahmacarya**
Viṣṇu	**Gṛhastha**
Śiva	**Vānaprastha**
Īśwara (Saguṇa Brahma)	***Saṅyāsa***

The four parts of the Vedas also can be compared to these four stages as shown below:

Samhitās	**Brahmacarya**
Brāhmaṇas	**Gṛhastha**
Āraṇyakas	**Vānaprastha**
Upaniṣadas (Vedānta)	***Saṅyāsa***

The Four stages of human life are also meant to deal with the imbalance of the qualities of *Prakṛti,* namely *Sattva, Rajas* and *Tamas,* which is responsible for the delusion of the soul. In each stage of life, a particular quality of nature becomes predominant thereby giving us an opportunity to deal with in appropriately.

Develop *Sattva*	***Brahmacarya***
Control *Rajas*	***Gṛhastha***
Control *Tamas*	***Vānaprastha***
Overcome the effects of qualities	***Saṅyāsa***

The following details describe; how a person can observe these four stages in the present day world.

***Brahmacarya* (As Student)** – Study and acquire some degree, skill or expertise in some field that is in harmony with a person's inner disposition.

***Gṛhastha* (As householder)** – Marry, rear children, performance of responsibilities towards parents, wife, children, relations, friends, organization, society and world in general. Treat all life as sacred and be philanthropic.

***Vānaprastha* (As a retiree)** – Evaluation and revision of personal merit of life. A thought process should be run about the obligatory duties towards family and relatives? Is the person in position to showdown, to withdraw and spend more time in mentally satisfying and spiritually uplifting tasks? It should be remember that it is not an escape but a kind of obligatory retirement for a higher cause.

***Saṅyāsa* (The last phase)** – This is the phase of complete withdrawal. A person has seen it all and enjoyed the whole life. It is time to sit and be relax; person reminisce, and look at life as if in a film and draw into self-attention and thoughts, It is time to wake up the God in you.

Conclusion

It is also difficult to say how strictly the model of life represented by the four *Āśramas* was followed in *Vedic* society. We have literary evidence to suggest that in most cases the first two phases of life were followed in letter and spirit, namely that of a student and householder, while we are not certain of the remaining two.

Finally, the *Āśrama-dharma* was in ideal vision based on certain *Vedic* ideals and philosophical notions. If we set aside the caste

based prejudices and elements of orthodoxy referred in the law books and look afresh at the overall concept and the broader framework of life it envisages from a spiritual, moral and social point of view, we find the four stages of human life to be a perfect fit for any life style and in any age. It can be as useful today as it was thousands of years ago. In western societies, it is common for old people to work well into their 70s in order to support their life styles. Governments are forced to spend huge amounts of money on social security and in providing health care for the old and the retired. In the eastern societies young people, caught up in the wheels of economic development, are accused of falling moral standards and ignoring their parents. Part of the problem stems from the fact that people want to extend their lives as householders and do not want to withdraw from life or reduce their necessities or control their desires. They cannot overcome their attachment with the attraction of life or the comforts it seems to offer. Since the resources are limited and the population is constantly increasing, any system can only support so many people it is designed to. If people refuse to retire and new people keep adding up, it would put severe strain upon our resources and bring our systems to a grinding halt. The present crisis in the US healthcare system is one good example. If people withdraw from active life after a certain age and prepare themselves for their afterlives by practicing austerities, reducing their wants and desires and contemplating upon God and higher spiritual ideals, it would do a great deal of good to society in the long run.

Reference books:

1. *Manusmṛti*
2. *Śrimadbhagvadgītā*
3. Apte, Vaman Shivram, Sanskrit-Hindi Dictionary, Ashoka Prakashan, Delhi, 2012 pg.167
4. Pandey, Dr. Vraj Kumar, Encyclopedia of Indian Philosophy, Anmol Publication, New Delhi, 2007
5. Dasgupta, S.N., A History of Indian Philosophy vol.I, MLBD, Delhi, first Indian Edition 1975, pg. 12
6. Mishra, Srigangadhar, translator Dr. Gaurishankar Mishra, Vedic evam Vedottar Bhartiya Sanskriti, Chaukhambha Surbharati Prakashan, Varanasi, 2010

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (343-347) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

Yoga and the Indus-Saraswati Civilization

-Prof. Rakam Singh Sandhu
Deptt. of Physical Education
K.U. Kurukshetra

-Dr. Kamlesh Sandhu
Principal, R.K.S.D. College of Education,
Kaithal

Abstract

The aim of the study is to know the importance of "Yoga" from the ancient period to present time which has been part and partial of human life. It is through yoga, man get rid of excessive tension, worries, anxiety, stress and the suffering of the world.

Yoga since the ancient period has tremendous influence on human life as it was well said Maharishi Patanjali "Yogachitta-vrittinirodhah" meaning thereby yoga control of sensory, motor organs and mind of the worldly objects.

Indian civilization is concentrate to be one of the oldest civilizations of the world that gave rise to religion like Hinduism, Buddhism and Jainism. At the same time the Indus-Saraswati civilization produce unparallel philosopher and great spiritual leader also. Ancient yogic history has divided into four parts namely Vedic Yoga, Pre-Classical Yoga, Classical Yoga as well as Post-Classical Yoga.

Introduction

Yoga means to yoke, to unite, to bind, to link, to connect or to merge. As yoke joins two bulls together, the yoga unites body and mind together. The merger of soul with God, and the experience of oneness with him is yoga. It is possible only through the control over sense organs through continued practice and and detachment. According to the great sage Maharshi Patanjali, yoga is "*Yogaschittavrittinirodhah*", the withdrawal of sense organs from their worldly objects and their control is yoga.

The aim of man's life is to get ride of worries, anxieties and sufferings of world and to achieve peace and bliss. To get rid of

tempting delusions, sorrow and pains of world there are different path of yoga namely Bhakti yoga, Karma yoga, Dhyana Yoga, Jnana yoga, Hatha yoga and other yoga. The paths may be different but ulitimate aim is the same. Our body has been called the temple of God. According to Shankracharya "We can see the image of God in our own body if maintained with purity and free from diseases." Just us spotless mirror gives clear reflection, the body and mind if maintained purity and health can lead up to success. Yoga is a science of physical and mental control. It is a system of self-renewal of mind and body. It is a mean of acquiring a slim supple and healthy body. It can be a way to achieve inner tranquility. It is also a path to great spiritual attainment. Maharshi Patanjali has given eight stages of yoga. They are Yama, Niyama, Asana, Pranayama, Pratyahara, Dharana, Dhyana and Samadhi.

Yoga and the Indus-Saraswati Civilization

This means that yoga is the product of a mature civilization that was unparalleled in the ancient world. Think of it! As a yoga practitioner you are part of an ancient and honorable stream of tradition, which makes you a descendant of that civilization at least at the level of heart. Many of inventions rightfully belong to what is now known as the Indus-saraswati civilization, which evolved out of a cultural tradition that has reliably been dated back to the seventh millennium B.C. in turn it gave rise to the great religious and cultural tradition of Hinduism but indirectly also to Buddhism and Jainism. India's civilization can claim to be the oldest enduring civilization in the world. Its present day-problems should not blind us to it glorious past and the lessions we can learn from it. Yoga practitioners in particular can benefit from India's protracted experimentation with life, especially its explorations of mysteries of mind; The Indian civilization has produced great philosophical and spiritual geniuses who between them have covered every conceivable answer to the big questions, which are relevant today as they were thousands of years ago.

The history of Yoga can conveniently be divided into the following four broad categories:

* Vedic Yoga
* Pre-Classical Yoga
* Classical Yoga
* Post-Classical Yoga

These categories are like static snapshots of something that is actually in continuous motion-the "march of history."

The yogic teachings found in the above mentioned Rig-Veda and the other three ancient hymnodies

are known as Vedic Yoga. The Sanskrit word Veda means "Knowledge". This collection is in fact the fountain head of Hinduism, which has around one billion adherents today.

The other three Vedic hymnodies are the Yajur Veda, Sama Veda and Atharva Veda. The first collection contain the sacrificial formulas used by the Vedic priests. The second text contains the chants accompanying the sacrifices. The third hymnody is filled with magical incantations for all occasions but also include o number of powerful philosophical hymns.

It is clear from what has been said thus far that Vedic-Yoga – which could also be called Archaic Yoga- was intimately connected with the rituals life of ancient Indians. It revolved around the idea of sacrifice as a means of joining the material world with the invisible world of spirit. In order to perform the exacting rituals successfully, the sacrifices had to be able to focus their mind for a prolonged period of time. Such inner focusing for the sake of transcending the limitation of ordinary mind is the root of yoga.

When successfully, the Vedic yogi was graced with a vision or experience of transcendental reality. A great master of Vedic yoga was called a 'Seer'--- in Sanskrit 'Rishi'. The Vedic seers are able to see the very fabric of existence, and their hymns speak of their marvelous intuitions, which can still inspire us today.

Pre-Classical Yoga

This category covers an extensive period of approximately 2,000 years until the second century A.D. Pre-Classic yoga comes in various forms and guises. The earliest manifestations were still closely associated with the Vedic sacrificial culture, as developed in the Brahmanas and Aranyakas. The Brahmanas are Sanskrit texts explaining the Vedic hymns and the rituals behind them. The Aranyakas are ritual text specific to those who chose to live in seclusion in a forest hermitage.

Yoga comes into its own with the Upanishads, which Gnostic texts expounding the hidden teaching about the ultimate unity of all things. There are over 200 of these scriptures, through only a handful of them were composed in the period prior to Gautama the Buddha (fifth century B.C.). These works can be likened to the New Testament, which rests on the old testaments but at the same time goes beyond it.

One of the remarkable yoga scriptures is the Bhagavad-Gita, of which the great social reformer Mahatma Gandhi spoke as follow: When disappointment stares me in the face and all alone I see not one ray of light, I go back to the Bhagavad-Gita. I find a verse here and a verse there and I immediately

begin to smile in the midst of overwhelming tragedies- and my life full of external tragedies–and if they have left no visible, no indelible scar on me, I owe it all to the teachings of Bhagavad-Gita. (**Young India, 1925, pp.1078-79**).

In its significance, this work of only 700 verses perhaps is to Hindus what Jesus sermon in the mount is to Christmas. Its message, however, is not to turn the other cheek but to actively oppose evil in the world. In its present form the Bhagavad-Gita was composed around 500 B.C. and since then has been a daily inspiration to millions of Hindus.

Pre classic yoga also comprises the many schools whose teachings can be found in India's two great national epics, the Ramayana and the Mahabharata. These various pre-classic schools developed all kinds of techniques for achieving deep meditation through which yogis and yoginis can transcend the body and mind and discover their true nature.

Classical Yoga

This label applies to the eightfold yoga–also known as Raja Yoga–taught by Patanjali in his Yoga-Sutra. This Sanskrit text is composed of just fewer than 200 aphoristic statements, which have been commented on over and over again through the centuries. Sooner or later all serious yoga students discover this work and have to grapple with its terse statements. The word sutra means literally 'Thread'. Here it conveys a thread of memory, an aid to memorization for students eager to retain Patanjali's knowledge and wisdom.

The Yoga-Sutra was probably written sometime in the second century A.D. The earliest available Sanskrit commentary on it is the Yoga-Bhashya attributes to Vyasa. It was authored in the fifth century A.D. and furnishes fundamental explanations of Patanjali's often cryptic statements.

Patanjali, who is by the way often wrongly called the “Father of Yoga”, believed that each individual is a composite of matter and spirit. He understood the process of Yoga to bring out their separation, thereby restoring the spirit in its absolute purity. His formulation is generally characterized as philosophical dualism. This is an important point, because most of Indian philosophical system favors one of the other kind of non-dualism: the countless aspects of forms of empirical world are in the last analysis the same “thing”- pure formless but conscious existence.

Patanjali's writing also known become the basis for a system referred to as “Ashtanga Yoga”. This eight-limbed concept derived from the 29th sutra of 2nd book, and is a core characterized of practically every Raja yoga variation taught today. The Eight limbs are:

1. Yama: (The five "Abstntenious"): Ahnisa (non-violence), Satya (Truth, non-lying), Asteya (non-stealing), Braham-charya (Non–sensuality, celibacy) and Aprigraha (non-possessiveness).
2. Niyama (The five observances): Shauch (purity), Santosh (Contentment), Tap (austerity), Svadhyay (study of vedic scriptures to known about God and the soul) and Ishvara-pranidhan (Surren-der to God).
3. Asana: Literally means Seat. And Patanjali's sutra refers to the seated position used for meditation.
4. Pranayama ("Suspended Breath"): Prana, breath, ayama, to restrain or stop. Also interpreted as control of life force.
5. Pratyahara (Abstraction): Withdrawal of sense organs from external objects.
6. Dharana (Concentration): Fixing the attention on a single object.
7. Dhyana (Meditation): Intense contemplation of nature of object of meditation.
8. Samadhi (Liberation): Merging consciousness with the object of meditation.

Bibliography

1. **Broad, W.J. (2012),** The Science of Yoga. New York: Simon & Schuster press. p. 13-14.
2. **Dasgupta, Surendernath (1975),** A History of Indian Philosophy 1. Delhi, India: Motilal Banarsidass. P. 226.
3. **Dasgupta, Surendernath (1975),** A History of Indian Philosophy 1. Delhi, India: Motilal Banarsidass. P. 227.
4. **Fuerstein George (1988),** "Introducing Yoga's Great Literary Heritage", Yoga Journal (January-February). (p.78)
5. **Fuerstein George (1988),** "Introducing Yoga's Great Literary Heritage", Yoga Journal (January-February). (p.80)
6. **Fuerstein George (1988),** "Introducing Yoga's Great Literary Heritage", Yoga Journal (January-February). (p.81-82).
7. **H. Kumar Kaul (1992),** Yogasnas for Every One, (New Delhi: Surjeet Publications, p.1
8. **Stuart Ray Sarbacker (2005),** Samadhi: The Numinous and Cessative in Indo-Tibetan Yoga, SUNY Press, pp. 1-2.
9. **Sullivan George (1979),** The Complete sports Dictionary, New York: Scholastic Book Services, p. 1-6.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (348-355) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

Finding the Fundamental Import of the Veda –: Study based on some early Vedic commentaries

-Dr. T. Ganesan

French Institute of Pondicherry,
Pondicherry

The entire Vedic corpus which is an enormous body of literature comprising both the verses (called Ṛk) and prose passages (generally known as brāhmaṇa) since the hoary past is enticing the human beings to fathom its depth and comprehend its meaning. From the very early period it has been the unquenching thirst of many great sages to fathom the innermost import of the Veda-s. Sages such as Yāska have attempted it by composing such texts as the Nirukta that elucidates many of the words that constitute the Veda. Then comes Skandasvāmī, and Veṅka-amādhava, probably the earliest commentators, (circa 10-11th century) and then the duo of the medieval peroid, Sāyaṇa-Mādhava who had extensively commented on the many parts of the Veda-s including the brāhmaṇa-s and the āraṇyaka-s.

There were also others who attempted to draw out the basic philosophy and the supreme Reality expounded in the Veda-s. One such early medieval author is Sudarśan-ācārya better know as Haradatta.

He has composed the Tātparyasaṃgraha also known as Caturvedatātparyasaṃgraha (better known as Śrutisūktimālā) in 151 verses where he examines many of the Vedic passages with their outer meaning in order to bring out the inner import. He concludes that the entire Vedic corpus speaks only about Śiva as the supreme reality while other deities are only passingly referred. There is a published commentary from the pen of one Śivaliṅga-bhūpati, a royal personage belonging to late Chola dynasty of Andhra which is a very detailed one; another commentary by Īśvarabha--a exists of unknown date exists in manuscripts.

Manusmṛti boldly proclaims that the dharma as expounded in the Veda (śruti) and the smṛti are the highest and he who conducts

himself as taught in those scriptures attains gretest fame here in this world and highest good after death in other worlds:

श्रुतिस्मृत्युदितं
धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति
प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥

Again, the unquestionable authority of the Veda on all matters is again reinforced by the following:

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो
धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये
ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥

Since man cannot comprehend either by direct perception (pratyakṣa) or by inference (anumiti) those subjects that are beyond the ken of sense organs, only the Veda-s make him know those subjects as said by Manu:

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा
यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन
तस्माद्वेदस्य वेदता॥

Under the feet the brahmin (agrajanmā) who is born in the holy land of Brahmāvarta situated within the territory that lies between the river Sarasvatī and Dṛṣadvatī all men of the world learn their dharma-s and conducts.

एतद्देशप्रसूतस्य
सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्
पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

No school of orthodox philosophy will be recognised as valid and acceptable by an Aryan of cultured mind if it is not supported by the authority of the Veda-s.

Now what is the underlying philosophical import of the Veda? According to them in there an unique fundamental reality? As an answer we can definitely say yes. According to the śrauta and the smṛti writers who have given us guidelines to interpret the Veda, the Veda broadly comprises mantra which are set in metrical compositions and the brāhmaṇa that are is prose.

The profound discussions about the ultimate reality behind the universe, its special characteristics and the method to realise it are all reserved for the section called upaniṣad-s, which we all know, form part of the prose section.

Even then the ṛṣi-s are so profound that they proclaim एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। after worshipping Agni, Indra, Varuṇa. That unique reality-Ekam-is the one in which everything in the universe is completely woven and which is the unshakable support. Not only that, even the gods are happily supported by that reality and that exists forever.

यस्मिन्निदं सं
च विचैति सर्वं यस्मिन्

देवा अधि विश्वे निषेदुः।
तदेव भूतं तदु भव्यमान-
मिदं तदक्षरे परमे व्योमन्॥

After describing the greatness of this supreme God, who is the God of gods and all-powerful the Mahānārāyaṇopaniṣad calls it Puruṣa, Mahādeva and various divine forms such as Tatpuruṣa, Nandikeśa, Sūrya, Vakratuṇḍa, Mahāsena, Nārāyaṇa, Kātyāyanī (Goddess Śakti) etc. are all described as His so many manifestations. Therefore it is clear that the Ṛgveda statement एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। is corroborated and stated clearly that 'ekam' is none other than Śiva, the god of all-auspiciouness. To realise Him one has to have certainly His grace and only with that a devotee can directly perceive Him. He is 'dhātā' and Īśa:

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा
गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः
प्रसादान्महिमानमीशम्॥

That Rudra is beyond the world and surpasses it:

विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः।

In all the Veda-s it is the Rudra who alone is addressed as 'maharṣi' and no other god. Finally the Mahānārāyaṇopaniṣad states beyond any doubt:

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म
पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्।
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं
विश्वरूपाय वै नमो नमः॥

The epithet 'virūpākṣa' applies only to Śiva and to no other god. Further, He is the 'Puruṣa' and He is addressed in the entire puruṣa-sūkta.

One of the earliest commentators on the Veda, Bha--abhāskara very clearly comments on these mantra-s and without any scope for doubt states that it is Śiva who in His most ancient form of Ardhanārīśvara appears as both black and brown– kṛṣṇapiṅgala— and these mantra-s are the most authoritative ancient account of Śiva's form of ardhanārīśvara.

'Ṛtam'—that which blesses the universe and which is full of only auspicious qualities (śivaika-svabhāva), 'param'–that self same supreme Reality is the 'puruṣa'— fills all and everything; while becoming the many selves, the same highest Brahma appears as 'black and brown' (kṛṣṇapiṅgala), which is the supreme highest form namely, half-male and half-female form (strīpuṃsaśabalākāram better will known as the ardhanārīśvara) and which is three-eyed (virūpākṣa).

From the above referred interpretation of Bh--a Bhāskara, we clearly conclude that the highest reality conceived and mentioned by Brahma in the entire Vedic corpus (of which Taittirīya

Āraṇyaka is an instance) is nothing but Śiva.

Bha--a Bhāskara also cites[1] an ancient authoritative verse which states beyond doubt that the word Brahma means Śiva and Śiva only:

अग्नेरौष्ण्यं यथा
यद्वदादित्यस्य प्रभापि च।
परमात्मा शिवादन्यो
नास्तीति मुनयो विदुः॥

For, we have another mantra of the Taittirīya Āraṇyaka that clearly states that it is Śiva who is the puruṣa:

सर्वो वै रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमो अस्तु।
पुरुषो वै रुद्रः सन्महो नमो नमः।

विश्वं भूतं भव्यं भुवनं चित्रं बहुधा
जातं जायमानं च यत्।
सर्वो ह्येष रुद्रस्तस्मै
रुद्राय नमो अस्तु।

In the commentary of Bha--a Bhāskara, 'sarvaḥ' means the supreme self (paramātmā) who existing in eight forms (aṣ-amūrti) pervades the entire universe without omission, is the Rudra–He brings every self unto Himself and merges into Himself during the end of the world.

Śiva's unlimited glory is further explained in the Śatarudrīya section of the Kṛṣṇayajurveda-saṃhitā where we get the greatest of all the mantra-s, the pañcākṣarī-mantra.

While commenting on the Taittirīya Āraṇyaka mantra, 6:1:4,

पुरुषस्य विद्महे सहस्राक्षस्य
महादेवस्य धीमहि।
तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

Bha--a Bhāskara clearly the name Mahādeva as "He, who, existing inseparably with the Goddess (Devyā saha) and controlling the Kriyāśakti, blesses the entire universe". He explains Rudra as the 'controller of Jñānaśakti'.

These views are ably and firmly explained in one of the medieval texts called Śrutisūktimālā or Tātparyasaṃgraha which, in fact, gives the essential and fundamental import (tātparya) of the entire Veda. The beginning verse says,

यस्मै नमो भवति
यस्य गुणाः समग्रा
नारायणोपनिषदा
यदुपासनोक्ता।
यो नः प्रचोदयति
बुद्धिमधिक्रतौ यः
तं त्वामनन्यगतिरीश्वर संश्रयामि॥

He further says, the Veda is authoritative (pramāṇya) by itself and does not require any other support to be so. That Veda which inquires the fundamental reality of the universe in unbiased and objective way and it comes to the conclusion that it is Śiva the greatest god as the supreme reality. According to Haradatta the entire Mahānārāyaṇopaniṣad explains the upāsanā of Śiva and His glory. For further corroboration one may

resort to the Kaivalyopaniṣad. There we have the mantra,

तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं
चिदानन्दरूपमद्भुतम्।

Which glorify the supreme being in unequivocal terms. But who is that highest ever-existing being? For that the next mantra answers:

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं
नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥

Haradatta continues:

मन्त्रार्थवादविधिभिर्बहुधा विभक्तो यः
शब्दराशिरनपेक्षितया प्रमाणम्।
सोऽयं विमत्सरविमृष्टपदार्थतत्त्वो
वेदः प्रकाशयति केवलमीश्वर त्वाम्॥

The very word 'Īśvara' in the Veda does denote only Śiva and none else and this is special to Him only as the name Mahādeva. In fact this is the conclusions of the nighaṇ-u texts.

The next point that Haradatta refers to is that the very word īśvara denotes directly only to Śiva because it is Śiva who possesses unlimited power as He is the only agen of creation, etc. while other gods such as Brahmā, etc. are said to be the agents of those actions only under your grace and delegation. This view is also clearly stated by no less a person than the poet Kālidāsa in his invocatory verse of his play Vikramorvaśīyam:

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं
व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्य-
विषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।

We may also note that the highest Puruṣa, namely, Brahma discussed in the Upaiṣad-s (Vedānta) is none else but Śiva who is called Īśvara in all the scruptures. If we take the views of Kālidāsa who had definitely preceded Śaṃkara then it is possible that early vedānta system considered Śiva, the supreme Puruṣa as Brahma, the highest reality and that the early Vedānta (pre-Śaṃkara?) was a sort of Śivādvaita in its outlook which was changed later by Gauḍapāda and Śaṃkara with emphasize on Brahma without attribute (nir-guṇabrahmavāda). For, Kālidāsa does not state without scriptural support: The passage of the Ṛgveda,

सर्वो वै रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमो अस्तु।
पुरुषो वै रुद्रः सन् महो नमो नमः।

Is a clear statement that the highest reality which is immanent (sarvaḥ) is Rudra who is the Puruṣa.

Not only Śiva possesses the supreme unlimited power but Brahmā, Viṣṇu, and other gods also derive their limited power only from Śiva by worshipping Him especially His Liṅga form. The passage of the Ṛgveda is referred by Haradatta.

तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र
यत्ते जनिम चारु चित्रम्।
पदं यद्विष्णोरपमन्निधायि
तेन पासि गुह्यं नामगोनाम्।

strongly proves this view. The Droṇaparva of the Mahābhārata in its passage,

ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वं
विष्णोर्दानवमर्दनम्।
स्वर्गाधिपत्यमिन्द्रस्य
शिवपूजाविधेः फलम्।

corroborates this point.

The Ṛgveda passage

स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे
क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
एभिः शिवस्ववां एव यावभिर्दिवः
सिषक्ति स्वयशाः निकामभिः॥

according to Haradatta, unambiguously states that all the salutations and worship done to Marut and other gods goes directly to Śiva as He is the only supreme person eligible to receive them.

Haradatta refers to another Ṛgveda passage

मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा
दुष्टुती वृषभ मा सहूती।

Where the sacrificer ardently prays to Śiva that He may not be angered because of the sacrificer's invocation of Him along with other gods implying thereby that the other gods should not be considered as equal to Śiva. There are so many passages from the purāṇa-s such as the Bhāgavatapurāṇa which explain this clearly.

Further, among the eight well-known names of Śiva, Bhava, Śarva, etc. the Śatapatha-brāhmaṇa states that Śiva was called Bhava by I think, bāhlīka-s, Śiva by others of far-western countries, Īśvara by still others and so on. This ancient authoritative statement clearly shows that worship of Śiva was not only confined to the present day Bhārata country alone; He was so much venerated by people of many countries which spread upto ancient Persian and Greek empires in which the vedic culture was widespread in anicient times.

Coming to our texts such as the Śrutisūktimālā the author Haradatta further says that the names or in fact, the adjectives– parama and mahān–attached to such names as īśvara and Śiva only denote Śiva and none else. Thus we have parameśvara, maheśvara applied only to Śiva and to no other god. This is very much elaborated in the purāṇa-s. The yoga attained by Kṛṣṇa by intense meditation on Śiva is spoken by him in the Bhagavadgītā to Arjuna. His own statement पश्य मे योगमैश्वर्यम्। clarifies this.[2]

The ten divine qualities enumerated in the verse of the Kūrmapurāṇa 9th adhyāya always exist in Śiva:

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं
तपः सत्यं क्षमा धृतिः।

द्रष्टृत्वमात्सम्बोधो
ह्यधिष्ठातृत्वमेव च।
आव्ययानि दशैतानि
नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे।

The same is exactly corroborated by Haradatta in the Śrutisūktimālā, 32:

सत्यं क्षमा धृतिरधिष्ठितिरात्मबोधः।
सृष्टिर्विरागतपसी मतिरीश्वरत्वम्॥

न त्वद्वियन्ति न कदाचिदपैति धर्मः।

The Śvetāśvataropaniṣad opens dramatically with a deep discussion over fundamental questions among the ṛṣi-s: Who is the ultimate source of this universe? Who is its cause? How do creatures live after being born?, etc.

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।

For this they have found out the answer; it was the Deva who is Hara and by whose inseparable supreme power the entire universe is created, moves about and by realising whom the individual self bound by fetters becomes free and experiences unlimited bliss.

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

And, who is this Deva? In reply we have,

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्व-
भावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

Who is that supreme Deva, all powerful and remover of all miseries?

Here is the answer:

य एको जालवानीशत ईशनीभिः
सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य
एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य
इमान् लोकानीशत ईशनीभिः।

A clarion call like this with utmost firm conclusion is not found with regard to other gods in the veda-s. The Śvetāśvataropaniṣad is the first ancient upaniṣad that very clearly and unequivocally identifies this Deva with Śiva=Rudra, the supreme reality. And as the śatarudrīya section of the Kṛṣṇayajurveda portrays it is Śiva who is sarvātmā—existing all-pervasive in all things—movable and immovable—that is the Highest supreme Brahma very much intended by the entire Veda. This has been very ably proved without any text torture or distortion by the commentary of Śrīkaṇ-ha on the brahmasūtra-s.

The method to realise that Śiva is again the major burden of the Śvetāśvataropaniṣad which is clear for anybody. The same is still more driven home with a strong declaration in the Atharvaśiras and the Atharvaśikhā upaniṣad-s.

In conclusion we can very well say that it is Śiva the highest and supreme brahma spoken in the entire Veda–saṃhitā and the upaniṣad-s, and that it is arrived at so clearly and directly without any recourse to text twisting or secondary meaning as some ācārya-s do. These very ideas were the basic and fundamental ones even in the Vedānta; this was mentioned by no less than Bhavya, a buddhist scholar of great merit in the 8th century. He says that the vedānta school in his time holds that Śiva to be the highest reality, brahma. Now who gave a twist and change to this idea which was so prevalent in 7-8th centuries that a Buddhist scholar refers? It is for scholars to decide and go into the subject analysing historically.

Footnotes

1. Ref. Bha--a Bhāskara's commentary on Taittirīya Āraṇyaka 5:14:26
2. Appayadīkṣita in his works such as the Bhāratatātparyasaṃgraha, Ānandalaharī clearly establishes this fact with more forceful arugments and scriptural support.

✦✦✦

हृदः सपत्नानां भिन्धि। –अथर्व. 19.28.3
शत्रुओं के हृदय चीर डाल।

व्याघ्रः शत्रूनभितिष्ठ सर्वान्। –अथर्व. 19.46.5
बाघ बन कर सब शत्रुओं को परास्त कर।

यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्तु।
जो तुझ पर आक्रमण करे वह पददलित होकर रहे।

त्वं तूर्य तरुष्यतः। –अथर्व. 20.105.1
जो तेरी हिंसा करने आये उसे मार।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (356-364) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

Atharvaveda & Human Psychology

-Dr. Shyam Lata Juyal

Prof., Dept. of Psychology, K.G.C.,
Gurukul Kangri University, Haridwar

-Nidhi Sharma

Research Scholar, Dept. of Psychology, K.G.C.,
Gurukul Kangri University, Haridwar

Of the four *Vedas,* the *Rigveda* seek to increase knowledge, the *Yajurveda* throws light on right type of deeds and duties the *Samveda* inspires to worship the Ideal Being and the *Atharvaveda* shows the way to know the individual psyche or self and also attain power in the world. R.C. Sharma says, "The *Rigveda,* the *Atharvaveda* blesses us for the other as well as for this world."

Atharvaveda is also known as the *Brahma* or *Atma Veda.* According to Max Muller, "*Brahma* meant originally force, will, wish and the propulsive power of creation. *Atma* means breath or spirit or self. *Brahma* itself is but self." *Atharvaveda* deals with both *Brahma* and *Atma,* it is more comprehensive then other *Vedas*.

According to Satavalekar, "*Atharvaveda* is specially related to *Atma* (soul) and *Mana* (psyche)." Satavalekar is of the view that by the *Atharvaveda,* we get knowledge of the soul and the ways to attain the energy of the soul (*atma-bal*) that is why it is known as *Atmaveda* also. The *Atharvaveda* shows the ways and means to do everything, for example curing illness, victory in war, defeat of enemies though the energy of *Mana* (psyche).

As far as the sociological aspect is concerned, *Atharvaveda* relates to the common folks, not the higher intellectual class. It narrates the fears and apprehensions of the general public and not the upper crust of society. The character, the behavior and the life style of common people are described in details. Those who fear the disease, death and the enemies those who want to woo ladies and those who believe other worldly creatures as the causes of diseases. They perform *Yajñas* for the welfare of all and also of themselves. They also resort to rituals to harm the enemies. In *Kaushika sutra* many such *mantras* are given for harming, for killing

etc.

The basic approach of *Athravaveda* is mental or psychological. Medicines are prescribed but are always accompanied by the *mantra* or mental content. Even for preparing the medicines digging, griding, prouding of herbs for medicines, separate *mantra* are provided.

Atharvaveda abounds in practical advice. It seeks to provide solutions to everyday needs and problems of the common man like snake–bite or pains of joints or fevers. The advices are for the attainment of *Brahma,* i.e. higher plains, then how to achieve *atmabal* (ego-strength) and at lower levels, how to vanquish the enemy or ward off invisible creatures like *rakshas* or *pishach*.

The approach of *Atharvaveda* is also integrative in the sense that it treats body, mind and soul as an integrated total entity. The means which strengthen the body also strengthen the mind. For example, the *Paushtikani sutras* pray for "the showering of blessings for a robust healthy body and mind" so that one may live upto a hundred *sharts* free of diseases and death.

Henry Lefever says, "whereas the *Rigvedic* poet loved to dwell upon the wonders and beauties and the greatness of the Gods who created and upheld the natural world, those of the *Atharvaveda* tend to dwell more upon the psychological qualities necessary in the sacrifice."

Thus, on the whole, the approach of *Atharvaveda* is psychological, practical and integrated.

Abnormal Behaviour in Atharvaveda

Before starting any discussion about abnormal behaviour in *Atharvaveda,* some points have to be kept in mind—

Atharvaveda deals with many subjects, and therapeutics is only one of the many subjects dealt with. Abnormal behaviour and its treatment is one of the many subjects. Its treatment is so brief that at times only hints are given. For explanation and elaboration of the subjects one has to go to the other sources of information. Sayanacharaya's commentary is very useful in this way.

The aim of *Atharvaveda*, as declared, is the welfare of humanity. It helps men to live a rich and life upto hundred years and then attain *Brahma*. Thus rules and regulations are given to live a full healthy life, and in this context come the diseases and herbal are suggested. It is in this context that therapeutics comes under the scope of *Atharvaveda*.

The approach and treatment to matter, thousands of years back, is of course different. To make it more intelligible it has to be put in modern term as far as possible. Modern term and concepts are to be fitted there, without distorting

the original matter.

Once we dive into the depths of *Atharvaveda*, we find gems of wisdom lying scattered there. We, quite simply, cannot ignore or underestimate the wisdom of those sages, who lived in jungles and meditated to find this wisdom, some four or five thousand years ago.

Though the reference to *rakshas* and *pishach* are found in *Atharvaveda*, these seem to be more symbolic terms. For example, the tiniest creatures *Krimi* are given the name *rakshas* so the term *rakshas* in *Atharvaveda* seems to symbolize all evil and undesirable elements.

The Basic Concepts

Atharvaveda contains some basic concepts which were taken up by *Ayurveda* and are prevalent even today among the practicing *vaidyas*. These concepts are—

The Guṇas

According to *Atharvaveda* the human body is composed of three basic *guṇas* or elements, viz., *vata* (wind), *pitta* (bile) and *kapha* (phlegm). From the birth these three elements are present in every human body in a certain balanced way. This equilibrium of elements has to be maintained throughout life. So, the equilibrium of these *guṇas* or elements means normalcy-no disease or disorder, while any disturbance or disequilibrium of these *guṇas* causes abnormal condition or disease.

Mental Health and Mental Disease

Like body, the mental structure also constitutes three elements *guṇas* or *vrittis* or the characteristics. These are called *sattva* (true, pure), *rajas* (erotic), *tamas* (the black, the low). These are the *gunas* or *vrittis* of the mind or means, and also found in a state of equilibrium. As soon as their equilibrium is disturbed, mental disorders emerge. Of theses three *vrittis, sattva* is pure and true. It never gets corrupted, Freud's *Rajas* denotes sensual pleasures, enjoyment. In Freud's terms it means Eros. *Tamas* literally mean blackness. It is lowest tendency of evil, of destruction—Thanatos in Freudian terms.

Although *sattva* is pure, true, but having only *sattva–vritti* is also not normal. *Rajas* and *tamas* may increase or decrease in degrees. In both the ways, when there is an excess or when there is a lack of these two *vrittis* the person becomes abnormal. Normality means having all the three *vrittis* in a balanced manner. A normal person must have *rajas* and *tamas vrittis* in them, but they should be balanced in the total personality. For Example, *Krodh* anger, is a *tamasik viritti* but a normal person must possess a certain degree of anger to fight against injustice to assert one's rights.

According to *Atharvaveda* the *doshas* or corruption or disturbances of *rajas* and *tamas* gives rise to mental diseases, hence these doshas have to be discouraged (VIII/2/1,9,12)[1].

On physical level the human body is made of three elements viz *vata, pitta, kapha* which must be in a certain balanced state for physical health and well being. Similarly on the mental level, the human personality has *sattva, rajas* and *tamas vrittis* which also must be in a balanced state for mental health and well being.

Every person has the physical *gunas* and mental *vrittis* but their degrees and combinations are different for each one and this different combinations gives the unique quality or individuality to a person. G.W. Allport in his famous trait theory also puts forward a similar view. According to Allport the traits are the same for all the individual but their combinations are different and this difference imparts uniqueness to personality.

The *gunas* and *vrittis* are found in a balanced state in the normal persons, but when the balance is disturbed, abnormality ensues. Either excess or lack of a *guna* or *vritti* causes abnormality. In his famous book Psycho-dynamics of Abnormal Behaviour Brown also puts forward a similar view. According to Brown, "The chief tenet of modern psycho-pathology is that abnormal psychological phenomenon is simple exaggerations (i.e. over-developments or under- developments) or disguised, that is perverted developments, of normal psychological phenomena"[2].

Abnormal Behaviour in Atharvaveda

Atharvaveda treats mental behaviour in very broad terms. Many behaviour abnormalities are given in detail. The therapies have also been discussed. Let us look at these-

The two types of diseases are given, one, *adhi*- arising out of the body due to wrong diet etc. Second, *vyadhi*- arising out of *shapa* or curse or ill-will. The cure for *vyadhi* is given as mental peace and relaxation. We can compare the modern techniques of relaxation for tension reduction (1/7)[3].

Mana is always active always working. The best use of this active state can be by attaining self development and general welfare of people, by keeping *mana* engaged in meditetion. The *mana* may also suffer from imaginary fears. To ward off these fears *mantras* and rituals are used.

The *rishis* of *Atharvaveda* specially the seventh *sukta* know that we have to remove pain and disease common man wants relief from pain and anything which can alleviate suffering and pain can be

used as a medicine-*aushadh*. That is why these *rishis* did not hesitate in giving place to such rituals in the holy *Vedas* praying to *agni* to destroy *rakshas's* etc.

The first *kanda* 15th *sukta* is for *pushtikarma* or such activities which help in gaining health and long life (1/15)[4].

The second *kanda* is concerned with *bheshaj* (medicine) *deerghayu prapti* (attaining long life) *shap mochan* (liberation from curse) etc. It also discusses *kama shakti* or sex drive give *paushtikarma* (2nd 15/1-4)[5].

The third *kanda* deals with kings, kingdom, army as also with *shanti* and *paushtikarma*. It is interesting to note that it contains part of *vastu* also. The third *kanda* deals with *soumanasya* or godwill for all.

The fourth *kanda* deals with many subjects including *bheshaja chikitsa, rit-yajya* and *atma-vidya* or how to make *mana* strong.

The fifth *kanda* deals with many *samskaras* and the *punsawan samskara* is one of them.

The sixth *kanda* contains *dusswapna nasha,* or how to eliminate bad dreams, *soumanasya* or wishing for well-being, *mekhla bandhan* or tying or waist-band for protection. It also deals with *irshya* or *irshyalu* and gives methods to cure one of jealousy (6/18/1-3)[6].

In its reference to *bheshajaya,* the sixth *kand* suggests which medicines to take from earth, from rivers and from ocean. It also mentions *papavasana* or controlling sins as also *arishtkshayanam* or removing badness and ill will (6/29/1-3)[7].

The positive aspects of the sixth *kanda* are also interesting. One is suggesting means for a long life *dirghayu-prapti*. Then it prays to *varchas-jyoti*- "to let the divine light enter into us" that is the person or persons who are praying. Then there is *praspar chittaiki karana* which means people who are of similar hearts (attitudes) to have a conjugation or come together for the welfare.

The sixth *kanda* deals with bad dreams in some details. It states that, "may we be saved from *dusswapnas,* which arise from *anrit* or untruthful behaviour" (6/45/3)[8]. Then the dream is descirbed as neither living nor dead (i.e. neither conscious nor unconscious) and as creating wonderful images. 'We send these bad dreams to our enemies' (6/46/3)[9].

Dushswapnas are said to be immortal as they never die, but recur in some form or other.

Soumanasya-Keeping the mind at peace and well wishing-occurs at many places. It also means keeping harmony in body and mind, and having a balanced mind.

Medhavardhanam is a short of prayer, "may high intelligence

come to us or may our intelligence increase".

Of special interest to the subject-matter deals with *unmattattamochan* or getting relief from insanity. It describes in detail the behaviour of a patient suffering from *unmad,* how he blurbs crying. It may be due to *devansat* or *rakshaspari*-or due to *paps* sins committed by the patient. It asks the patient to be quiet. It also says that *Apsaras,* who cause *dusswapnas,* may make us well again (6/111)[10].

Similarly give a wish or prayer: may we be free of the binding of the *Pichachi* (6/112)[11].

Removal of bad deeds "O bad deeds go into the rays of the sun, or the smoke coming from the fire, or go to the fog" (6/113/1-2)[12]. "*Ishwara* purifies the *papas*-in the five sense organs in five organs of action, *mana* and *buddhi* in all the twelve places. Still if they (*papas*) reside in us, wise people will remove our pain with the use of *mantras*". *Unmochan* is being relieved from *papas* or sins (6/113/3)[13].

Soubhagya vardhan or creating or enhancing good luck (6-139)[14].

The seventh *kand* deals with soul and its upliftment. Here many goddesses are also named like *Aditi Poosha* etc.

The eight *kand* gives ways on how to get a long life, and destroying enemies and other subjects.

The ninth *kand* deals with variety of subject like *madhuvidya* eroticism, welcoming visitors, removing TB (*yakshma*) etc.

The tenth *kanda* is concerned with pollution of actions or the *Angirashi* techniques of sending back ominous objects or *kritya.* It deals with *Brahma prakashan* emergence of *Brahma* the divine light, and gaining victory over enemies, (note the divergence in the subjects).

This *kand* gives *manibandhan.* It is a defense method to ward off evil (like charm or *taveez*). *Manibandhan* is also supposed to help in gaining *ojas* and manliness. Then there is *Satgyan* and *ritgyam* which mean a good knowledge. The ancient *rishis* ask the question- "who is the basis of this world- *Sarvaadhaar* who created *akash prithvi* this....." and then answer, "The Lord", there are mainly praises of the Lord. The Gods mentioned are *Indra, Vishnu* mainly.

The Classification of Abnormalities in Atharvaveda

The abnormalities given in *Atharvaveda* can be classified in many ways. P.Arsh has classified the mental diseases discussed in *Atharvaveda* into two broad categories, the first is that of severe distrubances like unmad, and the second are the defects of mental processes, such as *krodh* (anger) *moh* (attachment) *shok* (depres-

sion) *dushswapna* or (bad dreams).

A more logical classification is given by Singh (1977)[15]. Dr. Singh considers it more feasible to classify the mental disorders given in *Atharvaveda* in three categories, viz., (1) severe disorders, (2) mild ailments and (3) the methods of personality improvement, integration and health.

The category 1-severe disorders-ranges diseases which are far removed from normality like *unmad*-This includes all the diseases known as psychoses and neuroses in modern terms. It inclues *Grahi* or (hysteria), *apasmar* (epilepsy), *manaspap* (schizophrenia), *bhaya* (phobia), *pap bhawna* (guilt and inferiority feelings).

The category 2-mild ailments-are deviations of normal mental processes and can be called neuroses in modern terms. They exist in normal behaviour, though in abnormal in larger degress than normal, for example *krodh*. These may also be character defects like *moh* or eroticism or emotional outbursts.

The last category of this classification by Singh deals with the positive means to improve personality and mental health. These have been given in *Paustikarni suktas* and some other *suktas* like *Samansayani*. These are concerned with improvement in momory and learning, *Atmabal* or energizing the ego and integration and harmony within the person. This is a special unique feature of *Atharvaveda* and all other Indian systems to give more importance to the positive side them to the negative side or disorders and diseases.

As seen from the above discussion *Atharvaveda* aims at synthesis. This synthesis is of body and mind, of various aspects of the mind and of psyche and cosmic energy *Atma* and *Parmatma* or *Brahma*.

The approach of *Atharvaveda* is therapeutic in nature. It is not diagnostically oriented. Symptoms and diagnosis have been neglected by the sage-authors of *Atharvaveda*. At least the two *Shakhas, Paippalād* and *Shaunak* which are available at present, deal with symptoms and diagnosis of mental diseases in a very sketchy way, while they are very rich in therapy. It may be that the *shakhas* which are not available might contain symptoms and diagnosis in more detail.

Reference:

1. आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः।।1।।
देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत्त्वा मृत्योरपीपरम्।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि।।9।।
आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः

पिशाचान्।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तमइवाप हन्मसि।।12।।

2. Brown, J.F. (1940). Psychodynamics of Abnormal Behaviour. McGraw Hill Co. Inc. London.

3. स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम्। त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ।।1।।
आज्यस्य परमेष्ठिन्जातवेदस्तनूवशिन्। अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान्वि लापय।।2।।
वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः। अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम्।।3।।
अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्। ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य।।4।।
पश्याम ते वीर्य जातवेदः प्रणो ब्रूहि यातुधानान्नृचक्षः।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम्।।5।।
आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे। दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान्वि लापय।।6।।
त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह। अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु।।7।।

4. सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्त्रिणः। इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि।।1।।
इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन्तिष्ठतु या रयिः।।2।।
ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः। तेभिर्मे सर्वे संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि।।3।।
ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च। तेभिर्मे सर्वै संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि।।4।।

5. यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः।।1।।
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः।।2।।
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः।।3।।
यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः।।4।।

6. ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्। अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि।।1।।
यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः।।2।।
अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्। ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव।।3।।

7. अमून्हेतिः पतत्त्रिणी न्ये तु यदुलूको वदति मोमेतत्। यद्वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति।।1।।
यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः। कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु।।2।।
अवैरहत्यायेदमा पपत्यात्सुवीरताया इदमा ससद्यात्। पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम्। यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान्।।3।।

8. यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि। प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात्पात्वंहसः।।3।।

9. यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति। एवा दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि।।3।।

10. इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति।
अतोऽधि ते कृणवद्भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति।।1।।
अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम्। कृणोमि विद्वान्भेषजं यथानुन्मदितोऽससि।।2।।
देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि। कृणोमि विद्वान्भेषजं यदानुन्मदितोऽसति।।3।।
पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः। पुनस्त्वा दुर्विश्वेदेवा यथानुन्मदितोऽससि।।4।।

11. मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात्परि पाह्येनम्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे।।1।।
उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रायस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान्।।2।।
येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित

उत्सितश्च।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व।।3।।
12. त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु।।1।।
मरीचीर्धूमान्प्र विशानु पाप्मन्नुदारान्गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान्वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व।।2।।
13. द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु।।3।।
14. न्यस्तिका रहोहिथ सुभगंकरणी मम। शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिशंन्नितानाः।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते।।1।।
शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम्। अथो निशुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर।।2।।
संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद। अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि।।3।।
यथोदकमपपुषोऽपशुष्यत्यास्यम्। एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर।।4।।
यथां नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः। एवा कामस्य विच्छिन्नं संधेहि वीर्यावति।।5।।
15. Singh, H.G. (1977). Psychotherapy in India, H.P. Bhargava, Agra.

✦✦✦

प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा। –अथर्व. 5.30.5
औषध का सेवन कर, तुझे चिरञ्जीव कर दूँगा।

मा बिभेर्न मरिष्यसि। –अथर्व. 5.30.8
हे रोगी! भय मत कर, मरेगा नहीं।

ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम्। –अथर्व. 5.30.16
तुझ में प्राण आये, मन आये, दृष्टि आये, बल आये।

न्यग् भवतु ते रपः। –अथर्व. 6.91.2
तेरा रोग नीचे जा पड़े।

आ ते प्राणं सुवामसि। –अथर्व. 7.53.6
अभी तेरे अन्दर प्राण संचरित कर दूँगा।

Vaidika Vāg Jyotih Vol.3, No. 2-5 (365-372) Jan. 2014 - Dec. 2015 ISSN 2277-4351

Influence of Vedic Thought on Modern Physics

L.P. Purohit

Department of Physics,
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya,
Haidwar (India)

Abstract

Physics being basic science in modern times is unique in its ability to unite discrete units of observations into a cohesive understanding and relates to the study of matter and provides molecular, atomic and subatomic bases of abstract observation of physical laws, phenomena and engineering design. Ancient knowledge of all inclusive universe propounded through Vedas is primarily in abstract form. A modern Physics equivalent basis of that knowledge could be helpful not only for its comprehension but also for its application to modern society. Vaisesika system, which derives its information for Vedas, approaches to understand the truth in the systematic way by classifying the material substance in to four categories: earth, air, fire and water. These in conjunction with non material substances- time, space and ether and a combination of material and nonmaterial substances- mind and itself can be systemically utilized to explain operation of each and all perceived and non perceived component of the universe. Modern Physics strives to provide a similar approach of identifying materials of different characteristics to built common understanding of living and non living matter. Physics provides ample tools to understand some of the concepts of Vedic knowledge.

Introduction

Real science consists of an objective pursuit of truth through observation and experimentation. It is based upon reason and direct perception, in which the reality is allowed to reveal itself to the unbiased eye. However, the universe we live in is a multidimensional reality from the subatomic to the supragalactic in the realm of Physics alone.

The influence of the Veda is remarkably perceptible in the development and growth of Indian science[1,2]. It has been affirmed that the Veda contains a vast body of scientific knowledge and that it anticipates even the most modern ideas of Physical sciences. Indian mathematics is older than classical greek mathematics and was computational in nature. We now know that Vedic knowledge embraced physics, mathematics, astronomy, logic, cognition and other disciplines[3,4] is the earliest

science that has come down to mankind. From the Vedic times (3000 B.C. to 1000 B.C.) Indians (Indo-Aryans) had classified the material world into four elements[5,6] viz. earth (*Prithvi*), fire (*Agni*), air (*Maya*) and water (*Apa*). To these four elements was added a fifth one viz. ether or *Akasha*. According to some scholars these five elements or *Pancha Mahabhootas* were identified with the various human senses of perception; earth with smell, air with feeling, fire with vision, water with taste and ether with sound. Whatever the validity behind this interpretation, it is true that since very ancient times Indians had perceived the material world as comprising these five elements.

The genesis and expansion of the universe is limitless like the manifestation of its eternal creator. The world we live in is a marvelous expression of nature in its visible (perceptible) as well as subtle forms[7]. Our world has two components- one which is materialistic or perceivable and the other which is invisible, beyond the normal limits of perception through our sense organs. The electromagnetic waves, radio waves and other energy waves, though being integral part of our life in terms of the splendid applications of sound, heat, light and electricity etc, cannot be perceived directly. The activities of our physical body at the molecular, cellular and organ levels too are governed by the invisible, intangible, subtle, vital force of chetana (eternal power of cosmic consciousness) existing in our 'living' self.

The three dimensional expansion of the space is endowed with matter, energy and absolute emptiness[8]. Broadly speaking, its constituents are classified as thala - solid material forms existing on the earth and other planets; jala - water, liquids and vaporized forms; and nabha or akasha - the limitless ensemble of gases, energy waves and the etheric space around the world. What happens deep beneath the earth's surface or within the depths of an ocean - cannot be measured or sensed accurately and completely despite the availability of ultra-sensitive instruments and sophisticated technology. More difficult it becomes in the case of *akasha*. The realization of the vital energy, thought waves and other subtle reflections of *chetana* existing in this "unlimited hole" is impossible to be achieved only by means of material based science and technology. Human intellect and inner self too cannot even get a 'glimpse' of this subtle world in general.

Physics the Central Science

Physics is considered the central science because of its bridging nature between abstract observations of Physics to explain the complex nature of universe[3].

According to Solid State Physics, the substance is made of matter, which could be pure or a mixture. Matter is considered anything that occupies space and has mass. Elements are unique matter which cannot be broken down chemically into smaller substance. Elements act as nature's building blocks. Compounds are the entities which provide basic building blocks of the life (nucleic acids, carbohydrates, amino acids, etc.), and are formed by combination of two or more elements. There seems to abundance of the related knowledge in ancient and pre-ancient India. Recently, it was found that the iron pillar (Gupta Dynasty between 320 A D and 540 A D) near Qutub Minar in Delhi, India, is rust free because of a protective layer of `misawite' - a compound made up of iron, oxygen and hydrogen on the steel pillar, containing phosphorus, which is claimed as the reason for the non-corrosive existence[9]. In comparison, modern day smelting process yields steel with only 0.05 per cent of phosphorus in it. Similar detailed references of materials related terms and analyses are found in many of the Upanishads and other ancient texts of Vedic knowledge[10].

Vaisesika and Physical Sciences

Since ancient times Indian philosophers believed that except *Akash* (ether), all other elements were physically palpable and hence comprised miniscule particles of matter. The last miniscule particle of matter which could not be subdivided further was termed *Parmanu*. The word *Parmanu* is a combination of *Param*, meaning beyond, and any meaning atom. Thus the term Parmanu is suggestive of the possibility that, at least at an abstract level Indian philosophers in ancient times had conceived the possibility of splitting an atom which, as we know today, is the source of atomic energy. This Indian concept of the atom was developed independently and prior to the development of the idea in the Greco-Roman world. The first Indian philosopher who formulated ideas about the atom in a systematic manner was Kanada who lived in the 6th century B.C. Kanada, a learned sage, presented his detailed atomic theory in *Vaisheshika-Sutra*. It explains the nature of the world with seven categories: *Dravya* (substance), *guna* (quality), *karma* (action), *samanya* (universal), *vishesha* (particular), *amavaya* (inherence) and *abhava* (non-existence). Vaisheshika contends that every effect is a fresh creation or a new beginning. Thus this system refutes the theory of pre-existence of the effect in the cause. This system accepts that God (*Ishvara*) is the efficient cause of the world. The eternal atoms are the material cause of the world. Vaisheshika recognizes nine ultimate substances: five material

and four non-material substances. The five material substances are: Earth, water, fire, air and *akasha*. The four non-material substances are: space, time, soul and mind. Earth, water, fire and air are atomic but *akasha* is non-atomic and infinite. Space and time are infinite and eternal.

The concept of soul is comparable to that of the self or *atman*. This system considers consciousnesses an accidental property. In other words, when the soul associates itself to the body, only then it 'acquires' consciousness. Thus, consciousness is not considered an essential quality of the soul. The mind (*manas*) is accepted as atomic but indivisible and eternal substance. The mind helps to establish the contact of the self to the external world objects. The soul develops attachment to the body owing to ignorance. The soul identifies itself with the body and mind. The soul is trapped in the bondage of *karma*, as a consequence of actions resulted from countless desires and passions. It can be free from the bondage only if it becomes free from actions. Liberation follows the cessation of the actions.

Origin of Quantum Physics

The famous Danish physicist and Nobel Prize winner, Laureate Niels Bohr (1885-1962) was a follower of the Vedas. He said, "I go into the Upanishads to ask questions." Both Bohr and Schrödinger, the founders of quantum physics, were avid readers of the Vedic texts and observed that their experiments in quantum physics were consistent with what they had read in the Vedas.

Niels Bohr got the ball rolling around 1900 by explaining why atoms emit and absorb electromagnetic radiation only at certain frequencies.

Then, in the 1920's Erwin Schrödinger (1887-1961), an Austrian-Irish physicist who won the Nobel prize, came up with his famous wave equation that predicts how the Quantum Mechanical wave function changes with time. Wave functions are used in Quantum Mechanics to determine how particles move and interact with time.

In the 1920's Werner Heisenberg (1901-1976) formulated his famous uncertainty principal, which states when a physicist attempts to observe a subatomic particle, the experimental apparatus inevitably alters the subatomic particle's trajectory. This is because they are trying to observe something that is of the same scale as the photons they are using to observe it. Bohr, Heisenberg and Schrödinger regularly read Vedic texts. Heisenberg stated, "Quantum theory will not look ridiculous to people who have read Vedanta." Vedanta is the conclusion of Vedic

thought. Schrodinger wrote in his book Meine Weltansicht[11]: "This life of yours which you are living is not merely a piece of this entire existence, but in a certain sense the whole; only this whole is not so constituted that it can be surveyed in one single glance. This, as we know, is what the Brahmins (priests) express in that sacred, mystic formula which is yet really so simple and so clear; *tat tvam asi*, this is you. Or, again, in such words as "I am in the east and the west, I am above and below, I am this entire world."

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात्
ब्रह्म उत्तरतो दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं
विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(Mundaka Upanishad 2.2.11)

In the above *mantra*, Vedic understanding of the connectivity of living entities is put forward to help to understand the difference between the body and the living entity. How the real nature of the living entity is realized only in union with the source, the supreme being through a platform of transcendental divine loving service.

Schrödinger, in speaking of a universe in which particles are represented by wave functions, said[11,12], "The unity and continuity of Vedanta are reflected in the unity and continuity of wave.

The Vedas teach that we are more than physical bodies operating according to the laws of physics. We, the eternal conscious self (*Atma*), are inherently connected to the greater whole (*Paramatma*), and this eternal inherent connection is totally transcendental to matter. All living entities, having free will, are able to ignore this connection or recognize it. The Vedas teach us how to do both. When we act as scientists and look for facts and accept them and then go on to use and act according to our new realizations we can make great progress. Similarly, as living entities, we must scientifically study the great work of the evidential books of the Vedas in order to help us realize the facts of this universe and beyond, and our natural position in it.

Schrödinger explicitly affirmed his conviction that *Vedantic jnana* (knowledge) represents the only true view of reality, a view for which he was prepared to offer empirical proof. Schrödinger said, some blood transfusion from the East to the West to save Western science from spiritual anemia[13].

Furthermore 300 years before Quantum Mechanics, Sir Isaac Newton came up with Classical Mechanics which describes very basic action and reaction. Newton's entire work in Physics and Calculus was simply taken from the Vedas where it was originally used for calculating rates of change in Astronomy and

Astrology for many thousands of years before Newton.

High Energy Physics and Electronics in Atharvaveda

One of the most exciting topics covered in the Atharvaveda is high energy physics and specifically, the detailed description of valuable applications that harness and utilize this immense source of energy. It is fully apparent from the following verses that Electrical Energy and its properties were fully understood by Vedic sages. It was definitely used in everyday technological applications as much, as it is for us today. It is also clear that Vedic scientists knew far more about the properties of electricity than us. It was not till very recently, that modern day scientists discovered and began research on the potential usage of electrical energy in military science and related areas.

Following verses have been taken from *Kanda* 20 of the Atharvaveda translated by Devi Chand[14] clearly demonstrate the fact that Vedic society was at an extremely advanced state of technological advancement and fully utilized electricity in innumerable productive applications.

सोऽस्यवज्रोहरितोयआयसो-
हरिर्निकामोहरिरागभस्त्योः।
द्युम्नीसुशिप्रोहरिमन्युसायक-
इन्द्रेनिरूपाहरितामिमिक्षिरे॥

अथर्व. 20.30.3

These verses appear to be describing different sorts of electrical weapons. The "beautiful horse of iron of high speed" apparently refers to some type of metallic car/aircraft which can reach extremely high speeds. The horsepower for the engine for a craft or automobile of this sort was provided by electricity. The "shining arrow" can mean an exceptionally powerful ballistic missile loaded with an electric warhead. The missile was superfast and probably covered vast distances, it was apparently one of the main weapons that could be used to target the central command and control center of the enemy. Here we find a reference telling us that many advanced weapons utilizing electricity had been deployed in this era.

दिविनकेतुरधिधायिहर्यतो-
विव्यचद्वज्रोहरितोनरंह्या।
तुददहिंहरिशिप्रोयआयसः
सहस्त्रशोकाअभवद्धरिम्भरः॥

अथर्व. 20.30.4

This makes the previous verse even more apparent. The missile being described seems to generate immense power and would be exceptionally destructive. It is possible that the electric weapons used by Vedic society may have been equivalent in destructive power to nuclear weapons, or perhaps even more lethal. They may also have been used for preliminary strikes before the

actual use of nuclear weapons. A conventional electronic combat campaign, or intensive electronic combat operations, would initially concentrate on saturating the opponent's electronic defenses, denying information and inflicting maximum attrition upon electronic assets. The massed application of electromagnetic bombs in the opening phase of an electronic battle would allow much faster attainment of command as it would destroy electronic assets at a much faster rate than possible with conventional means.

युधायुधमुपघेदेषिधृष्णुया-
पुरापुरंसमिदंहंस्योजसा।
नम्यायदिन्द्रसख्यापरावति-
निबर्हयोनमुचिं नाममायिनम्॥

अथर्व. 20.21.7

This particular reference is apparently to a remotely controlled electronic weapon system. This verse directly points to unleashing a tremendously high voltage surge that can blast into the defensive electrical equipment belonging to the enemy. The last sentence describes remote initiation of the bombing sequence, while the controller is stationed at a safe distance.

Conclusion

On the surface it appears that there could be a contradiction between the Vedic knowledge and the westernized modern science. However, in practice, at least at the fundamental level, modern science follows the Vedic ways of pursuing the truth. Therefore, in the current time of scientific predominance of learning, it is incumbent upon scholars to use the science itself to examine some of the intricacies of the ancient knowledge.We are in the midst of a paradigm shift in our understanding of Vedic science. Man has mastered the outer world and Vedic science formed the basis for that enterprise; it is now possible that the exploration of the inner world, which is the heart of modern science, will also be along paths long heralded by Vedic *Rishis*. We may conclude that many branches of modern science originated in India, but there is not much awareness about this rich heritage. Knowledge of Sanskrit is essential to discover our own riches.

References

1. Potter, K. H. Part 2, Encyclospedia of Indian Philosophies, Motilal Banarasidass, Delhi (1977).
2. Sarma, K.V., A survey of source materials. Indian Journal of History of Science, 20.1-20 (1985).
3. Science of the secret, ancient perspective for modern Science, Davis Obsborn, Vedic Sciences, (2009-10).
4. Van Nooten, B.. Binary numbers in Indian antiquity, Journal of Indian philosophy.21.31-50 (1993).

5. Agrawal, M. M., Six Systems of Indian Philosophy, Chaukhamba Sanskrit Pratishthan, Delhi (2001).
6. Ananthu, T. S., Does god play dice? In: Philosophy of Science, Munshiram Manoharlal Publishers, Delhi, pp. 39-48 (1992).
7. Satya, Y. S. and Umesh, G., Chance and determinism in physics, In: Philosophy of Science (Ed. Narlikar et al.), Munshiram Manoharlal Publishers, Delhi. pp. 96-117 (1992).
8. Crick, F., Chapter 1, The Astonishing Hypothesis: The Scientific Search for the Soul, Charles Scribner's Sons, New York (1993).
9. Prakash, B. G., Iron pillar and nanopowder. The Hindu (August 29, 2002).
10. Contemporary Views on Indian Civilization, edited by Bhu Dev Sharma, World Association of Vedic Studies, USA, 388-399 (2003).
11. Schrodinger, E., What is Life? Cambridge University Press (1964).
12. Stapp, H. P., Mind matter and quantum mechanics, Foundations of Physics 2, 363-399 (2001).
13. Klaus K. Klostermaier, A Short Introduction to Hinduism, p. 168 (1982).
14. The Atharva Veda, translated by Devi Chand, Mushiram Manoharlal Publishers Pvt Ltd., New Delhi (1999).

✦✦✦

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु। –अथर्व. 19.10.8
महाप्रकाशक सूर्य हमें सुख-शान्ति देता हुआ उदित हो।

शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्त्रः।
चारों दिशाएँ हमें सुख-शान्ति देने वाली हों।

शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु।
अचल पर्वत हमें सुख-शान्ति दें।

शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः।
समुद्र हमें सुख-शान्ति दे, नदियाँ सुख-शान्ति दें।